हिन्दी समिति ग्रन्थ-माला — १२

ज़्यूल ब्लॉख़ कृत

भारतीय-आर्य भाषा

(वेदों से लेकर आधुनिक समय तक)

मूल फ्रेंच से अनूदित

अनुवादक
लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, एम्० ए०, डी० फ़िल्०, डी० लिट्०
हिन्दी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय



प्रकाशक
हिन्दी समिति,
उत्तर प्रदेश शासन
हिन्दी भवन,
लखनऊ

भारतीय आर्य भाषा

० ० ०

प्रथम संस्करण १९६३ ई०

द्वितीय संस्करण १९७२ ई०

मूल्य रु० १०·५०

मुद्रक
जी० डब्लू० लॉरी एण्ड कम्पनी, लखनऊ

प्रकाशकीय

भाषा विज्ञान के क्षेत्र में जिनकी रुचि है, वे फ्रांस के सुप्रसिद्ध विद्वान् प्रोफेसर ज्यूल ब्लॉख के नाम से अवश्य ही परिचित होंगे। श्री ज्यूल द्वारा प्रणीत ग्रन्थ **"ल' आँ दो एरियाँ"** भारतीय भाषाओं के अध्ययन के लिए आवश्यक और प्रभूत साहित्य प्रस्तुत करता है, अतः इसका अपना महत्व है। इस ग्रन्थ में भारतीय-आर्य भाषा के सम्बन्ध में, उसके स्वरूप, विकास और इतिहास की, चर्चा विशद रूप में की गयी है। लेखक ने भारोपीय भाषाओं के अन्तर्गत अनेक भाषाओं का तुलनात्मक विवेचन भी किया है। यही नहीं, संस्कृत के अतिरिक्त पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि के उद्‌गम और उद्‌भव का उल्लेख करते हुए, लुप्तप्राय बोलियों की ओर भी दृष्टि-निक्षेप किया गया है। अनेक भारतीय भाषाओं के स्वर, व्यञ्जन, शब्द, क्रिया आदि के सम्बन्ध में रोचक और ज्ञानवर्धक प्रामाणिक तथ्य एवं विवरण देकर प्रोफेसर ज्यूल ने अपने व्यापक अध्ययन और ज्ञान की राशि का एक अंश इस ग्रन्थ में संचित और सुरक्षित करने की चेष्टा की है।

उक्त ग्रन्थ में भारत की अनेक आधुनिक भाषाओं के जन्म और विकास का वर्णन, संस्कृत के स्वरों और व्यञ्जनों की स्थिति

तथा ध्वनि के अन्तर्गत शब्दों के रूप और उनके उच्चारण-स्थान का भी वैज्ञानिक विवेचन है। इसी प्रकार, दूसरे खंड में रूप-विचार के सन्दर्भ में संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, लिंग, प्रत्यय, कारक, वचन, आदि का विश्लेषण है तथा तीसरे खंड में क्रिया, प्रत्यय, कृदन्त आदि के सम्बन्धं में आवश्यक चर्चा है। इस प्रकार इस ग्रन्थ का महत्व और अध्ययन स्वयं स्पष्ट है। साहित्यिक जगत् इसके लिए प्रोफेसर ज्यूल का कृतज्ञ है।

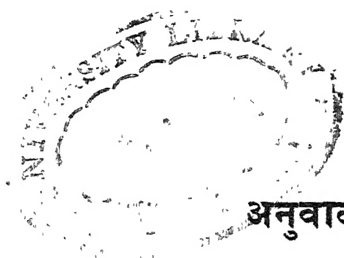
इसी विख्यात पुस्तक **"ल' आँ दो एरियाँ"** का अनुवाद **"भारतीय आर्य भाषा"** के नाम से आपके सामने है। इसका अनुवाद किया है डाक्टर वार्ष्णेय ने, जो हिन्दी के जाने-माने विद्वान् हैं और जिन्हें फ्रांसीसी भाषा का उचित ज्ञान तथा अध्ययन है, उन्होंने बड़े श्रम और मनोयोग से श्री ज्यूल के ग्रन्थ का रूपान्तर प्रस्तुत किया है और इस बात की चेष्टा की है कि मूल लेखक के विचार और भाव यथानुरूप हिन्दी के पाठकों के सामने आ जायँ।

अनुवाद आपके सामने है। आप स्वयं देखेंगे, यह कितना सफल है। हिन्दी समिति डाक्टर वार्ष्णेय के प्रति कृतज्ञ है, जिनके सहयोग और श्रम से, इस रूप में यह पुस्तक प्रकाशित हो सकी है।

"भारतीय-आर्य भाषा" का यह दूसरा संस्करण है। पहला संस्करण सन् १९६३ में प्रकाशित हुआ था। कागज तथा मुद्रण आदि की दरों में वृद्धि हो जाने पर भी हमने इसका मूल्य बढ़ाया घटाया नहीं है, कारण हम चाहते हैं कि यह पुस्तक हिन्दी के विद्वानों और भाषा-मर्मज्ञ पाठकों और छात्रों को सहज सुलभ हो, और वे इससे अधिकाधिक लाभ उठाने में समर्थ हों।

हमें विश्वास है, हिन्दी-प्रेमी पाठक अपनी ज्ञान-वृद्धि के लिए इसे उपयोगी पायेंगे और इसके प्रचार एवं प्रसार में अपना योगदान करेंगे। सधन्यवाद।

काशीनाथ उपाध्याय 'भ्रमर'
सचिव,
हिन्दी समिति उत्तर प्रदेश शासन
लखनऊ।



अनुवादक की ओर से

गार्सां द तासी कृत 'इस्त्वार द ल लित्रेत्यूर ऐंदूई ऐ ऐंदूस्तानी' के हिन्दी से संबंधित अंशों का अनुवाद (१९५२ ई०) पूर्ण कर लेने के पश्चात् मेरा ध्यान प्रो० ज़्यूल ब्लॉख़ कृत 'ल'आँदो एरियाँ' ('भारतीय-आर्य भाषा') की ओर गया। भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में इस ग्रन्थ का महत्त्व सर्वविदित है। अतएव मैं इस ग्रन्थ का अनुवाद करने का लोभ-संवरण न कर सका। अनुवाद अक्तूबर, १९५६ ई० में पूर्ण हो गया था। किन्तु औपचारिक कार्रवाइयों के पूर्ण होने, मुद्रण के लिये विशेष टाइपों के ढालने और फिर मुद्रित होने में जो समय लगा उसके बाद अब यह सुप्रसिद्ध ग्रन्थ हिन्दी के विज्ञ पाठकों के सामने प्रस्तुत है। उत्तर प्रदेशीय सरकार की हिन्दी समिति ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन का भार अपने ऊपर लिया, एतदर्थ मैं उसका अत्यन्त आभारी हूँ।

अनुवाद-कार्य अत्यन्त कठिन है—विशेषत: किसी यूरोपियन भाषा से हिन्दी में अनुवाद करना, और जब कि हिन्दी में पारिभाषिक शब्दावली की समस्या भी सामने हो। यद्यपि मूल की सहज-स्वाभाविक शैली का अनुवाद में लाना सरल नहीं है, तो भी प्रस्तुत अनुवाद में मूल के अधिकाधिक निकट रहने की चेष्टा की गयी है और शब्दों के रूपान्तरण तथा उनके वर्ण-विन्यास में एकरूपता रखने का भरसक प्रयत्न किया गया है। भूल से यदि कोई असामंजस्य रह भी गया होगा तो विश्वास है कि पाठकों को उसके समझने मे कठिनाई न होगी।

जहाँ तक पारिभाषिक शब्दों का संबंध है, कुछ पारिभाषिक शब्द तो ऐसे हैं जिनके लिये उपयुक्त हिन्दी-शब्दों का अभाव नहीं है। किन्तु ऐसे पारिभाषिक शब्द भी मिले जिनके हिन्दी प्रतिशब्दों का अस्तित्व ही नहीं है। ऐसी परिस्थिति में अधिकारी विद्वानों के साथ परामर्श द्वारा और कुछ उपलब्ध शब्द-कोशों की सहायता से हिन्दी के पारिभाषिक शब्दों का चयन किया गया है। पाठकों की सुविधा के लिये अन्त में हिन्दी-अँगरेज़ी और अँगरेज़ी-हिन्दी पारिभाषिक शब्द-कोश संलग्न हैं। प्रस्तुत अनुवाद में व्यवहृत शब्द तो उनमें हैं ही, साथ ही ऐसे शब्द भी हैं जिनका प्रयोग अनुवाद में नहीं किया गया, यद्यपि ऐसे शब्दों की संख्या बहुत अधिक नहीं है। विविध उपलब्ध शब्द-कोशों से सहायता लेते समय यह भी पाया गया कि दो भिन्न अँगरेज़ी-शब्दों के लिये एक ही हिन्दी-शब्द चुना गया है। ऐसे शब्द भी प्रस्तुत

अनुवाद के साथ संलग्न कोशों में दे दिये गये हैं। आशा है हिन्दी के भाषा-विज्ञान के विद्वान् इस संबंध में अपना अंतिम निर्णय देंगे और हिन्दी की पारिभाषिक शब्दावली को अनिश्चितता की दशा से मुक्त करेंगे। हिन्दी प्रदेश में भाषा-संबंधी स्थिति को ध्यान में रखते हुए फ्रेंच-शब्दों के आधार पर कोश प्रस्तुत करना उपयुक्त नहीं जान पड़ा।

इसके अतिरिक्त अनुवाद के संबंध में मैं जिन अन्य बातों की ओर पाठकों का ध्यान दिलाना चाहता हूँ वे इस प्रकार हैं:

१. अनुवाद में मूल के स्वर-भेदक चिह्न ज्यों-के-त्यों ग्रहण कर लिये गये हैं। इन चिह्नों सहित नये टाइप ढलवाने में प्रेस को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। जहाँ कठिनाई दु:साध्य प्रतीत हुई वहाँ मूल के स्वर-भेदक चिह्न नहीं दिये जा सके—विवशतावश। किन्तु ऐसे स्थल बहुत कम हैं।

२. स्वर-भेदक चिह्नों की कठिनाई के कारण ही उदाहरणों के टाइप के और सामान्य टाइप के आकार-प्रकार में अन्तर नहीं किया जा सका। उदाहरण यदि इटैलिक्स या अन्य किसी प्रकार के टाइप में दिये जाते तो स्वर-भेदक चिह्नों के टूट जाने या न उभरने की आशंका थी। ह्रस्व तथा दीर्घ ए, ओ पर स्वर-भेदक चिह्न इ लिए नहीं लगाये गये क्योंकि संस्कृत और आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओं तथा बोलियों में उनकी क्या स्थिति है, यह भाषा-विज्ञान के विद्वानों को विदित ही है।

३. विराम-चिह्नों के प्रयोग और वाक्य-संगठन की दृष्टि से मूल के ही निकट रहने की चेष्टा की गयी है।

४. मूल में भारतीय-आर्य भाषाओं के उदाहरण-रूप में दिये गये शब्दों का फ्रेंच में अनुवाद दिया गया है। प्रस्तुत अनुवाद में फ्रेंच में दिये गये ऐसे अनुवादों का, कुछ अपवादों को छोड़कर, अनुवाद नहीं किया गया, क्योंकि हिन्दी तथा अन्य भारतीय-आर्य-भाषा-भाषियों की दृष्टि से ऐसा करना पुनरावृत्ति मात्र होता और प्रस्तुत अनुवाद का व्यर्थ ही कलेवर बढ़ता। मूल लेखक ने तो सम्भवत: फ्रेंच भाषा-भाषियों को दृष्टि-पथ में रखते हुए उदाहरण-रूप में दिये गये शब्दों का फ्रेंच में अनुवाद किया था। इसी प्रकार ग्रीक, लैटिन आदि शब्दों को ग्रीक और रोमन लिपियों में भी देना अनावश्यक समझा गया। किन्तु कुछ विदेशी विद्वानों, उनके ग्रन्थों और साथ ही शब्दों के कुछ उदाहरणों आदि को रोमन लिपि में भी प्रस्तुत करना इसलिए उचित समझा गया ताकि भ्रम के लिये कोई गुंजाइश न रह जाय।

वास्तव में संदिग्ध और अस्पष्ट स्थलों के न रहने देने की यथाशक्ति चेष्टा करना अनुवादक का मुख्य उद्देश्य रहा है।

५. मूल का अनुवाद करते समय सबसे बड़ी कठिनाई अनेक संक्षिप्त रूपों के हिन्दी-रूपान्तरों के संबंध में रही। खेद है, प्रो० ज्यूल ब्लॉख ने, केवल भाषाओं से संबंधित थोड़े-से संक्षिप्त रूपों को छोड़कर, पुस्तक में कहीं भी उनके पूर्ण रूप नहीं दिये। एक ही संक्षिप्त रूप के हिन्दी में दो या तीन पूर्ण रूप तक हो सकते हैं। प्रो० ज्यूल ब्लॉख के निकट रहकर अध्ययन करने वाले कुछ विद्वानों से भी इस संबंध में कोई विशेष सहायता प्राप्त न हो सकी। अतएव जिनके पूर्ण रूप निश्चित समझे गये उन्हें हिन्दी में रूपान्तरित कर दिया गया है। संदेहपूर्ण रूपों को ज्यों-का-त्यों रहने देना ही उचित जान पड़ा। उदाहरणार्थ, Sn. हो सकता है 'सुत्तनिपात' का संक्षिप्त रूप हो, किन्तु निश्चितता के अभाव में वह अनुवाद में ऐसा ही मिलेगा। किन्तु ऐसे स्थल कम हैं।

६. फ्रेंच ग्रन्थों में विषय-सूची अन्त में और सहायक ग्रन्थों की सूची प्रारंभ में मिलती है। अनुवाद में ग्रन्थ-सूची तो प्रारंभ में ही रहने दी गयी है, किन्तु विषय-सूची भी प्रारंभ में रख दी गयी है, क्योंकि अँगरेज़ी-ग्रन्थों के अधिक सम्पर्क में आने के कारण हम हिन्दी-भाषी विषय-सूची को अन्त में रखने के अभ्यस्त नहीं रहे हैं। अनुवाद में अनुक्रमणिका भी, जो मूल में नहीं है, दे दी गयी है। और कोई विशेष परिवर्तन पुस्तक के मूल क्रम में नहीं किया गया।

श्रीमती ब्लॉख़ और मूल ग्रन्थ के प्रकाशक ने अनुवाद करने के लिए अपनी अनुमति प्रदान की, इसके लिए उनके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन करना मेरा कर्त्तव्य है।

मैं श्री डॉ० धीरेन्द्रजी वर्मा (सम्प्रति, सागर विश्वविद्यालय में लिंग्विस्टिक्स के प्रोफ़ेसर), डा० उदयनारायण तिवारी (सम्प्रति, जबलपुर विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्रोफ़ेसर), श्री माताबदल जायसवाल (हिन्दी विभाग, प्रयाग विश्व-विद्यालय) और अपने विश्वविद्यालय के फ्रेंच भाषा के प्राध्यापक डॉ० ए० के० मित्र का उनके विद्वत्तापूर्ण सत्परामर्शों के लिए आभारी हूँ। इतने पर भी अनुवाद में यदि कोई दोष रह गया है तो उसका उत्तरदायित्त्व मेरे ही ऊपर है।

—लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

हिन्दी विभाग,
प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग।
१९ दिसंबर, १९६२ ई०

विषय-सूची

संस्कृत व्यंजन; संस्कृत और काफ़िर में महाप्राण; तालव्यों का मूल्य;—मूर्द्धन्य : मूल; सम्पर्क होने पर पूर्ववर्ती र्; व्यवधान होने पर; परवर्ती र् के संबंध में; प्रत्यक्षत: स्वत:प्रवृत्त मूर्द्धन्य-भाव; आधुनिक अन्तस्थ (द्रव वर्ण); विदेशी शब्द; महाप्राण स्पर्श; अल्पप्राणीकरण के उदाहरण; मुखरों का अघोषत्व या कठोरत्व; मध्यकालीन भारतीय भाषा में सोष्मों की अस्थिरता; आज उनकी अलभ्यता; संस्कृत ह; शिन्-ध्वनि से निकला मध्यकालीन भारतीय भाषा का ह्; ह् की दुर्बलता; आधुनिक तथा मध्यकालीन भारतीय भाषा का अभिव्यंजक ह्; उत्तराधिकार में प्राप्त शिन्-ध्वनियाँ; मुखरों का अभाव; संस्कृत की तीन शिन्-ध्वनियाँ; परवर्ती अव्यवस्था, प्रस्ताव का उदाहरण; शिन्-ध्वनियाँ कई हैं, और उत्तर-पश्चिम में कुछ मुखर शिन-ध्वनियाँ; अनुनासिक; द्रव वर्ण।

संस्कृत में मध्यवर्ती तथा अन्त्य व्यंजन; मध्यकालीन भारतीय भाषा में अन्त्य का लोप; स्वर-मध्यग की दुर्बलता : महाप्राण; व्, य्, स्पर्श; अनुनासिक; समुदायों का समीकरण; शिन्-ध्वनियों से युक्त समुदाय; स्वनंत वर्ण वाले; दन्त्य के बाद व्, म्; परवर्ती अथवा पूर्ववर्ती र्; अनुनासिक के बाद संवृत की सहायता; शिन-ध्वनि के बाद म् अथवा व्; अनुनासिक के बाद; (ज़ोर देने के लिये) पुनरावृत्ति की सहायता; मध्यकालीन भारतीय भाषा में व्यंजन-संबंधी सामान्य प्रणाली; सादृश्यमूलक, संरक्षणात्मक, अभिव्यंजनात्मक पुनरावृत्ति; निष्कर्ष; अंशों का स्थायित्व, संतुलन का परिवर्तन।

द्वितीय खण्ड

शब्द : परिवर्तन-क्रम

संस्कृत संज्ञा; साधारण तथा संयुक्त सामान्य विकरण; संज्ञामूलक धातुएँ; व्युत्पत्ति-युक्त; विकरण-युक्त रूप; -क- से पूर्व ह्रस्व या दीर्घ स्वर; विकरण का परिवर्तन-क्रम; स्वरों का; स्वरित-संबंधी; प्रत्यय; रूप-रचना का प्रयोग; उत्तरोत्तर सरलीकरण; विकरण-युक्त रूप-रचना; पुरुषवाचक सर्वनाम; सर्वनाम-विशेषण।

प्राचीन मध्यकालीन भारतीय भाषा में संज्ञा; प्रत्ययों का परिवर्तन-क्रम; ध्वनि मूल का; प्रत्यय; क्लैसीकल प्राकृत में; अपभ्रंश में; पुरुषवाचक सर्वनाम; सर्वनाम-विशेषण।

नव्य-भारतीय में संज्ञा। लिंग; नपुंसक का सामान्य लोप; चेतन तथा अचेतन; लिंग के परिवर्तन; वचन: द्विवचन का लोप; चेतन वस्तुओं का बहुवचन; आदरसूचक बहुवचन; आकस्मिक व्यवस्था का परिवर्तन; पूरक; संज्ञाओं की रचना; संयुक्त शब्द अर्थात् "ध्वनित"; पर-प्रत्यय; रूप-रचना। प्रत्यक्ष कारक : मूल संज्ञाएँ; संबंधियों के नाम; व्याप्ति-युक्त संज्ञाएँ; अप्रत्यक्ष कारक : करण; अधिकरण; विकृत रूप; केवल उसी का प्रयोग; परसर्ग सहित; संबंधवाची विशेषण; विशेषण; एकरूपता; तुलना की श्रेणियाँ; उपपद के पूरक; संख्यावाची नामों का निर्धारण; बंगाली में निर्धारक तथा विभाजक; पुरुषवाचक सर्वनाम; आदरसूचक रूप। निश्चयवाचक तथा आवृत्तिमूलक; संबंधवाचक; प्रश्नवाचक; सर्वनाममूलक विशेषण; निजवाचक।

तृतीय खण्ड

पुरुषवाची रूप :

वैदिक में : सामान्य पक्ष, प्रत्यय।—वर्तमान० तथा सामान्य अतीत-संबंधी विकरण। पूर्ण तथा उसके प्रत्यय। क्रियार्थ भेद। रूपों का प्रयोग : वाच्य; प्राथमिक तथा विकृत प्रत्यय; पूर्ण० का योग। परवर्ती संकुचन।

उच्च मध्यकालीन भारतीय भाषा में; वर्तमान० विकरण; भविष्यत्०; अतीत काल; मध्य प्रत्यय; भविष्यत्० के, वर्तमान० के, आज्ञार्थ के, आदरार्थ के; पाली क्रिया का अस्थायी पक्ष।—प्राकृत।

नव्य-भारतीय में :प्राचीन अप्रचलित रूप—वर्तमान०से अथवा भूतकाल० कृदन्तों से निकले विकरण; कर्मवाच्य; प्रेरणार्थक; रूप-रचना : निश्चयार्थ; आज्ञार्थ भविष्यत्।

नामजात रूप :

संस्कृत में : क्रियावाची संज्ञाएँ, क्रियार्थक संज्ञाएँ; कर्तृवाची संज्ञाएँ, कृदन्त; -त- तथा -न- युक्त विशेषण; -त्व-, -य- युक्त। अनुकूल कृदन्त; पुरुषवाची रूपों के तुल्यार्थक।

नव्य-भारतीय में। वर्तमान० कृदन्त; अनुकूलता प्राप्त; कृदन्त तथा विशेषण; क्रिया-भाव वाला कृदन्त; वर्तमान का, भविष्यत् का; भूत का, संभाव्य का; विकृत रूप में कृदन्त; क्रिया "होना" में सन्निधि।—भूत० कृदन्त; साधारण तथा विशेष रूप; व्युत्पत्तिवाले रूप। अतीत काल की भाँति प्रयोग; अकर्मक अथवा कर्मवाच्य रचना; विविध रूप; प्रत्ययांश सर्वनामों का आगम; क्रिया "होना" का; विकृत रूपों में कृदन्त; पूर्ण प्रयोग, अन्ततः क्रिया 'होना' के आगम सहित; न्यायानुकल कर्त्ता की रचना। कृदन्त तथा विशेषण।—भविष्यत्० कृदन्त; नवीन प्रयोग; पुरुषवाची रूपों के साथ मिश्रण; क्रियार्थक संज्ञा से निकलना।

क्रियार्थक संज्ञा।—पूर्वकालिक कृदन्त : विभिन्न युगों के रूप; प्रयोग।

आधुनिक प्रणाली की त्रुटियाँ; वर्तमान का मूल्य। सामान्य वाक्य-विस्तार; रूप-रचना-विहीन अथवा रूप-रचना-युक्त निपात का आगम; सहायक क्रियाएँ।

क्रिया और कर्त्ता : अकर्तृक; क्रिया में लिंग; पुरुष तथा वचन; क्रिया तथा सर्वनाम के आदरसूचक रूप।

चतुर्थ खण्ड

वाक्यांश

क्रिया "होना" तथा सामान्य वाक्यांश। अंशों का क्रम—स्वतंत्र वाक्यांशों का संयोजन; समुच्चयबोधक का लोप। संस्कृत में आश्रित वाक्य-योजना का साधन : संशयार्थसूचक, ज़ोर दिया जाना, संबंध-वाचक, प्रश्नवाचक सर्वनाम, कृदन्त आदि। नव्य-भारतीय में आश्रित वाक्य-योजना का सामान्य अभाव : समुच्चयबोधक कालों, सर्वनामों का प्रयोग; फ़ारसी समुच्चयबोधकों के ग्रहण तथा यदाकदा सर्वनामों

संक्षिप्त रूप

भाषा-नामों के संक्षिप्त रूप

(पु० = पुरानी)

अ० = अवेस्ती
अप० = अपभ्रंश
अ० मा० = अर्द्ध-मागधी
अव० = अवधी
अशोक० = अशोक के अभिलेख;
गि० (रनार), का० (लसी),
श० (हबाज़गढ़ी); पू० "पूर्वी" समुदाय
अश्क० = अश्कुन
उ० = उड़िया
क० = कन्नड़
कश० = कश्मीरी
खो० = खोवारी
गा० = अवेस्ता की गाथा
गु० = गुजराती
ग्री० = ग्रीक
छ० = छत्तीसगढ़ी
ज० = जर्मन
त० = तमिल
ती० = तीराही
ते० = तेलेगू
तोर० = तोरवाली
ने० = नेपाली
पं० = पंजाबी
पश० = पशई
पा० = पाली
पु० फ़ा० = पुरानी फ़ारसी
पु० रा० = टेसिटरी की 'पुरानी पश्चिमी राजस्थानी'
प्रशु० = प्रशुन (वेरोन)
प्रा० = प्राकृत
फ़ा० = फ़ारसी
बं० = बंगाली
ब्र० = ब्रजभाषा
म० = मराठी
मा० = मागधी
मार० = मारवाड़ी
रा० = राजस्थानी
ल० = लहँदा
शि० = शिना
शौ० = शौरसेनी
सं० = संस्कृत
सिंह० = सिंहली
सि० = सिगान (जिप्सी-भाषा)
(यू० = यूरोप की, ए० = एशिया की)
ह० दुत्रु० = ह० दुत्रुइल द र्हैं (Dutreuil de Rhins)
हिं० = हिन्दी

रूपान्तरों के संबंध में कोई बात नहीं कहनी, सिवाय इसके कि भारतीय-आर्य भाषा के 'ए' (e) और 'ओ' (o) सिंहली के लिए केवल दीर्घ रूप में लिखे गये हैं और बोलियों में जहाँ वे कुछ ह्रस्वों के विपरीत हैं, नहीं लिखे गये ।

अनुवादक द्वारा प्रयुक्त संक्षिप्त रूप

अथर्व० = अथर्ववेद
अशोक० = अशोक के अभिलेख
आ० गृ० = आपस्तम्ब गृह्यसूत्र
आ० श्रौ० = आपस्तम्ब श्रौतसूत्र
इंडि० ऐंटी० = इंडियन ऐंटीक्वेरी
ऋ० = ऋग्वेद
ऐ० ब्रा० = ऐतरेय ब्राह्मण
जू० ए० = जूर्ना एसियातीक (J. As.)
तुल० = तुलनीय (cf.)
तै० प्राति० = तैत्तिरीय प्रातिशाख्य
तै० सं० = तैत्तिरीय संहिता
दश० = दशकुमार चरित
ब्रा० = ब्राह्मण ग्रन्थ
महा० = महाभारत
मृच्छ० = मृच्छकटिक
मै० सं० = मैत्रायणी संहिता
यजु० = यजुर्वेद
लै० = लैटिन
वा० सं० = वाजसनेयी संहिता
शकुं० = शकुंतला नाटक
श० ब्रा० = शतपथ ब्राह्मण
शह० = शहबाज़गढ़ी
साम० = सामवेद

(जिन शब्दों के आगे ० है, वहाँ ० के स्थान पर वचन, कारक आदि पढ़ना चाहिये ।)

भारतीय-आर्य भाषा



मूल लेखक द्वारा

भूमिका

भारतीय-आर्य भाषा, जिसका मैं यहाँ विकास प्रस्तुत करना चाहता हूँ, उन दो समुदायों में से एक की भाषा है जो भारतीय-ईरानी नाम से पुकारी जाने वाली प्रागैतिहासिक भारत-यूरोपीय भाषा, और जिसे बोलने वालों के नाम के आधार पर आर्य कह सकते हैं: अ० ऐर्य-, पु० फ़ा० अरिय-, सं० आर्य से निकले हैं। इस भाषा की विशेषताओं का उल्लेख मेइए (Meillet) की पुस्तक 'दाइलेक्त आँदो-योरोपिएँ', अध्याय २ में मिलेगा; तुल० राइशेल्ट, 'अवेस्त० ऐलीमें०'§ ८। प्राचीनतम आर्य पोथियों से प्रकट होता है कि ये भाषाएँ उसी समय विभक्त हो गयी थीं, और इनके प्रणेता, ईरान की सीमा से लगे हुए भारतीय भूमि-भाग को छोड़ कर, क्रमशः ईरान और भारत में बस गये थे।

भारत से बाहर उपलब्ध उसके कुछ और प्राचीन, किन्तु परोक्ष, प्रमाण मिलते हैं। ईसा-पूर्व चौदहवीं शताब्दी में फ़राओं से विवाह तथा राजनीति द्वारा संबंधित मितन्नी (उच्च फ़रात) के राजकुमारों के आर्य-पक्ष के नाम आर्यों जैसे मालूम होते हैं। उनमें से एक ने १३८० (ई० पू० ? -अनु०) के लगभग हित्ती राजा के साथ संधि करते समय अपने देवताओं का साक्षी रूप में आह्वान किया था जो इस प्रकार युग्म रूप में हैं: मित्र और अरुण (वरुण ? -अनु०), इन्द्र और नासत्य: ऋग्वेद में भी मित्र और वरुण दोनों साथ-साथ चलते हैं, और अश्विन् संबंधी ऋचा में एक स्थान पर 'इन्द्र नासत्या' में दोनों संयुक्त रूप में मिलते हैं; किन्तु ईरान में वरुण देवता नहीं हैं और अवेस्ता में नअंन्हैθय और इन्द्र असुर हैं।

तब भी देवताओं के नाम ऐसे होते हैं, जो सदैव उधार लिये जा सकते हैं: लेकिन हित्ती भाषा में अश्व-पालन पर लिखित एक पोथी में एक, तीन, पाँच, सात, नौ घुड़दौड़ों का प्रश्न है; उन्हें प्रकट करने वाले शब्द आर्य हैं; विशेषतः ऐक-वर्तन्न-'एक चक्कर'-'एक' संख्या में -क- प्रत्यय लगा कर बना है जो अब तक इस संख्या के लिए केवल संस्कृत में ज्ञात है।

तो १४वीं शताब्दी से पूर्व के एशिया माइनर में आर्यों का केवल चिह्न ही नहीं पाया जाता, वरन् वास्तव में उसी जाति के चिह्न मिलते हैं जो भारत में संस्कृत लायी। किंतु अभी यह निश्चित करना असंभव है कि भारत पर आक्रमण बाद में हुआ, अथवा बाद में

आने वाली जातियों के लोगों द्वारा हुआ अथवा वे ही भारत से लौट गये थे। ये ही समुदाय थे जिनके कारण संभवतः फ़िन्नो-उग्रीय भाषाओं (finno-ougrien) में संस्कृत में ज्ञात शब्दों का प्रचार और प्रत्यक्षतः ईरानी में अभाव कहा जा सकता है : आँस्ताइक तोर्अन्, सं० तृण—'घास का तिनका'—(भारत-यूरोपीय शब्द, संस्कृत में विशेष अर्थ), वोगुल पङ्क, सं० पङ्क(ई० लेवी, 'Ungar. Jahrb'., vi, ९१ के अनुसार)।

ये परोक्ष प्रमाण भारत में बस गये आर्यों के अत्यन्त प्राचीन प्राप्त ग्रन्थों, अर्थात् वेदों, के प्रकाश में स्पष्ट हो जाते हैं।

इन ग्रन्थों की भाषा, यद्यपि सर्वप्राचीन ईरानी के बहुत निकट है, तो भी वह ध्वनि-प्रणाली पर आधारित कुछ स्पष्ट और निश्चित विशेषताओं के कारण उससे पृथक् हो जाती है।

भारतीय-आर्य भाषा की दो विशेषताएँ हैं: प्रथम, मूर्धन्यों के नवीन वर्ग की उत्पत्ति; द्वितीय, ज़् और ज़्ं का लोप, यद्यपि उनके समकक्ष अघोष ध्वनियाँ बनी हुई हैं। शेष के लिए, प्रमुख विशेषताएँ ईरानी में हैं : प्रथम, सोष्म ध्वनियों का यथेष्ट विकास : महाप्राण अघोष ध्वनियों का सोष्मीकरण, सामूहिक दृष्टि से अघोष ध्वनियों का सोष्मीकरण (उदा० फ़्, सं० पेअं प्रं—'पहले'—ग्री० प्रो); द्वितीय, स् का ह् में परिवर्तन होना, घोष महाप्राण ध्वनियों का अ-महाप्राणत्व, तालव्य ध्वनियों का दन्त्य ध्वनियाँ हो जाना (अ० सत्अंम्, फ़ा० सद्, सं० शतम्—'सौ', अ० ज़ात, फ़ा० ज़ाद, सं० जातं—'पैदा हुआ'), व्यंजनों के मध्य में भारोपीय *अं से उत्पन्न इ का लोप। स्वर ऋ की दृष्टि से भी दोनों भाषाओं में अन्तर है।

इसके विपरीत रूप-विचार की दृष्टि से इतनी समानता है कि उसे लगभग पूर्ण (समानता) कहा जा सकता है; जो थोड़ी-सी विभिन्नता है वह किसी प्रधान बात पर आधारित नहीं है; अनेक प्रमुख बातों में से एक अति प्राचीन अ० मन, पु० फ़ा० मना के विरुद्ध संबंध० एकवचन, सं० मंम्—'मेरा' के पुनर्निर्माण की क्रिया में है। शब्दावली-संबंधी विभिन्नता को अलग करना कठिन है, क्योंकि, अन्य कारणों के अतिरिक्त, प्राचीन पोथियाँ दुर्लभ हैं और शैली नितान्त रूप से याजकों की है।

इस अंतिम कथन से कम-से-कम एक बात स्पष्ट हो जाती है कि दोनों भाषाओं की प्राचीन पोथियाँ काफ़ी निकट हैं; वास्तव में वे नैसर्गिक रूप से प्राचीन हैं। ऋग्वेद विभिन्न युगों का संग्रह है जिसकी कुछ बातें संभवतः भारत में आर्यों के बस जाने से पहले की हैं; उसमें शैली और व्याकरण की एकता रखी गयी है; किन्तु शब्दावली प्रकट करती है कि यह एकता कृत्रिम है; ग्रामीण ध्वनि-विशेषतायुक्त शब्दों का अस्तित्व और साथ ही उनकी विरलता से यह प्रमाणित होता है कि उनका चयन हुआ था। ज्यों-ज्यों

इन प्राचीन ऋचाओं का समझना तेज़ी के साथ कठिन होता गया, विभिन्न संप्रदायों ने उनका पाठ सुरक्षित रखा, व्याकरण-सम्बन्धी विशेषताओं का अध्ययन किया, अभिव्यंजनाओं का भाष्य किया ; अथर्ववेद या जादूगरों का वेद, संभवतः उतना ही प्राचीन है जितना ऋग्वेद, किन्तु अपने विषय के कारण अधिक लोकप्रिय, अनेक बातों के संबंध में भाषा की अत्यन्त प्रारंभिक अवस्था का द्योतन करता है।

हम देखते हैं कि भारतीय-आर्य भाषा के प्राचीनतम साक्ष्य एक मूलभूत कठिनाई प्रस्तुत करते हैं जो प्रत्येक युग के संबंध में पैदा होती है : वे केवल आंशिक रूप में भाषा का रूप प्रदर्शित करते और शैली-विधि बताते हैं, तथा वे अप्रचलित हैं। उतना ही अधिक वे भारतीय-आर्य भाषा के उस रूप का अत्यन्त अपूर्ण आभास देते हैं जो मूलतः भारत में प्रचलित हुआ था। उनमें नेताओं के अपने पुरोहितों और चारणों के साथ नगर-दुर्गों में या कम-से-कम उन दुर्ग-रक्षित गाँवों में, जो गंगा की घाटी में छितरे हुए निवास-स्थानों की दृष्टि से अब तक पंजाब की विशेषता है, बसने की झलक मिलती है; गाँवों में, कुओं और नहरों से सींचे जाने वाले खेत स्थायी निवास और धरती पर रम जाने के प्रमाण हैं। किन्तु आबादी के विभिन्न स्तरों ने किस भाग में कृषि-कर्म ग्रहण किया, किस सीमा तक आर्यों और मूल निवासियों में पारस्परिक घनिष्ठ संबंध स्थापित हुआ था ? इसके संबंध में बिल्कुल ज्ञात नहीं होता। हर हालत में नेताओं ने बर्बरों से मिलते-जुलते नाम ग्रहण किये जिससे उसी समय कुलीन वर्ग तक में मिश्रण हो जाना स्वीकार किया जा सकता है।

वैदिक ऋचाओं से भाष्य-साहित्य की ओर आने से, भौगोलिक सीमाओं के पूर्व की ओर फैलने और विस्तृत भाषा-संबंधी नवीनताओं के प्रमाण तुरन्त मिलने लगते हैं। ये अंतिम बातें क्या स्थानीय लोगों में आर्य भाषा के प्रसार के कारण थीं ? यदि धान की खेती का मतलब एक घनी और निरन्तर फैली हुई आबादी से, सूखे प्रदेशों के पशु-पालन और कृषि-कर्म की अपेक्षा अधिक घने सामाजिक संगठन से है, तो ऐसा मान लेने का लोभ होता है; श्री सिओं गंगा के भूमि-भागों में 'मिश्रण के उन प्रदेशों का, जहाँ भारतीय सभ्यता का जन्म हुआ, जहाँ वर्ण-व्यवस्था का विकास हुआ', अनुमान करते हैं (दे० 'एसी दै मूसो'', II, पूरा १९ वाँ अध्याय)। किन्तु यदि भाषा का बाद का इतिहास इसका प्रमाण नहीं देता, तो हमें उसे अस्वीकार करने का अधिकार है। जो पोथियाँ हमने देखी हैं उनसे उसके संबंध में कुछ ज्ञात नहीं होता; वे सांप्रदायिक साहित्य की हैं। भाषा, जो मंत्र—छंदस्— आदि का विरोध करते समय पाणिनि का प्रतिनिधित्व—निरंतर—करती है, ब्राह्मण वर्ग की शैली के अनुरूप है, और वह पाणिनि के जन्म-स्थान शलातुर के लोगों की नहीं है; ईसा से १५० वर्ष पूर्व की शैली, जो

उसके भाष्यकार दक्षिण-निवासी, पतंजलि, का प्रतिनिधित्व करती है, मध्य देश में शिक्षा-प्राप्त ब्राह्मणों की शैली का उदाहरण है। संस्कृत एक वर्ग की संपत्ति और सांस्कृतिक भाषा है। क्योंकि उसी समय कलिंग का राजा, खारवेल, अपने वीर-कृत्य एक ऐसी मध्यकालीन भारतीय भाषा द्वारा बताता है जो उसी समय परिष्कृत हो चुकी थी; एक शताब्दी पूर्व, वे अभिलेख जिनमें अशोक ने अपनी जनता को संबोधित किया है, विभिन्न बोलियों की विशेषताओं से युक्त मध्यकालीन भारतीय भाषा से प्रकट हुई हैं, और उससे भी पहले, संभवतः प्राचीन साहित्य की, निस्सन्देह हर हालत में ब्राह्मण कार्यों के विषय में, रचना-विधि के समकालीन महान् धार्मिक एवं सामाजिक सुधारों, बौद्ध, जैन धर्मों का इसी सामान्य भाषा में प्रचार हुआ था।

उस समय के बाद संस्कृत निर्जीव नहीं हो जाती, वरन् नवीन प्रयोग ग्रहण करती है। विदेशी विजेता राजकीय अभिलेखों के लिए उस पर अधिकार प्राप्त करते थे : १५० (?–अनु०) का ईरानी रुद्रदामन का शिला-लेख संस्कृत में है, जब कि उसके सातकनी (सातकर्णी ?–अनु०) प्रतिद्वन्द्वी भारतीय माध्यम का प्रयोग करते हैं (एस० लेवी, जे० ए० एस०, १९०२, I, १०९); कुछ बौद्ध संप्रदायों ने अपने धार्मिक नियम संस्कृत में लिखे हैं; स्वयं ब्राह्मणों ने उसका भौतिक विज्ञान जैसे चिकित्सा या अर्थ के लिये ऐसे साहित्य, महाकाव्य, के लिये जिसके द्वारा सर्वसाधारण को उपदेश दिया जा सकता है, प्रयोग किया। किन्तु इन वर्गों अथवा नये बसे हुए लोगों को संबोधित करने के लिए, संस्कृत की प्राचीन रहस्यात्मकता दूर करना अनिवार्य था।

उसका व्याकरण सरल हो जाता है, जैसा कि एक ऐसी भाषा में होना चाहिए जो देशी (native) नहीं रह जाती और जिसका समझना अनिवार्य हो जाता है, उदाहरणार्थ उसमें विकरणयुक्त संज्ञाओं के करण० और कर्त्ता० बहुवचन में केवल प्रत्यय रह जाता है; यह सरलता क्रिया में विशेषतः प्रकट होती है जहाँ परिवर्तन-क्रम पूर्णतः लुप्त होने लगते हैं, जब कि दूसरी ओर सादृश्य में सामान्य रूप पाये जाते हैं। रूप-विचार के विपरीत, प्राचीन शब्दों के अप्रचलित हो जाने पर भी शब्दावली अत्यधिक समृद्ध हो जाती है; और यह न केवल क्योंकि पोथियों में नये विषयों का निरूपण होता है, वरन् क्योंकि नयी आर्य बोलियाँ और देशी भाषाएँ नवीन शब्द ले आती हैं। इस प्रकार संस्कृत समाज के उच्च वर्गों की भाषा रह गयी; किन्तु इस संस्कृत और वैदिक (संस्कृत) के बीच अन्तर मिलता है।

इसका निष्कर्ष है कि यह भाषा किसी प्रकार का ऐसा साक्ष्य नहीं है जिसका भाषा-विज्ञानी सीधे-सीधे उपयोग कर सकता हो : वह उसे यह प्रदर्शित करने की सुविधा प्रदान करती है कि संस्कृत के रूप में पुरानी भाषा परिवर्तन के लक्षण ग्रहण किये हुए थी, किन्तु

यह मध्यकालीन भारतीय भाषा के परिवर्तन-क्रम के रूप में माना जाना चाहिए। यह कोई संयोग नहीं है कि महाभारत में अनेक ऐसे छन्द मिलते हैं जो बौद्ध धार्मिक नियम की छन्द-सूची में फिर मिलते हैं, साथ ही, अधिक उचित रूप में, जो अवेस्ता और वेद से मेल नहीं खाते; एक ही भाषा के ये दो परिवर्तन-क्रम हैं, जिनका विकास वास्तव में क्लैसीकल संस्कृत छिपाये हुए है और जिनकी प्रवृत्ति ठीक-ठीक रूप में मध्यकालीन भारतीय भाषा में प्रतिबिंबित होती है।

तब भी महाभारत, स्मृतियों आदि की संस्कृत एक ऐसी मध्यकालीन भारतीय भाषा पर आधारित है जिसे वह कुलीन रूप प्रदान करती है। बाद का क्लैसीकल साहित्य साधारण बोलने वालों से पूर्णतः पृथक् हो जाता है; इस काल में मध्यकालीन भारतीय भाषा अत्यन्त प्रचलित रूप में लिखित भाषाओं की सामग्री प्रस्तुत करती है—गीति-कविता की, नाटक की, उपदेश की; संस्कृत फिर से एक संप्रदाय की भाषा बन जाती है जिस तक केवल श्रेष्ठ वर्ग की पहुँच रही, 'देववाणी' ने अधिक सामान्य प्रयोग ग्रहण किये, किन्तु वह 'ऊँचाई से पृथ्वी का केवल स्पर्श करती है' (एस० लेवी)। उसका व्यवहार करने वाले विशिष्टवर्गीय लोग उसके साथ मनमौजी तरीके से खेल करते हैं; वे उसके परंपरागत व्याकरण का पूर्ण कट्टरता और भद्देपन तक के साथ प्रयोग करते हैं; जैसा कि संधि और सामान्य यौगिक शब्दों के अत्यधिक विस्तार में पाया जाता है; जहाँ तक उसके शब्द-भंडार का संबंध है, वे कुछ शब्दों को उनका वैदिक अर्थ प्रदान करते हैं (श्लोक—'यश'), वे आंशिक पर्यायवाचियों की तुलना पर अर्थ-विस्तार करते हैं (द्वन्द्व- के अनुसार युद्ध- 'जोड़ा'; अम्बर- के अनुसार वस्त्र- 'आकाश'), वे उससे मनमाने व्युत्पन्न (शब्द) निकालते हैं; श्री वाकरनागेल (Wackernagel) ने दिखाया है कि वे किस प्रकार एकमूलक भिन्नार्थी शब्दों में से एक शब्द में अर्थ-विभाजन करते हैं (पारय—'विरोध, शक्ति', पालय—'आश्रय देना, रक्षा करना'; रभ्—'ग्रहण करना', लभ्—'पाना, लेना'; शुक्र—'ग्रह विशेष', 'वीर्य', शुक्ल-'सफ़ेद')। किसी भी जीवित भाषा में ऐसी विचित्रताओं पर नियंत्रण नहीं होते; भाषाविज्ञानी यदि क्लैसीकल संस्कृत में शैली के इतिहास के अतिरिक्त कुछ और खोजता है तो उसके हाथ लगभग कुछ भी नहीं लगता।

मध्यकालीन भारतीय भाषा की ओर फिर से आइए, हमने देखा कि जिसका विकास उस युग से पहले का है जिसे महाभारत नामक महाकाव्य से द्योतित किया जा सकता है। बौद्ध सम्राट् अशोक के शिलालेखों के रूप में (ईसा पूर्व २७० या २५० के लगभग) हमें उसका एक स-तिथि साक्ष्य मिलता है, जो साथ ही संपूर्ण भारतीय इतिहास का प्रथम स-तिथि साक्ष्य है। उनकी तिथि और उनकी सापेक्षिक निष्कपटता

के अतिरिक्त, अनेक वास्तविक भाषाओं का तत्कालीन ज्ञान कराने में उनका लाभ है, जो सर जॉर्ज ग्रियर्सन कृत 'लिंग्विस्टिक सर्वे' के संपादन होने के समय तक विलक्षण है।

वे चार वर्गों में विभाजित हैं: भारत के उत्तर-पश्चिम की ओर सीमा पर खरोष्ठी (अथवा खरोष्ट्री; आरमीनी द्रुत हस्तलिपि से उत्पन्न) लिपि में शिलालेख, जिनमें संस्कृत ऊष्म विद्यमान हैं, जिनमें ऋ का, ऊष्म+व् का ईरानी रूप है, जिनमें विकरणयुक्त रूप पुल्लिग संज्ञाओं का अधिकरण -ए या अस्पि में है; गिरनार के शिलालेख, जिनमें 'द्व्, त्व्' 'ब्द्, त्प्' हो जाते हैं, जिनमें संज्ञाओं का अधिकरण -ए या -अम्हि में है; गंगा की घाटी और महानदी के उद्गम के शिलालेख, जिनकी विशेषता र् के स्थान पर ल् के प्रयोग, संस्कृत अंतिम –अः से उत्पन्न –ओ का -ए में परिवर्तन, मध्य वर्तमान कालिक कृदन्त, -अ(स्) सि में सामान्य एकवचन अधिकरण, आदि में है। अंत में दक्खिन का शिलालेख, जो इसके अतिरिक्त कि उसमें र् कम-बढ़ रूप में ल् की ओर समझ पड़ता है, अंतिम से साम्य रखता है; भावरा के शिलालेख [स्वर-मध्यग ल्, र् एक साथ; किन्तु बैरट (वैराट ?-अनु०) वाला अंश बिल्कुल समीप नहीं है], साँची का स्तंभ, रूपनाथ और दूर दक्षिण में तुंगभद्रा (मस्की, सिद्दपुर, कोपवल, एरागुडी) की घाटी का संपूर्ण (सोपारा ?-अनु०) समुदाय, अंत में पश्चिम की ओर सोपरा का संबंध इसी समुदाय से है।

यह विभाजन ज्ञात साहित्यिक बोलियों में से कुछ के साथ नितान्त सादृश्य-विहीन नहीं है; उत्तर-पश्चिमी समुदाय का ह० दुत्रु० से साम्य है; गिरनार बौद्ध पाली के निकट है; गंगा वाला समुदाय क्लैसीकल नाटकों की मागधी के; अन्त में दक्खिन में सुरक्षित र् और -ए में कर्ता० एकवचन का सहअस्तित्व जैन धर्म-नियम की याद दिलाता है। किन्तु इन समानताओं को गंभीरतापूर्वक लेने से, दो मुख्य क्लैसीकल प्राकृतों की, यद्यपि उनके भौगोलिक नाम हैं, तुल्यता का अभाव मिलता है: शौरसेनी और महाराष्ट्री। इसके अतिरिक्त अशोक के समय के लगभग निकट के कुछ शिलालेख मिलते हैं, जिनकी विशेषताएँ उनके शिलालेखों से केवल आंशिक रूप में मिलती हैं। ऐसा मगध (की बोलियों) के संबंध में, समीप के ऊष्मों की विविध अनुलेखन-पद्धतियों में (सौगोहरा में ससने, पीप्रवा में सलिल, किन्तु रामगढ़ में शुतनुक, बरबर में दषलथा, अशोक के पौत्र का नाम) मिलता है। कुषाणों के शिलालेखों और शहबाजगढ़ी की बोलियों में भी समानता है; किन्तु कुछ विरोध भी हैं, जिन्हें बताने में समय का व्यवधान अयथेष्ट है। 'गंगा की' अशोक-शैली में लिखित, सोपरा वाला अंश एक ऐसे प्रदेश में मिलता है जहाँ र् और कर्ताकारक -औ वाले शिलालेख बहुत हैं (नासिक, नानाघाट, कर्ले, कुदा); मध्य भाग में भी स्वयं भरहुत, भिलसा, वेसनगर, साँची में यही बात है। पूर्व की

ओर, धौली के अति निकट उदयगिरि में, अशोक से एक शताब्दी बाद, खारवेल की प्रशस्ति यही विशेषताएँ प्रदर्शित करती है।

भौगोलिक स्थानीयता की अपेक्षा और बातें भी विचारणीय हैं; किन्तु समूचे द्रविड़ प्रदेश में, कृष्णा के निम्न भाग में शिलालेख धारण किये हुए स्तूपों की भाँति—जिनमें र् और ओ हैं—तुंगभद्रा समुदाय का अस्तित्व उन बातों की ओर संकेत करने के लिए यथेष्ट होगा।

तो प्राचीन उत्कीर्ण लेखों से यह तुरंत ज्ञात हो जाता है कि मध्यकालीन भारतीय भाषा विभाजित थी, और कुछ भाषाएँ अपने प्रधान क्षेत्रों से बाहर फैल गयी थीं। किन्तु नकशे में विस्तार के उन केन्द्रों को बताना असंभव है। केवल मागधी का विस्तार स्पष्ट है: इस दृष्टि से अशोक की बोली को, जिसके चिह्न पश्चिम में दिल्ली और उसके बाद तक मिलते हैं, 'पूर्वी' कहना उचित होगा। अन्य सामग्री विभाजन के केवल नवीन प्रमाण देती है, और स्थानीयता की नयी समस्याएँ प्रस्तुत करती है।

बौद्धों की कृपा से, हमारे पास उन भाषाओं के संबंध में कई प्रमाण मिलते हैं, जो ऐसा प्रतीत होता है, वैयाकरणों द्वारा व्यवस्थित नहीं हुईं; जो किसी भी हालत में गंगा की घाटी वाले भारत से आयी हुई भाषाओं द्वारा परिमार्जित नहीं हुईं। झेलम के पश्चिम में—शहबाज़गढ़ी के भूमि-भाग में—अनेकानेक कुषाण शिलालेखों का उल्लेख किया जा चुका है, किन्तु जो दक्षिण में मोहेंजोदड़ो तक और पूर्व में मथुरा तक मिलते हैं; वे प्रत्यक्षतः आपस में संबंधित हैं, जो, एक ओर शहबाज़गढ़ी के शिलालेख की लिखावट में, और दूसरी ओर दुत्रु० की हस्तलिखित पोथी में, ईसवी सन् के लगभग पंजाब से खोतान लाये हुए एक धर्मपद के अंश, अंत में कुछ विस्तार की दृष्टि से उसी समय तुर्किस्तान में, निय (Niya) और लोप-नोर (Lop-nor) तक, प्राप्त अभिलेखों की भाषा की लिखावट में स्पष्ट—और संभवतः कुछ-कुछ उसे लिखने की विधि पर निर्भर—हैं। किन्तु यह अंतिम, क्योंकि वह व्यावहारिक बातों की भाषा के अनुरूप और साहित्य से स्वतंत्र है, औरों के संसर्ग से बहुत विकसित हुई है; इसके अतिरिक्त कुछ स्पष्ट अन्तर हैं: अशोक वाला अधिकरण एकवचन -अस्पि फिर अन्य शाखाओं में नहीं पाया जाता; और कुषाणों का –अ(म्)मि, निय का -अंमि भी धम्मपद में, जिसमें दीर्घ रूप के स्थान पर संबंधकारक हो जाता है, नहीं है: जिससे पा० अस्मिम् लोके परम्हि च—इस लोक में तथा दूसरे में—के विरुद्ध अस्मि लोकि परसयि होता है। केवल ह० दुत्रु० में अनुनासिक के बाद आने वाली स्पर्श ध्वनि का मुखरीकरण हो जाता है, जब कि अशोक के शिलालेखों में पूर्वकालिक कृदन्त -ति अथवा -तु में, कुषाणों के में -त(करित) में है, तो हस्तलिखित पोथी

कित्व (पा० कत्वा), चित्वंन (पा० चेत्वान) बनाये रखती है, और कुषाण लिखिय के विरुद्ध वही निहै (पा० निधाय) प्रस्तुत करती है; विकरणयुक्त रूप का कर्त्ताकारक एकवचन पुल्लिग अशोक के लेखों में **-ओ**, दुत्रु० में -ओ या-उ में होता है, किन्तु वरदक (Wardak) वाले को छोड़ कर सिन्धु के पश्चिम वाले शिलालेखों में -ए (खुदे कुए-'खुदे हुए कूंए') है; निय वाले में कर्ताकारक का अन्त बदल जाता है; किन्तु **तदे** (ततः, जैसा कि अशोक वालों में) प्रकार और श्रुदेमि 'मैंने सुन लिया है' का नवीन रूप प्राचीन **-ओ** के परिवर्तन को ही प्रदर्शित करते हैं।

क्या यह अंतिम परिवर्तन स्थानीय प्रभावों के कारण है (दे० कोनोव, 'खरोष्ठी इंस्क्रिप्शन्स', पृ० CXII) ? इस परिस्थिति में अशोक के गंगा की घाटी वाले शिलालेखों (अशोक० तखसिलाते, मुखते : ततो पछा की निय खोतंनदे, तदे : ततो पचा : ७२२ बी ८ से समानता द्रष्टव्य है), में मिलने वाली एक सी बातों के परिवर्तन से उसे पृथक् करना चाहिए, और उनसे जो सिंहल में भी मिलती हैं : क्योंकि सिंहली उत्कीर्ण लेख-विद्या अशोक की तरह की लिपि में लिखे गये छोटे शिलालेखों में अभिव्यक्त हुई है : महलेने.......सगस (उसी समय महाप्राणत्व का लोप देखिए) दिने—'संघ को दी-गयी बड़ी गुफ़ा'।

किन्तु ख़ास भारत के स्तूपों के शिलालेखों में यह अंतिम **-ए** नहीं है। वे सब सिंहली धर्म-नियम की भाषा पाली के, उससे साम्य स्थापित किये बिना, निकट हैं। उदाहरणार्थ साँची और भरहूत में अपादानार्थक -आँतो, पा० -अतो में है; यह अन्तर काल-क्रम के कारण हो सकता है; किन्तु भिछु (भिक्षु-) रूप पा० भिक्खु- से मेल नहीं खाता; न्हुसा, नुसा (स्नुषा) पा० सुण्हा, हुसा (किन्तु यह दूसरा रूप कुछ तीव्र) से मेल नहीं खाते। जहाँ तक स्वयं पाली, जो सिंहल में लायी गयी है, से संबंध है, यह कहां से आया ? बौद्धों ने उसे मागधी नाम दिया है, यह उसके भाषा-विज्ञान वाले रूप के अनुरूप नहीं है, किन्तु यह बात स्पष्ट हो जाती है यदि हम श्री प्रिज़िलुस्की का यह कथन स्वीकार कर लें ('ल लेज़ाँद द लाँपर्योर अशोक', पृ० ७२, ८९) कि धर्म-नियम कोसांबी में लिखा गया था, जहां 'पूर्वी' बोली में अशोक का एक शिलालेख वास्तव में मिलता है; तो भी यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि बौद्ध संघ की भाषा कहीं और से आयी, भरहूत सीधे सौ किलोमीटर से अधिक है, और इसके अतिरिक्त यह देखा जा चुका है कि वहाँ के शिलालेख बिल्कुल ठीक पाली में नहीं हैं। और दूर खोज की गयी है : स्वयं उज्जैन में, तक्षशिला में, बिना निश्चित प्रमाणों के। किंतु एक ओर तो पाली का ठीक-ठीक उत्पत्ति-बिन्दु और इस संबंध में युगकी स्थानीय भाषा के मूल प्रमाण, कि यह भाषा हमारी पोथियों की पाली से निस्संदेह मेल

नहीं खाती, खोजे जाने चाहिए। क्योंकि परंपरा के अनुसार थेरवाद का धर्म-नियम सिंहल में ईसवी सन् से कुछ पूर्व लिपिबद्ध हुआ था। दूसरी ओर ४७० ई० के लगभग, मगध के एक ब्राह्मण, बुद्धघोष के, जिसे संस्कृत न केवल ज्ञात थी, किन्तु उस समय जब कि उसकी टीकाएँ लिपिबद्ध हुईं वह विद्यमान थी, निरीक्षण में उसकी टीका हुई थी; और यह अनुमान किया जा सकता है कि उसका पाठ संस्कृत आदर्श को ध्यान में रखते हुए दुहराया गया भी है; सबसे प्राचीन लिपि, जो हस्तलिखित पोथियों की परंपरा को पुनः स्थापित करती है, १२वीं शताब्दी की है, जब कि वैयाकरणों ने सामान्य भाषा का विधिपूर्वक उल्लेख किया है (एच० स्मिथ; 'सद्दनीति', पृ० vi)। इसके अतिरिक्त पुरुषवाचक संज्ञाओं और पारिभाषिक संज्ञाओं की कुछ अनियमितताओं के कारण श्री एस० लेवी (जे० ए० एस०, १९१२, II, पृ० ४९८) ने भाषा-विज्ञान की दृष्टि से एक अति मिश्रित 'पूर्व-धर्म नियम'-भाषा के चिह्न पाये हैं, और जो अशोक-कालीन पवित्र पोथियों का संकलन करते समय काम में लायी जा चुकी थी (यह वास्तविक बौद्ध 'मागधी' तो नहीं है?)। तो निष्कर्ष यह निकलता है कि जैन धर्म-नियम, जो बौद्ध धर्म-नियम के लगभग समकालीन होने चाहिए, संभवतः एक ऐसी भाषा में सुरक्षित हुए थे जिसका रूप कहीं अधिक नवीन था, बौद्धमत के विपरीत, जैनमत ने, 'कहना चाहिए, अर्द्ध-मागधी को मूल आधार मान कर, उसे पवित्र भाषा के रूप में ग्रहण किया' (एस० लेवी); राजकीय, खारवेल की, प्रशस्ति के लिए, एक अधिक श्रेष्ठ, पाली के निकट, भाषा का प्रयोग होते देखा जाता है; किन्तु दोनों भाषाएँ साहित्यिक भाषाएँ हों, और लोक-प्रचलित भाषाओं की अनुकरण-मात्र न हों, यह बात अनेक शैली-रूपों की शृंखला से तुरंत प्रकट हो जाती है।

बौद्धों ने तो—बिना संस्कृत भाषा के—एक और साहित्यिक भाषा का व्यवहार किया है। मथुरा में संस्कृत के अति निकट, किन्तु अशुद्ध, शैली में लिखित जैन, बौद्ध और साथ ही ब्राह्मण शिलालेखों का एक पूरा भंडार है; उनमें अपादानार्थक पुल्लिग -आतो में, संबंध० एकवचन -आये में, संबंध० पुल्लिग जैसे, भिक्षो भिक्षुनी तथा भिक्षुस्य, करण० धितरे पाये जाते हैं; और नेपाल में भी अन्यत्र न मिलने वाली, किन्तु मथुरा के शिलालेखों से मिलती-जुलती, 'मिश्रित संस्कृत' में बौद्ध ग्रन्थों का रूपान्तर हुआ है, उन्हीं में, संस्कृत लिखने का निरर्थक प्रयास नहीं, वरन् कुछ-एक स्थानीय भाषा को साहित्यिक रूप देने की अव्यवस्थित चेष्टा है; बोली की असम्बद्धता, न केवल एक पोथी से दूसरी पोथी में, वरन् समान पोथियों में, हर हालत में यह सिद्ध करने के लिए यथेष्ट है कि वह केवल प्रतिकृति मात्र नहीं हो सकती।

यदि क्लैसीकल साहित्य की प्राकृतों पर विचार किया जाय तो समस्या और भी

दुरूह हो जाती है। यह तो ज्ञात ही है कि नाटक में विभिन्न पात्र विभिन्न भाषाएँ बोलते हैं; संस्कृत राजा और ब्राह्मणों से, शौरसेनी स्त्रियों और औसत दर्जे के लोगों से, इसी प्रकार मागधी विदूषकों से संबंध रखती है; इसमें गेय छन्दों के लिए नियत महाराष्ट्री की और उन उप-बोलियों की, जिनके भार से, अवतरणों से, अधिकतर वैयाकरण दबे रहते हैं, गणना नहीं है। मिश्रण का सिद्धान्त भारतवर्ष में असंभव नहीं है; यही नहीं कि रंगमंच पर भाषाओं के विभाजन से दर्शकों की भाषाओं का विभाजन सदैव प्रतिबिंबित होता हो; किन्तु एक स्वयं विभाजित समाज में और परिवर्तनशील तत्त्वों के कारण, अत्यधिक विभिन्न (किन्तु वास्तव में संबंधित) भाषाएं सदैव बाधा उपस्थित करती हैं। आज भी एस० के० चैटर्जी के रोचक वर्णन ('इंडियन लिंग्विस्टिक्स', I में 'कैलकटा हिन्दुस्तानी', पृ० १२) में यह देखने को मिलता है कि कलकत्ते के एक मध्यमवर्गीय धनी व्यक्ति का घर 'बाबल की मीनार' हो सकता है। दुर्भाग्यवश भाषाविज्ञानी के लिए, समाज का चित्र प्रस्तुत करने की दृष्टि से, संस्कृत रंगमंच का उतना महत्त्व नहीं है जितना हमारी 'कॉमेडी ऑव मैनर्स' का; वह वास्तव में, जैसा कि एस० लेवी ने कहा है, महाकाव्य और कथा के दृश्य का रूपान्तर है। ऐसी परिस्थिति में पात्रों द्वारा प्रयुक्त मानी गयी भाषाओं के आधार पर उसमें प्रमाण खोजना मौलिक भूल होगी। शौरसेनी, जो वास्तव में आधार है, उच्च श्रेणी की स्त्रियों और निम्न श्रेणी के पुरुषों की भाषा नहीं है, किन्तु वह, जिसका निस्संदेह शैलीकरण हो चुका था, उन समुदायों की है जिन्होंने, मथुरा से बाहर, भारत में रंगमंच का प्रचार किया; नाटकों की मागधी शैलीकरण का परिणाम है, यह इस बात से स्पष्ट है कि सं०-अः के लिए -ए का प्रयोग केवल संज्ञाओं के कर्ताकारक एकवचन में हुआ है, अन्य अवसरों पर नहीं, जैसा कि अशोक० में पाया जाता है। इसके अतिरिक्त नाटकों की प्राकृतों का यह शैलीकरण कम-से-कम दो कालों में हुआ, क्योंकि अश्वघोष के अवतरण, भास के बताये जाने वाले अंश और भरत के ग्रंथ में सुरक्षित गीति-अंश भाषा की उन परिस्थितियों के द्योतक हैं जो क्लैसीकल नाटकों से पहले की हैं; इस युग की स्वयं परंपराएँ भिन्न हैं, क्योंकि भरत के गीति-छन्द शौरसेनी में हैं न कि महाराष्ट्री में [एम्० घोष, IHQ. VIII (१९३२), पृ० ९] और भरत, अश्वघोष द्वारा समर्थित, नाटक में अर्द्धमागधी को स्वीकार करते हैं (ल्यूडर्स ब्रूखटघुके बुद्ध० ड्रामेन, पृ० ४२)। हम उस प्राचीन शृंखला के, जो वास्तव में क्लैसीकल की अपेक्षा सामान्य भाषाओं से कम पृथक् थी, और उदाहरण ग्रहण करना पसन्द करेंगे; यह महत्त्वपूर्ण बात है कि भरत ने विभिन्न पात्रों की बोलियों को 'भाषा' कहा है, न कि परवर्ती लेखकों की भाँति, एक विशेष अर्थ-सहित 'प्राकृत', जिसमें प्राचीन 'ग्राम्य' भाव (हो सकता है

जैसा कि राजाओं और देवताओं की भाषा के विपरीत 'जनसाधारण' की भाषा; प्रत्युत हो सकता है जैसा कि 'संस्कृतम्'—शिष्ट—की भाषा के विपरीत 'निम्न' की भाषा, समझी जाती है) अधिक प्रतीत नहीं होता।

नाटक में विरलता के साथ व्यवहृत महाराष्ट्री का प्रयोग, विद्वत्तापूर्ण महाकाव्य और लोकप्रिय गीति-कविता में, विषय की दृष्टि से बहुत कम, किन्तु शैलीगत अत्यधिक परिमार्जन की दृष्टि से, हुआ है; जैन प्राकृत उसके निकट है। प्राकृत रूप ही है जिसे दण्डिन् ने 'प्रकृष्ट'- कहा है, क्योंकि वह सर्वाधिक विकसित है। उसमें स्वर-मध्यग व्यंजनों का, जो शौरसेनी में अब भी मुखर (घोष) अवस्था में पाये जाते हैं, पूर्ण लोप हो जाता है—और फलतः उसमें 'मअ'- मत-, मद-, मय-, मृत-, मृग- का प्रतिनिधित्व कर सकता है। यदि गायकों के लिए अधिक-से-अधिक स्वर रखने का, और विद्वानों के लिए अधिक-से-अधिक समस्याएँ प्रस्तुत करने का उसमें लाभ था, तो आधुनिक भाषा-विज्ञानी के लिए भी वह महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उससे भारतीय-आर्य भाषा के विकास की एक आवश्यक श्रेणी का द्योतन होता है, और साथ ही क्योंकि वह द्वयर्थक शब्दों को स्पष्ट करने की दृष्टि से फ्रांसीसी के लिए जो स्थान लैटिन का है उसकी अपेक्षा अब भी अधिक आवश्यक भाषा संस्कृत तक पहुंचने की उपयोगिता मापने का अवसर प्रदान करता है।

पूर्णता की दृष्टि से अभी पैशाची का उल्लेख करना आवश्यक है, जो एक बाद के प्रमाण के अनुसार एक बौद्ध संप्रदाय द्वारा प्रयुक्त हुई, और जो गुणाढ्य के मध्यमवर्गीय महाकाव्य के लिखने में व्यवहृत हुई है : इस बृहत्कथा के केवल कुछ अंश शेष हैं। इस प्राकृत की प्रमुख विशेषता थी मुखरता की कठोरता; प्रधानतः 'पिशाच जैसा' उच्चारण, उसमें स्थानीयता अथवा (क्योंकि वैयाकरणों के अनुसार उसके विविध रूप थे) ठीक-ठीक स्थानीय रूपों को खोजने की संभवतः भूल पायी जाती है।

प्रारंभ से ही अपेक्षाकृत पांडित्यपूर्ण, और अधिकाधिक कृत्रिम, प्राकृत साहित्य का अस्तित्व बहुत बाद तक बना रहता है; वह अभी संस्कृत से अधिक निर्जीव नहीं होता। इस बात की सरलतापूर्वक कल्पना की जा सकती है कि उसका प्रचलित भाषाओं से पृथक्करण अनिवार्यतः अधिकाधिक स्पष्ट हो जाता है। यदि सामान्य रूप, समस्त शिक्षा का आधार, संस्कृत से निकल सकते हैं, तो उनमें व्याकरण में अज्ञात शब्दों के अर्थ या रूप, संस्कृत की भांति, क्रमशः प्रवेश पा सके थे। ऐसी धातुओं, और ऐसे क्षेत्रीय शब्दों की, आधुनिक शब्द-व्युत्पत्ति-तत्त्वज्ञ के लिए महत्त्वपूर्ण, सूचियाँ प्रस्तुत करना अत्यन्त आवश्यक है।

अंत में स्वयं प्राकृत का स्थान-च्युत होना प्रारंभ हो जाता है। अभी ऐसी नवीन भाषा द्वारा नहीं जिसने अपना निजी रूप धारण कर लिया हो; किन्तु प्राकृत के अनुरूप

एक नवीन भाषा, अपभ्रंश, द्वारा। अपने धार्मिक ग्रन्थों के लिए जैनों ने प्राकृत को बनाये रखा; किन्तु शेष के लिए उन्होंने अपभ्रंश को चुना—इस परिवर्तन का एक प्रधान उद्देश्य उससे देशी (शब्दों) को निकाल देना था।

अपभ्रंश नाम स्थानीय नहीं है; प्राकृत और संस्कृत की तरह वह गूढ़ है, और उनके विपरीत है। प्रारम्भ में उसका अर्थ था, वह जो 'विपथगामी' है; पतंजलि ने उसका प्रयोग, अपने समय की संस्कृत में सामान्य, किन्तु उनकी दृष्टि से अशुद्ध, प्राचीन मध्य-कालीन भारतीय भाषा के कुछ रूपों के लिए किया है। जब कि मध्यकालीन भारतीय भाषा उन्नत और आदर्श हो गयी थी, 'अपभ्रंश', भरत के अनुसार 'विभ्रष्ट', निश्चित रूप से ऐसे रूपों को प्रभावित कर रही थी जो उस समय अधिक विकसित तो हो गये थे, किन्तु जो साहित्य में आदर्श नहीं समझे जाते थे। लेकिन अब समय आ गया था जब कि न केवल उसके रूपों की कुछ संख्या प्राकृत में प्रवेश पा गयी थी, वरन् यह भाषा-स्थिति प्राकृत-समीप रचनाओं में स्वीकार कर ली गयी थी; छठी शताब्दी की एक काव्यशास्त्र-संबंधी रचना ऐसे ही वर्ग की है; इसी काल में वलभी का राजा गुहसेन, उसके पौत्र के अनुसार, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, तीन भाषाओं का उत्कृष्ट लेखक था। और बाद को वैयाकरणों ने, प्राकृतों के साथ-साथ इस भाषा पर विचार करते समय, प्राकृतों के साथ उसका समन्वय किया है। वास्तव में उसका सबसे अधिक प्राचीन प्रमाण जो हमें उपलब्ध है वह अधिक-से-अधिक सन् १००० का है और राजस्थान तथा गुजरात के जैनों से संबंधित है; लिखित रचनाओं के लिए आवश्यक प्राकृतीकरण को वास्तव में निर्धारित करने वाली भाषाओं का उस पर प्रभाव प्रतीत होता है। तत्पश्चात् अपभ्रंश अपने जन्म-स्थान से विच्छिन्न हो जाती है और समस्त उत्तर भारत में फैल जाती है; जैन धर्म ही उसका अकेला कारण नहीं है : उदाहरणार्थ, वीर महाकाव्यों की ब्रज में उसके रूपों का मिश्रण मिल जाता है। बहुत शीघ्र ही, परवर्ती बौद्ध मंत्रों द्वारा समर्थित, एक पूर्वी रूप मिलता है जिसका प्रभाव मिथिला के विद्यापति कृत वैष्णव पदावली पर पाया जाता है, और कुछ अंशों में प्राकृत छन्द-शास्त्र, 'प्राकृत पिंगल' के उदाहरण प्रस्तुत करता है; भाष्यकारों ने उसे तुरंत ही मूल रूप और स्थानीय व्यतिक्रमों की याद दिलाने वाले 'अवहट्ट-भाषा' नाम से पुकारा है।

अपनी पूर्ववर्ती साहित्यिक भाषाओं की भाँति, अपभ्रंश का प्रसार उन प्रदेशों में स्वभावतः सरलतापूर्वक हुआ जहाँ भाषाएँ अपने मौलिक रूप से अलग नहीं हुई थीं, और जहाँ, राजपूत चारणों की भाँति, कविगण अपने अनेक भाषाओं के ज्ञानक्रम में उसे एक अतिरिक्त गुण समझते थे; उसमें लिखित ग्रन्थों में किसी व्यक्ति द्वारा खोज करते समय उलझन में डालने वाले उच्च तथा संगत रूपों और ग्राम्य भाषाओं के मिश्रण स्पष्ट

हो जाते हैं। अपभ्रंश प्राकृत के साथ अनिश्चित, कभी-कभी बहुत अधिक, परिमाण में मिश्रित है; इसके अतिरिक्त वह नवीनता-सूचक 'बोलीपन' ग्रहण करती है; अस्तु, उससे भाषा-संबंधी एक स्थिति का पता चलता है, न कि एक भाषा का।

यह तो यथेष्ट रूप में ज्ञात है कि इससे वह अपवाद प्रस्तुत नहीं करती; प्राचीन भारत की एक भी लिखित भाषा का स्पष्ट प्रमाण की दृष्टि से मूल्य नहीं है। क्योंकि लेखकों के लिए जो महत्त्वपूर्ण है, जो उन्हें अभिव्यंजना का साधन चुनने के लिए प्रेरित करती है, वह न जातीयता है और न प्रादेशिकता : जैसा कि क्लैसीकल प्राकृत के संबंध में देखा जाता है, वह तो, वर्ण-व्यवस्था द्वारा (विभक्त) मनुष्यों की भाँति, कठोरतापूर्वक विभक्त शैलियाँ (genres) हैं। स्वयं वेद में, तिथियों की विभिन्नताएँ आर्ष प्रयोग की निरंतर असमानताओं के कारण हैं। स्वयं उपासना-पद्धति-संबंधी पाठ, जो बाद के प्रतीत होते हैं, उन संप्रदायों की रचनाएँ हैं जिनकी भाषा निस्संदेह पूर्वकालिक कवियों की अपेक्षा और उन बौद्ध संप्रदायों की अपेक्षा, जो साथ ही संस्कृत तथा स्वयं शैली-बद्ध हो गये मध्यकालीन भारतीय भाषा के विभिन्न रूपों का प्रयोग करते हैं, स्वाभाविक भी थी। जहाँ तक उत्कीर्ण लेखों से संबंध है, अशोक के लेख एक सुन्दर अपवाद हैं; तो भी इस बात की कल्पना की जा सकती है कि सूक्ष्म विश्लेषण द्वारा उनके रूप प्रकट हो जायँगे, जैसा कि उद्धरणों से उनका स्पष्ट होना ज्ञात है। हर हालत में दक्खिन के कुछ उत्कीर्ण लेख, खारवेल की प्रशस्ति की भिन्नता केवल प्राचीन गद्य की बोली के कारण है।

तो मध्यकालीन भारतीय भाषा की विविधरूपता भाषाशास्त्री के लिए बहुत कम सहायक है। भाषाओं को स्थानीय बनाना असंभव है; उनकी आंतरिक विशेषताओं द्वारा उन्हें निर्धारित करना, उनके अपने जन्म के ही अनुरूप, केवल एक दुर्बोध रीति से ही हो सकता है, जो सामान्यतः स्वाभाविक और एक बाह्य रूप के, जो संस्कृत का है, अनुकरण पर नियमित है। इसलिए अधिक उत्तम प्रणाली जो इस कार्य को संपन्न करने के लिए ग्रहण की जा सकती है और जो हमारी योजना के अनुकूल भी है, वह सामग्री देखने में नहीं, वरन् भारोपीय भाषा की क्रमागत स्थितियों के चिह्नों पर एक साथ विचार करने में है। बीच की श्रेणियाँ जानने अथवा अपूर्ण विकासों का अनुमान करने की अपेक्षा दोनों में से किसी एक में उपलब्ध विस्तारों से उसे निर्धारित करने से हमारे उद्देश्य की पूर्ति कम होती है।

साथ ही यह रूप स्वयं भारतीय सभ्यता की एकता द्वारा समर्थित है; इसलिए उसके द्वारा अभिव्यक्त साहित्य की विशेषता एकदम एक विस्तृत क्षेत्र में असाधारण अविच्छिन्नता में, और एक शक्तिशाली सामाजिक संगठन में है जो असंख्य विभेदों

द्वारा वर्णगत श्रेणी-विभाजन-संबंधी कल्पना लादने वाला है, जिसमें, संस्कृति का अधिकारी और व्यवस्थापक ब्राह्मण सबसे आगे है।

यह कोई नहीं जानता कि भारतीय-आर्य भाषा के विभिन्न रूप विविध सामाजिक वर्गों में अथवा अनेक क्षेत्रों में कितनी गहराई तक प्रवेश कर चुके हैं; राजनीतिक इतिहास भाषाओं के केन्द्रों और विकास-शक्ति पर कोई प्रकाश नहीं डालता; किन्तु भारतीय सभ्यता की एकता बहुत प्राचीन है; ग्रीक यात्रियों ने गंगा की घाटी में दक्षिण के राज्यों का अस्तित्व पाया था, और तमिल की अत्यधिक प्राचीन कविताओं में संस्कृत का प्रभाव मिलता है। भाषा-संबंधी एकता की सीमाएँ वे ही हैं जो स्वयं ब्राह्मण-धर्म की हैं: केवल बहुत दिनों तक बौद्ध धर्मावलंबी उत्तर-पश्चिम (जहां वैदिक चिह्न अब तक पाये जाते हैं, जैसे बसेंकर् जाति का नाम, जो निस्संदेह उसी वर्ग का नाम है जिसने हमारा ऋग्वेद सुरक्षित रखा है), और लंका; जो अब तक बौद्ध है, उससे बाहर रह जाते हैं। जो कुछ है या कम-से-कम जो कुछ उपयोगी है वह एक अद्‌भुत संस्कृत की उत्तराधिकारिणी, एक सामान्य मध्यकालीन भारतीय भाषा है।

अथवा लगभग ऐसा है। क्योंकि कुछ स्फुट अवशेष इस बात के प्रमाण हैं कि भारतवर्ष में जिसे हम वास्तव में संस्कृत कहते हैं उसके अतिरिक्त अन्य भाषाएँ भी थीं। वास्तव में यह जान कर आश्चर्य होता है कि एक व्यापक क्षेत्र में प्रचलित प्राचीन 'भाषा' के विविध रूप न रहे हों; और फिर स्वयं भारतीय-आर्य भाषा की सीमाओं और उनसे उसके साहित्यिक तथा सामाजिक स्थान को कुछ और निर्धारित करने पर ध्यान देना या अनुमान करना रोचक होगा।

पाली में इस प्रकार के संकेत अधिकतम संख्या में उपलब्ध होते हैं; वास्तव में यह एक ऐसी भाषा है जो क्लैसीकल प्राकृत की अपेक्षा संस्कृत पर बिल्कुल ही कम निर्भर है; इसके अतिरिक्त उसका अपेक्षाकृत प्राचीन रूप निरूपण को अधिक निश्चित बना देता है। पाली वैदिक प्रयोगों को सुरक्षित रखती है, जैसे कीवंत्-, कीव- कितना—(संस्कृत के किवंत्-का स्थान कियंत् ने ले लिया है), किणाति–खरीदना–(ऋ० क्रीणाति का पहला स्वर, अनुलेखन के रहने पर भी, शब्द-व्युत्पत्ति-विज्ञान के नियमानुसार, सूक्ष्म हो जाता है); वैदिक काल में ही परिवर्तित भारतीय रूप उसमें और भी अधिक हैं: गहित- लिया हुआ—अधिक शुद्ध रूप गृहीत-; इध–यहाँ, पातु—दृष्टि में, ध्वनि-विज्ञान की दृष्टि से सब्बधि—हर जगह—का पर-प्रत्यय इहं, अथर्व० प्रादुः, तुल० ऋ० प्रातर् और संस्कृत उत्तराहि—उत्तर में के पर-प्रत्यय की अपेक्षा कम परिवर्तित होता है; अथर्व० अलीक–, (वा० सं०) 'वल्मीक-' की अपेक्षा पा० 'अलिक-' —विरुद्ध, मिथ्या—वम्मिक-'चींटी' का अधिक स्वाभाविक (तथा कम प्रचलित ?) एक

ही प्रकार का पर-प्रत्यय है; संस्कृत स्नायु, स्नावन—वा० सं० अस्नाविर्—(दे० टर्नर, s.v. 'नहर'), के विपरीत अ० स्नावर,—स्नायु, पुट्ठा—में पा०—न्(अ)हारु की व्याख्या का एक अंश मिल जाता है; अ० हामो—वही—में पा० सामं—समान—की, पु०फ़ा० सैंय्, अ० से, गाथा० होइ में प्रा० से—उसका, उनका—की अनुरूपता मिलती है। साथ ही ईरानी ही एक ऐसी भाषा है जो ऐसे समानान्तर उदाहरण प्रस्तुत जिनमें प्रा० 'झ्' संस्कृत 'क्ष्' के और 'भिय्यो'-अधिक—(सं० 'भूयः'), भविष्यत् 'हेहिति', सामान्य अतीत (aor.) 'अहेसि', तुल० पु० फ़ा०, आदरार्थ ३ एक० 'बियाँ'—वह हो—, लें० 'फ़िओ' (सद्दनीति, पृ० ४६१ n. ८) के विषय के अनुरूप है; यह पूछा जा सकता है कि क्या अशोक द्वारा कालसी में प्रयुक्त पुंल्लिग 'इयं' वही प्राचीन प्रयोग नहीं है जो प्राचीन फ़ारसी में है (बाँवनिस्त 'स्तुदी वालतीची' III १२७; यह ठीक है कि दूसरी ओर पा०, अ०मा० अयं स्त्री लिंग में है)। एम० एच० स्मिथ ने यह प्रदर्शित किया है कि आर्य भाषा से बाहर भी अन्य सादृश्य खोजना आवश्यक है : जैसे सं० द्वि- के विपरीत 'दु-' विषय के लिए [पा० दुतिय-दूसरा, 'दुजिह्व'- दो जीभ वाला, 'दुपद'- दो पैर वाला; तुल० लें० दुप्लेक्स, ओम्ब्री दुति—नवीन का, लेत (लेटीक) दुसेलीस —दो पहियों की गाड़ी], प्राकृत संबंधवाची मह, तुह और निस्संदेह बहुवचन के लिए, कर्म० अह्म (मं), 'उम्ह'— (जिससे सिंहली 'उम्ब' बना है)।

अस्तु, शब्दों के उद्गम संस्कृत में, किन्तु उससे बाहर भी, एक साथ खोजने होंगे : जैसे पा० 'उपादि'—आधार—सामान्यतः 'उपादा' के विपरीत पड़ता है, जैसे वैदिक 'निधि'- 'निधा'- के; उसका संस्कृत सादृश्य 'उपाधि'- एक अन्य धातु से बना है। और बीच के रूपों के ज्ञान के अभाव में, कठिन रूपों की व्याख्या प्राप्त करने पर ही विशेषतः निर्भर रहा जा सकता है; इस प्रकार, भविष्यत् के जैसे दक्खिति, एहिति।

अस्तु, प्राकृत की 'देशी' का एक प्राचीन पूर्व-रूप है, और वह बहुत रोचक है : क्योंकि इससे उसे छोड़ कर अज्ञात भाषाओं के अस्तित्व का पता चलता है। 'देशी' केवल शैली और आज भी पायी जाने वाली भाषाओं की शब्दावली में लिये गये अंशों की ओर संकेत करती है।

आधुनिक भाषाओं का जन्म किस समय हुआ ? कोई नहीं जानता। यह अनुमानकिया जा सकता है कि यदि छठी शताब्दी में अपभ्रंश लिखने की प्रथा थी, तो वह भाषाकी जिस अवस्था के अनुरूप थी उसकी उत्पत्ति गुजरात में हुई (और) जो प्राकृत के समकक्ष रखी जाने की दृष्टि से यथेष्ट प्राचीन हो चुकी थी। श्री शहीदुल्ला के अनुसारबंगाल में कण्हा (कण्ह -अनु०) कृत चर्या सन् ७०० के लगभग की हैं। ये गीत अत्यन्त प्राचीन

रूप में हैं; अन्यत्र मध्यकालीन भारतीय भाषा से अलगाव और अधिक हो जाता है, विशेषत: जब कि प्रारंभिक ग्रंथ बहुत बाद के हैं। कुछ संक्षिप्त मराठी शिलालेख, राजपूत राजकुमारों का एक छोटा-सा पत्र-व्यवहार, कुछ बँगला टिप्पणियाँ १२वीं शताब्दी की हैं; किन्तु मराठी ज्ञानेश्वरी १२९० में समाप्त हुई; एक और शताब्दी बाद, गुजराती में एक संस्कृत व्याकरण १३९४ का है; और उर्दू का प्राचीनतम प्रमाण, गेसू दराज़ की सूफ़ी रचनाएँ सन् १४०० के आसपास की मानी जाती हैं। केवल १५वीं शताब्दी में गुजराती के सर्वप्रथम कवियों का, बिहार में विद्यापति का और कश्मीर में महानय-प्रकाश का, जो अभी निश्चित रूप से कश्मीरी नहीं है, आविर्भाव हुआ। मुहम्मद जायसी कृत, अवधी में लिखित, पद्मावती और सर्वप्रथम असमी ग्रन्थ १६वीं शताब्दी के हैं; सिक्खों के आदि-ग्रन्थ के प्राचीन भाग इसी काल के और बाद के हैं। यह बता देना आवश्यक है कि इन ग्रन्थों की परंपरा निश्चित नहीं है; हम पृथ्वीराज रासो की गणना नहीं कर सके, जो अपने आकार के कारण बहुमूल्य है, किन्तु जो सन्देहास्पद है, हर हालत में क्षेपकों से भरा है; ज्ञानेश्वरी का १५८४ में संशोधन किया गया; सामान्यत: प्राचीन ग्रंथों की हस्तलिखित परंपरा का मूल्य मौखिक परंपरा से शायद ही अच्छी कही जा सकती है, और यह स्वीकार करना चाहिए कि अभी तक उसकी परीक्षा का प्रयास नहीं हुआ। इतना सब कुछ कहने पर भी, आधुनिक काल के केवल कुछ अच्छे प्रमाण हैं; स्पष्टतः सर्वोत्तम प्रमाण वे हैं जो सर जॉर्ज ग्रियर्सन कृत अत्यन्त सुन्दर 'लिंग्विस्टिक सर्वे' में संगृहीत, विभाजित और प्रतिपादित हैं; उनका और भी अतुलनीय लाभ लगभग पूरे भारतीय-आर्य-भाषा-भाषी, और प्राय: उससे बाहर के, प्रदेश में बोले जाने में है। बुरी तरह से रक्षित और अपने रचयिताओं की इच्छा द्वारा ही सुसज्जित और मिश्रित प्राचीन प्रमाणों के प्रयोग के लिए सर्वोत्तम कसौटी उसी में मिलती है।

भारतीय-आर्य भाषा का मानचित्र देखने से जो पहला लक्षण ध्यान आकर्षित करता है वह उसके क्षेत्र की अविच्छिन्नता है। यह लक्षण ब्राह्मण सभ्यता के, जो गहराई तक पहुँचने से पूर्व, उच्च वर्गों द्वारा, ऊपरी भाग तक रहती है, विस्तार के अनुरूप है; आज भी यह देखा जाता है कि कुछ भाषाएँ पड़ोसी प्रदेशों के नगरों में चली गयी हैं, अंगरेज़ी भी यूनीवर्सिटियों और प्रशासनों द्वारा फैलती पायी जाती है; आज जितना मध्यम वर्ग निर्माण करता है, उसे श्रेष्ठ प्रयोग पिछड़ा हुआ बना देते हैं, और इस प्रकार मूल भाषाओं का जाल स्थानीय प्रयोगों को नष्ट किये बिना उन पर फैल जाता है। भारतीय-आर्य भाषा के अंतर्गत जंगली प्रदेश आते हैं, उसने अपने दूत दूर तक भेजे हैं (सिंहली; एशिया और यूरोप की जिप्सी-भाषा), किन्तु उसके क्षेत्र में वह विच्छिन्नता नहीं है जो फ़िन्नो-उग्रीय भाषाओं की अथवा रोमन कुल की विशेषता है

जिनके साथ उसका कुछ विकास-साम्य है। भारतवर्ष ने अपने विजेताओं को पचा लिया है, और यदि इस्लाम ने उसे उर्दू दी है, तो उसने ईरानी या मंगोल के छोटे भाषा-समूह नहीं छोड़े। विदेशी उत्पत्ति के राजपूतों ने हिमालय में एक ऐसी भाषा अपनायी और प्रचलित की जिसे वे बदल नहीं पाये। केवल देखने को जी ही नहीं चाहता, वरन् यह देखने की बात है कि विभिन्न आधुनिक भाषाएँ अलग-अलग हो गयीं प्राचीन भाषाओं पर निर्भर रहती हैं, और उनकी विशेषताएँ फिर से प्रकट करती हैं।

वास्तव में, अथवा कम-से-कम उस रूप में जिसमें भाषा-विज्ञानी उसे वास्तविकता समझता है, ऐसा लगभग पूर्णतः प्रतीत होता है कि अनोखी मध्यकालीन भारतीय भाषा (संस्कृत, जो स्वयं अनोखी-सी थी, की उत्तराधिकारिणी) अधिकतर आधुनिक विभिन्न आर्य-भाषाओं का आधार थी; बाहर गयीं भाषाओं और उत्तर-पश्चिम सीमांत प्रदेश की भाषाओं की, जो समाज में जीवित भी रही हैं, दृष्टि से तो ये अन्तर स्पष्ट ही हैं : स्वयं ये अन्तर इन भाषाओं का सम्बन्ध पूर्णतः उस रूप में प्रकट नहीं करते जिसे सुविधा की दृष्टि से 'प्राकृतिक' कहा जा सकता है। उनका क्रम प्रायः अद्भुत रहा है; भाषाविज्ञानी उसकी सीमाएँ कठिनाई से निर्धारित कर सका है; कभी-कभी मिश्रण द्वारा, श्री ग्रियर्सन के कथनानुसार, 'कृत्रिम मिश्रण' द्वारा, वे छिप जाती हैं; परिवर्तन अधिकांशतः प्रायः धीरे-धीरे होते हैं, जिसका तात्पर्य है कि दो परस्पर भिन्न भाषाएँ अति सूक्ष्म अन्तरों वाली भाषाओं की श्रेणी में आ जाती हैं। तो इससे किसी को आश्चर्य न होना चाहिए कि सीमाएँ विचारणीय हैं; क्या भोजपुरी अपने पूर्व या पश्चिम की भाषाओं से संबंधित है? कच्छ की भाषा क्या सिन्धी है या गुजराती? कोंकण की गुजराती है या मराठी? श्री ग्रियर्सन द्वारा अलग की गयी और नामोल्लिखित लहंदा के संबंध की दृष्टि से पंजाबी की पश्चिमी सीमा कौन-सी है? एक ऐसे देश में जहाँ, अनिश्चित और परिवर्तनशील, राजनीतिक सीमाएँ जातियों के अनुरूप कभी नहीं रहीं, वास्तविक भाषा-संबंधी सीमाएँ ज्ञात करने की आशा नहीं की जा सकती; जब कि प्रधान-प्रधान समुदाय निश्चित हैं तो वास्तविकता की अपेक्षा अधिक निश्चित और अधिक अविच्छिन्न भाषा-क्षेत्रों को नहीं (उन ऐसी अनेक परिस्थितियों पर विचार करना आवश्यक है, जिनमें एक ही क्षेत्र में और एक ही बोली में कई भाषाओं का सह-अस्तित्व मिलता है), किन्तु प्रादेशिक सीमाओं का परस्पर अतिक्रमण करने वाली भाषा-रेखाओं को दिखाने वाले स्थान नकशे में निस्संदेह होने चाहिए।

संतोष की बात है कि प्रस्तुत रचना के उद्देश्य की दृष्टि से भाषाओं और बोलियों का निश्चित और पूर्ण पुनर्विभाजन अनावश्यक है। यहाँ प्रधान समुदायों की ओर संकेत कर देना ही यथेष्ट होगा।

हमें थोड़ा अत्यधिक व्यतिक्रमों पर विचार कर लेना चाहिए। यदि उन निवास-स्थानों पर विचार न किया जाय जहाँ से आर्य-भाषा भारतवर्ष में फैली, तो अति प्राचीन भारतीय-आर्य निवास-स्थल के माध्यम द्वारा मध्यकालीन भारतीय भाषा, समुद्र के रास्ते, सिंहल के दक्षिण में पहुँची। वहाँ वह द्रविड़ों के शक्तिशाली प्रभाव में आयी, साथ ही पाली ने उसे महाद्वीप की संस्कृत के अनुरूप रूप प्रदान किया। अस्तु, वह काफ़ी भिन्न हो गयी; उसकी स्वरोच्चार-पद्धति एक ही शब्द के स्वरों का एक-दूसरे पर प्रभाव मान कर चलती है; उसमें न तो महाप्राण हैं और न प्राचीन तालव्य; अर्थ से शैली ही बदल जाती है; सर्वनाम (और) क्रिया के विशेष रूप हो जाते हैं, किन्तु तो भी वह भारतीय-आर्य भाषा है।

जिप्सी भाषा, या और भी उचित रूप में जिप्सी भाषाओं में कम परिवर्तन हुआ है, निस्सन्देह अचानक परिवर्तन, क्योंकि वे बाद को अलग हुई और क्योंकि उनकी विशेष या गुप्त भाषा होने की विशेषता ने उन्हें सुरक्षित रखा। जिप्सी उपनिवेश बसाने वाले नहीं, वरन् दूसरों द्वारा अधिकृत होने वाले हैं, विदेशियों से संपर्क स्थापित करने के लिए उन्होंने उनकी भाषा सीखी और आवश्यकतानुसार उस भाषा के तत्त्व ग्रहण कर लिए; आरमीनिया में, पूरा व्याकरण; किन्तु अधिकतर शब्दावली, और यह ज्ञात ही है कि उधार लिये गये शब्दों की ही कृपा थी जिनसे मिकलोसिश ने यूरोप में अपना मार्ग जानना सीखा। यूरोपीय समुदाय वास्तव में सुसम्बद्ध है; एशियाई शाखाएँ उससे पूर्णतः मेल नहीं खातीं; नूरी में ही केवल -थ्- व्यंजन का उच्चारण -स्- की तरह होता है, स्वर-मध्यग -त्- का -र्- हो जाता है, न कि -ल्-। दूसरी ओर सं० हस्त- (=हाथ), नूरी में ख(स्)त्, यूरोपियन में वस्त्, किन्तु आरमीनियन में हथ् हो जाता है; और आरमीनियन में स्वर-मध्यग में ही त् के स्थान पर 'ल्' नहीं है, वरन् आदि में भी ('लेल्' वह देता है—, नूरी 'देर्', यूरोपियन देल्-अ)। नूरी में स्पष्ट मुखर महाप्राण शब्द महाप्राणत्वविहीन हो जाते हैं, आरमीनिया और यूरोप में मूक। थव्- धोना, नूरी दव्-। अंत में यूरोप की जिप्सी भाषा ही मध्यवर्ती व्यंजन के महाप्राणत्व को स्थानान्तरित कर देती है, फलतः, सं० 'वन्ध्'–(बाँधना), नूरी 'बन(द्)–, आरमीनियन 'बंथ्'-, यूरोपियन *भन्द् > फन्द्–। ये भेदअनिश्चितता को और भी बढ़ा देते हैं, जिसमें एक तिथि (५वीं शताब्दी का प्रथमार्द्ध ?) संबंधी अनिश्चितता है और दूसरी जिप्सी भाषा की निश्चित उत्पत्ति के संबंध में। इस दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात 'द्' का 'ल्' या 'र्' में परिवर्तन है जो भारतीय-आर्य भाषा में, जैसे प्रशुन में (ल्), खोवार में (र्) और संभवतः शिना में (ल्) और ईरान की पूर्वी बोलियों में नहीं मिलता : अफ़गान, मिनजानी, यिदगाह, तुल० निस्संदेह ईरानी से उधार लिया

गया ब्राहुई खोलुम् (सं० 'गोधूमाः) की भी तुलना कीजिए; क्षेत्र के नामों के संबंध में एक और प्रमाण है; नदी 'गोमल' (सं० गोमती)। श्री वूलनर ने ठीक ही बताया है कि भारतीय-आर्य भाषा की सीमा आधुनिक काल की अपेक्षा पहले और पश्चिम तक फैली हुई थी और अफ़गान तथा बलोची हाल ही में महत्त्व ग्रहण करने वाली भाषाएँ हैं।

यदि भारतीय-आर्य भाषा ईरान की तरफ़ से आयी है, तो वह निश्चित रूप से हिमालय के निचले हिस्से तक गयी है। इतिहास वास्तव में वहाँ राजपूतों के बसने का साक्षी है; और जैसा कि इतिहास बताता है, एल० एस० आई०, I, पृ० १८४ में एक भाषा-संबंधी चित्रण उसे दर्शाता है; नेपाल में अब भी, नेवारी कही जाने वाली प्राचीन तिब्बती भाषा, और नेपाली कही जाने वाली आर्य भाषा का अस्तित्व पाया जाता है। पश्चिमी भाग से जहाँ तक संबंध है समस्या अत्यधिक कठिन है : कश्मीर, भारत से शुरू होने वाली गिलगिट तक सिन्धु की घाटी (मैयाँ, शिना), स्वात (तोरवाली), चितराल (खोवारी), कुणार और हिन्दूकुश के मध्य काफ़िरिस्तान (कलाश, काफ़िर समुदाय, पशई), और फिर काबुल नदी के दक्षिण में एक द्वीप (तीराही)। इस क्षेत्र में बोलियों की माला चलती है, जिनमें से अकेली कश्मीरी को ही एक साहित्य का श्रेय प्राप्त है, और वे इस बात में खास भारत की भाषाओं से इस तरह भिन्न हैं कि उन्हें एक विशेष कुल में रखने की इच्छा होती है; बात तो यह है, कि उनका पृथक्त्व, जो बहुत प्राचीन है, उनकी अपनी विशेषताओं के बताने के लिये यथेष्ट है। इसके अतिरिक्त उनमें से अनेक को अपेक्षाकृत हाल के आगमनों के परिणामस्वरूप समझी जाने की इतनी अधिक संभावनाएँ हैं, कि उन्हें अत्यधिक भिन्न पाने की आशा की जा सकती है। कश्मीरी पर ईरानी प्रभाव पर ध्यान दीजिए, और (ध्यान दीजिए) भारतीय प्रभाव पर जो विशेषतः उस पर अधिक रहा है (कश्मीर संस्कृत संस्कृति का एक बड़ा केन्द्र रहा है), तो श्री मौरगैन्सटिएर्न की रचनाओं के आधार पर यह स्पष्टतः प्रतीत होता है कि 'दर्द' अधिकांशतः भारतीय है; केवल उसका 'प्राकृत' रूप नहीं है, उसमें व्यंजन और प्रायः स्वर-मध्यग पाये जाते हैं, उसमें कुछ सोष्म ध्वनियाँ हैं, तथा महाप्राण ध्वनियाँ नहीं हैं, आदि। केवल एक समुदाय जो समस्या उपस्थित करता है काफ़िर है (कती या बसॅगली, प्रशुन या वेरोन, अश्कुन, गवर्बती), जिसमें कंठ्य ध्वनियों का ऐसा प्रयोग है जो ईरानी की याद दिलाता है।

ऊपर उल्लिखित आधुनिक भाषाओं की रोचकता उनके संख्या-सूचक महत्त्व से कहीं अधिक है; उसके सामने उन भाषाओं के जानने की यहाँ आवश्यकता नहीं है, जिनका प्रायः वर्णन किया जाता है, यद्यपि उनमें से कुछ की गणना संसार की बड़ी-बड़ी

भाषाओं में की जाती है; व्यापक अर्थ में हिन्दी का उनमें छठा स्थान है, फ्रांसीसी के मुकाबले बंगाली ७वें स्थान पर आती है, बिहारी १३वें पर, मराठी १९वें पर, पंजाबी, राजस्थानी, उड़िया क्रमश: २२वें, २५वें और २८वें पर (मेइए, 'लॉग द ल्यूरोप नूवेल', पृ० ४८३ में एल० तैस्निऐर के अनुसार)। उनके न्यूनतम प्रयोग की गणना करने के लिए, हमें केवल इतना स्मरण रखना चाहिए कि वे अपने विशेष अक्षरों (जैसा कि देखा जा चुका है, उनके बिना भी स्पष्ट सीमाएँ हो सकती हैं) के आधार पर विभाजित क्षेत्रों में बँटी हुई हैं।

सिन्धु पर आने से, लहंदा मिलती है, फिर सिन्धी, ये कुछ बातों में खास भारत की अन्य भाषाओं से अलग हैं और जो दर्द के विपरीत पड़ती हैं; सर्वनामवाची पर-प्रत्ययों और उच्चारण तथा शब्दावली-संबंधी कुछ विशेषताओं के प्रयोग ऐसे ही हैं जो यह सोचने के लिए बाध्य करते हैं कि उनका 'भारतीयकरण', यदि ऐसा कहा जा सकता है, अपेक्षाकृत हाल का है।

अन्य भाषाओं को अलग करने वाली विशेषताएँ अन्य प्रकार की हैं और या तो विकास के भेदों, या अनार्य भाषाओं के प्रभाव की दृष्टि से विपरीत परिणाम दृष्टिगोचर होते हैं। सर्वप्रथम स्थिति तो दक्षिण-पश्चिमी और गंगा की घाटी के समुदायों की है; मराठी और गुजराती का संबंध नज़र नहीं आता; उधर पुरानी गुज-राती और पुरानी राजस्थानी एक ही भाषा हैं; किन्तु राजस्थान से सीधे गंगा की घाटी की ओर जाते हैं तो, वहाँ व्यवधान होने पर भी, अन्य स्थानों की अपेक्षा, भाषाएँ अधिक निकट हैं; साथ ही, संस्कृत 'मध्य देश' के समय से लेकर कन्नौज और दिल्ली के समय तक, प्रकाश फैलाने वाले केन्द्र सदैव यहीं रहे हैं। हिन्दुस्तानी संभवत: सिपाहियों द्वारा पंजाबी बोलियों में ब्रज के मिश्रण से उत्पन्न हुई थी; उत्तर की पंजाबी और राजस्थानी हिन्दुस्तानी के प्रभाव में दब जाती है; कुछ समय पूर्व यह ज्ञात हो चुका है कि उर्दू पूर्व में लखनऊ तक जाती है जहाँ वह एक शिष्ट भाषा है, और अब कलकत्ते तक जहाँ उसने मिश्रित गँवारू बोली का रूप धारण कर लिया है; पूर्वी हिन्दी बनारस आदि तक जाती है।

इसके विपरीत पटना के लगभग वह सीमा रुक जाती है जिसे देशी लोग हिन्दी के लिए निर्धारित करते हैं; वास्तव में यहाँ उस सीमा का पूर्वी समुदाय: बिहारी, बंगाली (इसी के साथ असमी प्रदेश), उड़िया—में प्रविष्ट हो जाता है। इनमें 'अ' अपने को 'ओ' में सीमित कर लेता है; खास तौर से व्याकरण की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। अत्यधिक प्रमुख विशेषताओं में से एक है संस्कृत कृदन्त से निकला -ब्- में भविष्यत् काल। नकशे से एक मध्य समुदाय और एक बाहरी मण्डल भी प्रकट हो जाता है; उसमें कुछ

अप्रामाणिक ऐतिहासिक अनुमानों को दिखा दिया जाता है; संभवतः भाषा-रेखाओं के विचार ने इस वर्गीकरण की स्पष्टता में गड़बड़ी उत्पन्न कर दी।

यह अधिक महत्त्वपूर्ण होगा कि कालानुसार विभाजन किया जाय जो संपूर्ण नव्य भारतीय भाषाओं को अलग कर देता है : सबसे नीचे मध्यकालीन भारतीय भाषा, जैसा कि हमें अपभ्रंश रूप के अंतर्गत उदाहरण मिलता है, अब भी संस्कृत से विकृत एक रूप है; श्रेणियों, वाक्य-विन्यास में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। किन्तु आधुनिक वर्ना-क्यूलरों के अति प्राचीन रूपों में, विभक्ति-रूप अधिक-से-अधिक दो कारक स्वीकार करता है, जिनमें से एक परसर्गों के साथ आता है; प्राचीन वर्तमान जो क्रियामूलक रूपों के शेषांश का अकेले या उसके लगभग रूप में प्रतिनिधित्व करता है, नाम जात आदि रूपों के साथ अवश्य संबद्ध रहता है। इस काल से आगे व्याकरण-संबंधी परिवर्तनों पर कोई रुकावट नहीं रह जाती; बहुत पहले ही संस्कृत भाषा पारिभाषिक शब्दावली को समृद्ध करना छोड़ देती है, यह कार्य आगे चल कर फ़ारसी, फिर अँगरेज़ी से संपन्न होता है। किन्तु संस्कृत के सांस्कृतिक भाषा रह जाने पर, आधुनिक भाषाएँ इस संस्कृति में साझीदार नहीं बनतीं; वे स्वयं कम सभ्य श्रेणियों के प्रभावान्तर्गत अत्यधिक सरल हो जाती हैं, जैसे बंगाल में, अथवा सैनिकों की भाषा की आवश्यकता के लिए जैसे हिन्दुस्तानी, वे लोकप्रिय भाषाओं के रूप में बनी रहती हैं; वे विशेषतः गीति-काव्य की अभिव्यंजना के लिए उपयुक्त रहती हैं, किन्तु विज्ञान के लिए नहीं। अब जब कि शिक्षा का प्रसार हो रहा है, वर्नाक्यूलरों को उनकी अपनी आवश्यकतानुसार स्थित करने की हर जगह कठिन समस्याएँ हैं; साधन तैयार नहीं है। आप देखेंगे कि कम-से-कम किस प्रकार वाक्य-विन्यास स्वयं सबसे अधिक उन्नत भाषाओं में, लोचहीन रह गया है; रोमक भाषाओं से प्रायः की गयी तुलना पर पुनर्विचार करने पर, ध्यान आकर्षित करने वाली बात है कि न तो निर्देशक उपसर्ग या उपपद और न क्रिया to have का कोई एक अंश ही मिलता है।

किन्तु यहाँ भारतीय भाषाओं का भविष्य निर्धारित करना उद्देश्य नहीं है; इस रचना का उद्देश्य, जैसा कि प्रारंभ में संकेत दिया जा चुका है, अतीत की रूपरेखा प्रस्तुत करना है। पूर्ण चित्र प्रस्तुत करने के लिए अथक परिश्रम की आवश्यकता है; उसकी उपादेयता शायद ही बहुत अधिक हो, क्योंकि इस चित्र के प्रधान अंग प्रवीण हाथों द्वारा सूक्ष्म रीति से बनाये जा चुके हैं। जो कुछ इतने सुन्दर रूप में हो चुका है, उस पर पुनर्विचार की बात ही क्या, मैं उसकी पुनरावृत्ति तक करना नहीं चाहता; शक्ति रहने पर भी, मेरा इरादा नव्य-भारतीय भाषाओं के उस तुलनात्मक ग्रन्थ का सार ग्रहण करना नहीं जिसका संपादन प्रारंभ करने के पश्चात् श्री ग्रियर्सन को वह कार्य छोड़ देना पड़ा था—और उन्होंने कितनी सामग्री तैयार कर ली थी !—और जिसके बारे में

श्री टर्नर ने हमें वचन दिया है : यदि आवश्यकता हो, तो मैं यह बता देना चाहता हूं कि प्रस्तुत ग्रन्थ-संबंधी प्रयास की सराहना स्वयं श्री टर्नर ने की है। मेरा उद्देश्य काफ़ी सीमित है : अधिक समर्थ लेखकों से आवश्यक बातें लेकर, उनके स्थान पर, दूसरों या स्वयं मेरे बताये हुए महत्त्वपूर्ण तथ्यों को, जिनका अभी तक पुस्तकों में उल्लेख नहीं हुआ, रखकर, विभिन्न कालों के संबंध में सूक्ष्म रीति से की गयी स्वयं तुलना द्वारा प्राप्त तथ्यों को यथासंभव प्रस्तुत करना और उनकी व्याख्या करना।

सर्वश्री सिलवैं लेवी और ए० मेइए की परंपरा में पालित-पोषित मुझे बोलने वाली जातियों के इतिहास-सहित भाषाओं के विकास का एक संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करने के प्रति मोह होना चाहिए था। किन्तु यह यथेष्ट रूप से ज्ञात है कि लिखित साहित्य कुछ प्राचीन कालों के संबंध में न तो शासन-संबंधी, न न्याय-संबंधी या निजी (क्लैसीकल संस्कृत में लिखित असंख्य दान-पत्रों को छोड़ कर) संग्रह प्रदान करता है, न प्रादेशिक आईन, न संस्मरण, न पत्र-व्यवहार (निय के लिखित प्रमाणों के अतिरिक्त जो अभी तक बहुत-कम प्रयोग करने योग्य हैं), न असंदिग्ध भाषण-कला-संबंधी ग्रन्थ, न 'कॉमेडी ऑव मैनर्स'; इतिहास की महान्तम राजनीतिक और धार्मिक घटनाएँ विना ठीक-ठीक स्थान और तिथि-निर्धारण के ही रह जाती हैं, तथा उनके परिणाम और भी अधिक अनिश्चित रूप में पाये जाते हैं : मैंने अपने को केवल भाषा-विज्ञान-संबंधी, और साथ ही व्याकरण-संबंधी निरूपण तक ही सीमित रखा है।

जिस उद्देश्य की ओर मैंने संकेत किया है उसे दृष्टि में रखते हुए मेरा सभी बातों पर समान रूप से विचार करना उपयोगी नहीं था; निरूपण करने में रह गयी ऐसी त्रुटियों के लिए मैं क्षमा किया जाऊँगा जो मुझे ज्ञात हैं, और जो मुझे विषय को पूर्णतः समझने में बाधक प्रतीत नहीं होतीं। इसी प्रकार मैंने पूरी ग्रन्थ-सूची नहीं दी, किन्तु केवल उन्हीं पुस्तकों और लेखों (उनमें निस्संकोच कुछ मेरे हैं) की सूची दी है जिनका मैंने इस ग्रन्थ की रचना में निरंतर उपयोग किया है और जिन्हें मैं समान रूप से अपने पाठकों के सम्मुख, उन्हें अपने कथनों के परीक्षण और पूर्ण करने का अवसर प्रदान करने के लिए, प्रस्तुत करना चाहता हूँ। प्रत्येक पग पर संदर्भ देना मैंने आवश्यक नहीं समझा; मैंने ग्रंथ में केवल वे रचनाएँ ही उद्धृत की हैं जो सूची में नहीं हैं और जिनका मैं केवल अपूर्णतः सार प्रस्तुत कर सका हूँ। जब मैं लेखकों को अधिकतर विना उनका नामोल्लेख किये उद्धृत करता हूँ, तो बिना संकेत किये उनका खण्डन (मैं स्वयं अपने को शामिल करता हूँ) करने के लिए करता हूँ; यह भली प्रकार स्वीकार किया जायगा कि वह ग़लती की अपेक्षा भ्रम डालने वाली चीज़ अधिक है; विशेषज्ञ इस बात का निर्णय करेंगे कि जो मत यहाँ प्रकट किये गये हैं वे सर्वोत्तम हैं या नहीं।

जहाँ तक उदाहरणों से संबंध है, जो मैंने अधिकतर अपने सामने जो लेखक हैं, उनसे ग्रहण किये हैं, मैंने उनका मूल उद्गम फिर नहीं दिया; मेरे लिए इतना यथेष्ट है कि मैंने उनका कोई, प्रतिपादित या रूपान्तरित, ख़राब चयन नहीं किया।

स्वयं इस रचना के लिए मैं अपने मित्रों का अत्यन्त अनुगृहीत हूँ। सर्वप्रथम श्री हेल्मर स्मिथ का। संभवतः उनके जैसा अन्वेषक, साथ ही नाज़ुक-दिमाग़, आलोचक, साथ ही छोटी-छोटी बातों के लिए कठोर व्यक्ति, एक ऐसी रचना से सन्तुष्ट न होगा जिसमें जितने प्रश्नों पर विचार किया गया है, उतने ही समाधानों पर,और जो अब भी अस्थायी हैं; तो भी उन्होंने मुझे यहां यह कहने की अनुमति प्रदान की है कि मुझे उनका भरपूर सहयोग प्राप्त हुआ है; और यह, न केवल पाली और सिंहली से, जिन भाषाओं का उन्हें अद्भुत ज्ञान है, संबंधित सभी बातों का विशेष ध्यानपूर्वक निरीक्षण करने में, वरन् निरन्तर एक शिक्षा देने में भी, जिसकी प्रचुरता और मूल्य उनके साथ संपर्क रखने वाले लोग जानते हैं। उनके ज्ञान के उदार सहयोग के बिना, इस ग्रन्थ में कही गयी अनेक बातें और भद्दे ढंग से होतीं या बिल्कुल ही न होतीं।

सर्वश्री रनू और बाँवनिस्त ने अपनी सामान्य उदारता के फलस्वरूप दी गयी अपनी सलाहों और आलोचनाओं द्वारा मुझे लाभ पहुंचाया है; उन्होंने मेरी पाण्डुलिपि पढ़ी, पहली बार पूरी (और उसमें बहुमूल्य बातें जोड़े बिना नहीं), दूसरी बार अंशतः। मेरी भांति वे भी यह जानते हैं कि पाण्डुलिपि को उनसे लाभ पहुंचा है; केवल मैं ही जानता हूं कि इस निरीक्षण से मुझे कितना आत्म-विश्वास प्राप्त हुआ है। कुमारी एल० नित्ती का मैं उनकी प्रत्यक्षतः वैषयिक सहायता के लिए अनुगहीत हूं, किन्तु उनसे प्राप्त होने के कारण ही जिसे मैं केवल वैषयिक ही नहीं कह सकता (अर्थात् जो सहायता वैषयिक से भी अधिक है—अनु०)।

अंत में, प्रकाशक और लेखक को शोध-कोष (Caisse des Recherches) के (संचालक के) प्रति धन्यवाद देने में प्रसन्नता है जिनके बिना इस पुस्तक का प्रकाशन सरल न होता।

सहायक ग्रन्थ-सूची

[संदर्भ-ग्रन्थों सहित]

ईरानी

गाइगेर-कून 'ग्रुंद्रिस डेअर ईरानीशेन फ़ाइलोलोजी', I, स्ट्रासबुर्ग, १८८५-१९०१।

राइशेल्ट 'आवेस्तिशेस एलीमेंटारबूख़', हाइडेलबर्ग, १९०९।

मेइए-बाँवनिस्त 'ग्रेमेअर द व्यू पर्स', द्वि० संस्क०, पेरिस, १९३१।

संस्कृत

मेक्डॉनेल 'वेदिक ग्रैमर', स्ट्रासबुर्ग', १९१०।

डेलब्रूक 'अर्लटिंडिशे सिन्टैक्स', हल, १८८८।

स्पेयर 'अवेस्तिशेस उंठ संस्कृत सिन्टैक्स', स्ट्रासबुर्ग, १८९६।

वाकरनागेल 'अलटिंडिशे ग्रैमैटीक', I-II, I-III, ग्युटिंगेन, १८९६-१९३०।

रनू 'ग्रेमेअर संस्कृत', पेरिस, १९३०।

रनू 'ल वैल्यूर दु पारफ़ै दाँ ले हीम वेदीक', पेरिस, १९२५।—'ल तीप वेदीक' 'तुर्दति', मेलॉज़ वाँद्रये (पेरिस, १९२५), पृ० ३०९-३१६। 'ल फॉर्म दीत दाँ जौंक्तीफ़ दाँ ल ऋग्वेद'। एत्रेन (Etrennes)......बाँवनिस्त, (पेरिस, १९२८), पृ० ६३-८०—'अ प्रॉपो दु सबजौंक् तीफ़ वेदीक', बी-एस-एल, XXXIII (१९३२), पृ० ५-१४।

मध्यकालीन भारतीय भाषाएँ

हुल्श 'इन्स्क्रिपशन्स ऑव अशोक', ऑक्सफ़र्ड, १९२५। तुल० वूलनर, 'अशोक टेक्स्ट ऐंड ग्लॉसरी', कलकत्ता, १९२४।

डब्ल्यू० गाइगेर 'पाली लिट्राट्यूर उंठ स्प्राख', स्ट्रासबुर्ग, १९१६।

एस० स्मिथ 'देज़ीनाँस दु तीप अपभ्रंश आँ पाली', बी-एस-एल, XXXIII, (१९३२), पृ० १६९-१७२।

पिशेल 'ग्रैमैटीक डेअर प्राकृत-स्प्राखेन', स्ट्रासबुर्ग, १९००।

जे० ब्लॉख़ 'अशोक ऐ ल मागधी', बी० एस० ओ० एस०, VI, २ (१९३२), पृ० २९१-२९५—'केल्क देज़ीनाँस दोप्तेतीफ़ आँ मोयाँ-आँदिएँ,....' एम० एस० एल०,

XXIII (१९२७), पृ० १०७-१२०—'त्रेतमाँ दु ग्रूप संस्कृत सीफ़्लाँत्+म्,'... वही (१९२९), पृ० २६१-२७०।

एच० स्मिथ 'कात्र नोत अ प्रॉपो द लार्तिकिल प्रेसेदाँ', पृ० २७०-२७३।

एच० जाकोबी 'भविसत्तकहा फॉन धणवाल (Dhanavāla)', म्युन्शेन, १९१८ (विशेषतः उद्धृत : भव०) 'सनत्कुमार चरितम्', म्युन्शेन १९२१।

आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाएँ

जी० ए० ग्रियर्सन 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इंडिया', कलकत्ता, १९०३-१९२८ (विशेष रूप से LSI के रूप में उद्धृत)।

बीम्स 'कम्पैरेटिव ग्रैमर ऑव द मॉडर्न इंडियन लैंग्वेजेज़', लंदन, १८७२-१८७९।

जे० ब्लॉख़ 'ल फ़ौर्मेसियौं द ल लाँग मराठ', पेरिस, १९२० (पुस्तक-सूची, जो यहाँ नहीं दुहरायी गयी, पृ० ३८-४२)।—'यून त्रून्यौं र द्रैवैदिएन आँ मराठ', बी० एस० एल०, XXXIII (१९३२), पृ० २९९-३०६।

एस० के० चटर्जी 'औरिजिन ऐंड डेवेलेप्मैंट ऑव द बैंगाली लैंग्वेज', कलकत्ता, १९२६।

ग्रियर्सन 'ऑन द मॉडर्न इंडो-एरियन वर्नाक्यूलर्स', इंडियन ऐंटिक्वेरी, सप्लीमेंट, १९३१-१९३३।

आर० एल० टर्नर 'गुजराती फ़ोनोलोजी', जे० आर० ए० एस०, १९२१, पृ० ३२९-३६५, ५०५-५४४।—'सेरीब्रेलाइज़ेशन इन सिंधी', जे० आर० ए० एस०, १९२४, पृ० ५५५-५८४।—'सिंधी रिकर्सिव्ज़', बी० एस० ओ० एस०, III (१९२४), पृ० ३०१-३१५। 'लिंग्विस्टिका' (रिव्यूज़), बी० एस० ओ० एस०, V, I (१९२८), पृ० ११३-१३९।

टेसिटरी 'नोट्स ऑन द ग्रैमर ऑव ओल्ड वेस्टर्न राजस्थानी' (इंडियन ऐंटिक्वेरी से पुनर्मुद्रित)। बम्बई, १९१६।

बाबूराम सक्सेना 'लखीमपुरी, ए डाइलेक्ट ऑव मॉडर्न अवधी', (ज० ए० सोसा०) बंगाल, XVIII (१९२२), पृ० ३०५-३४७, 'डिक्लेन्शन ऑव द नाउन इन द रामायण ऑव तुलसीदास', इंडियन ऐंटीक्वेरी, १९२३, पृ० ७१-७६।—'द वर्ब इन द आर० ऑव टी०', इलाहाबाद यूनीवर्सिटी स्टडीज़', II, पृ० २०७-२३८।

एम० शहीदुल्ला 'लै शाँ मिस्तीक द कण्ह ऐ द सरह', पेरिस, १९२८।

ग्रियर्सन-बार्नेट 'लल्ला-वाक्यानि', लन्दन, १९२०।—ए० स्टाइन-ग्रियर्सन, 'हातिम्स टेल्स', लंदन, १९२३।

ग्रियर्सन 'तोरवाली', लंदन, १९२९।

ग्रैहम बेली, 'ग्रैमर ऑव शिना लैंग्वेज', लंदन, १९२४।

जी० मौरगैन्सटिएर्न 'रिपोर्ट ऑन ए लिंग्विस्टिक मिशन टु अफ़ग़ानिस्तान', ओस्लो, १९२६।—'रिपोर्ट ऑन ए लिंग्विस्टिक मिशन टु नॉर्थ-वेस्टर्न इंडिया', ओस्लो, १९३२।—'द लैंग्वेज ऑव द अश्कुन काफ़िर्स', नॉर्स्क तिस्क्रिफ़्ट (Norsk. Tidss-krift) फ़ॉर स्प्रोग्विदेन्स्कैप (Sprogvidenskap), II (१९२९), पृ० १९२-२८९।

जे० सैम्पसन 'द डायलेक्ट ऑव द जिप्सीज़ ऑव वेल्स', ऑक्सफ़र्ड, १९२६।

मैकैलिस्टर 'द लैंग्वेज ऑव द नवर ऑर ज़ुट ((Zutt)), द नोमेड स्मिथ्स ऑव पैलेस्टाइन', लंदन, १९१४।

जे० ब्लॉख 'ला देज़ीनाँस द दूज़िएम पेर्सन दु प्लुरिएल आँ नूरी', जर्नल ऑव द जिप्सी लोर सोसाइटी, VII (१९२८), पृ० १११-११३।—'केल्क फ़ॉर्म वर्बेल दु नूरी', जे० जी० एल० एस०, XI (१९३२), पृ० ३०-३२।—'ल प्रेज़ाँत दु वर्ब 'ऐत्र' आँ सिगान', इंडियन लिंग्विस्टिक्स, ग्रियर्सन कौमेमोरेशन वौल्यूम, १९३३, पृ० २७-३४।—'ला प्रीमिएेर पेर्सन दु प्रेज़ाँत आँ कश्मीरी', बी० एस० एल०, XXVIII (१९२८), पृ० १-६। —'सूर्वी वाँस द संस्कृत' आसीत् (āsīt) आँ ऑदिएेन मॉदर्न', बी० एस० एल०, XXXIII (१९३२), पृ० ५५-६५।

अंत में, सामान्य प्रश्नों से सम्बन्धित :

जे० ब्लॉख़ 'सम प्रौब्लेम्स ऑव इंडो-एरियन फ़ाइलौलौजी' : I, 'द लिट्रेरी लैंग्वेजेज', II, 'इंडो-एरियन ऐंड ड्रैवैडिअन', III, 'प्रेज़ेन्ट रिक्वायर्मेंट्स ऑव इंडो-एरियन रिसर्च', V, ४ (१९३०), पृ० ७१९-७५६।

एक कोश का उल्लेख करना यथेष्ट होगा, जो तुलनात्मक है और बहुत अधिक महत्त्व का है :

आर० एल० टर्नर 'ए कम्पैरेटिव ऐंड एटिमौलौजिकल डिक्शनरी ऑव द नेपाली लैंग्वेज', लंदन, १९३१।

उद्धृत पत्रों के संक्षिप्त किये हुए शीर्षक :

बी० एस० एल०=बूलेताँ द ला सोसिएते द लाँग्विस्तिक द पारी'; बी० एस० ओ० एस०=बुलेटीन ऑव द स्कूल ऑव ऑरिएंटल स्टडीज़'; आई० एफ़०=इंडोजर्मनिशे फ़ोरशुन्गेन; जे० ए-एस०=जूर्ना एसिएतीक; जे० आर० ए० एस०=जर्नल ऑव द रॉयल एशियाटिक सोसाइटी; के० ज़ेड०=ज़ाइटश्रिफ़्ट फ़्यूर फ़र्ग्लाइशेन्डे स्प्राखफ़ोर्शुंग; एम० एस० एल०=मेम्वार द ला सोसिएते द लैंग्विस्तीक द पारी।

प्रथम खण्ड

ध्वनि

स्वर

१. प्राचीन स्वर

संस्कृत की स्वर-प्रणाली भारत-ईरानी प्रणाली के अत्यन्त निकट है।
ौर दीर्घ अ, इ, उ, ऋ (क्लृप, अ० कॅर॑प की अद्‌भुत धातु में लृ सहित)
में संयुक्त स्वर ए और ओ उसी प्रकार हैं जिस प्रकार ऐ और औ। अ
*ए, *ओ तथा स्वर-संबंधी कार्य में अनुनासिकों से उत्पन्न), इ (अर्थात्
की दृष्टि से उसका ईरानी के साथ पूर्ण साम्य है :

सं०	अजति	अ०	अज़ैति	लेटि०	एजिट	§
	अस्ति	पु०फ़ा०	अस्तिय्	लेटि०	एस्ट	
	पतिः	अ०	पैतिसॅं	ग्री०	पौसिस	
	अ-	अ०	अ-	ग्री०	अं	
	दश	अ०	दस	ग्री०	दएँकअ	
	इहि	गा०	इदी	ग्री०	इँथि	
	उप	अ०	उप	ग्री०	उंपों	
सं०	मातर्-	अ०	मातर	लेटि०	मेटर	
	मा	अ०	मा	ग्री०	मए	
	गाम्	अ०	गअम्	ग्री०	ब्ओंन्	
	जातः	अ०	ज़ातो	लेटि०	नाटुस	
	क्षाः	अ०	ज़अं	ग्री०	क्थ्ओंन्	
	जीव-	पु० फ़ा०	जॅइव-	लेटि०	यूईअस	
	भ्रूः	फ़ा०	अब्रू	ग्री०	ओंफ्र्उँस्	

० आ कुछ परिस्थितियों में ह्रस्व *ओ के स्थान पर आता है, भारत-
विशेषता अब भी है : ग्री० अंक्मओनक्, पु०फ़ा० अस्मानम्,

। में इ *अं से निकली है, प्रथम अक्षर में ही यह अनुरूपता है :
पितर-, अ० पितर-, लेटि० पेटर,

किन्तु अकेली संस्कृत ही उसे मध्यवर्ती रूप में सुरक्षित रख सकी है :

दुहिता, ग्री० थनगर्अतएर : गा० द्वयक्षरात्मक दुग्दा, अ० साथ-साथ आए व्यंजनों की मुखरता को आत्मसात् करते हुए दुγδअ।

शेष एक दुर्बल ध्वनिमात्र थी, और वह न केवल स्वर से पूर्व लुप्त हो जाती है जैसे भारोपीय में : जन्-अन-पु० 'बनानेवाला', तुल० जनि-र्तर-; किन्तु जब कि वह अपने को पूर्व य् के साथ मिला लेती और उसके साथ एक हो जाती है (क्रीतं, तुल० ग्री० परिअ-स्थइ), तो एक प्रकार के अवरोधक विषमीकरण द्वारा य् से पहले उसका रूप अ हो जाता है : धं-यति, धेनु- (अ० दएनु- 'स्त्री')।

अन्य में संस्कृत इ और उ एक अस्थिर ध्वनि वाले भारोपीय स्वर, जिसका भारत-ईरानी में रूप परिवर्तित होता रहता है, के अनुरूप हैं; वे प्रारंभ से ही व्यंजन और स्वर के बीच में स्वनंत वर्ण के आ जाने से उच्चारण-संबंधी कोमलता धारण कर लेते हैं; *°र् के संबंध में विशेषतः तथ्य स्पष्ट हैं :

गुरु-	अ० गोउरु-	ग्री० बरुस
गिरि-	अ० गैरि-	

*अ के साथ योग स्थापित कर देने से यह कोमलता भारतीय भाषा को एक ऐसा दीर्घ स्वर प्रदान करती है जो ईरानी में प्राप्त नहीं होता :

दीर्घ-	अ०	दर्अγअ-	
पूर्व-	पु०फ़ा०	परुव-	अ० पओउर्व-

अंतर इतना अधिक है कि यहां भारतीय ईर्, ऊर् ईरानी के लगभग पश्चाद्वर्ती *ॠ की याद दिलाते हैं।

वास्तव में संस्कृत में यह ऋ ह्रस्व जटिल स्वर के रूप में है, जब कि ईरानी में पहले उच्चारण की दृष्टि से, फिर स्वनंत व्यंजन : अ० अंर् (अं), पु०फ़ा० र् [पढ़ते समय °र] और प्राथमिक अर्- :

पृच्छामि	अ० परसा	फ़ा० पुरसम्
ऋष्टि	अंस्ति-	ख़-इस्त् (जिसमें इर्स्- ऋर्स् का प्रतिनिधित्व करता है)

की दृष्टि से भिन्न है।

तो इस दृष्टि से ईरानी की अपेक्षा संस्कृत अधिक रूढ़िप्रिय है।

इसके अतिरिक्त, उच्चारण-भेद से अक्षर के आघात का भेद उत्पन्न होता है, जो

शुद्ध छन्दात्मक भाषाओं में अत्यधिक महत्त्व का है; प्राचीन मात्रा को केवल भारतीय भाषा ने ही सुरक्षित रखा है।

संस्कृत में दीर्घ ॠ उपलब्ध नहीं है, उसका अस्तित्व तो केवल आकृतिमूलक सादृश्य के फलस्वरूप नवीनता के कारण है : देखिए संबंध० और कर्म० बहु० पितॄणाम्, पितॄन्; नॄणाम्, नॄन्, जो 'देवानाम् गिरीणाम् वसूनाम्, देवान् गिरीन् वसून्' के अनुकरण पर हैं; वेद में अब भी इन नामों में प्राचीन रूप सुरक्षित है : नर-आम् जैसे अ० में द्रुग्अंद्र-अम् और लेटि० में पेट्र-उम्।

व्यावहारिक दृष्टि से इन सब में केवल एक मूल स्वर है : ह्रस्व या दीर्घ अ, जो या तो अक्ष :के मध्य में है, या संयुक्त स्वरों के स्वर-संबंधी तत्त्वों में है। इसके विपरीत य् और व् के सभी स्वर-संबंधी रूपों से पूर्व इ और उ उसी प्रकार हो जाते हैं जिस-प्रकार र् से ऋ : इ-मः : य्-अन्ति, सुनु-मः : सुन्व्-अन्ति; जैसे बिभृ-मः : बिभ्र्-अति; उसी से ही, द्यु-भिः : दिवः, स्यू-र्त : सीव्-यति। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इ और उ सदैव वही कार्य करते हैं जो ऋ करता है।

वास्तव में, यद्यपि वैयाकरणों के मतानुसार, संयुक्त स्वरों ऐ, औ का प्रथम तत्त्व कम-से-कम दूसरे की अपेक्षा ह्रस्व भी हो सकता है, उन्होंने ईरानी में सुरक्षित, प्रथम दीर्घ तत्त्व वाले संयुक्त स्वरों को बताया है : संप्र० कस्मै, किन्तु अ० कह्माइ; तुल० ग्री० आइओं; उनका विग्रह आ + य् अथवा व् (नौः – कर्म० नावम्) के रूप में हो जाता है और तत्पश्चात् अर् के अनुरूप नहीं, आर् के अनुरूप हो जाता है। भारत-ईरानी संयुक्त स्वर ऐ, औ प्राचीन ईरानी में सुरक्षित हैं। किन्तु अति प्राचीन संस्कृत में ही उनके संयुक्त रूप प्रारंभ होने लगते हैं :

अ० अएस्मो,	तुल० ग्री० अइँथो	स० एध-
वएदा	तुल० ग्री० ओइदॖआ	वेद
अएइति	पु०फ़ा० ऐतिय्; तुल० (ग्री०) एंसि	एति

उनके मात्रा-काल में, जो निरंतर दीर्घ रहता है, और स्वर से पूर्व उनके विग्रह में उनका प्राचीन रूप प्रकट होता है : लेट्-लकार अय्-अति।

ए और ओ तो ईरानी द्वारा सुरक्षित *अज़् के प्रतिनिधि के रूप में अब भी पाये जाते हैं; ए शब्द के मध्य में और पहले *अज़्धि, तुल० अ० ज़्दी के लिए नेदिष्ठ-, अ० नज़्दिस्त-; एधि, ओ अन्त में (ऋ० १.२६.७. 'प्रियो नो अस्तु'; वही संयोग की अवस्था में : मनो-जव-, और कुछ के अन्त से पूर्व : द्वेषो-भिः)।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि ध्वनि-श्रेणियों की इतनी सरल सूची से निस्संदेह उच्चारण की विविधताओं का पूर्णतः अनुमान नहीं लगाया जा सकता। उदाहरणार्थ,

स्वयं वैयाकरणों ने इस बात की ओर संकेत किया है कि आ की अपेक्षा अ का अधिक स्थिर रूप था, और यह विभिन्न रूपों में प्रमाणित हो जाता है, विशेषतः उन ध्वनि-विरोधों से जो आज मात्रा-काल-संबंधी प्राचीन विरोधों के स्थान पर हैं, उदाहरणार्थ, बँगला अँ, ओ का विरोध अ (लिखित आ) से है, अथवा यूरोपीय जिप्सी-भाषा ए का विरोध अ से है ।

ग्रीकों द्वारा प्राचीन भौगोलिक रूपान्तरों में विविधता है; उनमें से कुछ ऐसे हैं जिनमें ग्री० α ह्रस्व अ होना चाहिए : तग्गेस, तक्सिल (तक्षशिला), सन्ड्रकोइइओस (चन्द्रगुप्त), दक्सिनबदेस् (दक्षिणापथ) ; उधर आरिएन में कम्ब्रिस्दोलोइ (कापिष्ठल) हैं, किन्तु ये संकेत प्रधानत समास के प्रथम शब्दों के अंत में मिलते हैं, एरन्नोबोंअस जिसमें 'ओ' के अतिरिक्त 'आ' भी है (हिरण्यवाह) ; सन्दरोफगोस (चन्द्रभागा) ; तप्रोब्ने (ताम्रपर्णी-) ; यह भी कहा जाता है कि टोलेमी ने उसका प्रयोग पूर्वी भागों के लिए, जिसे वास्तव में बंगाल कहते हैं, किया (एस० लेवी, 'टोलेमी, ल निद्देस,' एत्यूद एसियातीक, ई-एफ़-ई-ओ, पृ० २२) ; अन्त में स्त्राबोन में देर्दइ (टोलेमी में दर्द्रइ है), आरिएन में मेदोर (टोलेमी में मोदोउर) ; कल्लेअर्नोस लिंथोस और -नर्गर् के निकट पेरीपिल में वही कल्लिएँन है।

पुरुषवाचक संज्ञाओं में अ और इ का परिवर्तन तो निश्चित रूप से बताया जा सकता है, विशेषतः उस समय जब कि ब्राह्मण प्रणाली से किसी दूसरी प्रणाली की ओर जाना पड़ता है : श० ब्रा० नड नैषिध, महा० नल नैषिध; सं० मुचिलिन्द, पा० मुचलिन्द; किन्तु पाली में मेनन्दरोस के लिए मिलिन्द में इ है; कुशलव- और कुशीलव-, कौटल्य- और कौटिल्य-, शातवाहन- और शालिवाहन-, पा० तपुस और पौधे का नाम तिपुस-, सं० त्रिपुष पुरुषवाचक संज्ञा और त्रपुष- दुहरे प्रयोग भी मिलते हैं।

मध्यकालीन भारतीय भाषाओं और तत्पश्चात् आधुनिक भाषाओं में ऐसे पर्याप्त संख्या में उदाहरण मिलते हैं जिनमें प्राचीन अ के स्थान पर इ हो गयी है : पा० तिपु (अथर्व० त्रपु), पा० प्रा० मिञ्जा, तुल० सिं० मिञ् (मज्जन-); पा० इंग्(ह्)आल, आदि (अंगार-), हिं० खिन् और खन् (क्षण-), हि० किन् (उँगली) (तुल० कन्या, कनिष्ठ), गिन्- (गण्-), झिगड़ा, पिंजर् जो झगड़ा, पंजर के निकट हैं; इलाहाबाद (अल्लाह्-), डेड़ाना डरना (डर-) के निकट है, मेंडक् (मण्डूक-), बँगला चिब्- (चर्व), छिल्का (छल्लि-), खिजूर् जो संथाल रूप (खर्जूर-) से प्रमाणित होता है। यह एक ऐसी भाषा में होने के कारण और भी महत्त्वपूर्ण है जिसमें अ का उच्चारण अँ या ओ आदि की भाँति होता ह, जिसमें कंठ्य और विशेषतः तालव्य

के प्रभाव की झलक मिलती है; इसी प्रकार हिन्दी और पंजाबी में ह् द्वारा अ का तालव्यीकरण बराबर पाया जाता है, जिसके अनुसार रीह- लिखा गया रह्-, सिं० किहानि हिं० कहानि (कथ-) की अपेक्षा रखता है।

जैसा कि प्रतीत होता है, यदि अ सामान्यतः तालव्य उच्चारण ग्रहण कर लेता है, तो उसी प्रकार के द्रविड़ रूपों को देखने की इच्छा होती है। क० मिग्- (महा-); हर हालत में समान रूप अवश्य मिलते हैं : क० मेळसु, त० तेप्प-, पेरीपिल इर्प्प (त) गु० तापो; त० मेळसु, त० मिळगु, सं० मरिच-।

इसके विपरीत ऋ० शुतुद्री, सं० महाकाव्य शतद्रू, का परिवर्तन-क्रम अपवाद-स्वरूप है; अशोक० उदुपान- (उद-), ओपुध- (ओषध-), पा० पुक्कुस-, निमुज्जति (मज्ज्-) ओष्ठ्य की श्रेणी में आ जाते हैं।

यहाँ इस बात का स्मरण हो आता है कि मध्यकालीन भारतीय भाषाओं में ऋ का अन्त साधारणतः अ या इ में हो जाता है, और प्रारंभ में विशेषतः इ में, किन्तु केवल ओष्ठ्य के साथ होने पर उ में; इसी प्रकार संस्कृत में स्वनंत स्वरों की ध्वनियों के लिए है : तिरः, हिरण्य-, किन्तु पुरः, किन्तु मृयते में संभावक प्रकार मुरीय; रि-किन्तु गुरु-; प्रायः ह् के पहले इ ही आती है : मै० सं० मलिहा : तै० सं० मल्ह-; कभी-कभी अ के रूप में मिलती है : पा० अरहन्त्- से अरहा, जिसकी व्याख्या है 'शत्रुओं को नष्ट करने वाला'—अरि-हन-; किन्तु इस प्रकार उ के लिए नहीं कहा जा सकता।

वैयाकरणों ने ह्रस्व तथा दीर्घ इ और उ के उच्चारण की भिन्नता की ओर संकेत नहीं किया। किन्तु नामों की दृष्टि से जैसे किर्रदइ, पेरीपिल के सुरस्त-रैने, अति प्राचीन काल में मिलते हैं सन्द्रकोत्तोस (-गुप्त-), पलिबोंद्र (-पुत्र-), मेदोर (मथुरा), एरन्नोबोंअस (हिरण्य-) और टोलेमी में - गेरेइ अथवा -गेरेइ (गिरि-): विपर्यस्त रूप में मुद्राओं पर 'अगथुक्रेयस' 'एगोथोक्लीस', अशोक० में 'तुरमय' (टोलेमी)। तो इस बात का संकेत मिलता है कि ह्रस्व इ और विशेषतः उ अपने सानुरूप दीर्घ रूपों की अपेक्षा अधिक विवृत थे। उससे निस्संदेह पा० आयुसो (आयुष्मन्त-) के मुकाबले में आयस्मन्त-, पुन-र् की दृष्टि से पन (तुल० मराठी पण्, बं० पणि) जो संस्कृत रूप के साथ-साथ अर्थ भी सुरक्षित रखे हुए ह, की विवृति सरल हो जाती है। आधुनिक काल में शब्द के मध्य उसकी दुर्बल स्थिति को कठिनाई के साथ प्रमाणित किया जाता है; केवल गुजराती में उसका रूप दिखाई देता प्रतीत होता है, उदाहरणार्थ, मळ, (मिल्), लख्-(लिख्-), -हतो (हिं० होता)।

यह भी सिद्ध नहीं होता कि ए और ओ का उच्चारण एक ही भाँति रहा होगा। अथर्ववेद १.३४-३६ के प्रातिशाख्य के आधार पर, ऐसा प्रतीत होता है कि ए और ओ आ के लगभग समान विवृत और अ की अपेक्षा अधिक विवृत रहे होंगे; किन्तु तै० प्राति० २.१३–१४ से प्रत्यक्षतः इसका खण्डन हो जाता है। इन दो उच्चारणों पर प्रकाश पड़ता है प्राचीन संयुक्त स्वर से अलग होने में, जिनके तत्त्व प्रारंभ में निकट रहे हों (अंउ हो), भिन्नता के कारण अलग-अलग रहे हों (औं हो जिससे अओं बना)। आधुनिक युग में, गुजराती की सैद्धान्तिक दृष्टि से विशेषता प्राकृत से आये विच्छेद के साथ ऐं और औं, जिनमें विवृति अधिक थी, की अपेक्षा प्राकृत ए और ओ से आये ए और ओ की विवृति की मात्रा में है (टर्नर, 'आसु० मुखर्जी जुबिली वॉल्यूम', पृ० ३३७)।

हर हालत में, -औ और *-अस से निकले सं० -ओ समान नहीं हैं : वैदिक संधि गव्-इष्टि के समक्ष मन-ऋंग- (मनस् और गो से) का विरोध करती है। *अज़् से निकला -ओ कभी-कभी -अय् में विभक्त हो जाता है। पूर्वी मध्यकालीन भारतीय भाषाओं में अन्त में -ए रूप में समाप्त होकर वह विलीन हो जाता है : अशोक के अपश्चिमी अभिलेखों में सं० -अः सदैव -ए रूप में आया है : 'देवानांपिये' (-प्रियः), 'लाजिने' (राज्ञाः), 'ने' (नः) आदि; किन्तु एक यौगिक जैसे, क्यो-महालक और एक स्वराघात-विहीन जैसे, 'ततो' में संस्कृत की विशेषता सुरक्षित रह गयी है, जैसे 'नो', 'खो' (तुल० खलु) (निय के प्राचीन प्रमाणों में यही बात मिलती है, दे० पृ० ८) में अ+उ से निकला ओ।

कोई व्याकरण-संबंधी महत्त्व न होने के कारण, इस रूप की विविधताएँ प्रत्यक्ष नहीं रहीं अथवा कम-से-कम उनकी ओर ध्यान नहीं गया। अस्तु, संस्कृत की स्वर-प्रणाली अपूर्ण है; किन्तु भारत-ईरानी की अपेक्षा वह कम अपूर्ण है, क्योंकि प्राचीन संयुक्त स्वरों को प्रथम ह्रस्व रूप में ले आने की चेष्टा में, उसे दो नये, ए और ओ, प्राप्त हो गये।

किन्तु इन ध्वनि-श्रेणियों का विभाजन मात्रा-काल की दृष्टि से अव्यवस्थित है, जो यद्यपि प्राचीन ध्वनि-प्रणाली का एक मूल तत्त्व है : केवल अ, इ, उ में ह्रस्व और दीर्घ मात्रा-काल है; ऋ केवल कुछ हालतों में अन्त में दीर्घ हो जाती है, आकृतिमूलक साधर्म्य के कारण; अन्त में, ए और ओ के केवल दीर्घ रूप मिलते हैं।

व्यावहारिक दृष्टि से भी उनमें उतनी ही असमानता है : केवल अ स्वर है, इ, उ, ऋ स्वनंत हैं; ए और ओ विच्छिन्न हो जाने वाले संयुक्त स्वर हैं, और ये अय्, अव् में विभक्त हो जाते हैं जो सामान्यतः* ऐ, *औ से निकले हुए होने चाहिए; अथवा

ऐ, औ का विच्छेद आय्, आव् में हो जाता है। सामान्यतः, परिवर्तन-क्रम, जिनका भाषा में प्रमुख भाग रहता है, ध्वनि-प्रणाली के अनुरूप नहीं हैं; उसे ऋ के अनुरूप आकृतिमूलक समुदायों की ध्वनि-श्रेणियों के उदाहरण द्वारा देखा जा सकता है; अर्, अ (वैसे मूल स्वर); अन्, इ : ए, इ (अर्थात् * अं): आ; इन असमान रूपों की संख्या और भी बढ़ायी जा सकती है। इसके अतिरिक्त परिवर्तन-क्रमों में ध्वनि-श्रेणियाँ विभिन्न रहती हैं; इस प्रकार इ, स्वर अ, जहाँ तक उसे * अं से निकला माना जा सकता है, से परिवर्तनीय है, और साथ ही य् से भी, बिना इस बात का ख्याल रखे हुए कि वह गिरि- में ऋ से भी अलग हो सकती है।

एक ऐसी प्रणाली में, जिसमें दुरूहताएँ रूपों के अनुरूप न हों, गंभीर परिवर्तन होना आवश्यक था।

२. स्वरों का परवर्ती विकास

(१) ध्वनि-श्रेणियों का लोप

व्यावहारिक दृष्टि से असंतुलित होने के कारण, यह स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष सरलता और स्थायित्व (आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओं में अपनी नवीन ध्वनि-श्रेणियाँ एक प्रकार से विकसित ही नहीं हुईं) के रहने पर भी संस्कृत की स्वर-प्रणाली को गंभीर क्षतिपूर्ति प्रदर्शित करनी पड़ी है।

ऋ का स्वरीकरण

पहला ऋ के बहिर्गत हो जाने में है; इस दृष्टि से भारतीय भाषा में, ईरानी तथा अन्य भारोपीय भाषाओं की भाँति, एक दुरूह ध्वनि-श्रेणी विलीन हो जाती है, और जिसकी स्वर-स्थिति में ही व्यंजन तत्व निहित थे; किन्तु इस समस्या का भारतीय समाधान निराला है, क्योंकि अन्य स्थानों की भाँति ईरान में यह परिणाम निकला कि एक समुदाय में एक साथ ही एक स्वर और एक र् है; केवल भारतवर्ष में उच्चारण की क्षति पर मात्रा-काल की रक्षा एक ऐसी पद्धति द्वारा की गयी है जिसका प्रयोग ईरानी और ग्रीक भाषाओं में व्यंजनों के संबंध में होता है, और स्वभावतः इ, उ के संबंध में जो कोई कठिनाई प्रस्तुत नहीं करती।

यह बात निस्संदेह है कि उच्चारण में ऋ का स्थान एक विशुद्ध स्वर ने ले लिया था, न कि किसी संयुक्त-स्वर ने अथवा शब्दांशों का निर्माण करने वाले किसी समुदाय ने। तो क्या लेख में ऋ के इतने दिनों तक सुरक्षित रहने का कुछ अर्थ है? जो भी हो,

यह एक महत्त्वपूर्ण बात है, वेद में ही उ द्वारा प्राचीन ऋ का प्रतिनिधित्व किया गया मिलता है; वह संबंध० एक० पितुः (*पितृ-स्) जैसे शब्दों के अन्त में मिलता है: तुल० अ० नरसँ (*नृ-स्), चक्रुः का ३ बहुवचन, तुल० अ० गा० अंनहर, चिंको-इतरसें (दे० मेइए, 'मेलाँज़ दाँदिअनज़्म. . . .एस० लेवी', पृ० १७)। यह एक सामान्य तथ्य है कि एक ध्वनि-श्रेणी पहले अन्त में हो। किंतु ऐसे उदाहरण भी पाये जाते हैं जिनमें उपलब्ध स्वर शब्दों के मध्य देखा गया है, जिनमें परिवर्तन-क्रम का कोई भी प्रतिफलन ऋ की रक्षा नहीं करता और जिनमें केवल शब्द-व्युत्पत्ति-विशेषज्ञ ही चिह्न पा सकता है: विकट-, निर्ण्य-, तुल० ग्री० नेर्तेरोस, मुहुः (अ० मरंजु-, दे० 'डोनम नेटालिसियम श्रिजनेन,' पृ० ३६९), साथ ही तुल० गेह्—, गृह के समीप।

र् + स्वर के भी कुछ प्रमाण मिलते हैं, जिनमें शब्दांशिक मात्रा-काल को भी स्थान मिला है: क्रिमि- कृमि- के समीप, तुल० फ़ा० किर्म; रजत- अ० अरंज़तम्; रु अप्रत्यक्ष रूप से शृणोति (अ० सुरुनाऔति, अशोक० स्रुनेयु आदि) द्वारा प्रमाणित होता है।

मध्यकालीन भारतीय और नव्य भारतीय भाषाओं में ये ही रूप मिलते हैं; अथवा उचित रूप मे, ये प्रयोग, जो भारतीय-आर्य भाषा की विशेषता है, वेद में बड़े अच्छे रूप में मिलते हैं, जो बाद को परवर्ती भाषा-स्थितियों के संकेत-चिह्न में सामान्यतः मिलते हैं। स्वर + र् का रूप, जैसा कि ईरानी में है, केवल संस्कृत से लेकर आधुनिक शब्दों के अनिश्चित उच्चारण में मिलता है (बं० अमिर्‌त, अम्‌रित और अम्रत के समीप); ऐसा ही फ़ा० मिर्ज़ा से म्रिजा है; इसी प्रकार शहबाजगढ़ी के अशोक के अभिलेखों के अनिश्चित लेखों में कोई चाहे तो *मुर्‌गो आदि (मिकेल्सन, जे० ए० ओ० एस०, × × ×, पृ० ८२) पढ़ सकता है जब कि पाठ के अनुसार वह म्रुगो (तुल० ध्रम = धर्म) मिलता है। फलतः यह स्वीकार करना चाहिए कि यह एक अनोखा अपवाद है। खोवर ओर्चं (हमारा), जो कभी-कभी अपने को पं० रिच्छ्, म० रीस् आदि, वैगेलि के ओचं, कती, अश्कुन ईचं, पशाई के ईच् अच्, शिन ईंच्, से अलग कर लेता है, यहाँ विचार किये जाने की दृष्टि से बहुत दूर पड़ता है।

र् + स्वर, वैदिक क्रिमि की भाँति, का प्रयोग संभवतः अशोक० (म्रुग-, म्रिग-) और पाली में ओष्ठ्य के समीप मिलता है, उदाहरणार्थ, ब्रूहेति (ऊ के लिए, तुल० सं० परिवृढ-से बना परिब्बुल्ह-), ब्रहन्त्- (ब्रहट्ठ के अनुकरण पर ब्रूह के लिए, सं० बह्लिष्ठ-), रुक्ख- (और रक्ख-ग्री० हापाक्स); साथ ही तुल० पा० पुथु (पृथक्) के विपरीत ह० दुत्रु० प्रुधि। किन्तु पा० पुच्छति, विच्छिक-, अच्छ- (पृच्छति, वृश्चिक, ऋक्ष-) यह प्रदर्शित करते हैं कि प्रत्येक स्थिति में वे अपवाद-स्वरूप हैं। प्राकृत में रि- प्रारंभ में ही मिल जाता है: रिद्धि-, रिसि-, रिच्छ- आदि; किन्तु इसि-, अच्छ- भी

मिलते हैं, तुल० पाली और जैन प्रयोग महेसि-। यद्यपि उसके कुछ चिह्न आधुनिक भाषाओं में मिलते हैं, तुल० पीछे उद्धृत 'हमारा' के लिए शब्द, तो भी उनमें यह प्रयोग अपवाद-स्वरूप हैं; और ऋ के स्थान पर मूल स्वर का हो जाना, जिसे वैदिक भाषा में निश्चित रूप से दिखाया जा चुका है, और साथ ही क्लैसीकल भाषा में (क्रोष्टृऋ- और क्रोष्टु- आदि का मिश्रण), मध्यकालीन भारतीय और नव्य भारतीय भाषाओं में, भाषाएँ जो विलक्षण समझी जाती हैं, सामान्य प्रयोग के रूप में रह जाता है। स्वर की विविधता पहले ही दिखाई पड़ने लगती है : गिरनार में अशोक और बाद में मराठी भाषा ने अ को पसन्द किया जिसे सिंधी में कोई स्थान नहीं मिला; इ का प्रयोग बहुत हुआ है।

संयुक्त स्वरों का लोप

ए और अ के विकसित हो जाने से संयुक्त स्वरों की भारत-ईरानी प्रणाली का टूटना विकास की वह प्रथम श्रेणी है जो स्वयं बाद को मध्यकालीन भारतीय भाषाओं में ऐ और औ के रूप में परिणत हो जाती है, साथ ही जब उसका आकृतिमूलक मूल्य नष्ट हो जाता है : इ, ए, ऐ; उ, ओ, औ।

यह तो देखा जा चुका है कि संस्कृत में भारत-ईरानी संयुक्त-स्वरों आइ, आउ का प्रथम तत्व अ अपना ठीक-ठीक मात्रा-काल खो बैठा था। आधुनिक भारतीय भाषाओं में, ऐ और औ में फिर से ए और ओ आ गये हैं; अशोक० केवट- (कैवर्त-), विकृतरूप स्त्री० एक० -ये (-यै) का अन्त्य; पोत्र- (पौत्र-); पा० वेर- (वैर-); पोर- (पौर-), उभो (उभौ), रत्तो (रात्रौ)। अयि, अय, से निकले ऐ, औ के अतिरिक्त अव, अवीं भी ऐ, औ में परिवर्तित हो जाते हैं; गिरनार में अशोक ने लिखा है थैर- (स्थविर-) और त्रैदस (त्रयोदश) जो पाली में थेर-, तेरस लिखे जाते हैं। यही बात अपिनिहित के संबंध में भी है: शह० (=पा०) समचरियम् के लिए अशोक० समचैरम् बीच की उस स्थिति का द्योतन करता है जिससे प्राकृत रूप अच्छेर- (आश्चर्य-), आचेर- (आचार्य-) निकले हैं और प्राकृत विशेषणों का रूप -केर- जिसका संबंधसूचक विशेषणों के प्रत्यय के रूप में प्रा० गु०, जिप्सी-भाषा आदि में अत्यधिक प्रयोग होने वाला था। अन्त में शब्दांश-संबंधी सीमा द्वारा पृथक् किये गये अ और इ, उ आगे चलकर इस सीमा के संकुचित हो जाने से आपस में मिल जाते हैं; निग्लिवा के अशोक-अभिलेखों में तो चो(द्)-दस्- (चतुर्दश-) दिया ही हुआ है, जिनमें दन्त्य का विषमीकरण हो जाता है, साथ ही उनमें टोपरा के रूप भी मिलते हैं : चतु(प्)पदे, चातुम्मासं और, परिवर्तन-

कालीन सोष्म के रूप में परिवर्तित अस्थायी व्यंजन में, -चावुदस-। तत्पश्चात् उसमें क्रिया के ३ एक० मिलेंगे (सं० -अति), प्रा० -ऐ, आधुनिक -ऐ अथवा -ए, दीर्घ शब्दों के कर्ता० ए० में (सं० पा० -अको), प्रा०-अओ, ब्रज०-औ और-ओ, कश -उ; भगिनी से : हिं० बहिन्, पं० बैन्ह् और सिं० भेणु, कश० बेँञ्रें।

स्वर + र् से जहाँ तक संबंध है, एक दूसरे के पहले आने वाले सभी व्यंजनों की भाँति व्यंजन से पहले र् का समीकरण हो जाता है। अनुनासिक की तो और भी अधिक दुरूह परिस्थिति है।

जब वे स्पर्श से पहले आते हैं, तो उनका उच्चारण अपने को अनुकूल बना लेता है : ऋ० आज्ञार्थ २ एक० यम्- से यंधि; और व्यंजनों से पहले तथा साथ ही लुप्त शिन्-ध्वनियों से पहले : सामान्य अतीत २.३. ए० अगन् (*गन्त् और *गन्स्, निस्संदेह मध्यवर्ती *गन्त्स् द्वारा), संबंध० एक० दन् (*दम्स्)।

समीपवर्ती तत्वों में मिलते हुए अनुनासिक कंपनों को अग्रभाग जारी रखता है : अनुनासिक यँ् द्वारा य् अपने में संकुचित हो जाता है, ह् या शिन्-ध्वनि से पहले अ का अन्त ह्रस्व अनुनासिक अँ में हो जाता है। कुछ अन्य के बाद स्पर्श से पहले भी स्वर में अनुनासिकता आ जाती है; किन्तु यह एक अकेला उदाहरण है। सामान्य नियम तो वही है जो पोलोनै के उदाहरण में मिलता है (मेइए-ग्रैबोस्का, ग्री० पोलोन §§ १० : kes का उच्चारण kēs की तरह होता है, kọt का kout की तरह)। अशोक के लेखों में अनुनासिक के बद्धमूल हो जाने से पूर्व, ऐसा प्रतीत होता है कि किसी अनुनासिकता का रूप उस प्रकार का मिलता है जैसा फ़्रांसीसी méridional année के लिए ãne में है : अम्̣न–, अम्̣न्यत्र, पुम्̣न्य- (अन्य-, अन्यत्र, पुण्य-)।

स्वर इ, जो अ की अपेक्षा अनुनासिकता के बहुत पक्ष में नहीं है, मूल दीर्घ की ओर झुक जाने की प्रवृत्ति प्रकट करती है : पा० सीह- (सिंह-), अशोक० -विहीसा (हिंसा), सं० व्रीहि-, शब्द जो अपने लोक-प्रचलित मूल से अलग हो गया है, भारतीय-ईरानी *व्रिजेंहि, फ़ा० बिरिंज् ('ऐत्यूद एसियातीक...', ई० एफ़० ई० ओ०, I, पृ० ३७); किन्तु पा० वास्ति सीधा भारोपीय से निकला है : अ० विसैति, लेटिन उईगिन्टी; यह सं० विंशति- है, जो क्लिष्ट हो गया है

जब कि मध्यकालीन भारतीय भाषा में अन्तिम व्यंजन का लोप हो जाता है, अनुनासिकों का अवरोध स्वर में मुखरता उत्पन्न करते समय अपने को विलीन कर देता है: अग्निम् से अग्गिं, जीवन से जीवम्, भवान् से भवं, प्रा० अर्द्ध-मागधी बलवान् से बलवम्।

ये मध्य तथा अन्त्य संयुक्त-स्वर सर्वप्रथम मात्रा-काल की दृष्टि से प्रयुक्त हुए हैं; प्राचीन छंद-प्रणाली में वे दीर्घ रूप में आते हैं। उस समय से वे प्राचीन दीर्घ रूपों की भाँति रहे हैं, किन्तु बौद्ध संस्कृत, और परवर्ती मध्यकालीन भारतीय भाषा के दीर्घ शब्दों में अन्त्य स्थिति धारण कर लेते हैं: भव० सीहासन (सिंहा-) के लिए सिहासण- आदि।

(२) शब्द में स्थान के आधार पर परिवर्तन

कुछ लगभग अपवादों को छोड़ कर, स्वर-संबंधी ध्वनि-प्रणाली इतिहास में बराबर बनी रही है; संस्कृत के अ, इ, ए, उ, ओ सामान्यतः फिर उस रूप में मिलते हैं जिस रूप में, उदाहरणार्थ, मराठी या हिन्दी में। इसके विपरीत लयात्मक परिवर्तन हुए हैं।

संस्कृत में स्वरों का मात्रा-काल निश्चित रूप से निर्धारित है; उसमें ह्रस्व हैं, दीर्घ हैं, और फिर दीर्घ ह्रस्व के संयुक्त रूप में हैं (शब्दांशों का "गुरुत्व" एक भिन्न बात है; एक शब्दांश मंद हो सकता है, स्वर ह्रस्व, यदि इस स्वर के बाद दो व्यंजन आयें)। प्राचीन छन्द-प्रणाली द्वारा अनुमोदित मात्रा-काल-संबंधी विभिन्नता का संबंध विशेषतः कुछ निश्चित आकृतिमूलक प्रकारों से है: यहाँ कुछ प्रत्ययों (श्रुधी; -त्र) अथवा रचना के प्रथम शब्दों (विश्वामित्र–) और उनमें मिल गये आकृतिमूलक तत्वों (तमबन्त के प्रत्ययों से पूर्व विशेषण शब्द) से संबंधित अन्त्य स्वर उद्धृत किये जायँगे। भारोपीय की यह एक परंपरा रही जिससे यह प्रकट होता है कि प्राचीन काल से ही उसमें शब्दांशों से संबंधित "गुरुत्व" के परिवर्तन-क्रम का अत्यन्त महत्त्व रहा है: हर्ता मर्त्रम: हर्त वृत्रम् (⏑⏑–⏓); वावृधे: ववर्ध: -रीमन्-: भरित्रम्। इसी प्रवृत्ति के कारण अनुकूल परिस्थिति में ह्रस्व स्वर का पूर्ण लोप हो जाता है: कृणु-, मनु- के लिए कृण्महे, मन्महे में ओष्ठ्य देखिए; जनिता की अपेक्षा जनः की भाँति द्वचक्षरात्मक शब्दों के मूल की इ को लुप्त कर देने की शक्ति: जिससे जनिम के समीप जन्मना (दे० मेइए, एम० एस० एल०, XXI पृ० १९३) बनता है। इसी परंपरा के अनुसार मध्यकालीन भारतीय भाषा के यौगिक शब्दों का व्याप्तियुक्त रूप मिलता है; पा० जातीमरण-, दित्थीगत- और इसी प्रकार संबंध० सतीमतो, दे० कर्त्ता० सतींमा (स्मृतिमान्), किन्तु विपर्यस्त रूप में ह्रस्वीकरण मिलता है: तण्हगत तण्हा (तृष्णा) के रूप में, और पञ्ञवा (प्रज्ञावान्); तो यह एक ऐसी समान बात है जो अन्त्य के अनिश्चित महत्त्व की ओर उतना ही संकेत करती है जितना शब्दांशों के लयात्मक समुदाय की ओर।

वास्तव में मध्यकालीन भारतीय भाषा में स्वर-संबंधी मात्रा-काल उतनी ही कठोरता के साथ सुरक्षित नहीं पाया जाता जितनी पहले व्याकरण की दृष्टि से और विशेषतः परिवर्तन-क्रमों की दृष्टि से पाया जाता था; यह बहुत-कुछ [illegible] स्वरों की ध्वनि की स्थिति पर निर्भर रहता है, और वह भी दो रूपों में : एक तो शब्दांशों के निर्माण की दृष्टि से, दूसरे शब्द के रूप और विस्तार की दृष्टि से।

(अ) शब्दांश

प्राचीन प्रणाली के अनुसार, एक शब्दांश, जिसके अंत में कोई दीर्घ स्वर आया हो और एक शब्दांश जिसमें ऐसा ह्रस्व स्वर हो जिसके पश्चात् आश्रित व्यंजन आया हो, समान रूप से मन्द होता है : तदा⌣–; तप्त–,तात–⌣ की तरह। व्यंजन समुदायों के परस्पर मिल जाने से स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता : पा० तत्त–(तप्त)–⌣।

एक शब्दांश, जिसमें दीर्घ स्वर और तत्पश्चात् एक समुदाय हो, बहुत मन्द रहता था और क्लैसीकल मध्यकालीन भारतीय भाषा में उसका आदर्श रूप पाया जाता है। गिरनार वाले अशोक के अभिलेखों में उससे अलगाव पाया जाता है : अ(ञ्)ञ- (अन्य-), यु(त्)त- (युक्त-) के निकट रूप में पढ़ने को मिलता है, रा(ञ्)ञो (राजनाः), मा(द्)दव- (मार्दव-), जो वैसे ही विरोधी रूप में है और अपूर्णतः अनुरूपित समुदायों पर आधारित स्वर-संबंधी मात्रा-काल में पाया जाता है : चत्पारो (चत्वारः), जो आत्प- (आत्म-) के विपरीत पड़ता है।

पश्चिमी भाग में भाषा-संबंधी यह परिस्थिति बहुत दिनों तक बनी रही : सिंधी में उसके प्रमाण मिलते हैं, जो वाघ्^{उ} (व्याघ्रो) का चक्^{उ} (चक्रम्) से, रात्^{ए} (रात्री) का रत्^{उ} (रक्तो) से, काठ्^{उ} (काष्ठम्) का अठ्^{अ} (अष्टौ) से विरोध प्रकट करते हैं; ऐसा ही पंजाबी रात् (रात्री) और रत्त् (रक्त-), और कश्मीरी में है : काठ् (काष्ठ-), जाग्- (जाग्र-), किन्तु रत् (रक्त-); तो इन प्रदेशों में द्वित्व रूपों का सरलीकरण हाल का है।

अन्य भाषाओं में इस रीति का अपवाद-रूप में प्रयोग हुआ है : वह पा० दीघ- (दीर्घ-), लाखा (लाक्षा) रूप में है। साधारणतः शब्दांश को स्वर ग्रहण करने की दृष्टि से उसका सामान्य "गुरुत्व" फिर प्राप्त हो जाता है, और यह मध्यकालीन भारतीय भाषाओं के समय से : रत्ति-, रत्त- के रूप में, कट्ठ-, अट्ठ के रूप में, अञ्ञा, अञ्ञ- (अन्य-) के रूप में।

अथवा ए और ओ जिनमें अन्त में ह्रस्व हो जाने की प्रवृत्ति थी, इन स्थलों पर भी बराबर ह्रस्व हो जाते हैं। सामान्य लेख, जेट्ठ- (ज्येष्ठ-) की तरह, कुछ ग्रहण नहीं

करता; अग्गिहुत्त- (अग्निहोत्र-), जुण्हा (ज्योत्स्ना) जैसे लेख स्पष्ट हो जाते हैं जब कि ऍ और ऑ का अस्तित्व स्वीकार कर लिया जाता है, क्योंकि एक ही धातु हुत- के कृदन्त से और लगभग एक से अर्थ जुति- (द्युति-) के शब्द से मिश्रण का अनुमान किया जा सकता है। किन्तु नेक्ख-(निष्क-), ओट्ठ-(उष्ट्र-) जैसे रूप, जिनकी व्याख्या शब्द-व्युत्पत्ति-विज्ञान नहीं कर सकता, प्रस्तुत ह्रस्व रूपों को मान कर चलते हैं। इससे न केवल पूर्वोल्लिखित उदाहरण ही, वरन् व्युत्पत्ति के उन उदाहरणों की भी व्याख्या हो जाती है जिनमें वृद्धि बिल्कुल लुप्त हो गयी है : सिन्धव (सैन्धव-), इस्सरिय-(ऐश्वर्य-), उस्सुक्क- (औत्सुक्य-)।

यह स्पष्ट हो जाता है कि, प्राचीन मध्यकालीन भारतीय भाषा में बढ़ हुए, इन तुल्य रूपों ने परिवर्तन-क्रमों की प्राचीन प्रणाली में कितनी कठिनाइयाँ उपस्थित कर दी हैं : न केवल व्युत्पत्ति में, किन्तु आकार की दृष्टि से स्वयं रूप-रचना में, गुण की सुरक्षा का अभाव है। उलटे आधुनिक काल तक उसमें और कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गया हैं : हि० एक् : इकट्ठा, देख्ना : दिखाना [जिनमें [illegible] परिवर्तन-क्रम से आश्चर्यजनक रूप में विपर्यस्त मूल-संबंधी परिवर्तन-क्रम परिणाम है : तोड़्ना (त्रोटयति) : टूटना (त्रुट्यते)]।

तो इस समय उसमें एक नयी प्रणाली पायी जाती है जिसके अन्तर्गत ऋ का अस्तित्व नहीं रह गया, और जिसमें शेष सभी स्वर ह्रस्व या दीर्घ हो सकते हैं। केवल एक कठिनाई यह है कि व्यावहारिक दृष्टि से इ एक साथ ही ई और ए दोनों का ह्रस्व रूप हो सकता है, उ भी ऊ और ओ का; यह कठिनाई और भी बढ़ जाती है जब कि ए और ई, ओ और ऊ परस्पर मेल नहीं खाते और पारस्परिक परिवर्तन अपवाद-रूप में प्रकट करते हैं।

हम देखते हैं कि मध्यकालीन भारतीय भाषा में द्वित्वों का सामान्यतः सरलीकरण हो गया है; प्रस्तुत विषय की दृष्टि से, पूर्व स्वर, जिसकी उत्पत्ति किसी कारण हुई हो, दीर्घमान हो जाता है। यह चीज़ कुछ हालतों में मध्यकालीन भारतीय भाषा से चली आयी मानी जा सकती है : तुल० अशोक० में, दिल्ली के स्तंभ में भविष्यत् रूप -ईसति है, जो -इ(स्)सति के निकट है। गंगा की घाटी और दक्खिन की भाषाओं में हर हालत में नियमित रूप से यह पाया जाता है : आप् (आत्मन्-, प्रा० अप्प-), रात् (रात्रि, पा० रत्ति-), आज् (अद्य, पा० अज्ज), पात् (पत्र-, पा० पत्त-), मूत् (मूत्र-, पा० मुत्त-), पूत् (पुत्र-, पा० पुत्त-); यूरोप की जिप्सी भाषा में द्रख् (द्राक्षा), माच्ओ (मत्स्य-), दोनों गव् (ग्राम-) के अ सहित, न कि केर्-(कर्-) के ए आदि सहित। इन्हीं से हिन्दी में मक्खन् : माखन् (म्रक्षण-), बत्ती और बाती (वर्तिका) जैसे द्वित्व रूप हैं।

सिंहली में केवल ह्रस्व स्वर और साधारण व्यंजन अधिक हैं; विकास के विस्तार ज्ञात नहीं हैं; यदि अनुनासिक+स्पर्श से पूर्व स्वरों का विभाजन एक उसी प्रकार के विकास की ओर संकेत करता प्रतीत होता जिस पर विशेष रूप से दृष्टि डाली जा चुकी है, तो स्वरों का ह्रस्वीकरण हाल का है।

वास्तव में अनुनासिक+स्पर्श वाला समुदाय व्यंजनों के समुदाय की साधारण स्थिति में टिक नहीं सकता, और दूसरी ओर स्वर की अनुनासिकता, जो प्राचीन समय में शिन्-ध्वनि, सोष्म या महाप्राण (संसर्द्-, वंशं-, संवार्द-,सं हित-) से पहले आ गया थी, स्पर्श से पूर्व केवल देर में और आंशिक रूप में आयी; संस्कृत और वर्नाक्यूलरों में अनुस्वार द्वारा व्यक्त विद्वत्तापूर्ण लेखों में बास्तविकता का प्रयोग नहीं पाया जाता।

पश्चिमी समुदाय में, जिसमें अनुनासिक व्यंजन की भाँति मिलता है, स्वर स्पर्श समुदाय से पूर्व की भाँति, अपना मात्रा-काल बनाये रखने की क्षमता रखता है : पं० कान्ना, सिं० कानो (काण्ड-), पं० रन्न्, सिं० रन् (रण्डा); किन्तु सिं० आमो (आम्र) के निकट पं० अम्ब्।

अन्यत्र स्पर्श की मुखरता पर सब कुछ निर्भर रहता है। मराठी में, स्वर, जो (विद्वानों के प्रभाव से अलग) सदैव दीर्घ होता है, अनुनासिकता बनाये रखता है और स्पर्शत्व के पश्चात् अनुनासिक मुखर हो जाता है : चाँद्; कठोर से पहले अनुनासिकता रहती है और व्यंजन से तुरंत पहले आती है : आँत्, तथा तत्संबंधी लेख के बिना अनुनासिक-विहीनता में उसका अंत होता है (हाल के एक विवेचन के लिए, दे० 'मॉडर्न रिव्यू', १९२८, पृ० ४२९)। कुछ-कुछ यही बात गुजराती में मिलती है। तथापि सिंहली में अन्ँदुर (अंधकार-), कुमॅबु (कुम्भ-) का विरोध कटु (कण्टक-), सेत् (शांति-), कॅअंप् (कम्प्-) और साथ ही मस् (मांस-) से है; तो मराठी में पुनर्विभाजन है, सिवाय इसके कि सिंहली में दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाते हैं।

हिन्दी में स्वर द्वारा अनुनासिकता को अपने में लीन किये जाने की प्रवृत्ति प्रमुख है : पाँखी (पक्षि-), जाँघ् (जंघा), पाँच् (पञ्च) किन्तु एक शब्द में अधिक दीर्घ पचास् (पंचाशत्), पूजी (पुञ्ज-), काँठ् (कण्ठ-), पीँरी (पिण्डिका), आदि; एक अच्छे उदाहरण में, स्वयं स्पर्श लुप्त हो जाता है : चूम्- (चुम्ब्-)। शेष ह्रस्व स्वर + अनुनासिक के रूप प्रायः मिल जाते हैं, जो निस्संदेह संस्कृत आदर्शों के प्रभाव से मुक्त हैं, वे चाहे पंच्, पिण्डी आदि ही हों; तो ऊपर संकेतित बाति : बत्ती प्रकार के एकमूलक भिन्नार्थी दो शब्दों में से एक में समानता पाय जाती है।

(आ) शब्द

अन्त्य स्वर

व्यंजनों के लुप्त हो जाने के फलस्वरूप, मध्यकालीन भारतीय भाषा के समस्त शब्दों के अंत में स्वर रहता था। बाद को शब्द के अन्त की निजी दुर्बलता की अभिव्यक्ति स्वर-संबंधी तत्वों में हुई; आधुनिक भाषाओं में, संयुक्त स्वरों से निकले हुए स्वरों को छोड़कर, दीर्घ अन्त्य स्वर और नहीं रह गये हैं; इसे छोड़ कर, स्वरों में अथवा स्पष्टतः रखे हुए व्यंजनों में अंत होने वाले शब्दों को कठिनाई से सुना जाता है।

इस परिवर्तन के चिह्न मध्यकालीन भारतीय भाषा के प्राचीनतम प्रमाणों में पाये जाते हैं। अशोक-स्तंभों के एक छोटे-से समुदाय में -आ, -आः, -आत् से निकला -आँ, -अ लिखा हुआ मिलता है, शब्द के विन्यस्त हो जाने पर प्राचीन दीर्घता फिर प्रकट हो गयी : सिय, व, किंतु वापि; अन्य अभिलेखों में मात्रा-काल नियमित रूप से नहीं रह जाता।

पाली के अनुलेखन में बहुत-सी बातें सुरक्षित रह गयी हैं, और शेष में रूप-विचार, जो प्राचीन प्रकार का है, का वह सामान्य तकाज़ा है; जाति एकवचन है, जाती बहुवचन है, आदि; किंतु सामान्य अतीत ३ एक० में, जिसमें परिवर्तन-क्रम एक दूसरे स्वर में होता है, सामान्यतः ह्रस्व मिलता है : आसि (आसीः, आसीत्), अस्सोसि आदि, और फलतः विपर्यस्त रूप में अच्छिदा। जाकोवी का विचार 'ये धम्मा हेतुप्पभवा' के प्रसिद्ध सूत्र की परीक्षा द्वितीय शब्द के ह्रस्व -अ द्वारा करना है।

अनुनासिक स्वरों में एक प्रकार की समानता है : गिरनार में कर्म० एक० स्त्री० -यातां (यात्राम्) है, किन्तु अन्यत्र -यातं है; पाली में कञ्ञं और नदिं (कन्यां, नदीम्) समान रूप से बराबर धम्मं और अग्गिम् (धर्मम्, अग्निम्) की तरह हैं; इसी प्रकार अशोक० और पा० दानि (इदानीम्) है। इसी प्रकार फिर अशोक० और पा० संबंध० बहु० गुरूनाम्, अधिकरण० ए० स्त्री० परिसायं है; अनुनासिकता, जिसका अब भी मामूली तौर से छन्द-व्यवस्था में महत्त्व माना जाता है, के कारणस्वरूप सभी रूपों का दीर्घ तत्त्व विद्वत्तापूर्ण अनुलेखन में नहीं मिलता : वास्तव में अरियसच्चान दस्सनम्, गिम्हान मासे जैसी अभिव्यंजनाओं में अनुनासिकता के दर्शन ही नहीं होते, और वह भी आश्रय के बन्धन के बिना : Sn. दीघम् अद्धान संसरम्। उसी से प्राकृत में प्रत्ययों की संख्या में अनुनासिक स्वर रहने या न रहने की संभावना हुई, जिसके बिना इस संबंध में शब्द-व्युत्पत्ति की दृष्टि से निश्चित रूप से निष्कर्ष नहीं

निकाला जा सकता; उसी से छंद में अन्त्य अनुनासिकों की दीर्घ या ह्रस्व (अनुस्वार या अनुनासिक) के रूप में गणना करने की स्वतंत्रता है।

इसमें जहाँ तक -ए और -ओ से संबंध है, उच्च मध्यकालीन भारतीय भाषा कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं करती; और ऐसा प्रतीत होता है कि ये ध्वनि-श्रेणियाँ पसन्द न रही हों; इस बात का प्रमाण ह० दुत्रु० के -इ या -ए वाले संभावक प्रकारों और अधिकरण कारकों में तथा -उ और -ओ वाले कर्त्ता० में मिलता है, जिसमें इन स्वरों की दीर्घ के रूप में गणना होती है : अ[३] १७ गरहितु (पा० गरहितो) सदा, १३ गोयरि (गोचरे) रता; प्रतिकूल रीति से अ[३] १५ बहों जागरू, १०. बहों भाषति जो C^{VO} १२ बहो जनो (पा० बहुज्जना) के विपरीत है।

ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें धमु उतमु (धर्म्मम् उत्तमं), सबशु (पा० सम्पस्सम्, सं० सम्पश्यन्), अहु अथवा अहो (अहं) के अनुनासिक स्वर की भाँति ध्वनि प्रच्छन्न हो जाती है। तो फिर यह संभव है कि महावस्तु और प्राकृत कविता में ऐच्छिक रूप में ह्रस्व माने गये -ए और -ओ के बने रहने पर भी, इनमें पहले ध्वनि परिवर्तित हो गयी है। ह० दुत्रु० में देखी गयी मध्यकालीन भारतीय भाषा के -उ रूप धारण करने वाले –अं (-आँ) की प्रच्छन्नता अपभ्रंश और आधुनिक भाषाओं में सामान्य रूप धारण कर लेती है।

विशेषतः मध्यकालीन भारतीय भाषा के क्रिया-रूपों का विस्तार बहुत बड़े अंश में ध्वनि-संबंधी अनुरूपता पर निर्भर है -अति, अन्ति : अते, अन्ते। यद्यपि उसका और भी विस्तार हो सकता है, आधुनिक भाषाओं के मूल में तो केवल अन्त्य स्वर ही ह्रस्व हैं।

स्वयं आधुनिक भाषाओं में, इन ह्रस्वों में फिर अपने उचित स्थान की दृष्टि से ह्रास उपस्थित हो जाता है। कुछ भाषाओं में फुसफुसाहट वाली ध्वनि कठिनाई से मिलती है, किन्तु मुखरित फुसफुसाहट वाली ध्वनि है : सिंधी की डे़[उ] (देहो), जो डेह्[अ] देहाः से है, आदि की विशेषता है; मैथिली में -इ और -उ बने हुए हैं, : आन्ह् (अन्ध-), किन्तु आँख्[इ] (अक्षि), बह्[उ] (वधूः); पाँच् (पञ्च) किन्तु तिन्[इ] (त्रीणि)। पूर्ण लोप तो केवल बहुत पिछड़ी हुई बोलियों में मिलता है। [उदा० कती ब्अंर (भार-`, दूस् दोषम्), ब्युंम् (भूमि-)], और दूसरी ओर अत्यधिक विकसित भाषाओं में : गुजराती, मराठी (कोंकणी को छोड़कर), बंगाली, बिहारी (मैथिली को छोड़कर), अन्ततः हिन्दी और पंजाबी। तो भी यह देखना आवश्यक है कि अन्तिम भाषाओं के प्रदेश की गँवारू भाषा स्वाभाविक रूप से अन्त्य स्वर बनाये हुए

हैं; और सब जगह छन्दशास्त्रियों ने शब्दों के अन्तिम व्यंजन के बाद '-अ मूक' वाले शब्दांश की गणना की है।

उड़िया में सभी शब्द जिनका अन्त व्यंजन में होता है एक उदासीन स्वर जोड़ लेने की प्रवृत्ति प्रकट करते हैं, जो दक्षिण की द्रविड़ भाषाओं के अन्तिम अस्थिर -उ की याद दिलाते हैं; उड़िया के तो स्वयं व्याकरण में एक द्रविड़ रूप मिलता है, 'संबंधवाची कृदन्त' ।

अस्तु, सैद्धान्तिक रूप से यह कहा जा सकता है कि, ग्रामीण बोलियों को छोड़कर, शब्दों के अन्त में आने वाले स्वर स्वर-संधियों से निकले दीर्घ होते हैं या उनका प्रतिनिधित्व करते हैं। अपवाद रूप में प्राचीन दीर्घ व्याकरण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण शब्दों में बने रहते हैं : मराठी जो (यः), मराठी अम्ही प्रा०अम्हे) ; तो भी इस बात की ओर संकेत करना आवश्यक है कि ये दीर्घ संभवतः केवल वर्ण-विन्यास (हिज्जे)-संबंधी हैं, तुल० बंगाली आमि, हिं० हम्। मराठी में और हिन्दी में एक वास्तविक अन्त्य स्वर दीर्घ की भाँति विचारा जाता है; इसी से हिं० जनवरी, मई, जुलाई, जो अँगरेज़ी से लिये गये महीनों के नाम हैं, हिं० सेन्त्री, जो सिकत्तर्, सिकत्तर् के, जो एक ऐसे शब्द को दीर्घ बना देते हैं जिसमें केवल प्रथम स्वर पर आघात होता है, और अंतिम अस्पष्ट रहता है (सेक्रेटरी), विपरीत हैं। किंतु कश्मीरी में चूर् (चोरो, चोराः), राथ् (रात्री) के निकट और दूसरी ओर उधार लिये हुए शब्द दुन्या, नदी से, अथवा अपादान० चूरा (मध्यकालीन भारतीय भाषा *चोरॉओ), विशेषण वोड्[उ], बुंड्[उँ] रूप में होते हैं, तुल० हिं० बड़ा, बड़ी।

शब्द-लय

शब्दांश-निर्माण से संयुक्त होने पर भी शब्द-व्युत्पत्ति-विचार ही समस्त स्वरों के वास्तविक मात्रा-काल की गणना करने के लिए यथेष्ट नहीं है। यह तो वास्तव में आधुनिक भाषाओं के शब्द में पाया जाता है कि कुछ स्वर अन्य की अपेक्षा अधिक कठोर हैं। प्रथमतः, अन्तिम व्यंजन से पहले आने वाला स्वर : अवधी कृदन्त देखत् (-अन्तो), क्रियार्थक संज्ञा देखब्; फलतः एकाक्षरों के स्वर सदैव अपेक्षाकृत दीर्घ होते हैं। दूसरे, संयुक्त-स्वर से निकला अन्त्य स्वर (-ओ, -औं, -आ जो प्राकृत के -अओं से हैं; ३ एक० -ऐ, -ए, जो प्राकृत -अति से है, में मुख्य कारक पुल्लिंग), जो अब भी ह्रस्वीकरण की प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है: कश्० क्रमशः गुर्[उ], गुप्[इ]। इसी प्रकार आदि स्वर भी बराबर बना रहता है

(अन्त्यवर्ण-लोप के अन्तर्गत : उपविश् - से मराठी बैस्-), हिं० बैठ् -, किन्तु उसका मात्रा-काल स्थिर नहीं रहता। इसके विपरीत मध्य स्वर सामान्यतः मन्द पड़ जाता है।

मध्यकालीन भारतीय भाषा के समय से मात्रा-काल के संबंध में संकोच के चिह्न मिलने लगते हैं; किन्तु मामूली तौर से सहायक बातों को समझाया जा सकता है; इसलिए प्रवाह के स्थान पर प्रवाँह - में मिलती-जुलती रचना मिलती है; अथवा तुल्यार्थक प्रत्ययों के रूप में : जैसे, मराठी तळें पा०* तळक- का अनुमान करता है जो 'अपदान' (Apadāna) (एच० स्मिथ) के तळाक- का सच्चा छन्द-मात्रा - गणन है, जब कि हि० गु० तलाओ सं० तड़ाग- के अनुरूप है; सिं० बिलो, हिं० बिल्ली से *विड़ाल- की कल्पना होती है; अन्य भाषाएँ संस्कृत बिड़ाल से साम्य रखती हैं; प्रा० गहिर- , जिसकी पुष्टि हिं० गहरा आदि से होती है, इस बात का अनुमान कराते हैं कि सं० गभीर- ने स्थविर-, शिथिर- आदि के प्रत्यय ग्रहण कर लिये हैं; किन्तु मम्जार–(मार्जार-) के निकट प्रा० मम्जर-, प्रा० सं० कुमार–के निकट प्रा० कुमर– जिसकी हिं० कुवार्- के मुक़ाबले गु० के कुवर् द्वारा पुष्टि होती है, की व्याख्या के लिए कुञ्जर-, ईश्वर- का स्मरण करने में संकोच होता है। यह बताया जाता है (ल्यूमन, 'फ़ेस्टश्रिफ़्ट जाकोबी', पृ० ८४ तथा बाद के पृष्ठ) कि हाल (Hāla) में णीअ- (नीत-) और उवणीद- के निकट आणिअ-, समाणिअ- मिलते हैं; यह आणेइ, समाणेइ का -एइ में सामान्य प्रेरणार्थक धातु (णिजन्त) के रूप में प्रयोग है। दूसरी ओर उच्च मध्यकालीन भारतीय भाषा के समय से समास के द्वितीय शब्द के समक्ष सरलीकृत आदि समुदायों की स्थिति बनती भी है, नहीं भी बनती; पा० निखिप्– अथवा निक्खिप्–(निक्षिप्–), जिसके अनुकरण पर हैं पटिकूल– अथवा पटिक्कूल–।

आधुनिक काल तक, शब्द-व्युत्पत्ति-संबंधी मात्रा-काल की अपेक्षा शब्द-लय की प्रमुखता रही है। यही कारण है कि आप् और पूत् के मुकाबले में, हिन्दी में अप्ना, पुत्ली है; हिं० बं० बिज् (उ)ली में, ह्रस्व ठीक-ठीक वैसा ही ह्रस्व नहीं है जैसा सं० विद्युत् में है, किन्तु वह प्रा० बिज्जुलिआ की भाँति है, अन्यथा वह एक ऐसा दीर्घ रूप है जो हाल ही में ह्रस्व हो गया है; निश्चित रूप से नीचा से निकला निच्ला उसका दृष्टान्त है; तो ए की बँगला में विवृति होनी अनिवार्य है : सिउली (शेफालिका), और ई का सिं० सिआरो (शीतकाल-) में।

मराठी में नियमित रूप से किडा, कीड्, (कीटा–) का एक० विकृत रूप, अथवा पूरा (पूरित–) है; इसी प्रकार दक्खिनी उर्दू में हिं० मीठा के स्थान पर मिठा है; हिन्दी वास्तव में लय के रूपों का रक्षण करती है : उसमें पाएत् है जब कि पंजाबी में पुआँद् (पादान्त) है, वी० दास जैन, बी० एस० ओ० एस०, III, पृ० ३२३। उसी से आकृति-

मूलक मूल्य का वैपरीत्य उत्पन्न होता है; हिं० देख्ना : दिखाना, बोल्ना : बुलाना।

मध्य भाग की दृष्टि से, बँगला में ठाकुर् का स्त्री-लिंग ठक्रन् है, हिन्दी में बहीन् का बहुवचन बह्नें है; दक्खिनी उर्दू में बेवा (विधवा) का बहुवचन बेव्^अगन् है; उधार लिये हुए शब्द मुलाक़ात् का उच्चारण मुलक़ात् की भाँति होता है। हिं० हमारा के समक्ष, मैथिली में हम्^अरा, बंगाली में आम्रा है। कम-से-कम हिं० आँधेरा (*अंधकार– तुल० ने० आध्यार) और अहेरन् (अधिकारिणी) (पूरी बात के लिए दे०, एच० स्मिथ, बी० एस० एल०, XXXIV, पृ० ११५) में -इआ- का वही रूप दृष्टिगोचर होता है जो -इअ- का; उसी समय से बँगला के पुरुषवाचक नामों में स्वयं ए का लोप हो गया है; गण्सा (गणेश), बरना (वारेन्द्र)।

इस प्रकार के तथ्य बहुत से हैं, और बोलचाल में लेखन से भी अधिक हैं; उनका वर्गीकरण करना कठिन है। ह्रस्वीकरण के उदाहरणों को और विशेषतासूचक ध्वनि के लोप को अलग स्पष्ट रूप से रखना तो विशेषतः कठिन है। स्पष्टतः लयात्मक चरम सीमाओं में, जिनके बिना उनका पारस्परिक प्रधानता का सिद्धान्त स्पष्ट हो जाता है, संघर्ष है; म० कासव् और सिं० कछू (कच्छपो) की और विपर्यस्त रूप में म० कपूस्, हिं० कपास् और गु० कापुस् (कार्पास–) की तुलना करना रोचक होगा; अथवा गु० लोढी, पूर्वी पं० लोह्डा, पश्चिमी पं० लुहाण्डा (लोहभाण्ड–) की। जो कुछ महत्त्वपूर्ण है वह यह है कि स्वरों का मात्रा-काल और शब्दांशों का "गुरुत्व" अपने-अपने संबंध पर निर्भर रहते हैं।

दूसरी ओर आधार-स्वरों की, जो प्रायः प्राचीन स्वरों का स्थान ग्रहण कर लेते हैं, किन्तु उनसे निकलते नहीं हैं, गौण उत्पत्ति देख लेना भी आवश्यक है : उसी से बँगला गेलास, हिं० जनम् (जन्म) है; उन स्वरों की उत्पत्ति विशेषतः रोचक है जो अन्त में तीन व्यंजनों के समुदाय को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं :

हिं० समझा, समझाना : समझ्ना

म० उलटा (सिं० उलिटो) : उलट्ने

और इसी प्रकार गुजराती और हिन्दी में है; किन्तु यह विन्यास ने० उल्टनु, उ० उल्टिबा क्रियार्थक-संज्ञाओं में भिन्न है।

यहाँ यह भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि स्वरों का महत्त्व शब्द के व्यंजनों के सामने दब जाता है। वैदिक प्रणाली के साथ इससे अधिक विरोध पाना कठिन है।

३. स्वरों की अनुनासिकता

इतिहास के दौरान में कुछ अनुनासिक स्वर प्रकट हुए हैं, जो प्राचीन परवर्ती अनुनासिक स्पर्श से नहीं निकले। यह उस समय होता है जब कि स्वरों की प्रधान अनुनासिक ध्वनि अनुकूल स्थिति में प्रकट होने लगती है, और मुख्यतः जब वह दीर्घ हो जाती है, और जब वह अ के साथ प्रकट होती है [सैंकाँतनेअर द लोकेले प्रैतीक दै होत एत्यूद (उच्च अध्ययन की व्यावहारिक शिक्षण-संस्था की अर्द्धशती), पृ० ६१]।

वेद के समय से ही यह चला आ रहा है कि कुछ अन्त्य स्वर जिनकी स्थिरता आधे से अथवा सामान्य दीर्घ के द्विगुणित से (अर्थात् प्लुति) अधिक हो जाती है, वे अनुनासिक हो जाते हैं; इसी प्रकार विवृत्ति या विच्छेद के अन्तर्गत कुछ –अ हो जाते हैं (और केवल दीर्घ या प्रसारित ही नहीं : I. ७९.२ अ त्रिष्टुभ् के अंत में अमिनन्तँमँ एँवैः); निस्सन्देह विस्मयादिबोधक शब्द पवित्र ओम्, आदिकालीन साधारण ध्वनि (ओँ !), की व्युत्पत्ति यही है। यह केवल शैली की अपेक्षा कुछ और है, जिसकी तुलना मलाबार की अभिनेत्रियों द्वारा किये गये प्राकृत के अनुनासिक उच्चारण से की जा सकती है (पिशरोती, बी० एस० ओ० एस०, V, पृ० ३०९); स्वयं पाणिनि ने वाक्यांश के अंत में ह्रस्व और दीर्घ अ, इ और उ की अनुनासिकता स्वीकार की है। यही बात आधुनिक युग तक चली आती है; म० द्वि० बहु० -आँ (-अथ-), तरीँ (तर्हि), सिं० प्रिँ (प्रिय-) में। आधुनिक भाषाओं में सभी दीर्घ स्वर, मध्य की भाँति ही, अनुनासिक ध्वनि विकसित करने की प्रवृत्ति प्रकट करते हैं; म० केंस् (केश–), हिं० ऊँट् (उष्ट्र–), साँप् (सर्प–), आँख् (अक्षि), ऊँचा (उच्च-), पु० हिं० तेंल उ (तैल–)। ये अनियमित रूप से बँटे हुए हैं; बंगाली में, जिसमें हिं० पोथी (पुस्तक-) के विरुद्ध पुँथी है, हिं० साँप् (सर्प-) के विरुद्ध साप् मिलता है; किन्तु जो कुछ लिखा जाता है और जो उच्चारण है उसमें अन्तर कैसे किया जाय?

विविध तालिकाएँ मध्यकालीन भारतीय भाषा तक तुल्यता : दीर्घ=अनुनासिक बताती चली जाती हैं, कम-से-कम शिन्-ध्वनि के र् (ल्) अथवा तालव्य (कठोर) को, फिर तालव्य (कोमल) को, जिसका पूरा इतिहास भारतीय-आर्य भाषा में क्षीण संघर्ष प्रकट करता है, मुक्त करते हुए—स्पर्शता रहित व्यंजन के सामने।

निस्संदेह तभी से, कम-से-कम कुछ अंशों में, प्रा० घंसति, हंसति (घर्ष-, हर्ष-), सुम्क- (शुल्क), अंस-, अंसि- (अश्रि-) में अनुनासिकों की अभिव्यक्ति है, और विपर्यस्त रूप में पा० का सीह- (सिंह), और सं० का व्रीहि- अनुनासिकता-विहीन

दीर्घ है। तभी से विशेषतः प्राकृत के अनुनासिक अंसु- (अश्रु-), पंखि (पक्षिन्-), चंछ्- (तक्ष्-), दंस्- (दर्श-) आदि, और उनसे निकले आधुनिक रूप हैं (ख़ास तौर से सिं० हञ्जु, वञ्झु की ओर ध्यान दीजिए जिनमें ऊष्म से पूर्व का अनुनासिक एक स्पर्श को वियुक्त कर देता है)।

ये बातें आधुनिक भाषाओं में बहुत अधिक पायी जाती हैं, और प्राचीन ध्वनि-संबंधी सीमाओं का अतिक्रमण हो जाता है; न केवल हिं० बाँह् (बाहु-) मिलता है, वरन् गु० पीपर् आदि के विपरीत म० पिम्पली- (पिप्पली-) मिलता है; स्वभावतः ऊँचो (उच्च-) से नें० उँभो (ऊर्ध्व-)। औपम्यमूलक उदाहरणों को आंशिक रूप में ही सही प्रस्तुत करना आवश्यक है, जिनमें का अनुनासिक अन्यत्र मिलता है, अथवा हिं० अंगीठा (अग्निष्ठ-) को जो अंग्- वाले अन्य शब्दों से है, और जिससे सर्वप्रथम अगार् बनता है।

अंत में समीपवर्ती अनुनासिक स्पर्श ध्वनियों के प्रभावान्तर्गत अनुनासिक स्वरों की ओर आइए।

१. शब्द के अन्त में, प्राकृत के नाम-प्रत्यय रूपों में, संवंध० बहु० में -आणॅं (-आनाम्) और -ॲणॅं, करण० एक० में -एण और एणॅं, कर्ता० नपु० बहु० में सामान्यतः आँइँ [इ से पूर्व -ॲनि के साथ स्पर्श अनुनासिक के मिल जाने के सहित, तुल० अवधी में बरसइ, किन्तु विकृत रूप बरसन् (-वर्ष), ब्रज बातैं अथवा बातन्] पाया जाता है। अपभ्रंश में करण० में भी परिणाम -एँ में दृष्टिगोचर होता है; नरें, और भविसत्तकह् में अनुनासिक स्त्री लिंग में मिलता है; इसी ग्रन्थ में अनुनासिक के परवर्ती सभी अन्त्य -इ, -उ, -हि अथवा -हु अनुनासिक हो जाते हैं; ३ एक० सुणइँ।

२. शब्द के प्रारंभ में, म्- अथवा न्- द्वारा परवर्ती स्वर के अनुनासिक हो जाने की सम्भावना मिलती है। पा० में मक्कट- (मर्कट-) मिलता है, किन्तु साथ ही मंकुण- (मत्कुण-) भी, जिससे पं० माँगनू, किन्तु हिं० चमोकन् बने हैं। यह एक अपने ढंग की निराली, साथ ही आश्चर्यजनक, बात है, कि पश्चाद्वर्ती, साथ ही स्फुट, उदाहरण ऐसे मिलते हैं जिनमें बाद में आनेवाला व्यंजन मुखर हो जाता है; जैसे प्रा०मम्जर, हिं० माँजर (मर्जार-, पा० मज्जार-); बिहा० हिं० मूग्, कश० मोंग्, सिंहली मुन्ॅगु मुम्, किन्तु म० मूग्, गु० मग्, बं० मुग् (मुद्ग–)। आधुनिक भाषाओ में कुछ ऐसे उदाहरण मिलते हैं: कश० मन्ज़्, सिं० मज्झु, जिप्सी-भाषा मंज्, सिंहली मॅर्न्ॅद और मॅंद (मध्य-) जो हिं० मँझ् आदि के विपरीत है; सिं० मुञ्झ्, गु० मुझ्- (मुह्यति); सिं० मुण्ड्र, हिं० म० मूद्, किन्तु उ० असामी मुद्- (मुद्रयति, प्रा० मुद्देइ)। और प्राथमिक न्- सहित : कश० नोनु, शिना ननु, सिं० और यूरोप की जिप्सी-भाषा नङ्गो, हिं०

पं० नङ्गा, किन्तु गु० नागो, म० नाग्वा, उ० नाग्ना- (नग्न-); हिं० गु० नीन्द, ने० तोरवाली निन्, यूरोप की जिप्सी-भाषा लिन्द्र, किन्तु म० नीँद, बं० निद, सिंहली निन्द और निदु। श्री स्मिथ ने सिंहली में दिगु का ऐसा ही विरोध देखा है : नदिगु अथवा नदिर्ंगु। जहाँ केवल स्वर हैं, अनुनासिकता का विस्तार हो जाता है : सिं० नाँइँ (नदी), अव० मइँ जो तुइ के विपरीत है।

ये अपवाद-स्वरूप तथ्य तालव्य (कोमल) की शिथिलता की प्रवृत्ति प्रमाणित करने की दृष्टि से रोचक हैं, जिनका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिणाम है दीर्घ स्वरों का अनुनासिक होना, और यह भी स्वयं ह्रस्व स्वरों के निश्चित अन्त्यों का।

४. आघात

भारोपीय की भाँति वैदिक भाषा में स्वरों की विशेषता केवल ध्वनि और मात्रा-काल के कारण ही नहीं, वरन् उदात्त सुर से रहित होने के कारण भी थी; इसका किसी अन्य रूप में स्वर की अन्य विशेषताओं या शब्द-रचना से कोई संबंध—और उनके लिये कोई महत्त्व—नहीं था।

सभी शब्दों पर आघात नहीं रहता था; कुछ शब्दों में वह उसकी अपनी स्थिति के बाद या उपसर्ग के बाद होता था; इस प्रकार क्रिया को सुर केवल विधिवत् रूप से अथवा मनोवैज्ञानिक रूप से गौण पूर्वसर्ग में प्राप्त होता था; संबोधन० को, केवल एक पाद के प्रारंभ में।

शब्द के एक अकेले स्वर को यह सुर प्राप्त होता था और सुर शब्दांश को कोई विशेष महत्त्व प्रदान नहीं करता था। शब्द में सुर का स्थान शब्द के रूप द्वारा निर्धारित नहीं होता था, किन्तु आकृति-मूलक नियमों द्वारा जो अंशतः वही थे जो अन्य भारोपीय भाषाओं में थे (इसी प्रकार पूर्वोल्लिखित सिद्धान्त थे)। अस्तु पा॑त्, पा॑दम्: पदः परिवर्तन-क्रम ग्री० पोउस्, पो॑दा पोदो॑स् का रूप प्रस्तुत करते हैं (किन्तु शुनः में खुनो॑स् का आघात नहीं है); कर्त्ता० एक० पिता के विरुद्ध संबोधन० पि॑तर में आदि आघात पते॑र् के विरुद्ध पतेर् की भाँति है; कर्तृ० सं० ए॑षः का और विशेषण एषः का, तथा अपः और अपा॑: का विरोध ग्री० तो॑मोस्, तोमो॑स् फ्यूदोस् फ़्यूदे॑स् के विरोध से सादृश्य रखता है : संबंधसूचक समास (षष्ठी तत्पुरुष) का आघात दोनों भाषाओं में पहले शब्द पर होता है : रा॑जपुत्र-, अख़ुप्त्रोस्; नि॑हित-, अ॑पोब्लेतोस् का परस्पर सादृश्य है; आदि।

यह अति प्राचीन प्रणाली, जिसके विविध रूप हैं, पाणिनि के बाद बिल्कुल नहीं रह जाती; यदि कुछ वैयाकरण उसका उल्लेख करते भी हैं, तो भी किसी ग्रन्थ

में वह नहीं मिलती। इसी से भारतीय भाषाओं और ग्रीक में परस्पर विरोध है, क्योंकि ग्रीक में प्रत्येक शब्द में एक स्वर जो एक साथ उच्च और दीर्घ होता है, प्राचीन सुरों को अब भी सुरक्षित रखे हुए है, और जिसकी छंद-योजना में आघात और आघात-रहित के परिवर्तन-क्रम की गणना की जाती है। निष्कर्ष यह है कि यदि स्वर-संबंधी सुरों के संकेत-चिह्न लुप्त हो जाते, तो प्राचीन संस्कृत-रचना की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता (और भारोपीय के ज्ञान के एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व) का अभाव हो जाता, किन्तु इससे भारतीय-आर्य भाषा के अन्तर्वर्ती इतिहास में परिवर्तन नहीं होता।

यह कहा जा सकता है कि क्या इस विकास में एक नये आघात, तीव्र आघात, की प्रमुखता नहीं मानी जा सकती, जैसा कि जर्मन और चेक में वह प्रथम पर है, अथवा आरमीनियन, पौलेनेशियन और ईरानी में वह शब्द के अन्त के बाद है। विविध विद्वानों ने कुछ आधुनिक भाषाओं में बहुत-कुछ तीव्र आघात की रीति देखी है; जहाँ तक वे अपने को निश्चित सिद्धान्तों तक रखते हैं, ये सिद्धान्त एक भाषा से दूसरी भाषा में बदलते रहते हैं; सामान्यतः वे मात्रा-काल की अवधि और शब्द में शब्दांशों की स्थिति पर निर्भर रहते हैं। उनका यहाँ उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है; जो महत्त्वपूर्ण बात है वह उनकी विभिन्नता है। तो फिर यह आश्चर्यजनक नहीं है कि मध्यकालीन भारतीय भाषा कोई ऐसा प्रमाण प्रस्तुत नहीं करती, जिससे जनसाधारण में प्रचलित भाषा में तीव्र आघात के अस्तित्त्व के पक्ष में निर्णय दिया जा सके; यह बात ही अज्ञात थी [यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि पाली में उदात्त- और उच्चार- का पारिभाषिक अर्थ नहीं है, और सर-(स्वर-)गान के प्रति केवल अरुचि प्रकट करता है]। आघात को प्रमाणित करने के लिये जिन बातों का उल्लेख किया जाता है—पिशेल के मतानुसार प्राचीन सुर पर, जाकोबी के मतानुसार शब्द के अंत से अलग प्रथम दीर्घ पर—उनकी व्याख्या अन्य रूपों में भी हो सकती है, और विशेषतः लय द्वारा; छंद-प्रणाली या तो शब्दांश-संबंधी या मात्रा-काल-संबंधी रहती है, आघात, शब्द की अपेक्षा समुदाय पर आघात, कुछ आधुनिक भाषाओं में नहीं मिलता—स्वतंत्र रूप में। अस्तु, भारतीय-आर्य भाषा के आधुनिक भाषाओं तक के विकास की व्याख्या के लिये आघात की गणना करना ठीक नहीं है।

एक बात सुर के एक उदाहरण के संबंध में कहनी है, जो आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओं में एकदम अपवाद-स्वरूप है, और इतनी महत्त्वपूर्ण है कि उसकी व्युत्पत्ति जान लेनी चाहिए। पंजाब के उत्तर में (और श्री बी० डी० जैन की सूचना के अनुसार पूर्व में और दिल्ली के लगभग समीप के भूमिभाग में भी; और वास्तव में बाँगरू बोली में कुछ ध्वनि-संबंधी बातें पंजाबी के समान हैं, दे०, एल० एस० आई०, IX, पृ०

२५३) प्राचीन मुखर महाप्राण ध्वनियाँ अपना महाप्राणत्व खो देती हैं, और ह् अपना ऊष्मत्व खोकर स्पर्श में परिणत हो जाता है : किन्तु समीपवर्ती आघात वाले स्वर मंद स्पन्दनों में फुसफुसाहट वाली ध्वनि को बनाये रखते हैं; इसी से स्वर पर सुर मिलता है, जिसका मन्द भाग प्राचीन फुसफुसाहट के स्थान तक रहता है : सौंकर (साधु-), देऔंड़ा (प्रा० दिवड्ढ -); चंड्-(हिं० चढ़्-); दिअंड, तुल० सिं० डिहाडो; केड् (प्रा० कड्ढ्-) का प्रेरणार्थक (णिजन्त) कडाँ।

शेष में आदि मुखरता के परिणाम-स्वरूप (सुर का) और भी मन्द रूप हो जाता है : कॅर्, तुल० हिं० घर; यह विशेषता चीनी-तिब्बती के परिवर्तन-क्रम की याद दिलाती है जिसमें अत्यधिक प्रमुख सुर कठोर व्यंजन के साथ आता है, दुर्बल सुर मुखर के साथ (लाँतोनेशियों आँ पैंजाबी—पंजाबी में सुर—जो मेलाँज़ वेंद्र्चे में है, पृ० ५७)।

इसी प्रकार का प्रभाव शिना में भी पाया जाता है जिसमें आघातयुक्त शब्दांश का सुर ऊँचा जाता है; वहाँ के निवासी उस स्वर को दीर्घ कहते हैं जिसमें यह प्रभाव पाया जाता है; और वास्तव में मिश्र व्युत्पत्ति के स्वरों के कुछ उदाहरणों में ऐसा मिलता है: दारिँ (दारक-) में प्रस्तुत सुर नहीं है, किन्तु दारिँ (द्वार-) में वह है; गाए में वह नहीं है, किन्तु गाइ (घटिका; स्वर-मध्यग र् का लोप) में वह है; दीँह में वह नहीं है, किन्तु दीह् (दुहिता) में वह है ; बष् (भाषा) में वह नहीं है, किन्तु बश्—फेंफड़ा—(तुल० तोरवाली बरिसं—तरफ़) में वह है ; एक० घि (घृत—) में वह नहीं है, किन्तु बहु० में वह है (मामूली तौर से बहुवचन में एक शब्दांश अधिक होता है : चिलासि, बहु० चिलासिये); इसी प्रकार का, काव्उँ के बहुवचन, में सुर है, जो सामान्य बहु० काव्एँ में नहीं है।

अंत में पूर्वी बंगाली में कुछ ऐसे उदाहरण बताये जाते हैं (एस० के० चटर्जी, 'आश्वसित ध्वनियाँ', पृ० ४१, 'इंडियन लिंग्विस्टिक्स', I, में) जिनमें तीव्रता वाला आघात अधिक उदात्त सुर के साथ आता है और जिनमें महाप्राण ध्वनि अपनी फुस-फुसाहट खो देती है—ब'अत्, क'अन्द; पंजाबी में भी ऐसा ही मिलता है।

यह विदित हो जाता है कि इन हाल की बातों और भारोपीय तथा वैदिक संस्कृत में शब्द के किसी स्वर में प्राप्त आकृतिमूलक महत्त्व के स्वर-संबंधी आरोह-अवरोह में कोई समानता नहीं है।

व्यंजन

भारत-ईरानी की व्यंजन-प्रणाली ईरानी की अपेक्षा भारतीय भाषाओं में अद्भुत रीति से अधिक पूर्ण रूप में सुरक्षित है।

(१) समस्त भारोपीय भाषाओं में से केवल भारतीय-आर्य भाषा में अब भी स्पर्श व्यंजनों के चार वर्ग हैं; अघोष, घोष, महाप्राण अघोष, महाप्राण घोष। महाप्राणत्व इस हद तक मिलता है कि महाप्राणों के परिवर्तन के समय स्पर्शता ही लुप्त हो जाती है, न कि फुसफुसाहट वाली ध्वनि।

(२) तालव्य वर्ग में, संस्कृत श् में तालव्यीय प्रवृत्ति बनी हुई है जो अ० स् और पु० फ़ा० θ में लुप्त हो गयी है; तथा काफ़िर भाषा में, जो एक भारतीय बोली प्रतीत होती है, अब भी अत्यन्त प्राचीन ध्वनि-श्रेणी पायी जाती है।

(३) भारोपीय शिन्-ध्वनि, जो ईरान में स्वर या स्वनंत से पूर्व फुसफुसाहट वाली ध्वनि में परिवर्तित हो जाती है, भारतवर्ष की लगभग सब भाषाओं में अभी तक सुरक्षित रही है।

(४) अंत में स्पर्श व्यंजनों ने, समुदायों में अपना उच्चारण स्थान बदलते समय भी, भारतवर्ष में अपना स्पर्शत्व सुरक्षित रखा है, जब कि ईरान में वे सोष्म हो जाते हैं। संस्कृत में व् के अतिरिक्त और कोई सोष्म ध्वनि नहीं है।

दूसरी ओर संस्कृत में नितान्त नवीन ध्वनियों का एक वर्ग उत्पन्न हो गया था, और वह था मूर्द्धन्य ध्वनियों का।

१. स्पर्श । तालव्य

ओष्ठ्य, दन्त्य स्पर्श व्यंजन, और भारोपीय कंठ्योष्ठ्य से बने स्पर्श व्यंजनों और मध्य स्पर्श व्यंजनों के लिये टीका-टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है:

अघोष:

सं०	उप॑रि	पु० फ़ा०	उपरिय्	सं०	शर्फ॑-	अ० सफ़
	पि॒ता॑	पु० फ़ा०	पिता		य॑था	अ० यθआ
	क॑त्	अ०	कतु		स॑खा	अ० हख्
	चि॑त्	अ०	-चितु (अवेस्ती तु के सम्बन्ध में सदैव ऐसा ही)			

घोष:

सं० बर्हिः अ० बरॅज़िस् सं० भॅरति अ० बरैति
दभ्नोॅति अ० दॅबॅनओइति
धेनु॑- अ० दएनु
गौः अ० गाउस् घॅर्म- पु०फ़ा० गर्म-
जीव पु०फ़ा० जीॅवा हन्ति अ० जैॅन्ति

इसके विपरीत भारोपीय भाषाओं में तालव्याग्रीय का विवेचन एक समस्या प्रस्तुत करता है। वैदिक भाषा ईरानी से, जो स्वयं एकरूप नहीं है, पृथक् हो जाती है:

शर॑द्- अ० सरॅδ- पु० फ़ा० θअर्द-
जोॅष-, जोर्ष्टर्- ज़ाओसॅ- दौसॅ्तर-
हस्त- ज़स्त- दस्त-

वैदिक प्रयोग से समस्त ज्ञात मध्यकालीन भारतीय भाषाओं और आधुनिक बोलियों के, केवल काफ़िर के छोटे-से समुदाय को छोड़ कर, जिसमें स्पष्टतः भारतीय और ईरानी दोनों की अपेक्षा अधिक प्राचीन रूप हैं, परवर्ती विकास का पता चल जाता है।

वास्तव में अघोष के लिये काफ़िर में च़ है (और साथ ही सॅ्, विभाजन के उस सिद्धान्त के बिना जिसका उल्लेख हो चुका है), फलतः, ऐसा प्रतीत होता है, स्वयं मध्य-स्पर्श व्यंजन जो भारतीय और ईरानी शिन्-ध्वनि से पहले ही आता था:

कती दुच़ (किन्तु वैगेलि- दोसॅ, अश्कुन -दुस्) सं० द॑श, अ० दस
कती चुई॑ (वैगेलि चोन् अश्कुन चुन्), सं० शून्य॑-

घोष ध्वनियों का प्रयोग ईरानी की भाँति है:

भारोपीय *ग॑ कती ज़ोत् सं० जोष्टर- अ० ज़ओसॅ
*ग॑ह् ज़िर हृद्- ज़॑रॅद्

यह भारोपीय ए से पूर्व के कंठयोष्ठ्य से भिन्न है:

भारोपीय *ग्व् कती ज़ॅ्अॅमि सं० जामि-
*ग्व्ह् ज़ॅ्अॅर॑- हन्-, अ० जॅन्-

तो इसमें ईरानी की भाँति दो वर्ग अलग-अलग हैं जिनके संबंध में संस्कृत में अव्यवस्था है, और महाप्राणत्व का लोप है: किन्तु यह हाल की बात हो सकती है, क्योंकि सामान्यतः यह सब व्यंजनों के संबंध में होता है: कती उति (उत्था-); अचूट्—३

दिन में—(चतुर्थ-); वंमँव (भ्रमर-), द्रिगेंर (दीर्घ-); धूम् (धूम-); महाप्राणत्व का लोप आसपास के भारतीय भूमि-भाग में कभी-कभी मिल जाता है।

यह पूछा जा सकता है कि काफ़िर भारतीय है या ईरानी, किंतु उसकी ध्वनि और व्याकरण में ऐसी बातों का अभाव नहीं है जो स्पष्टतः भारतीय हैं; फलतः यह एक भारतीय भाषा-समुदाय ही होना चाहिए जो काफ़ी स्वतंत्र रूप में रहा है और जिसमें ऐसे प्राचीन रूप मिलते हैं जिनका अन्यत्र लोप हो गया है। ऊपर इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि कम-से-कम अपने उच्चारण की दृष्टि से सं० श् अपने सदृश ईरानी उच्चारण से अधिक प्राचीन है; और साथ ही ज् मूल ध्वनि-श्रेणी की मध्य-स्पर्शता के कारण अ० ज़् और पु० फ़ा० द् की अपेक्षा अधिक निकट है।

संस्कृत की ओर आने पर, यह बात ध्यान देने योग्य है कि उसका सम्पूर्ण मध्य-स्पर्शी तालव्यों का वर्ग, अपनी प्रत्यक्ष नियमितता के बावजूद, पुनर्निर्माण की क्रिया द्वारा बना है। एक ओर उसमें ज्- है जो ध्वनि की दृष्टि से च् का घोष रूप नहीं, वरन् श् का है जिसकी गणना शिन्-ध्वनि में की जाती है। दूसरी ओर महाप्राणों की व्युत्पत्ति भिन्न हो जाती है।

अघोष छ्, जिससे ईरानी स् का सादृश्य है, शब्द के मध्य द्वित्व जैसे रूप में आता है, और बहुत-कुछ लिखित रूप में मिलता भी है। साथ ही एक समुदाय स् तालव्यी भाव-युक्त कंठ्य का मिलता है:

सं० छार्या फ़ा० साय ग्री० स्किर्अ

पृच्छति अ० पॅरॅसैति लै० पो(र्)सिट

फलतः वह सावर्ण्य समुदाय का अंग बन जाता है, जो मध्यकालीन भारतीय भाषा की निजी विशेषता का पहला प्रमाण है; वह उसी प्रकार है जैसे सं० पश्चा (अ० पस्चॅ, पु० फ़ा० पसा) से पा० पच्छा होगा, और जैसा कि प्राचीन भाषा में, अथर्व० ऋच्छॅरा, जो वा० सं० ऋक्षला के समीप है, मिलता भी है; यहाँ, जैसा मध्यकालीन भारतीय भाषा में मिलता है, च्छ् शिन्-ध्वनि से युक्त कई प्रकार के समुदायों की अपूर्ण स्पर्शता के स्थान पर है।

घोष झ् भी हाल की और संयुक्त ध्वनि-श्रेणी है। ऋग्वेद का केवल जंज्झतिः कर्म० स्त्री० बहु०, एक ऐसा शब्द है जिसमें वह आता है, और जिसकी जक्षत्-, जो हस्- से है, की जैसी ग्रामीणता के रूप में व्याख्या की गयी है; वह *ग्'ह्-स् से निकले *ग्'ज़्ह की तरह हो जाता है; अस्तु, यह अब भी एक ज्ञात मध्यकालीन भारतीय भाषा का प्रयोग है और, जैसा कि पीछे देखा जा चुका है, ईरानी की याद दिलाता है।

महाप्राण तालव्यों, जिनसे तालव्यों की सूची पूर्ण हो जाती है, और फलतः समस्त संस्कृत स्पर्शों की सूची, का मूलतः अल्पप्राण तालव्यों के साथ कोई स्थान नहीं है। दूसरी ओर प्राचीन महाप्राण घोष व्यंजनों की समूची स्पर्शता लुप्त हो गयी है और वे वर्ग से अलग हो गये हैं; महाप्राण ह् को लीजिए, वह वर्णमाला के बिल्कुल अंत में, ऊष्मों के बाद आता है।

तालव्यों का उच्चारण बदलता रहा है। संस्कृत में, प्रातिशाख्यों ने तालु से जीभ के मध्य-भाग के टकराने में उनकी व्याख्या करने की अनुमति दी है; कहीं भी त्स (ts) आदि के उच्चारण का प्रश्न नहीं है; और अंतरंग स्फोटक मूर्द्धन्य का रूप धारण करता है, न कि दन्त्य का। मध्यकालीन भारतीय भाषा में कुछ वैयाकरणों के कारण ऐसे संकेत मिलते हैं जिनसे यह अनुमान किया जाता है कि उनका प्राचीन उच्चारण पूर्वी भाग तक सीमित था (ग्रियर्सन, जे० आर० ए० एस०, १९१३, पृ० ३९०); कलश तथा और पूर्व की ओर अशोक० में चिकि(स्)सा मिलता है, किन्तु गिरनार में चिकीं(च्)छा (चिकित्सा) मिलता है। दसवीं शताब्दी के लगभग, सिंहली में च् और ज्, स् और द् हो जाते हैं, साथ ही स्वरों के मध्य (सतर, रद्), त्स (ts), द्ज़ उच्चारण का अनुमान किया जाता है। सिंहली के तालव्य हाल ही के हैं और य् के परवर्ती दन्त्यों या मूर्द्धन्यों से निकलते हैं। उत्तर-पश्चिम सीमा पर काफ़िर में मध्य-स्पर्श दन्त्य हैं। कश्मीरी में चूर् (चोर-), गछ्ह- (गच्छ्-) और ज़ैव् (जिह्वा), ज़ाल्- (म० भारतीय झा-) है; ज् या तो केवल ईरानी शब्दों में अथवा विद्वत्तापूर्ण शब्द में आता है; छ्अथ्^अ^र् (छत्र), छोद (क्षुत्) भी विद्वत्तापूर्ण शब्द हो सकते हैं; छु-ह् (प्रा० अच्छ्-) को ऐसा कहना कठिन होगा।

शिना में तालव्यों के दो वर्ग हैं, जिनमें से एक र या ष् वाले समुदायों से निकले मूर्द्धन्य हैं: चाइ, मजा, किन्तु अच्चि, ज़ेज़, ज़् (भ्राता)।

२. मूर्द्धन्य

जिन्हें वास्तव में दन्त्य कहा जाता है, जो जीभ के दाँतों से या ठीक उनसे ऊपर टकराने से प्रकट होते हैं, उनके अतिरिक्त, भारतीय-आर्य भाषा में स्पर्श-व्यंजनों का एक पूरा वर्ग है और वे जीभ की नोंक की सहायता से, किन्तु तालु के अग्र भाग से टकराने के कारण, बोले जाते हैं, और यह भी थोड़ी-बहुत प्रमुख पश्चोन्मुखता के बाद है। भारतीय-आर्य भाषा में इन दो वर्गों का सह-अस्तित्व अनार्य भाषाओं, द्रविड़ और मुण्डा (मुण्डा की एक छोटी बोली, सोर, ही भारत की एक ऐसी बोली प्रतीत होती है जिसमें केवल दन्त्य हैं), में भी मिलता है।

भारतीय-आर्य भाषा की यह नवीनता स्पष्टतः देशीय भाषाओं में इन दो वर्गों के अस्तित्त्व की कार्यान्वितता द्वारा स्पष्ट हो जाती है; निस्सन्देह यह एक ऐसी अत्यधिक निश्चित बात है जो संस्कृत के अत्यन्त प्राचीन पाठों को शुद्ध भारतीय मान लेने के लिये प्रेरित करती है। अफ़ग़ानी में मूर्द्धन्यों का अस्तित्त्व संभवतः भारतीय आधार का प्रमाण है।

जिस आर्य तत्त्व ने नवीन वर्ग की रचना संभव बनायी वह है, सें, जो स्वयं सामान्य भारत-ईरानी में उस स् से निकला है जिसके पहले इ, उ, ऋ (और उनके संयुक्त रूप) और क् आते हैं, जिसके साथ स्थापित संपर्क के कारण प्राचीन दन्त्यों में परिवर्तन होता है, फलतः ईरानी में, उदाहरणार्थ, इश्त् एक ऐसे समुदाय से अनुरूपता रखता है जिसमें अन्त्य त् शकार ध्वनि के अनुकूल हो जाता है; दोनों ही दन्त्यों से पृथक् हो जाते हैं, और मूर्द्धन्यों का देशी रूप धारण कर लेते हैं। भारत-ईरानी भाषा का ज़्ँ भारतवर्ष में ड़ हो जाता है: अथवा ड़ (हाल के र् की भाँति प्राचीन र् के अतिरिक्त) मूर्द्धन्य की तरह हो जाता है, दे०, और आगे।

संस्कृत में मूर्द्धन्यों का एक और स्रोत तालव्यों में है। यदि यह उस काल में प्रदर्शित किया जाय जो तालव्यीय मध्य-स्पर्शों के संस्कृत रूप धारण करने, अर्थात् श्, ज्, ह् से तुरंत पहले था, तो वे कुछ-कुछ त्सें, द्ज़ें, द्ज़ेंह् के निकट उच्चरित होते हैं, जिनका सर्वप्रथम अंश दूसरे में मिल जाने की प्रवृत्ति प्रकट करता है, तत्पश्चात् मूर्द्धन्य रूप धारण करने में। अथवा जहाँ तालव्य अंतरंग स्फोटक हो जाते हैं, वहाँ यही एक अंश रह जाता है। षट्, लै० सेक्स, अ० ख्सेंवसें अथवा कर्त्ता० एक० विट् जो रूप की दृष्टि से *विश्-स्, वास्तव में *वि^त्^ सें (स्) से निकला है, और करण० बहु० विड्भ्यः (अ० वीज़ेंब्यो) ऐसे ही उदाहरण हैं; दिक् प्रकार विशेष परिस्थितियों पर निर्भर रहता है (मेइए, आई० एफ़०, XVIII, पृ० ४१७)।

उससे मध्यकालीन भारतीय भाषा में और उसके बाद तक ज्ञ् समुदाय के मूर्द्धन्य का प्रयोग भी सिद्ध होता है जिसमें प्रथम अंतरंग-स्फोटक अंश (जो आधुनिक भाषाओं के विद्वत्तापूर्ण शब्दों में अन्य रूपों के अंतर्गत पृथक् किया जा सकता है: म० ज्ञ् हिं० और बं० ग्य्) समुदाय में प्रमुखता ग्रहण कर लेता है। सं० आज्ञापयति के लिये गिरनार में अशोक ने आ(ञ्)ञपयामि दिया है, किन्तु शहबाज़गढ़ी में अणपयमि, अर्थात् *ऑण्णॉ-; पाली में आणापेति है, अशोक के ब्रह्मगिरि-लेख में आणपयति, जिसे कात्यायन ने संस्कृत के लिये अशुद्ध रूप बताया है (दीर्घ के पश्चात् द्वित्त्व के सरलीकरण की दृष्टि से); पाली में आणत्ति- पण्णत्ति-, किन्तु ञापेति, अञ्जा

(आज्ञा), पञ्ञा भी हैं; तुल० शहबाज़गढ़ी र(ञ्)ञो (राज्ञः) को ञाति-(ज्ञाति-) के रूप में।

यही प्रयोग प्राकृत में मिलते हैं और बाद को संस्कृत -ण्य्- और -न्य्- के लिये; यह जानना कठिन है कि क्या मध्यकालीन भारतीय भाषा में -ण्- द्वारा अपने से आगे आने वाले य् के मिला लेने से ऐसा होता है (ऐसा ही गिरनार में पाया जाता है हिरमण- अर्थात् हिरण्य- से *हिरण्ण- जो सं० पुण्य- से निकले अपुम्ज-, तत्पश्चात् पुञ्ञ, के निकट है); किन्तु ऐसा अधिक संभव प्रतीत होता है कि ञ्ञ् से पृथक् होने पर ऐसा हुआ; वास्तव में ञ् सामान्यतः आधुनिक भाषाओं में नहीं पाया जाता; सिंधी में, जिसमें वह है, धाञ् (धान्य-), रिञ (अरण्य-) का आण (आज्ञा) से विरोध है।

यहाँ पर सं० ञ्च् के लिये 'पन्द्रह' संख्यावाची, पा० पण्णरस और 'पच्चीस' संख्यावाची पा० पण्णवीसति, पन्नवीसम् शब्दों का उल्लेख करना ठीक होगा।

वैदिक भाषा में स्वतंत्र मूर्द्धन्यों का वर्ग अपूर्ण है; उसमें वास्तव में केवल एक स्पर्श, अघोष है। महाप्राण अघोष का अस्तित्त्व केवल समुदायगत है और आकृति-मूलक दृष्टि से स्पष्ट स्थिति में: -इष्ठ- में तमबन्त विशेषण व्युत्पन्न विशेष्य पृष्ठ- (अ० पर्स्टे-), द्वित्त्व वाला शब्द: तिष्ठति; किन्तु जठर- और कण्ठ- (अथर्व० सहकण्ठिका) की शब्द-व्युत्पत्ति सुन्दर नहीं है; यदि निघण्टु, जो वैदिक नहीं है, की उत्पत्ति निग्रन्थ्- से निश्चित है, तो यह *निगण्ठ- से उत्पन्न महाप्राणत्व की कठिनाई की असंभावित गति द्वारा सिद्ध होना चाहिए। इसी प्रकार सामान्य घोष भी केवल समुदायगत है: विड्भिः; स्वर-मध्यग, जो ल् के निकट है (स्कोल्ड, 'पेपर्स ऑन पाणिनि', पृ० ४५) और जो ऋग्वेद में ळ के रूप में मिलता है; और उसके महाप्राण के लिये भी ऐसा ही है: नीळः, वोळ्हुम्; ऐसा ही पाली में मिलता है; -ड्- और -ढ्- बाद को नियमित रूप से मिलते हैं, अधिकांशतः आकृतिमूलक प्रणाली के प्रभावान्तर्गत और ध्वनि-संबंधी संतुलन की आवश्यकता के कारण: वोढुम् दग्धम् की भाँति, षोढा द्विधा की भाँति, आदि, साथ ही अंशतः निस्सन्देह रूप में क्योंकि वास्तविक बोलियों में ड्, ढ् वास्तव में स्पर्श हैं: उड्डी- आदि। इसके अतिरिक्त इन मूर्द्धन्यों में से कुछ, जो प्रणाली के अनुसार नहीं बने रहते, क्लैसीकल संस्कृत में ल् रूप में मिलते हैं; उदाहरणार्थ, अलि-, किन्तु पा० अळ-, ग्री० ॲरदइस (ल्यूडर्स, आउफ़सात्ज़े ई० कूह्न, पृ० ३१३; 'फ़ेस्टश्रिफ़्ट वाकरनागेल', पृ० २९४)।

वैदिक भाषा में अनुनासिक मूर्द्धन्य भी है, जो तुरंत पूर्ववर्ती र् ऋ ष् के आपस में मिल जाने से बनता है (वर्ण-, तृण-, कृष्ण-) और आगे चल कर अपने इतिहास में वह कभी-कभी नहीं भी मिलता (पाणि-, तुल० पर्लमि; पुण्य-, तुल० पृणाति; निर्णय-, तुल० ग्री०

नेर्तेरोस्)। स्पर्शों की अपेक्षा, अनुनासिक र् और ष् का यह पारस्परिक प्रभाव कुछ अन्तर पर, स्वयं अपने सुगम और स्वर-मध्यग होने की शर्त पर,—फलतः शब्द में अधिक कमज़ोर स्थिति में—प्रकट होता है, और जो स्पर्श या ऊष्म के, जिनमें जिह्वाग्र को गति प्राप्त होती है, संबंध में कोई रुकावट नहीं डालता : क्रमण-, कृर्पण-, क्षोभण-, किन्तु वृर्जन-, रोधन, दर्शन-। इस नियम के, जो संस्कृत का अपना है, मध्यकालीन भारतीय भाषा में भी चिह्न मिलते हैं : अशो० गिर० प्रापुणाति, पा० पापुणाति तथा साथ ही अशो० गिर० द(स्)सण- किन्तु पा० दस्सन- जो सं० दर्शन- से है। किन्तु पाली में प्रत्ययों में दन्त्य हमेशा बना रहता है : कारणम्, कारकेन। पंजाबी में आज एक विपर्यस्त चीज़ दिखायी देती है : उसमें स्वर-मध्यग -ण्- र् की अनिश्चितता के कारण दन्त्य हो जाता है : धोबण् (सं० प्रत्यय -इनी), किन्तु कुहुरन्, गुआर्नी।

तो अत्यन्त प्राचीन मूर्द्धन्य शकार ध्वनि के सम्पर्क में आने से दन्त्य-स्पर्श हो जाते हैं, और न् को ष् अथवा र् का प्रभाव स्वीकार करना पड़ता है।

इसके अतिरिक्त वेद में लुप्त ऋ द्वारा मूर्द्धन्यत्व को प्राप्त स्पर्शों के उदाहरण मिलते ही हैं : ऋ० काट-(जो कभी पुस्तक I में था) जो कर्त- के समीप है; ऋ० कटुक-, तुल० साहित्यिक कर्तुस; विकट, तुल० कृत-(दसवीं पुस्तक में दोनों ग्री० हापाक्स्) ; इन शब्दों में ऋ का मध्यकालीन भारतीय भाषा-प्रयोग व्यंजन के प्रयोग की सापेक्षिक नवीनता प्रमाणित करता है। बाद में मिलते हैं ब्रा० पुट-, तुल० जर्मन फ़ाल्ट-, आढ्य-, तुल० ऋध्; क्लैसीकल नट- (नृत्-) ; हाटक-, तुल० हिरण्य-; कुटिल- और कटाक्ष (तुल० ग्री० कुर्तोस्) तथा अन्य प्रकीर्ण शब्द जिन्हें शब्द-व्युत्पत्ति-विज्ञान की दुर्बोधता ने सुरक्षित रखा है।

मध्यकालीन भारतीय भाषा में रीति साधारण हो जाती है, यद्यपि सदैव ऐसा नहीं होता।

इस प्रकार पाली में सुकत-(सुकृत-) के निकट सुकट-, विसत- और विसट (विस्-ऋत-), हृत- (हत- हन्- का कृदन्त रूप है) के लिये अकेला हट- है, किन्तु मृत- के लिये सदैव मत-; यह ठीक है कि टीकाकारों ने एक हथियार के नाम (Ps. II, ३२५) मटज- में 'मृत्यु' को बताने वाला कृदन्त स्वीकार किया है। -र्ड्(ह्)- से : छड्ड्- (छर्द्-), वड्ढ्- (वर्द्ध-), तुल० अशोक० वड्ढि-(वृद्धि-)। विविधताओं का प्रयोग अर्थ-विचार-संबंधी बातों के लिये होता है : वट्ट्- का प्रयोग घुमाने के अर्थ में होता है, वत्त्- का प्रयोग अस्तित्त्व या प्रथा के अर्थ में होता है; किन्तु विद्वत्तापूर्ण शब्द चक्कवत्ती में दन्त्य है (जैन प्राकृत में चक्कवट्टी है), जब कि चक्कवट्टक-—'wheel of trough'—भी है।

अशोक के अभिलेखों में दक्षिण-पश्चिम में दन्त्य अधिक सामान्य प्रतीत होता है [गिरनार -अ(त्)थाय, कालसी -अ(ट्) ठाये]; मराठी और गुजराती में भी यह प्रवृत्ति बहुत पायी जाती है; उनमें मूर्द्धन्य शब्द सामान्यतः भारत-व्यापी शब्द हैं: उनमें एकमूलक भिन्नार्थी द्वित्वयुक्त शब्दों का भी यथेष्ट स्थिरता के साथ प्रयोग पाया जाता है: उदा० कट्ट्-, कत्त्-; किन्तु यदि 'चाकू' के लिये अश्कुन और वैगेलि में कटा, कती में क्ट्ठ्अँ है, तो गुज० में कात्, सिंहली में क्अँत्त, जिप्सी भाषा में कत् आदि हैं। विरोधी बातें भी बहुत हैं: एक ही भाषा में गर्दभ- के, अर्ध- के दो-दो रूप मिलते हैं। इस संबंध में कोई सामान्य नियम नहीं है; प्रमुख बात है मूर्द्धन्यों का नवीन विस्तार।

वैदिक काल के बाद, ष् और र् के व्यवधान के प्रभाव के कुछ चिह्न, न केवल न् पर, किन्तु स्पर्शों पर भी दृष्टिगोचर होते हैं। अशो० गि० ओसुढ-(औषुध-)जो कालसी के ओसध- के विरुद्ध है, और जिसकी व्याख्या उत्तर-पश्चिम के बीच के रूप ओष(ढ-)द्वारा हो जाती है; तै० आ० और महाकाव्य पठ्-(और तै० सं० प्रपाठक- भी)प्रथ्- से निकला है; पा० सठिल-, जो सं० शिथिल- और प्राकृत सिढिल- के विरुद्ध है, श्रथ्- समुदाय में आता है; खरोष्ठी के उत्कीर्ण लेखों द्वारा पूर्णतः, प्राकृत के पढम-(प्रथम-) द्वारा, और सिंहली के पळमु द्वारा प्रमाणित पाली पठम- का विरोध है नासिक और ननघाट के पथम- से, खारवेल और सांची के पधम- से, जिसके साथ देश के सभी रूप दन्त्य द्वारा सादृश्य रखते हैं: हिं० पहिला, शिना पुमुको आदि। प्रति का प्रतिनिधि नियमित रूप से अशोक० में पटि- और सिंहली में पिळि है; किन्तु पाली में और उत्कीर्ण लेखों की प्राकृत में पटि- के स्थान पर साधारणतः पति- मिलता है, प्राकृत में और आधुनिक मराठी में पडि-, पड्- के स्थान पर पै- मिलता है, जब शब्द में मूर्द्धन्य आ जाता है, तो र् उत्पन्न हो जाता है [जिससे पा० पतिरूप-, पतिमन्तेति- जिसमें मन्त्रयति, पतिरूप-, पतिट्ठति निहित हैं; खारवेल पतिठापयति; प्राकृत पैज्जा, जो प्रतिज्ञा- से है, निस्संदेह लुप्त *पैण्णा के प्रभावान्तर्गत है, तुल० म० पैज् और पैण्, ने० पैंचो जो पड़ोसी (प्रतिवेश-) के विरुद्ध है]।

जिस उदाहरण पर अन्त में विचार किया गया है उसमें यह प्रवृत्ति प्रचुर मात्रा में मिलती है; किन्तु उसके कुछ अन्य प्रमाण भी रोचक होंगे; यह तो देखा ही जा चुका है कि परवर्ती त् पर ऋ का प्रभाव देखने में उससे सहायता प्राप्त हो सकती है।

इसके विपरीत इस संपूर्ण युग में पूर्ववर्ती दन्त्य पर र् का प्रभाव बहुत कम दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद में केवल अनुनासिक पर आधारित घोष के निश्चित उदाहरण मिलते हैं: आण्ड-, तुल० कलश ओण्ड्रक् (दे० SL. जेद्रो), और दण्ड-(तुल० ग्री० देंन्द्रोन्)। संभवतः SB. डौंतर-, पाली डेति और दयति, यदि वह वैदिक दी- के साथ द्रा- के मिल जाने से बना है, के प्राथमिक घोष को यहाँ स्थान देना आवश्यक है; महाकाव्य

और पा० उड्डी-(nigh. डीयते निश्चित नहीं है)। घोड़े का भारतीय नाम, आ० श्रौ० घोट- एक द्रविड़ रूप घुत्र् से साम्य रखता है; महाकाव्य पट्ट- की उत्पत्ति पत्र- से केवल कठिनाई के साथ मानी जा सकती है। अशो० का० हेडिस- ईदृश का प्रतिनिधित्व करता है; इसके विपरीत सारनाथ और धौली में हेदिस-, शहबाज़गढ़ी में एदिश-। प्राकृत खुड्ड- सं० क्षुद्र- से ज़रा कम प्रमाणित होता है, क्योंकि ष् अशोक० ओसुढ- की भाँति हो सकता है। केवल ये बातें ही हैं, जिनकी व्याख्या और वर्गीकरण करना कठिन है, जो आधुनिक काल से पूर्व प्रमाणित की जाती हैं, जिनमें इसके अतिरिक्त, केवल निरंतर मूर्द्धन्यत्व के रूप में सिंधी में (उत्तर में ट्र, ड्र, दक्षिण में ट्, ड्) और दर्द में दन्त्य+ र् हैं, कम-से-कम जब कि समीकरण उपस्थित होता है: गार्वी पूट् ("पुत्र"), ठा, (किन्तु गार्वी में ट् कठोरता की ओर संकेत करता प्रतीत होता है), शिना गोट्, पटु (ग्रियर्सन, बी० एस० ओ० एस०, VI, पृ० ३५७)।

अंत में ऋग्वेद में दो समीपी शब्द मिलते हैं जिनमें से एक अनुनासिक दन्त्य स्वर-मध्यग मूर्द्धन्य हो जाता है, बिना दूसरी ध्वनि-श्रेणी की सक्रियता के; स्थाणु- और स्थूणा, अ० स्तूना; निस्संदेह तै० सं० गुर्ण-, तुल० अ० गओन- का उल्लेख भी कर देना चाहिए (प्रिज़ीलुस्की, जे० आर० ए० एस०, १९३१, पृ० ३४३)। परिवर्तन का यह प्रथम चिह्न ही बाद को नियमित हो जाता है।

आज पूर्वी बोलियों में केवल अनुनासिक दन्त्य है; कम-से-कम लिखित रूप में ऐसा कालसी और पूर्व के अशोक-अभिलेखों में था ही; दूसरी ओर सिंहली -न्- और -ण्- में लय स्वीकार करती है।

मूर्द्धन्यत्व के सभी रूप, जिनका आधुनिक भाषाओं में चलन मिलता है, परंपरा के प्रारंभ से ही चले आ रहे हैं। मूर्द्धन्यों की संख्या और भी अधिक होती गई है, और कुछ स्थानीय बोलियों से भी मिले हैं; संभवतः मूर्द्धन्य वाले सभी शब्द निश्चित रूप में मिल जायँ तो इस संबंध में प्राचीन तथ्य और भी दृढ़ हो जायँगे।

किन्तु वेदों के बाद मूर्द्धन्य उन शब्दों में भी आते हैं जिनमें पहले से ही दन्त्यों का साक्ष्य रहता है, और जो बिना किसी कारण के निश्चित किये जा सकते हैं। क्रिया अतति, जो उस भारत-ईरानी मूल से है जिससे 'अतिथि' शब्द बना है, महाकाव्य में अटति है; पत् जिसका पहले अर्थ था उड़ना (अवेस्ता में 'उड़ना, फेंकना'), फिर अथर्ववेद में 'गिरना', मध्यकालीन भारतीय भाषा और लगभग सभी नव्य-भारतीय भाषाओं में पड्- (किन्तु कश० में पैं-) हो जाता है; इस संबंध में एक ओर एड़ी और पैर संबंधी द्रविड़ शब्दों का, और दूसरी ओर 'गिरना' या 'लेटना' का अर्थ प्रकट करने वाली किसी द्रविड़ धातु के प्रभाव का संदेह किया जा सकता है। किन्तु सं० क्वथ- का पाली कठ्-, प्रा० कढ्-

से, जिसके प्रमाण नव्य-भारतीय भाषाओं में भी मिलते हैं, सादृश्य क्यों है, यह ज्ञात नहीं होता; अन्त में आधुनिक भाषाओं में एक ऐसी लंबी शब्द-माला है जिनमें मूर्द्धन्य की स्पर्शता से शुरू हो कर आगे बहुत बड़ा विस्तार हो जाता है : ने० टीको, ठेल्-, डुंगुर्, ढक्-, ढाल् आदि; यहाँ द्रविड़ भाषा को कारण माना जा सकता है जिसमें आदि मूर्द्धन्य लगभग नहीं हैं।

केवल कुछ शब्दों, और भाषाओं के केवल एक भाग, के संबंध में संभावित समीकरणों का प्रमाण मिलता है : सं० दण्ड- : ने० डँड़ो आदि जो म० डाँडा, लहंदा दण्डा, शिना दोणु, कश० दोन् [उ] के समान नहीं है; सं० दृष्टि- : ने० डिठ् आदि किन्तु म० दीठ्, सिंहली दिट्ठ, गु० दीठो। पाली डसति (तुल० डंस-) और डहति के बाद उन शब्दों के दो परिवारों के संबंध में जिनमें मूर्द्धन्य का प्रयोग हुआ है, श्री एच० स्मिथ का यह प्रश्न है कि क्या कृदन्तों से, जिनमें एक ही प्रकार का सावर्ण्य होना चाहिए, अन्य शब्दों की व्याख्या नहीं होती : डट्ठ- और डड्ढ-, कम-से-कम जो प्राकृत में मिलते हैं।

अन्त में सिंधी में वे समस्त घोष-दन्त्य जो सुरक्षित हैं, फलतः जिनकी विशेष स्थिति है, मूर्द्धन्य हो जाते हैं : ड्खिण्, डण्द् (न्द् ही एक ऐसा उदाहरण है जिसमें दन्त्य पाये जाते हैं), कोडर् [इ], सड्।

आधुनिक युग में ल़् और ड़् से दन्त्यों और मूर्द्धन्यों का सादृश्य पूर्ण हो जाता है। पहले के संबंध में मराठी, गुजराती, राजस्थानी, पंजाबी में (पूर्व और पश्चिम में फैलते हुए, निस्संदेह विशेषतः गाँव वालों की बोलियों में, एल० एस० आई०, IX, I, पृ० ६०९ और ग्रै० बेली, जे० आर० ए० एस०, १९१८, पृ० ६११), शिमला, गढ़वाल और कुमायूँ प्रदेश की बोलियों में, अन्त में उड़िया में उदाहरण मिलते हैं। ड़् और ढ़् से जहाँ तक संबंध है, सिंधी, हिन्दी और पंजाबी, नेपाली, बिहारी, छत्तीसगढ़ी, बंगाली और उड़िया में उदाहरण मिलते हैं; कश्मीरी ग्रामीण बोलियों में, शिना में, हिमालय प्रदेश की बोलियों में, काफ़िर में भी उसके उदाहरण हैं। इनमें स्वतंत्र ध्वनि-श्रेणियाँ नहीं, किन्तु ल् और ड् के स्वर-मध्यग हैं; संकेत, जो आवश्यक नहीं रहा, असमान है, जिसका कभी-कभी वास्तविक उच्चारण द्वारा (पूर्व में) प्रतिवाद हो जाता है; इसके विपरीत कभी-कभी उसका अभाव लिखने में मिलता है जब कि सुनने में तो आता है, जैसे मराठी में और निस्संदेह गुजराती में। धारणा और लिखावट में (लिपि-चिह्न की दृष्टि से ड् से ड़् का काम निकाल लिया जाता है) इन दो नई ध्वनि-श्रेणियों का प्रकट होना महत्त्वपूर्ण नियम का परिणाम है जिसके अनुसार स्वर-मध्यग स्पर्शों का अपने ही प्रकार के विशेष स्थिति वाले स्पर्शों से विरोध हो जाता है; तो ल़् और ड़् का मूल वही है जो बहुत बड़े अंश में ण् का; किन्तु उनका अनुलेखन असमान है, और उनका ऐतिहासिक मूल्य

परिवर्तनशील है; नेपाली, बिहारी और हिन्दी (पूर्वी और सामान्यतः पश्चिमी) ऱ्, सिंहली ल् या ळ्, सिंधी और पंजाबी ड़् एक प्राचीन स्वर-मध्यग ड् की तरह है, जब कि नेपाली, बिहारी और हिन्दी ड़् सिंहली के ड्, पंजाबी और प्राकृत ड्ड् के तुल्य है; दूसरी ओर जिप्सी भाषा का ऱ् एक साथ प्राचीन -ड- और -ड्ड- दोनों के साथ साम्य रखता है (टर्नर, 'फ़ेस्टश्रिफ़्ट जाकोबी', पृ० ३४)।

नये स्पर्शों के प्रकट होने के समय तक, मूर्द्धन्य शिन्-ध्वनि इस रूप में नहीं रह जाती—शिना को छोड़ कर जिसमें एक नवीन मूर्द्धन्य-प्रणाली मिलती है।

अन्त में इस संभावना का उल्लेख कर देना आवश्यक है, जो काफ़ी आश्चर्यजनक है, कि विदेशी शब्दों में भी कुछ मूर्द्धन्य मिलें : अस्तु न तो स्थूणा और स्थाणु की, न गुण- की व्याख्या करने का साहस हो सकता है। किन्तु बाद के युगों में हम कैटॉभ-, पा० केटुभ- की न्यायसंगत रूप में तुलना कर सकते हैं उस सेमेटिक शब्द से जो बहुत बाद को अरब रूप किताब् के अंतर्गत प्रवेश कर चुका है (एस० लेवी, 'एत्यूद. . .आर० लिनोसिए', पृ० ३९७); टन्क- आधुनिक टाका, जो नाप-तोल और सिक्के के रूप में है, तातारी तन्क शब्द है, आरमीनियन थन्क, फ़ा० तन्ग; ठक्कुर अर्थात् ठाकुर, उच्चवंशीय की उपाधि, का, श्री सिलवें लेवी के अनुसार, उत्तरी प्राकृत तेकिन् से संबंध है जो रामायण में टङ्कण- (जिसका तात्पर्य जनसाधारण से था, और बहुत बाद को सोहागा या बिना शुद्ध किया हुआ सोहागा, फ़ा० तिन्कार्) के रूप में मिलता है। आधुनिक युग में बंगाली डिन्गी, नूरी देन्गीज़ (dengiz), तुल० पु० तुर्की देजिज़्, की तुल्यता देखने की बात है। हाल में लिये गये अँगरेज़ी शब्दों के मूर्द्धन्य का वास्तविक उच्चारण हो जाना निश्चित है; क्या यह भी स्वीकार करना होगा कि ये शब्द तुर्की दन्त्यों के एक विशेष उच्चारण का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं?

३. महाप्राण स्पर्श

ईरानी में महाप्राण अघोष सोष्म हो जाते हैं, घोष ध्वनियों का महाप्राणत्व लुप्त हो जाता है। इसके विपरीत संस्कृत, और आज भी लगभग सभी भारतीय-आर्य भाषाओं, की विशेषता महाप्राण ध्वनियों और फुसफुसाहट वाली ध्वनि से विहीन स्पर्शों में स्पष्ट भेद उपस्थित करना है।

दोनों प्रकार की फुसफुसाहट वाली ध्वनियाँ एक ही प्रकार की नहीं थीं; उनमें स्वर-यंत्र-मुखी कंपनों का अस्तित्व या अभाव ही एक बड़ा भारी भेद है। यही कारण है कि यदि अन्य स्पर्शों की भाँति महाप्राण ध्वनियाँ पहले आने वाले व्यंजन पर अपनी जितनी मुखरता (या व्यक्तता) स्थापित कर देती हैं (वेत्थ, अवेस्ता-गाथा वोइस्ता;

तुल० वेद और विपर्यस्त रूप में शक्- से शग्धि, नप्त्- से नद्भ्यः), तो वे बाद में आने वाले व्यंजनों को उतनी ही मात्रा में प्रभावित नहीं करतीं।

अघोष जैसे के तैसे बने रहते हैं और द्व्यक्षरात्मक धातुओं के, जो उनकी उत्पत्ति के स्वयं प्रमाण प्रतीत होते हैं, इ तत्त्व को प्रकट हो जाने देते हैं (कुरीलोविच Kurylowicz,'सिम्बोली ग्रैमैटीक रोज़ावदौस्की',Symbolae Gramm. Rozavadowski, I, पृ० ९५), पथिभिः (किन्तु ईरानी में, सारूप्य सहित, अ० गा० पदंबिसें), श्नथिहि, श्नथितर्, ग्रथित-; उसमें व्यंजनों का वास्तविक योग नहीं है (अथर्व० गृणत्ति जो ग्रन्थ्- से है, गौण है और ऋ० के एक समानान्तर अंश के कृणत्ति के अनुरूप है)।

इसके विपरीत भारत-ईरानी भाषा के समय से घोष ध्वनियों का घोषत्व और उनकी फुसफुसाहट परवर्ती स्पर्श की ओर अतिक्रमण कर जाता है (बारथोलोमी का नियम), और इससे व्यंजनों के योग का सामान्य नियम खंडित होता है।

वास्तव में स्पर्श के सम्पर्क के कारण घोष महाप्राण ध्वनियों के प्राणत्व में कुछ स्वतंत्रता आ जाती है। यही रूप है जिसमें अन्य भारोपीय भाषाओं की भाँति ही संस्कृत में प्राचीन महाप्राणत्व का प्रथमतः विषमीकरण हो जाता है, फिर वह गौण रूप में प्रकट हो सकता है, जिसका उदाहरण स्- भविष्यत् वाले सामान्य अतीत विषयक विकरणों में मिलता है : बुध्- से भुत्स्- या गुह्- से घुक्ष्। जहाँ तक शिन्-ध्वनि, जो संस्कृत में स्पर्शों के बीच खो जाती है [भज्- से अभक्(स्)त], के अंतर से संबंध है, फुसफुसाहट फलतः संयुक्तों की ओर चली जाती है : जैसा कि *लब्ध- से निकले *लभ्-त के उदाहरण में देखा जाता है जिसमें दो घोष तत्त्वों के बीच का अघोष घोष हो जाता है; यही संबंध० एक० क्षाः, भारतीय-ईरानी *झ्मस्, अ० ज़्मो से ह्मः नहीं बनता, वरन् *ज़्म्हः, जिसका, संभव न हो सकने के कारण, महाप्राणत्व लुप्त हो जाता है, जिससे बनता है ज्मः।

शिन्-ध्वनि से प्राण-ध्वनि का अतिक्रमण हो जाने के फलस्वरूप उसका घोषत्व संभव नहीं हो सकता, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार संस्कृत स् केवल अघोष हो : यही कारण है कि दभ्- का इच्छार्थक रूप है *दि-द्भ्-स्->*दिद्ब्श्->दिप्सति, ज़ो अ० गा० क्रियार्थक संज्ञा दिव्ज़ैंद्याइ के विरुद्ध है; इसी प्रकार है, सह्- का इच्छार्थक रूप सीक्ष्- [जिसमें दीर्घ ई लुप्त हो गई घोष शकार ध्वनि का प्रमाण है : सि-सॅघ्-स्, सि-ज़ुघ्-स्; तुल० शिक्ष्- जो शि(श्)क्ष- से निकला है], ३ बहु० बप्सति जो भस्- का विकसित रूप है।

सापेक्षतः अस्थिर तत्त्व होने पर भी, महाप्राण ध्वनियों का प्राणत्व काफ़ी स्थिर तत्त्व है और यह ज्ञात हो जाता है कि संस्कृत की घोष महाप्राण ध्वनियों में स्पर्श है, न कि प्राण-ध्वनि, जो अंशतः मंद पड़ जाती है।

आधुनिक भाषाओं में, शब्द के अंत में अथवा किसी अन्य व्यंजन से पहले महाप्राणत्व लुप्त हो जाता है : हिं० समझना के विरुद्ध गु० में समज्वू, हिं० सीख्ना के विरुद्ध शिक्वू, जिनके सादृश्य पर हैं प्रेरणार्थक धातु (णिजन्त) सम्जावुँ, शिकव्वुँ; यह तथ्य, जो प्रायः देखा जाता है, निस्संदेह इतना अधिक सामान्य है कि विभिन्न भाषाओं की वर्ण-विन्यास-कला से उस पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

अल्पप्राणीकरण काफ़िर में, एशिया की जिप्सी भाषा में, बंगाल और सिंध आदि की कुछ बोलियों में बहुत-कुछ आगे बढ़ा हुआ है। जहाँ तक घोष ध्वनियों से संबंध है, वह कश्मीरी और शिना में स्थायी रूप से मिलता है (किन्तु कुछ ऐसी महाप्राण अघोष ध्वनियाँ हैं और कश्मीरी में एक नया ह् है जिनकी उत्पत्ति प्राचीन शकार ध्वनियों से है : हेछ्-, शिना सिन्न; हत्, शि० स्र्अॅल्।

घोष ध्वनियों का महाप्राणत्व यकायक लुप्त नहीं हो गया था; हर हालत में प्राचीन फुसफुसाहट वाली ध्वनि का चिह्न गुजराती (ब्'एन जो भेन् या वेहेन के रूप में लिखा जाता है, सं० भगिनी; क'ऐउँ जो कहयुँ के रूप में लिखा जाता है, सं० कथितम्) और पूर्वी बंगाली में कोमल स्वर-यंत्र के घर्षण में पाया जाता है; उत्पत्ति की दृष्टि से ये आश्वसित ध्वनियाँ सिन्धी की आश्वसित ध्वनियों से, जो विशेष व्यंजनों का प्रतिनिधित्व करती हैं, भिन्न हैं; सामान्यतः सिंधी में महाप्राण ध्वनियों का प्राणत्व सुरक्षित रहता है (टर्नर, 'सिंधी रिकर्सिव्ज़', बी० एस० ओ० एस०, III, पृ० ३०१; चटर्जी, 'रिकर्सिव्ज़ इन् न्यू इंडो-एरियन,' 'इंडियन लिंग्विस्टिक्स', I, पृ० १)।

पंजाबी में, स्वर है जिसमें लुप्त प्राणत्व के घोष कम्पनों का चिह्न मिलता है : जैसा कि पहले देखा जा चुका है, उसमें एक ऐसा अंश रहता है जिसका सुर प्राचीन महाप्राण के सम्पर्क में आने के कारण अधिक दूर जा पड़ता है : बॅद (बद्ध-), हों-(भव-), कड़् (प्रा० कढिअ-, सं० क्वथित-)। आदि ध्वनियों के संबंध में, इस मंद सुर का अस्तित्व परिणाम रूप में अघोषत्व उत्पन्न कर देता है : कॅर्, हिं० घर्, चॅड़्, हिं० झाड़्। एक ओर तो शिमला भूमिभाग की बोलियों में, और दूसरी ओर कुनार, पशई और खोवर की निम्न और उच्च घाटी में, पंजकोर के पड़ौस की घाटी में बश्कारिक में (पलोला, जो इस बोली को पूर्ववर्ती बोलियों से अलग करती है, बहुत प्राचीन नहीं है) ऐसे सदृश तथ्य बराबर मिलते हैं।

अन्यत्र घोष महाप्राण ध्वनियाँ, अपने प्राणत्व की रक्षा के लिये, अपने को सीधे अघोष बना डालती हैं : उत्तरी कलश में [थुम् (धूम-)] और विशेषतः जिप्सी भाषा में ऐसा पाया जाता है, चॅ़हू (प्रा० धूआ), किन्तु भुम् (भूमि-)। आरमीनिया की जिप्सी भाषा हर एक स्थिति में महाप्राण स्पर्श ध्वनियों को अघोष बना लेती प्रतीत होती है; थोव्-

५

(धाव-), लुथ (दुग्ध-) और इसी प्रकार खर्, फल्, भाई (भ्राता), किन्तु जुंज् (युद्ध-) मञ्ज् (मध्य-)। युरोप की जिप्सी भाषा में केवल आदि ध्वनियाँ अघोष होती हैं: खम् (घर्म-), फल्, थुव्, जिनमें मध्यकालीन भारतीय भाषा की मध्य महाप्राण ध्वनियों की प्राणत्व-प्राप्त हाल की महाप्राण ध्वनियाँ जुड़ जाती हैं; थुद् (दुग्ध-), फिव् (विधवा), फन्द्-(बन्ध्-), चं(ह)इब् (जिह्वा); प्राचीन अघोष ध्वनियों का रुख़ महाप्राणत्व की ओर नहीं पाया जाता: (कर्-, प्रा० कढ-से) और घोष ध्वनियों का रुख़ अघोष ध्वनियों के प्राणत्व की ओर नहीं पाया जाता: प्रा० देक्ख्- से दिख्-; वेल्श जिप्सी भाषा का फुचं हाल का है।

सीरिया की जिप्सी भाषा स्वर-मध्यग -ध्- या कम-से-कम उसका प्रतिनिधित्व करने वाली सोष्म ध्वनि का अघोषीकरण कर लेती है: गेसू (गोधूम-), २ बहु० -स्(-अथ) से ('जर्नल जिप्सी लोर सोसायटी', VII, पृ० १११)। प्राथमिक ह्- की ख़ज्-[हस्-], ख़्रि (हृदय-) और एक दुर्बल स्वरयंत्रीय ध्वनि में परिणत हो गये, स्वर-मध्यग: मु^ओ (मुख-), आमे^ओ (प्रा० अम्हे); स्वरयंत्रीय ध्वनि अन्य कारणों से भी हो सकती है: सु^ओ (सूचि-) से तो ऊपर उद्धृत शिना की बात याद आती है।

सिंहली ही एक ऐसी भाषा है जिसमें सभी महाप्राण ध्वनियाँ लुप्त हो गयी हैं, अघोष और घोष दोनों में से (भूमि- का बिम्; धातु- का दा; दीर्घ का दिगु; लब्ध- का लद; ग्राम- का पळमु, उष्ण- का उणु); स्वयं ह् केवल बहुत कम विवृति के रूप में (सोहोन अथवा सोन, सं० श्मशान-; किन्तु निय-, सं० नख-), अथवा स् के हाल के एवज़ में आता है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि तमिल में, जो उसकी समीपस्थ द्रविड़ भाषा है, महाप्राणत्व नहीं है, और उसमें से प्राचीन स् लुप्त हो गया है; इस भाषा का सिंहल पर प्रभाव संभवतः बहुत पहले ही पड़ चुका था, तुल० 'क्रिटिकिल पाली डिक्शनरी', दे० अट्ट-।

उन विधियों में से जिनसे महाप्राण ध्वनियों में परिवर्तन उपस्थित हुआ हो, सुसंस्कृत भाषाओं में सोष्म उच्चारण लगभग अज्ञात है।

उसके प्राचीन प्रमाण अत्यन्त दुर्लभ हैं। ओष्ठ्य महाप्राण ध्वनि ही एक ऐसी ध्वनि है जिसके लिये सोष्म में उच्चारण की कुछ-कुछ रक्षा की गयी मिलती है: -ध्वम् के विरुद्ध पा० -व्हो से कुछ भी प्रमाणित नहीं होता क्योंकि अनव्हितो: अनब्भितो में -व्ह- का परिवर्तन -ब्भ्- के साथ हो जाता है: उच्चारण विशेष होना चाहिए जैसा मय्हम् में जिसका अंत प्राकृत में मज्झ(म्) में होता है। पुरुषवाचक सरभू, सं० सरयु- तुल० ह० दुनु० सलव्हु के मूल रूप में निस्सन्देह सोष्मता थी; तुल० टोलेमी। किन्तु

किसका उल्लेख करना उचित होगा ? ह० दुत्रु० में भू-धातु से है : प्रव्हु अभिव्युयु; किंतु वह एक निराली बोली है। यह संभवतः मध्य का अस्थायी व्ह- ही है जिसके तुरंत बाद ही, हो- में, अन्य व्यंजनों की अपेक्षा ह्- आता है।

महाप्राण ध्वनियों से निकली सोष्म ध्वनियों का यह लगभग पूर्ण अभाव भारतीय-आर्य भाषा में सोष्म के अभाव की भाँति है। व् और अघोष शिन्-ध्वनियों को छोड़ कर, संस्कृत में वह बिल्कुल नहीं है, और इस दृष्टि से उसका ईरानी, प्राचीन और आधुनिक भाषाओं से विरोध है जिनमें विशेषतः अघोष महाप्राण ध्वनियों का स्थान सोष्म ध्वनियाँ ग्रहण कर लेती हैं, और जिनमें उदाहरणार्थ क्त् शुरू से ही ख़्त् हो जाता है (मेइए, आई० एफ़०, XXXI, पृ० १२०)। मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं में घोष स्वर-मध्यग व्यंजन (या ऐसा होने वाले) अपने को विवृत बना लेते हैं और अनिवार्य रूप में मध्य सोष्म की स्थिति से गुज़रते हैं : किन्तु यह परिस्थिति थोड़े दिनों के लिये रही है, और नियमित रूप से तो यह केवल शिथिल और अनुनासिक व्, जो -म्- का स्थान ले लेता है, के संबंध में देखी गयी है; अन्यत्र, प्राचीन (कंठ्य और दन्त्य) व्यंजन-काल अनिश्चित उच्चारण वाली भाषा को आगे किये जाने से घिरा रहा, जो जैनों में य्, जिसे य-श्रुति कहते हैं, के रूप में देखा गया है, जो कुछ भाषाओं में लगभग स्वरों पर अपना प्रभाव छोड़ जाता है, उदाहरणार्थ, म० शें जो शतम् से है और हिन्दी सौ (बीच की स्थितियाँ क्रमशः *सया, *सऊ) के विरुद्ध है, अथवा म० -एँ, गु० -उँ एक० नपुं० से, सं० -अकम्; किन्तु मराठी गे-ला, हिन्दी गय्+आ दोनों का संबंध गय-(गत-) से प्रकट किया जाता है। यह ध्वनि-श्रेणी-काल, अत्यन्त शिथिल सोष्म व् भी हो सकता है, अपभ्रंश में उ और ओ (भविस०, पृ० २४) के बाद, मराठी में किन्हीं स्वरों के बीच में; तुल० सिंहली में निय- (नख-) के निकट नुवर (नगर-)। विवृति के लिये अथवा ठीक-ठीक रूप में एक स्वर से दूसरे स्वर तक पहुँचने के काल के लिये, ह्‌ का प्रयोग बहुत कम मिलता है। समीपवर्ती स्वरों के बीच में -य्- और -व्- के प्रवेश की प्रवृत्ति से दक्षिण की द्रविड़ भाषाओं की याद आ जाती है।

क्लैसीकल मध्यकालीन भारतीय भाषाओं में केवल ये सोष्म ध्वनियाँ ही हैं जो अच्छे रूप में नहीं हैं। खरोष्ठी में लिखित अभिलेखों और पाठों में लिपि-चिह्न सहित कुछ व्यंजन मिलते हैं जो र् से मिलते-जुलते हैं, किन्तु जो बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं हैं; उदाहरण, वर्दक (Wardak) में भग के समीप भग्र; इस बात का प्रलोभन भी होता है कि उसमें सोष्म ध्वनियाँ ढूँढ़ी जायँ, विशेषतः जब कि -भ्- से निकले -व्ह्- से उसकी तुलना की जाय। किन्तु विशेषतः ह० दुत्रु० की भाषा वास्तविक पंजाबी और सिंधी से संबंधित है; अथवा, इन भाषाओं में सोष्म ध्वनियाँ नहीं हैं। केवल सीमांत बोलियों

में सोष्म ध्वनियाँ हैं : कुछ ज़्, कुछ ज़्, कुछ मूर्द्धन्य ज़् भी : शिना अज़्‌ (अभ्र-), ज़ोन् (द्रोण-) और साथ ही ज़ा (भ्राता); कुछ θ : पशई θले "३" (त्रयः), θलूच् (प्लुषि-), कुछ अलग-अलग कण्ठ्य खोवर मुख़्, नोγओर या संयुक्त रूप में : कती वख़्तुअँ (अपगृह-), फ़्तुअँ (प्राप्त-); पशई θलम् (कर्म), बशकारिक लाम् (ग्राम-); उसी में स्वर-मध्यग -द्- (और -त्-)-ल्- अथवा -र्- का प्रयोग भी पाया जाता है : खोवर सेर् (सेतु), लेल् (लोहित-), जिल् (जीवित-), किन्तु पा (पाद-), सौ (सेतु-), सैंउ (श्वेत-) आदि और इसी प्रकार गू (गूथ-) संभवतः स्वर-मध्यग ल् के स्पर्शत्व द्वारा, जिसके इस भाग में कुछ उदाहरण मिलते हैं : युरोपीय जिप्सी भाषा फ़ल् (भ्राता), जुवेल् (युवति), पीएल (पिबति), नूरी जुआर् पिअर्, गिर् (घृत-), बर् (*भ्रर के लिये) [किन्तु विपरीत उदाहरण भी मिलते हैं : नूरी सि (शीत-), सै, पै (पति-), पौ (पाद-), रो (रोदति); अन्यत्र -घ्- स् हो गया है, पीछे देखिए]। ये प्रयोग -δ- मान कर चलते हैं जैसा कि पूर्वी ईरानी की बोलियों में मिलता है। अफ़ग़ानी, मुंजनी और यिदघ की भाँति प्रशुन और आरमीनियन जिप्सी भाषा में आदि द्->ल्- भी है।

स्वयं ख़ास भारतवर्ष में बाहर से आयी हुई सोष्म ध्वनियाँ अत्यन्त कठिनाई के साथ अपने को अनुकूल बना पाती हैं : फ़ारसी ख़ुदा (xudā) को खुदा, ज़मीन्दार को जामीदार आदि कहा जाता है। किन्तु इधर-उधर से आयी सोष्म ध्वनियों का अस्तित्व उसमें पाया जाता है। ग्रामीण पंजाबी में एक थोड़ी-बहुत दुर्बल दन्त्योष्ठ्य ध्वनि पाई जाती है जिसका फ् के साथ परिवर्तन हो जाता है, जब कि ख् वास्तव में कठोर है। बंगाली में फ् और भ् का उच्चारण तेज़ी के साथ फ़् और व् की भाँति होता है, दोनों द्विओष्ठ्य हैं। दक्खिन में प्रचलित उर्दू में सितफ़ल् और साथ ही रख़् है, किन्तु यह अरबी का अत्यधिक प्रभाव हो सकता है (दे० क़ादरी, 'हिन्द० फ़ोनेटिक्स', पृ० ३१), और साथ ही मराठी में (श्री मास्टर के प्रमाणों के आधार पर) भी ऐसा ही पाया जाता है। यूरोप की जिप्सी भाषा में पूफ़ुव्, तुख़ोन् हैं जो फुल, थन्, ख़स् के समीप हैं; यह तो देखा ही जा चुका है कि एशिया की जिप्सी भाषा के स्वर-मध्यग स् का आरोपण सोष्म ध्वनि पर भी हो जाता है।

४. महाप्राण ध्वनि

संस्कृत की ध्वनि-श्रेणी ह् घोष फुसफुसाहट वाली ध्वनि है, उसी प्रकार जिस प्रकार घोष महाप्राण ध्वनियों की फुसफुसाहट वाली ध्वनि, यद्यपि दोनों में पूर्ण साम्य नहीं है : क्योंकि सिंधी में ह् से पूर्व अंतिम स्पर्श तदनुरूप महाप्राण स्पर्श की अपेक्षा एक दूसरी ही बात प्रकट होती है : चिद् हि>चिद् धि, सध्र्येग् हिर्ता>सध्र्यग् घिर्ता; तो ह् का अभियान यहाँ स्पष्ट है।

संस्कृत ह्

शब्द-व्युत्पत्ति-विज्ञान की दृष्टि से, ह् प्रागैतिहासिक घोष महाप्राण तालव्य ध्वनियों का शेषांश है :

भारोपीय ग्'ह् :	वहति	अ० वज़ैति	लैटिन उएहित्
	हिर्म- तुल०	अ० ज़्यअँ न० एक०	हिएम्स
साथ ही	अहम्	अ० अज़म्	इगो
	हृद्-	अ० ज़रद्-	कौर्ड-

भारोपीय *ग्^व^ह् ए से पूर्व हन्ति (तुल० घ्नन्ति) अ० जैन्ति

द्रुह्- (तुल० द्रुग्ध-) अ० द्रुग्-

द्रुख़्त-

स्पर्श का यह पूर्ण लोप भारतवर्ष के लिये ठीक है, किन्तु वह भारतवर्ष में सर्वत्र नहीं पाया जाता। काफ़िर भाषा में उच्चारण सुरक्षित है : कती, ज़िम्, ज़िर, दे० अन्यत्र। स्वयं संस्कृत में कुछ द्वित्वपूर्ण या पुनरावृत्तिपूर्ण रूपों में उसके चिह्न मिलते हैं, जिनमें फुसफुसाहट वाली ध्वनियों का विषमीकरण तालव्य को प्रकट करता है, जो उसके बाद स्थायी हो जाता है : जहाति, प्राचीन *झझाति, अ० ज़ज़ामि; इसी प्रकार हन्- के आज्ञार्थ २ एक० के संबंध में है : जहि, प्राचीन *झघि, अ० जैंदि। संबंध० ज्मः के लिये अन्यत्र देखिए।

यह तो स्वाभाविक है कि प्रारंभ में स्पर्शता घोष मध्य-स्पर्श ध्वनियों में परिवर्तित हो। इतिहास के क्रम में, समस्त शेष महाप्राण स्पर्श ध्वनियों (प्राचीन घोष और उनके साथ अघोष ध्वनियाँ घोष हो जाती हैं) की स्वर-मध्य स्पर्शता लुप्त हो गयी है; अथवा घोष महाप्राण स्पर्श ध्वनियों के माध्यम द्वारा क्रम जारी होता है, और यही उसका प्रथम चरण है; इसी प्रकार पिछले युग में जब कि ज् बना रहता है *झ् प्रकट होता है, ऋग्वेद में तो यह मिलता ही है कि कुछ ह् *ध् से निकलते हैं; प्रत्ययों में -महि, -महे, तुल० गाथा० -मैदी, -मैदे, ग्री० -मेथ; आज्ञार्थ में, विशेषतः दीर्घ स्वर के बाद : कृधि के मुकाबले में पाहि, अ० -दि, ग्री० -थि (एम० एस० एल०, XXIII, पृ० १७५; साथ ही, दे० श्री एच० स्मिथ, यह ह्रस्व के बाद है जब कि पाली में -भि कभी-कभी बाद तक मिलता है; पण्डितेहि, इसिभि, सब्बेहि ञातिभि), सामासिक शब्दों में (सहं- जो सध के समीप है; -हित- जो, पहले रचना में, धा से है) अथवा सह-शब्दों में (इहं, तुल० पाली इध, *ह्-इध से अशोक० हिद; कुहं, गाथा० कुठअ, गु० कुदा) साथ ही कुछ ऐसे शब्दों में जिनमें परिवर्तन-क्रम द्वारा स्पर्श ध्वनि की रक्षा होनी चाहिए (आंह, आहुः), तुल० २ एक० आत्थ, अ० आठअ; ऋ० गृहणातु गृहाणं जो गृभ्णाति गृभ्णते के समीप है; तै० सं०

उपानँहौ द्वि० जो उपानत् का कर्म० है; ऐत० ब्रा० न्यग्रोह- (एक उस अंश में जिसमें ग्रामीण रूप परंपरागत रूप के विरुद्ध है और शब्द-व्युत्पत्ति-विज्ञान की दृष्टि से ठीक है), अथर्व० न्यग्रोंध-, पा० निग्रोध- के लिये है।

अति प्राचीन मध्यकालीन भारतीय भाषाओं से ऐसे उदाहरणों की संख्या में बहुत वृद्धि हो जाती है : अशोक० और पाली में आंशिक सह-प्रयोग (भवति) के शब्द के आदि में होति है; स्वर-मध्यग की दृष्टि से अशोक० लहु (लघु), लहेवु (भ्), निगोह- (घ्); पाली में सं० दधाति के लिये दहाँति (तुल० अशोक० उपदहेवु) है, जो यदि सं० हित- पर विचार करके देखा जाय तो पुनर्निर्मित किया या सुरक्षित रखा जा सकता है, अंत में कुछ रुहिर-, साहु जैसे शब्द हैं। बाद की मध्यकालीन भारतीय भाषाओं में परिवर्तन सामान्य हो जाता है; कमज़ोर स्थिति वाली सभी महाप्राण स्पर्श ध्वनियों में से केवल घोष फुसफुसाहट वाली ध्वनि, ह् बच रहती है।

अघोष महाप्राण; शिन्-ध्वनि से उत्पन्न मध्यकालीन भारतीय ह्

इसके अतिरिक्त संस्कृत में अघोष महाप्राण ध्वनि थी; किन्तु उसकी गणना स्वतंत्र व्यंजन के रूप में नहीं होती, और क्योंकि वह अघोष से पूर्व या मूक से पूर्व शब्दान्त्य -स के स्थान पर आता है। लिखावट में वह देखा जाता है, वहाँ वह विसर्ग : -ह् है; मध्यकालीन भारतीय भाषा में उसके चिह्न नहीं मिलते, यदि पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ बनाने (अग्गि अथवा अग्गी < अग्निः) में नहीं, और -अः के संबंध में नहीं, तो इस बात में कि -अ-, जो स्वभावतः संवृत, और जो उतना ही संवृत है जितना कि अन्तिम, घोष से पूर्ववर्ती शब्द के अन्त्य *-अस्, *-अज़् से निकले सं० -ओ के साथ मिल जाता है।

मध्यकालीन भारतीय प्राकृत में, समुदायगत स् विवृत रूप में रहता है, और उससे नवीन महाप्राण स्पर्श ध्वनियाँ निकलती हैं। जब कि समुदायीकरण अघोष स्पर्श के साथ होता है, तो समुदाय ही अघोष रहता है; जब कि वह बचे हुए अनुनासिक के साथ होता है, तो प्राण-वायु ध्वनि घोष हो जाती है : पा० न्हा-, नहा-, (स्ना-), पञ्ह-, (प्रश्न-), उण्ह-, (उष्ण-), गिम्ह- (ग्रीष्म-), तिण्ह- (तीक्ष्ण-) आदि। घोष ध्वनियाँ जो निस्संदेह, साथ ही अति तीव्र गतिपूर्ण, अज्ञात व्युत्पत्ति वाले स्वर-मध्यग ह् से :।

प्रारंभ में मूल दीर्घ के पश्चात् स-भविष्यत् वाले क्रियामूलक प्रत्ययों में : पा० काहामि, जो *कर्ष्यामि से है, तुल० अशोक० शह० कष् (ष्) अति ? -स्य-, -ष्य- का सामान्य प्रयोग पा० -स्स- है। इसके अतिरिक्त पाली में ही -इ से एहिति और पलेति से पलेहिति (पलायति) हैं जो एहिति के अनुकरण पर निर्मित हुए प्रतीत होते हैं; हा- और हर- से हाहति, हो- से होहिति, भाहिसि, पदाहिसि, कुछ और भी हैं, विशेषतः संयोजक

स्वर करिहिति प्रकार जो जैन प्राकृत में सामान्य हो जाते हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि इन रूपों से, जिनकी अब तक व्याख्या नहीं हुई थी, -ह्- वाले आधुनिक भविष्य० का सबंध जोड़ा जा सकता है। यह भविष्य० अब भी काफ़ी मिलता है, उस क्षेत्र से बाहर भी जहाँ शिन्-ध्वनियाँ सामान्यतः विवृत होती हैं (मारवाड़ी, ब्रज, बुंदेली, भोजपुरी, प्राचीन बंगाली, कश्मीरी, फ़िलिस्तीन की जिप्सी भाषा)।

बहुत बाद को, आधुनिक भाषाओं द्वारा प्रमाणित प्राकृत की एक महत्त्वपूर्ण शाखा में, संख्यावाची शब्द मिलते हैं, सं० दर्श- का प्रतिनिधित्व दह- और दस- द्वारा हुआ है (-रह और -रस वाले योगात्मक शब्दों में) और -सप्तति- का -हत्तरि वाले योगात्मक शब्दों में; संभवतः क्या यह स्वीकार करना आवश्यक है कि प्राचीन काल में समस्त भारत में मिलने वाले संख्यावाची शब्द पश्चिमी क्षेत्र के थे (गु०, सिं०, लहंदा, कश्०; तुल० ऋ०, सुषोमा सिंध के पूर्व में बहुत प्रचलित था, मेगास्थ० सोंअनोस् अथवा सोअमोस्, आधुनिक सोहान), जहाँ अन्य स्थानों (पूर्वी बंगाल का विशेषतः इस युग के लिये उदाहरण न दिया जाय) की अपेक्षा विवृत शिन् ध्वनियाँ, अनुनासिक के बाद घोष हुई अघोष स्पर्श ध्वनियाँ (किन्तु खारवेल में पन्दरस भी है) और साथ ही कुछ-कुछ स्वर-मध्यग -द्- जो -र्- रूप में हो जाते हैं, अधिक उपलब्ध होते हैं? किन्तु -हंघ- (संघ-) कृष्णा, नागार्जुन-कोण्ड में मिलते हैं, एपी० इंडि०, XX, पृ० १७, २०; और सुवणमाह भट्टिप्रोलु में, जो निश्चित रूप से पश्चिमी प्रभाव की ओर संकेत करते हैं। हर हालत में यही बात सामने आती है कि अयोगात्मक शब्दों में शिन्-ध्वनियों से उत्पन्न -ह्- है, दे० पिशेल, पृ० २६२; और यदि श्री एच० स्मिथ ने अत्यन्त कौशलपूर्वक दि(व्)अह्- की व्याख्या अह(न्)- द्वारा विकृत सं० पा० दिवस- से की है तो भी अन्य उदाहरण हैं जो इस व्याख्या के अन्तर्गत नहीं आते।

अपभ्रंश के नाम प्रत्ययों (संबंध० एक० -अह, बहु० -अहं; अधि० एक० -अहि, अपा० -अहो) और क्रियामूलकों को अलग रखना आवश्यक है जिनमें आकृतिमूलक सादृश्य का हाथ है। किन्तु यह प्रत्यक्ष व्युत्पत्ति गुजरात और राजपूताना में रुक नहीं जाती जहाँ ऐसे निश्चित भाग हैं जहाँ स् के लिये ह् का प्रयोग प्रायः मिल जाता है, देखिए अन्यत्र।

महाप्राण के बाद की स्थिति

शब्द के प्रारंभ में ह्- सामान्यतः कठोर रहता है; किन्तु स्वरों के बीच में वह दुर्बल रहता है। इसी से, उदाहरणार्थ, आधुनिक बंगाली के विकृत रूप (अपभ्रंश -अह) से बने -आ में पाये जाते हैं, २ बहु० -आ अथवा -ओ में, जो अपभ्रंश -अह, -अहु से हैं। कुछ

शब्दों पर से प्राचीन स्पर्शता का सारा प्रभाव मिट गया है : म० शेरा (शिखर-), मेवुण् (मैथुन-) आदि।

स्वर-मध्यग ह् की दुर्बलता से इस बात का पता चलता है कि उसका प्रयोग साधारण विवृति की दृष्टि से रहा हो : म० पिओ (प्रिय-) के समीप पिहू, नही अथवा नई (नदी), बंगाली बेहुला (विपुला) आदि; सिंहली में ऐसा प्रायः मिलता है। किन्तु प्रा० विहत्थि- (वितस्ति-, पा० विदत्थि-), पर निस्संदेह हत्थ-(हस्त-) का प्रभाव है (एच० स्मिथ)।

कुछ ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जिनमें महाप्राणत्व ने किसी पूर्ववर्ती व्यंजन से सम्बद्ध रह कर अपने को बनाये रखा है। यूरोप की जिप्सी भाषा में इस संभावना के कारण आदि घोष को अघोष होते देखा जाता है : चिब् (जिह्वा), थुद् (दुग्ध-) जो खम् (घर्म-), थोव् (धाव्-) की भाँति हैं, आदि।

जब कोई शब्द स्वर से प्रारंभ होता है, तो फुसफुसाहट वाली ध्वनि में उससे पहले आने की प्रवृत्ति पायी जाती है : प्रा० होट्ठ-, म० होट्- (ओष्ठ-); हिं० हम्, गु० हमे (प्रा० अम्हे); गु० हूनो (उष्ण-) आदि।

अभिव्यंजक ह्

अंत में, स्फुट रूप में कुछ आदि ह् मिलते हैं जो शब्द-व्युत्पत्ति-विज्ञान द्वारा सिद्ध नहीं होते, और जिनका प्रधान लक्ष्य कुछ शब्दों की अभिव्यंजकता बढ़ाने में है : *ह्-इध के लिये अशोक० हिद, हेवं, हेमेव [ए(व)मेव], हेदिस-(पा० एदिस-, सं० एतादृश-), हंचे (अं=यत्; तुल० पा० याञ्चे और सं० यद्...च); पा० हलं हेवं हाञ्चि हेतं आदि (दे० सद्दनीति, पृ० ८८९, नोट ८, पृ० ८९४, नोट १३)। आधुनिक काल में पं० होर्, राज० और दक्खिनी हौर्, गँवारू हिन्दी हर्, साहित्यिक हिन्दी और (अपरम्), पं० बोली हेक्क् (एक-; उसकी पुनरावृत्ति देखिए); म० हा, बं० होथा, हेथा (प्रा० एत्थ), हाकुलि- (आकुल-); सिंहली हे, हो जो ए, ओ के समीप हैं और वह भी इतने प्रमुख रूप में कि सिंहली ह् के लोप की ओर झुक रही है (एच० स्मिथ)।

५. शिन्-ध्वनि

भारत-ईरानी में एक दन्त्य शिन्-ध्वनि है, सामान्यतः अघोष, किन्तु घोष स्पर्श ध्वनियों की समीपता के कारण जो घोषत्व प्राप्त करने की क्षमता रखती है (अ० अस्ति, ज़्दि; तुल० सं० अ॑स्ति, एधि॑), और दूसरी ओर इ, उ, र् और कंठ्य (अधि० एक० अ० द्रंग्वसू, तुल० सं० द्युम॑त्सु; किन्तु अ० अस्पएसुं, तुतुख़्स्व-अ, सं० अ॑श्वेषु,

विक्षु', नृषु; अ० संबंध० एक० न'र'सें) के बाद नियमित रूप से शकार ध्वनि में परिवर्तित हो जाती है।

भारतीय भाषा में यह नियम पहले से ही रहा है, और ईरानी की अपेक्षा अच्छे रूप में रहा है, जिसमें समीपवर्ती भारोपीय भाषाओं की भाँति, आदि और स्वर-मध्यग रूप में, असंयुक्त विवृत स् है; सं० स'न्ति, अ० ह'न्ति, सं० अ'सि, अ० अहि।

किन्तु यह देखा जा चुका है कि शिन्-ध्वनि से निकले, शकार-ध्वनि वाले रूप ने, जो मूर्द्धन्य हो जाता है, संस्कृत दन्त्य स्पर्श ध्वनियों के एक नवीन वर्ग को जन्म दिया, जो मूर्द्धन्य कहा जाता है। अथवा, प्राचीन ऋ के पूर्ण स्वरीकरण ने, जिसने शिन्-ध्वनियों सहित, समीपवर्ती दन्त्य ध्वनियों का मूर्द्धन्यीकरण कर दिया था, यह फल प्रकट किया कि स्वर अ के पश्चात् ष् की काफी बड़ी संख्या है, और वह स् के परिवर्तित रूप की तरह नहीं है; पाष्ये जो संभवतः सदृश जर्मन फ़ेल्स, ग्री० पेल्ल लि'थोस् से निकला है; कषति, तुल० साहित्यिक कर्सिंउ। यह एक महत्त्वपूर्ण नवीनता है।

दूसरी ओर भारतीय भाषा में वे घोष ध्वनियाँ नहीं रहीं जो ईरानी में सुरक्षित रहीं। कंठ्य या ओष्ठ्य ध्वनियों से पूर्व, वे नहीं मिलतीं : अ'द्ग, पहलवी अज़्ग् : विड्भिः, तुल० अ० वीज़ॅब्यो। दन्त्य से पूर्व, वे स्वर को, जो दीर्घ हो जाता है, अपना कंपन प्रदान कर विलीन हो जाती हैं, और ह्रस्व अ के संबंध में, ध्वनि का परिवर्तन कर देती हैं : नॅदिष्ठ-, अ० नज़्दिस्॑त; सद्- (तब *स-ज़्द्) से पूर्ण० ३ बहु० सेदिरे; *आसध्वम् से २ बहु० अपूर्ण० आध्वम् ; *निज़्॑द- से नीळ-, तुल० जर्मन नेस्ट; सौ॑क्षन्त-, प्राचीन *सि-ज़्घ्-स-, सह- का इच्छार्थक कृदन्त रूप। शब्द के अन्त में -स्-, जो घोष से पूर्व -सॅं हो जाता है, से निकली दो घोष ध्वनियों में से एक -ज़् स्वर का संकोच करने में विलीन हो जाती है : अ'श्वो; दूसरी -ज़्॑ र् हो जाती है : अग्नि'र्।

संस्कृत में दो शिन्-ध्वनियाँ प्रतीत होती हैं, जो सापेक्षिक दृष्टि से स्वतंत्र हैं, और दोनों ही बिल्कुल अघोष हैं। अथवा, उसमें एक तीसरी शिन्-ध्वनि आ गई है, और वह भी बिल्कुल अघोष है, और जिसका कारण यह है कि भारोपीय की तालव्याग्रीय ध्वनियों के विभिन्न प्रयोग थे : *क् संस्कृत में श् हो गया जब कि *ग् का प्रतिनिधित्व *ग्^{व} (ए) की भाँति ज् द्वारा और *ग्' ह् का प्रतिनिधित्व * ग्^{व} ह् (ए) की भाँति ह् द्वारा होता है। तो लगभग समस्त भारतीय भूमि-भाग में (केवल काफ़िर में प्राचीन स्पर्श ध्वनि मिलती है) प्राचीन अघोष स्पर्श ध्वनि एक तीसरी शिन्-ध्वनि में परिणत हो गयी प्रतीत होती है और जिसकी विशेषता है तालव्यीय उच्चारण और वह भी बिल्कुल अघोष; इसके विपरीत ईरानी में वह अपनी घोष प्रकृति ग्रहण किये रहती है : अ०

स्, ज़्, पु० फ़ा०θ, द्। संस्कृत में अन्य शिन्-ध्वनियों के साथ इतना अधिक संबंध है कि कुछ परिस्थितियों में प्राचीन कंठ्य ध्वनि शकार ध्वनि हो गयी है, और वह अपने को मूर्द्धन्य शिन्-ध्वनि के रूप में प्रस्तुत करती है : अष्टौ; अ० अस्॑त, लै० ओक्टो; वॅष्टि, अ० वस्॑ती, तुल० वॅश्मि, अ० वसंमी।

तो संस्कृत में तीन शिन्-ध्वनियों की एक नितान्त नवीन प्रणाली मिलती है, जिनका संबंध जीभ के अग्र भाग की गति द्वारा प्राप्त तीन प्रकार की स्पर्श ध्वनियों से है। इसके अतिरिक्त इन शिन्-ध्वनियों का आपस में परिवर्तन भी हो जाता है : यह तो देखा ही जा चुका है कि स् और ष् पूर्ववर्ती ध्वनि-श्रेणी पर निर्भर रहते हैं, और श् और ष् परवर्ती पर। अन्य रूपों में तालव्य ध्वनियों के सामीप्य द्वारा स् श् हो जाता है (पश्चा, तुल० अ० पस्चें, साहित्यिक पस्कुई; स-श्च्- जो सच्- का दोहरा रूप है), अथवा समीकरण द्वारा हो जाता है (श्वॅशुर, तुल० अ० ह्वसुर-; इसी प्रकार मध्यकालीन भारतीय भाषा की पश्चिमी बोलियों में : अशोक० अनुशशन); स्वरूप द्वारा भी वह ष् हो जाता है : षोल्हा जो *सज़्॑धा से है; दो ष् के विषमीकरण द्वारा श् हो जाता है : शुष्क- जो *सुस्॑क उच्चरित से निकले *षुष्क- से बना है, अ० हुस्॑क-; शुश्रूष् से निकले अशोक० सुश्रुष- आदि।

इसके अतिरिक्त ये शिन्-ध्वनियाँ अपनी ही थोड़ी-बहुत अव्यवस्था के कारण समाप्त हो जाती हैं; और बाह्य दृष्टि से उनका सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में बना रहना वास्तविकता से साम्य नहीं रखता। अशोक के अभिलेखों में, अकेले उत्तर-पश्चिम सीमा वालों में, तीनों शिन्-ध्वनियाँ मिलती हैं; और यही परिस्थिति खरोष्ठी में लिखित और ह० दुत्रु० में बाद के अभिलेखों के संबंध में कही जायगी (समान अव्यवस्थाओं सहित, उदाहरणार्थ, षग, सं० सङ्ग- और सर्ग-, कोनाउ, 'फ़ेस्टश्रिफ़्ट विडिश', पृ० ९३)। अशोक के अन्य अभिलेखों में (कुछ असंबद्धताएँ, जो केवल लेखन-प्रणाली के कारण हैं, कालसी के अंतिम घोषणा-पत्रों में दृष्टिगोचर होती हैं) और मध्यकालीन भारतीय भाषा के सभी उत्कीर्ण लेखों में शिन्-ध्वनि सामान्यतः स् के साथ अपवाद रूप में श् के साथ, जुड़ी हुई है। भट्टिप्रोलु का समाधि-स्थल एक अपवाद है जहाँ एक ओर स् का सा में परिवर्तन हो जाता है : पुत(स्)स, दूसरी ओर म(म्)-जुषा और शरीर- के लिये एक विचित्र चिह्न है (भट्टिप्रोलु के स्वच्छ पार्श्व-खण्ड में दन्त्य से भिन्न शकार ध्वनि मिलती है, किन्तु केवल तालव्य के संबंध में; मूर्द्धन्य का कोई उदाहरण नहीं मिलता) साथ ही इस समाधि-स्थल के कारण ही तो उत्तर-पश्चिम के कुछ रूप नहीं हैं, यद्यपि भट्टिप्रोलु का स्तूप कृष्णा-समुदाय (अमरावती, जग्गपेट, नागार्जुन कोण्ड) के अन्तर्गत आता है। मध्यकालीन भारतीय भाषा के साहित्यिक शिन्-ध्वनि

को ही मिला देते हैं (स् में; केवल नाटकों की मागधी में श्); केवल एक अपवाद मृच्छकटिका में क्रीड़ा की बोली (जो ढक्की या टक्की कही जाती है) में पाया जाता है, जिसमें प्रत्यक्षतः श् है, स् और ष् का स् में योग उपस्थित होता है; किन्तु स्वयं इसी अकेले अंश के लिये पाठ ठीक नहीं हैं और निष्कर्ष अनिश्चित हैं; विद्वत्तापूर्ण उल्लेखों में जो बात देखी जाती है, वह है र् का ल् द्वारा प्रतिनिधित्व के तथ्य में एक "मागधिसन्ते" और एक वह बात जिसकी बाद की विशेषता है संस्कृत -अः, -अम् के लिये -उ प्रत्यय का प्रयोग; यह विपथगामी प्राकृत का एक प्रकार है।

शिन्-ध्वनियों की अव्यवस्था संभवतः एक सापेक्षिक दुर्बलता का चिह्न है। हर हालत में इतिहास के प्रारंभ से ही अघोष ध्वनि विश्राम-स्थल पर अपने को विवृत करती है; शब्द में, धातु के अन्त में, स्पर्श का पृथक्त्व जैसा वह मांस- से मार्दभिः, उषस्- से उषद्भिः, अथर्व० वस्- से अवात्सीः में है, अपवाद-स्वरूप है और आकृति-मूलक परिस्थितियों से संबंधित है।

कभी-कभी मध्यकालीन भारतीय भाषा में, -ष्य- का प्रतिनिधित्व ह् द्वारा होते हुए देखा जाता है। विशेषतः स्पर्श ध्वनियों के अस्तित्व के कारण शिन्-ध्वनि नियमित रूप से अपने को विवृत करती है, और समुदाय की क्रमिकता में फुस-फुसाहट वाली ध्वनि अपना स्थान बना लेती है—महाप्राण स्पर्श ध्वनियों वाली भाषा में यह एक साधारण बात है—,साथ ही यदि स्पर्श से पहले प्राचीन शिन्-ध्वनि आये तो ऐसा होता है: हत्थ-(हस्त-), थरु- और चरु-(त्सरु-); सुक्ख-(शुष्क-), पक्ख-(पक्ष-), और अनुनासिक के साथ, शिन्-ध्वनि अनिवार्य रूप से पहले आती है: अम्हे (अस्मे), उण्ह-(उष्ण-)।

जो कुछ भी हो, जीवित शिन्-ध्वनियों का समन्वय लंका में लगभग सर्वत्र पाया जाता है (किन्तु जहाँ च् और स् फिर आपस में मिल जाते हैं)। इसके अतिरिक्त उसका उच्चारण परिवर्तनशील है; इसी प्रकार मागधी प्राकृत में केवल श् था, स् जो सामान्यतः दन्त्य है नेपाली में मन्द शकार ध्वनि है और बंगाली तथा उड़िया में विशेषतः उसकी विवृति और भी अधिक होती है और आसामी और भीली में वह ख् हो जाती है, पूर्वी बंगाली, गँवारू गुजराती, सिंहली (शब्द के अन्त के अतिरिक्त) और सिन्धी के स्वर-मध्यग में ह् भी; संस्कृत ष् का ख् उच्चारण और उनके लिखने में समानता, जो उत्तर भारत में प्रचलित है, सोष्म ध्वनि की भी कल्पना करते हैं; किन्तु यह कब और कहाँ से हुआ है?

तालव्यीय स्वरों के कारण मराठी में दन्त्य शिन्-ध्वनि का तालव्यीकरण हो जाता है, उन्हीं परिस्थितियों में जिनमें तालव्यीय कही जाने वाली स्पर्श ध्वनियों का।

उत्तर-पश्चिम की भाषाओं में अब भी शिन्-ध्वनियों की थोड़ी-बहुत विशेषता है, जैसा कि खरोष्ठी में लिखित मध्यकालीन भारतीय पाठों में मिलता है। कश्मीरी में हैं: १. सत् (सप्त) और औंस् (आस्य-); २. सुँएँह् (षट्), सुँरह् (षोड़श); किन्तु वेँह् (विष-); ३. हीर् (शिरः) और वुह् (विंशति-), रुहुन् (लशुन-)। इसी प्रकार शिना में: १. सत् (सप्त-), सुँ (सेना); २. षोइ "१६"; ३. सू (पा० सुण-), किन्तु संयुक्त रूप में: आँषु (अश्रु-), सेँष् (श्वश्रू-), षँ (श्वास-)। अन्यत्र शिन्-ध्वनि और शकार ध्वनि में भेद मिलता है: कती वसुत् (वसन्त-), सी (शीत-), उसेँा (औषध-); तोरवाली, हस् (हँसना); दस (१०), षुएइसेँ (१६), तिस् (प्यास)। इसी प्रकार युरोप की जिप्सी भाषा में (एशिया की प्राकृत के साथ चलती है); ग्रीक सो-(सोना), सप् (साँप), दस् (दास); शौं (६), ब्रेसेँ (वर्ष); सैंल् (१००), देसेँ (१०), बिसेँ (२०)।

यह देखा जा चुका है कि भारत-ईरानी में शिन्-ध्वनि और शकार ध्वनियों के घोष रूप मिलते हैं; विविध कारणों से वे (घोष रूप) संस्कृत में नहीं हैं। "प्राकृत" भाषाओं में, यह निष्कासन निश्चित रूप से है; बाहर से आये शब्दों का ज़् अर्द्ध-शिक्षितों में बराबर ज् हो जाता है: आ० ज़मीन्दार के लिये जमीदर, फ़ा० राज़ी के लिये राजी। दर्द में ज़् और ज़ेँ पाए जाते हैं जिनकी दुहरी व्युत्पत्ति है:

१. काफ़िर ज् गंह् से उत्पन्न, ज् ग्वह् (ए) से उत्पन्न, कती ज़ीम् (बर्फ़), ज़ेँअँर्- (मार डालना)।

२. ज् स्वर-मध्यग -स्- से, कभी-कभी: पशई θज़्बीन् की हन्वन्ज़्-इ (अंत में सं०-आमसि से निकला प्रत्यय है -ऐँस्), तुल० पशई और खोवर की अन्य बोलियों में -अस्, तीराही स्पज् (स्वसा)। गुरेस की शिना में प्रायः आजु (आस्य-) हज् (हँसना) दिज् (दिवस-), तुल० गिलगिट में आंइ, हय् जो देज् के समीप है।

तुल० प्रशुन इज़्ेँइ (अक्षि), दज़ू भी जो कती वंएंअं (विंशति-) के विरुद्ध है।

३. मध्यकालीन भारतीय भाषा की तालव्य ध्वनियों का सोष्मीकरण शिना दज़्ँ, कश्० दज्- (दह्यते); शिना च़ुज़्ेँ (छिद्यते), मज़ेँ (मध्य-), साथ ही बिज़्ँ (*भिय्य्-), दी (दुहिता) का विकृत रूप (दिज़्ँ); कश्० ज़ाल्- (ज्वालय-), व्ओँपज् (उत्पद्यते, प्रा० उप्पज्जै); शिना में मूर्द्धन्य ज़् र् वाले एक समुदाय का प्रतिनिधित्व करता है: ज़िगु (दीर्घ- से *द्रीघ-), ज़ा (भ्राता) [जच्च (द्राक्षा) में ज् सुरक्षित है]।

नं० २ के प्रयोग का चिह्न मध्यकालीन भारतीय भाषा में, उत्तर-पश्चिम की ओर, भी मिलता है: मनिक्यल के अभिलेख में मझे (मासे) मिलता है, निय के पाठों में दस और दझ (दास-): अथवा झ् सिक्कों में झुइलस्स राजा के हस्ताक्षरों में मिलता है;

तो यह पूछा जा सकता है कि क्या इस प्रमाण की बोली में स्वर-मध्यग स् के लिये ज़् नहीं होना चाहिए (रैप्सन, खरोष्ठी इन्स०, III, पृ० ३०३, ३१२); किन्तु ह० दुत्रु० के प्रशङ्गदि में, झ् वास्तविक अर्द्ध-स्पर्शी है, दे० अन्यत्र।

विदेशी नामों में ज़् के अन्य रूप : ज़्, य्, स्य्, स्र—कोनोउ, खरोष्ठी इन्स०, पृ० १०८ के अनुसार : य्स् भी उतना ही विदेशी है और भारत में उसका वास्तव में प्रयोग नहीं मिलता, यद्यपि उसका प्रवेश बौद्ध रहस्य की क्लैसीकल वर्णमाला में प्रवेश हुआ होगा, दे० एस० लेवी, Feestbundel kkl. Bataviaasch Gen., १९२९, II, पृ० १००।

६. अनुनासिक

संस्कृत ने भारत-ईरानी से न् और म् लिये हैं। इस बात को जानते हुए कि न् को समुदायों में क्या स्थान मिलना चाहिए, हिन्दू वैयाकरणों ने व्यंजनों के प्रत्येक वर्ग में अनुनासिक रखे हैं और ङ, ञ् और ण् का भेद उपस्थित किया है। किन्तु अकेली मूर्द्धन्य ध्वनि ही एक स्वतंत्र ध्वनि-श्रेणी है और जो स्वरों के बीच में आ सकती है : अर्थात् प्रागैतिहासिक ऋ का प्रतिनिधित्व करने वाले स्वर के बाद अथवा स्वयं उससे पहले र् या ष् हो सकते हैं। तो उसमें वह एक नई ध्वनि-श्रेणी है, किन्तु उसका सीमित अस्तित्त्व है; वह आदि में नहीं मिलती; और मध्यकालीन भारतीय भाषा में ण् का अत्यन्त विस्तार हो जाने पर भी वह उसमें कई पाठों में केवल आदि में आता है, और आधुनिक भाषाओं में शब्द के प्रारंभ में ण् नहीं आता।

आधुनिक समय में ञ् और ङ केवल गौण रूप में और वाह्य शाखा की भाषाओं में मिलते हैं : सिंधी मिञ, प्रा० मिञ्ज-, सं० मज्जन-, शिना ज़मेइञ् (-इनि ?); कश० बेञे (भगिनी), फ़ारसी के मियाँ के लिये मिञा; ने० काङियो, काइँयो, शिना कोङयि (कङ्कट-), अश्कुन अङआ (अङ्गार), बंगाली बाङाल् (बंगाल)।

तो म्, न् और ण् एक ऐसे देश में अकेली स्वतंत्र ध्वनि-श्रेणियाँ हैं जहाँ दन्त्य ध्वनियों के साथ उनकी गड़बड़ नहीं हुई।

७. अन्तस्थ

प्राचीन ईरानी में भारोपीय अन्तस्थ ल् और र् दोनों ही का प्रतिनिधित्व र् द्वारा होता है। फ़ारसी अभिलेखों में ल् केवल तीन विदेशी नामों में आया है; उन विदेशी नामों में, जो वहाँ के लिये सामान्य हो गये, र् ही मिलता है : जैसे बैबीलोन का नाम है **बाबैरुसें**। मध्यकालीन फ़ारसी का ल् प्राचीन संयुक्त र्द् के फलस्वरूप है। तो भी

फ़ारसी में कुछ शब्द ऐसे हैं जिनका ल् निश्चित रूप से भारोपीय है : लब्, लिसैंत्अन्, आलूदन् (तुल० लै० लूटुम), कल् (अ० कौर्व-, लै० कलवुस, सं० अतिकुल्व-)। ओसोऐत में प्राचीन ल् बराबर मिलता है। अस्तु, यह कहा जा सकता है कि सामान्य भारत-ईरानी में तो ल् और र् थे।

यह संस्कृत में भी बराबर, और अधिक स्पष्ट रूप में, प्रदर्शित किया जा सकता है: रॉम्, लै० रेम्; भॅरति, लै० फ़र्ट; त्र॑य:, लै० ट्रेस; दूसरी ओर लुभ-, लै० लुवेट, अथर्व० अ॑ल्प-, साहित्यिक अल्प्नस; पलित॑-, तुल० ग्री० पेलित्नॉस्; ग्ला-, तुल० कौचीन (koutchéen) क्लाय (klāya) (अपने को अच्छा न पाना); प्लीहा, तुल० ग्री० स्प्लॅन् आदि।

किन्तु ऋग्वेद में, जो अपने विषय की दृष्टि से उत्तर-पश्चिम भारत तक सीमित है, र् लगभग उतना ही प्रमुख है जितना भारत-ईरानी में; ग्रासमन के कोष में आदि ल् वाले शब्द केवल दो कालमों में हैं, जब कि आदि र् वाले शब्द ५८ में हैं; और ये शब्द, उन लगभग सभी शब्दों की भाँति जिनमें किसी-न-किसी स्थिति में ल् आता है, कुछ अंशों में हाल (Hāla) के संग्रह में मिलते हैं; थोड़ी सी संख्या में वे र् के साथ स्वयं ऋग्वेद में प्रायः मिल जाते हैं। यह देखना आवश्यक है कि किस [illegible] प्रागैतिहासिक *ल् या *ल़् मूर्द्धन्य ध्वनियों की उत्पत्ति के लिये न् और त् पर आधारित होकर र् और ऋ की भाँति हो जाते हैं।

क्लैसीकल संस्कृत में र् की अत्यधिक महत्ता है, किन्तु ऋग्वेद के अति प्राचीन अंशों की अपेक्षा कम निवारक रूप में। सर्वप्रथम वह भारोपीय से आये ल् वाले एकमूलक भिन्नार्थी शब्दों में से एक में प्रकट होता है : ऋग्वेद के कुछ प्रारंभिक अंशों में प्ल॑वते, प्ल॑व मिलते भी हैं जो सामान्यतः प्रु-(ग्री० प्लॅओ) धातु से हैं; लेभिरॆ, आलब्ध-, लेभान॑- जो रभ् (तुल०, ग्री० एऑइलेफ) के विपरीत है; ३ बहु० सामान्य अतीत विषयक अलिप्सत, pf. रिरिपु॑: (ग्री० अ॑लेइको); चलाचल॑-, अ॑विचाचलि जो चर्-, अथर्व० चल्- (ग्री० पॅलोमइ) के आवृति वाले रूप हैं; पुलु- (ग्री० पॉलु) और संयुक्त रूप में मिश्ल- जो पुरु॑- और मिश्र॑ के लिये हैं जो क्लैसीकल भाषा में एकमात्र उदाहरण हैं। ऋ० के वम्र॑-, वम्र॑क- के विरुद्ध, वा० सं० में वल्मी॑क- (बहुत प्रचलित, ई प्रत्यय सहित); ऋ० के रघु॑-, रप्- के लिये, अथर्व० में लघु-, लालप्- है, ऋ० के रिह्-, ह्वर- के लिये ब्राह्मण ग्रन्थों में लिह्-, ह्वल्- है, अथर्व० गिर्- के बाद ब्रा० का गिल्- आता है आदि। क्लैसीकल संस्कृत में अर्थ के अनुसार इन एकमूलक भिन्नार्थी शब्दों में से कुछ का पुनर्विभाजन हो गया है।

ल् वाले अनेक शब्दों की अटलता और अभिव्यक्ति की दृष्टि से भारोपीय ने वास्तविक भाषा में उनके बचे हुए रूपों को बनाये रखा है। ऋग्वेद में उसकी अत्यधिक दुर्बलता शैली की अपेक्षा बोली की कसौटी कम है; उसमें उनकी विशेषता या उनका प्रयोग दृष्टिगोचर होता है; स्वयं क्लैसीकल संस्कृत में उनकी सापेक्षिक दुर्बलता ब्राह्मण परंपरा की शक्ति का प्रतीक है। इससे उस क्रम की गणना करना संभव हो जाता है जिसे व्याकरण की परंपरा शतपथ ब्राह्मण, III, २.१, ३३ की एक कथा के अंतर्गत रखती है : शब्दोच्चारण करने से वंचित पराजित असुर चिल्ला उठे थे हेलॅवो हेलॅव्(ओ), जिसके दूसरे रूप हैं हैलो हैल(ओ); पतंजलि ने हेलयो हेलय् (ओ) रूप दिया है जो हे'रयः का बर्बर रूप होना चाहिए। इससे क्लैसीकल नाटकों की मागधी प्राकृत के प्रयोग पर भी कुछ प्रकाश पड़ सकता है जो निम्न श्रेणी और हास्यास्पद व्यक्तियों के लिये प्रयुक्त होती थी।

यह प्राकृत नितान्त कल्पित नहीं रही, और कम-से-कम एक भूमि-भाग और एक युग में एक ऐसी बोली के रूप में रही है जिसमें न केवल ल् का अस्तित्त्व रहा, वरन् जिसमें पश्चिमी और ईरानी बोलियों के विपरीत र् भी मिलता है। लेख इसके प्रमाण हैं : रामगढ़ के सुतनुका-लेख, सोहगौर (गोरखपुर) के फलक में केवल ल् है; विशेषतः अशोक के उन अभिलेखों में जो गंगा की घाटी और उड़ीसा की तरफ़ मिले हैं नियमित रूप से ल् है। इस भूमि-भाग के पश्चिमी सीमांत पर, वैरट (वैराट?) के अद्भुत अभिलेख में आदि और स्वर-मध्यग ल् मिलता है (लज, चिल-, गालवे, विहालतं) और वह अलग-अलग किये गये संयुक्तों के उदाहरण में मिलता है (अलहामि, सं० अह्लामि, पलिययानि), किन्तु संयुक्त रूप में र् किसी अन्य रूप में परिणत नहीं होता : सर्वे; प्रियदसि, अभिप्रेतं, प्रसादे [उपतिसपसिने (-प्रश्न-) एक ऐसा उदाहरण है जो लाघुलोवाद और अलियवसानि की भाँति है; यही अभिलेख है जिसमें विचित्र पूर्वकालिक कृदन्त अभिवादेतूनां मिलता है; वैरट (वैराट?) के दूसरे अभिलेख में, जो गश्ती घोषणा-पत्र का उदाहरण है, आलधेतवे है, किन्तु देवनंपिये भी है]। दक्षिणी सीमा पर सांची में चिल- (चिर-) और सुरियिके (सूर्य- से उत्पन्न) रूप हैं; रूपनाथ में ये दोनों अक्षर मिलते हैं, किन्तु बिना किसी प्रत्यक्ष सिद्धान्त के।

यदि यह बात स्वयं मागधी प्राकृत नाम से स्पष्ट और प्रमाणित है, कि इस विचित्र ल् वाली बोलियों का केन्द्र बनारस और पटना का भूमिभाग ही होना चाहिए, तो ध्वनि-श्रेणी के वास्तविक विस्तार और उसकी तिथि की गणना करना कठिन है। ऋग्वेद में क्रोशति और विशेषण क्रोशनं- (साहित्यिक क्रौक्ति) के विपरीत क्लोर्श- का एक उदाहरण मिलता है, और लोॅमन्- के दो उदाहरण बाद की एक ऋचा में, जिसका

सामान्य रूप है रोमन्-[तुल० आयर्लैंडिश रुऐम्ने (ruaimne), रुअम्नी (ruamnae)]। ये रूप, तथा अन्य जो प्राचीन पाठों में मिलते हैं, उदा० वा० सं० बभ्लुशं-, ऋ० बभ्रुं [तुल० ने० भुरो (*भ्रूरक-) जो सं० भल्लूक- से बने भालु के निकट है]; अथर्व० लिख्-, ऋ० रिख्- (तुल० रिश्-, ग्री० एरेइको) एक कठिन समस्या प्रस्तुत करते हैं। क्या यह स्वीकार करना आवश्यक है कि अन्य बातों की भाँति इस बात के संबंध में, 'पूर्वी' मध्यकालीन भारतीय भाषा का परिवर्तन, जो उसकी विशेषता है, अत्यन्त प्राचीन है और सर्वप्रथम प्रमाणों के समय का है? अथवा यह स्वीकार करना आवश्यक है कि भारोपीय में एक अस्थिरता का चिह्न मिलता है जिसकी ओर अनेक बार संकेत किया जा चुका है और जो निस्संदेह अथर्व० लुम्पति, पु० एक० लुपिति, लै० लुम्पो; सं० लुञ्चति, लै० रुन्को और परिवर्तन-क्रम की दृष्टि से गृइं रति : गिलति, अर्थात् ग् व् एर्- और ग् व् एल्- (दे० अन्य के अतिरिक्त मेइए, Ann. Acad. Sc. Fennicae, XXVIII, पृ० १५७) की गणना कराता है? वास्तव में प्रत्येक आधुनिक भाषा र् और ल् का योग उपस्थित नहीं करती; बंगाली प्राचीन र् और ल् का भली भाँति भेद करती है; यही बात बिहारी में है, जो प्राचीन मगध के भूमिभाग में और साथ ही पूर्व और पश्चिम में दूर तक बोली जाने वाली भाषा है, और र् ल् का स्वर-मध्यग रूप है (टर्नर, 'फेस्टश्रिफ़्ट जाकोबी', पृ० ३६); शेष के रूप हाल के हैं: पयलस=प्(अ)-रस्, १०३५ के एक इलाहाबाद के निकट के अभिलेख में है (साहनी, आरकियोलोजीकल सर्वे, १९२३-२४, पृ० १२३); सिंधी में भी ऐसा ही भेद मिलता है।

यह पूछा जा सकता है कि क्या अभिलेखों में प्राप्त विचित्र ल् का उच्चारण विचित्र है; श्री ग्रियर्सन का यह अनुमान है कि कम-से-कम कुछ उदाहरणों में वह दन्त्य र् का प्रतिनिधित्व करता है। यह सच है कि इसका मतलब यह हुआ कि सामान्य र् स्पष्टतः मूर्द्धन्य होना चाहिए, जो एक ऐसी परिभाषा है जिसकी तिथि पाणिनि तक जाती है और जिससे संभवतः यह भी प्रमाणित हो जाता है कि परवर्ती न् पर जितना मूर्द्धन्य-प्रभाव है उतना ही विवेचना का है। अनेक ध्वनि-श्रेणियों को अपने अंतर्गत लेने वाली एक लेख-प्रणाली की कल्पना अशोक द्वारा एक ही से अभिलेखों में प्रयुक्त स् के प्रयोग द्वारा संभव प्रतीत होने लगती है; यह समस्या प्राकृत के ण् के संबंध में भी उठती है। प्रत्येक रूप में यह ल् गौण है, जब कि अन्तस्थ (वट्ट्-, सं० वर्त्- प्रकार) के संपर्क से वे दन्त्य ध्वनियाँ जिनका मूर्द्धन्यीकरण हो गया हो वास्तव में अशोक के 'पूर्वी' अभिलेखों की विशेषता है।

जिस प्रवृत्ति पर हम विचार कर रहे हैं, जो इतनी प्रमुख है कि कुछ लिखित पाठों में पाई जाती है, उसने कुछ अन्य चिह्न भी छोड़े हैं। पाली में चत्तालीस मिलता है, जो

प्राकृत तक में है, और जो संख्यावाची नामों द्वारा प्रस्तुत समस्याओं की सूची में एक समस्या और जोड़ देता है; प्राचीन विषमीकरण द्वारा पा० लुद्द- (रौद्र-), प्रा० हलद्दा, दलिद्द-, दद्दल- (हरिद्रा, दरिद्र-, दर्दुर-) की व्याख्या की जा सकती है; अंतिम में, रुइल- (रुचिर-) की भाँति प्राय: मिलने वाले एक प्रत्यय का प्रभाव है; पा० अन्तलिक्ख- में भी संभवत: दो मूर्द्धन्य तत्वों (अन्तरिक्ष-) के विषमीकरण का चिह्न विद्यमान है; क्या यही बात ही पा० एलण्ड-, तलुण- (एरण्ड-, तरुण-), जैन कलुण- (करुण-) में नहीं है? दूसरी ओर जैन चलण-, चलति के साथ चरण- के विकृत प्रभाव का परिणाम है; अंत में इंङ्गाल-, संस्कृत अंगार-, भारोपीय शब्द, साहित्यिक अन्गॉलिस, फ़ा० निगाल आदि की अपेक्षा अधिक सीधे रूप में मिलते हैं। इन नये रूपों में से कुछ मराठी जैसी प्राचीनता-प्रिय भाषाओं के प्रयोगों द्वारा प्रमाणित होते हैं।

तो समग्र रूप से आधुनिक भाषाएँ एक ऐसा मिश्रित रूप प्रस्तुत करती हैं जो क्लैसीकल संस्कृत के लगभग निकट है।

दर्द में स्थानीय दृष्टि से र् वाले समुदाय से निकले कुछ ल् मिलते हैं: θजबिन् की पशई लोम, मजेगल की अश्कुन ग्लाम् (ग्राम-); पशई लाम्, अश्कुन क्लाम् (कर्म-), पूर्वी पशई θले "३": यह उन परिवर्तनों में से एक है जो इस क्षेत्र के समुदायों में अभी हाल ही में उत्पन्न हुए हैं।

शब्द में व्यंजनों का विकास

१. अन्त्य व्यंजन

लिखने में, और संस्कृत के वैयाकरणों के अनुसार, प्रत्येक वाक्यांश के अंत में शब्द का वास्तविक अन्त होता है; उसे छोड़ कर, परवर्ती शब्द का आदि जब पूर्ववर्ती के अन्त पर निर्भर रहता है तो स्पर्श ध्वनियाँ जो चाहे अघोष हों या घोष, अनुनासिक ध्वनियाँ जो चाहे उच्चरित हों या न हों, शिन्-ध्वनियाँ जिनका प्रतिनिधित्व अघोष फुसफुसाहट वाली ध्वनि द्वारा, अथवा र् द्वारा हो, प्रत्यक्षतः पूर्णतः लुप्त हो जाती हैं।

किंतु वाक्यांश में शब्द के अन्त के व्यंजन का प्रयोग उसी रूप में नहीं होता जिस रूप में मध्यवर्ती व्यंजन का।

मध्यवर्ती व्यंजन या तो अघोष होता है या घोष, और उसमें केवल एक दूसरे व्यंजन से पहले आने पर ही परिवर्तन होता है; स्वनंत और स्वर से पूर्व अघोष बना

रहता है : यत्न- यतते की भाँति। इसके विपरीत शब्द के अन्त में परवर्ती शब्द का आदि तत्त्व है जिससे व्यंजन का रूप निर्धारित होता है : फलतः अभरत् तत्र, किन्तु अभरद् अस्मैं, अभरम् नः; अस्तु, शब्दों के अन्त के लिये क्रमशः परिवर्तनशील रूप हैं। वाक्यांश के अंत में अघोष का प्रयोग चल पड़ा है, किन्तु इस संबंध में वैयाकरण एकमत नहीं हैं और पाणिनि को वह पसन्द नहीं है।

एक ऐसी भाषा में जिसमें महाप्राण ध्वनियाँ एक प्रणाली का मुख्य तथा महत्त्वपूर्ण अंश हैं, यह एक खास बात है कि शब्द के अन्त की महाप्राण ध्वनि वाक्यांश में वाक्यांश के अंत की भाँति अपना महाप्राणत्व खो देती है : ऋ० X ८६.१७ कंपृद् विश्वस्मात्, १०१-१२ कपृन् नरः जो अन्य से निकले कपृर्थ- के विरुद्ध है; तो "बारथोलोमी का नियम" केवल शब्द के मध्य के लिये काम आता है : अधाक् २.३ सामान्य अतीत विषयक, जो दग्ध- के विरुद्ध द(ग्)ह्- से बना है; X. १४.१६ त्रिष्टुब् गायत्री; उससे ऋ० युत्कारं-, मैं० सं० नभ्राज्- की रचना शब्द के अन्त में स्पर्श ध्वनि के बाद की फुसफुसाहट वाली ध्वनि के इस अंश की तुलना समुदाय के दूसरे व्यंजन से की जा सकती है; वास्तव में महाप्राणत्व सामान्यतः कठोर होता है, और यह देखा जाता है कि स्वर-मध्यग महाप्राण स्पर्श ध्वनियों में, स्पर्श-भाव फुसफुसाहट वाली ध्वनि के बिना उच्चारण और ध्यान दिये हुए आ गया है।

व्यंजनों के समुदाय का जो शब्द के प्रारंभ और मध्य में सामान्य होते हैं, अन्त में आना असंभव है; वहाँ वे प्रथम स्पर्श में परिणत हो जाते हैं; अनंक् कर्त्ता० तुल० विकरणयुक्त अनक्ष्-; द्योक् अथवा द्योग्, जो परवर्ती तत्त्व के बाद आते हैं, और जो *अयोक्त से निकले हैं, तुल० युक्त- जो अ० यओगंतृ के विरुद्ध है; चौंर्तृ के विरुद्ध *अकर्स् और *अकर्त् के लिये २-३ एक० अंकः, पंराङ *परान्वसें के लिये, जो अ० परअसें के विरुद्ध है, जींवत् (न्) *जीवन्त्स् के लिये, जो अ० ज्वअसें के विरुद्ध है। यह देखा जाता है कि यह विशेषता भारतीय भाषा में है और ईरानी से उसका संबंध है; यह एक ध्यान देने योग्य बात है कि फ़ारसी अभिलेखों में शब्दों को अलग-अलग करने वाला चिह्न मिलता है, जब कि भारतीय लिखावट अटूट क्रम से लगातार चलती रहती है।

ये सब बातें अन्त्य व्यंजन की विशेष दुर्बलता की द्योतक हैं, वास्तव में प्राचीन वैयाकरणों ने अन्त्य स्पर्शों को 'मन्द' और 'दुर्बल' कह कर निन्दा की है, और फिर अन्य परवर्ती स्पर्शों के संपर्क में आदि स्पर्शों की भाँति ही अंतरंग स्फोटक कह कर।

उच्चतम मध्यकालीन भारतीय भाषा के समय से इस विकास ने रूप धारण किया जब कि प्राचीन स्पर्श ध्वनियों (और इससे भी अधिक फुसफुसाहट वाली ध्वनि जो

प्राचीन शिन्-ध्वनियों और अनुनासिकों की मुखरता का प्रतिनिधित्व करती थी) का स्वयं अंतरंग स्फोट ही बिल्कुल लुप्त हो जाता है। मध्यकालीन भारतीय भाषा में स्वर-मध्यग के रूप में अन्त्य नहीं है; नवीन अन्त्य स्वरों ने अपने को आधुनिक काल तक बनाये रखा है; इससे शब्दों, और वाक्यांशों में भी, परिवर्तन हुआ है, क्योंकि शब्दों का अलगाव फिर सामान्य हो जाता है।

अन्त्य व्यंजन आधुनिक काल तक स्थायी बने हुए हैं; किन्तु अरक्षित शब्दों में अघोषत्व के चिह्न मिलते हैं: म० जाब् और जाप् (फ़ा० जवाब), छत्तीस० सुपेत् सराप् (फ़ा० सुफ़ेद, सॅराब्)।

२. मध्यवर्ती व्यंजन

भारतीय-आर्य भाषा के व्यंजनों के इतिहास में शब्द के मध्य में दो प्रकार का परिवर्तन-क्रम प्रमुख है: स्वर-मध्यगों की दुर्बलता, और दूसरी ओर समुदायगत अनुरूपता, यहाँ तक कि उनका पूर्ण आत्मसात किया जाना। दोनों परिवर्तन शब्दांशों के विभाजन को बहुत इधर तक अक्षुण्ण बनाये रखते हैं।

स्वर-मध्यग

स्पर्श ध्वनियों में, घोष महाप्राण ध्वनियाँ सब से कम उच्चरित हैं; क्योंकि पूर्व-इतिहास काल में ही *झ् का जो स्पर्श-भाव था वह भारतीय भूमि-भाग के अधिकांश में लुप्त हो गया था; केवल काफ़िर अपवाद स्वरूप थी: सं० हन्-, कती ज़ॅआंर्-, अ० जॅन्; हृद्-, कती ज़िर, अ० ज़रॅद्- यह बात उस समय तक जारी रहती है जब कि घोष महाप्राण ध्वनियाँ अपने को स्वाभाविक दुर्बल स्थिति में पाती है, अर्थात् स्वरों के बीच में। इसी कारण से वेद के समय से प्रत्यय -महि आदि हैं। जिस समय समस्त स्वर-मध्यग अघोष ध्वनियाँ घोष हो जाती हैं, महाप्राण ध्वनियों में भी वैसा ही घटित होता है: द्वितीय शताब्दी ईसवी पूर्व में पतंजलि और खारवेल प्रमाण हैं। मथुरा का पेरीपिल ने दज़िनबॅदेस् (-पठ-) दिया है, ह० दुत्र० के हस्त० में गध, यध (गाथा, याथा) हैं; इन नवीन घोष ध्वनियों ने घोष महाप्राण ध्वनियों के प्रकार का अनुगमन किया है और क्लैसीकल प्राकृत में वे ह् हो जाती हैं।

इस विकास का संबंध मूर्द्धन्य ध्वनियों को छोड़ कर सभी महाप्राण ध्वनियों से है और हर जगह उसके प्रमाण मिलते हैं, केवल फ़िलिस्तीन की जिप्सी-भाषा को छोड़ कर, जिसमें -थ्- और-ध्-(δह् के फिर से अघोष हो जाने के कारण) से निकला स् र् पर

आधारित -द्- से भिन्न है या लुप्त हो जाता है: द्वि० बहु० -स्(-अथ), गेसू (गोधूम-), गुस् (गूथ-), किन्तु पिअर· (पिबति) आदि।

अन्य तथ्य समूची स्वर-मध्यग स्पर्श ध्वनि की दुर्बलता की ओर संकेत करते हैं। पुरोहित या उसकी स्त्री से संबंधित यजुर्वेद के एक मंत्र में समीपवर्ती स्वरों में ओष्ठ्य-भाव उत्पन्न करते समय व् का लोप हो जाता है : तोंतो अथवा तोंते रायः (तव के लिए तों); मध्यकालीन भारतीय भाषा में यह एक सामान्य बात है : अव के लिये ओ : अशोक० भोति होति (गिरनार भवति); अवि के लिये ऐ, ए : अशोक० गिरनार थैर-, पा० थेर- (स्थविर-) और इसी प्रकार निरंतर रूप में -अय- -अयि- के लिये ए (-ए- रूप में प्रेरणार्थक धातु)। यह क्या अय/ए और अव/ओ की समानता नहीं है जिससे अवैदिक संस्कृति संधि स्पष्ट होती है–ए अ-, -ओ अ->ए', ओ' ?

ऋग्वेद की लेखन-प्रणाली में स्वर-मध्यग ड् के लिये ळ् (और ढ् के लिये ळ्ह्) देखे ही जा चुके हैं, जो र् के साथ द् से निकले क्लैसीकल के कुछ ल् द्वारा, और पाली में निरंतर ळ् द्वारा प्रमाणित होते हैं। इसके विपरीत या तो अंतरंग स्फोट वाले (द्विड्भिः), बल-युक्त (दण्ड-) या पुनरावृत्त (विविड्ढि) रूप में ड् बना रहता है। एक विशेष लेखन-प्रणाली द्वारा अनेक आधुनिक भाषाओं में ड् (ह्) का दुर्बल रूप अब भी देखा जाता है ।

मध्यकालीन भारतीय भाषा में अलग-अलग रखी गयीं मूर्द्धन्य ध्वनियाँ, महाप्राण न हुईं स्पर्श ध्वनियाँ मिलती हैं। सर्वप्रथम अघोष ध्वनियाँ घोष हुईं : जिससे सर्वप्रथम ग्रीक भूगोल-लेखकों में पलिबोथ्र (पाटलिपुत्र-), और पेरीपिल में दज़िनबदेस् (पा० दक्खिणापथ-); क़िर्रॅअदइ (किरात-), तुल० मिन्नगर (नगर-) का साधारण घोष। पाली में यह स्थिति केवल एक बहुत थोड़े अंश में उदाहु (उताहो) में और कुछ ऐसे शब्दों में जो कम स्पष्ट हैं पायी जाती है; पिवति (पिबति), निय- (निज-) और सुव- (शुक-) में वह अपवाद रूप में आगे बढ़ी हुई दिखायी देती है; किन्तु सामान्य रूप में वह रूढ़ि-प्रिय है। अशोक० भी कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं : कालसी में है हिद- (हित-); दिल्ली में है लिबि (लिपि-); जौगड़ के (हिद) लोग से लोक- के अन्य सभी उदाहरणों का प्रतिवाद हो जाता है; क्या यह भ्रम है ? शह० हेदिस-, धौलि हेडिस-, कालसी हेडिस- में पाली एदिस- की भाँति घोष ध्वनियों का अक्षर-लोप मिलता है; *ए(दाँ) दिस, जैसे गिरनार में एतारिस (शौर० एदारिस-) एक विषमीकरण; विषमीकरण के कारण चवु(त्)थ- (चतुर्थ), चावु(द्)दस, तुल० पाली चुद्दस (चतुर्दश) में -त्- का लगभग पूर्ण लोप हो गया मिलता है। शहबाज़गढ़ी में, जो अन्य दृष्टियों से रूढ़िवादी है, दीर्घ स्वर के बाद ज् के स्थान पर य् मिलता है : कांबोय, रय-, समय-; पाली में प्रायः -इय- और

-इक- प्रत्ययों का परिवर्तन उसी प्रकार के विकास का अनुमान कराता है; कंठ्य ध्वनियों का प्राथमिक तालव्यीकरण कालसी में पाया जाता है: वाडिक्या (वाटि-, वृति-), थितिक्य-, और लोकिक्य- किन्तु कलिग्य- क़ायदे से -य- वाला रूप होना चाहिए; यही बात रामगढ़ के संबंध में है, देवदाशिक्यि।

बाद को उसी प्रकार के प्रयोग कंठ्य, तालव्य और दन्त्य ध्वनियों के लिये सामान्यतः मिलते हैं, और जैन तथा आधुनिक वर्ण-विन्यास से उनका अनुमान लगाया जा सकता है: सं० शतम्, प्रा० स(य्)अम्, म० शें, हि० सैं-कड़ों, और सौ: सं० राजा, प्रा० रा(य)अ-, आधुनिक राइ और राओ; विषमीकरण के उदाहरण, जिसकी ओर संकेत किया जा चुका है (पा० तेरस आदि) और यूरोपीय जिप्सी-भाषा और शिना के ल् प्रयोग, एशियाई जिप्सी-भाषा और खोवार के र् प्रयोग को छोड़ कर, इतना ही है जिसका संबंध दन्त्य ध्वनियों से है। इसी प्रकार -प्- और- ब्- से व् की उत्पत्ति होती है, और, अनुनासिक व् -म्- का प्रतिनिधित्व करता है (दे०, आगे), ऐसे सब उदाहरण सोष्मीकरण की थोड़ी-बहुत स्थायी गुंजायश रखते हैं।

स्पर्श ध्वनियों की भाँति, स्वरों के बीच अनुनासिक ध्वनियों में भी परिवर्तन होता है। इस दृष्टि से म् से जहाँ तक संबंध है, उसका आधुनिक भाषाओं में सो-मीकरण हो जाता है:(हि० गाओं, पु० म० गाम्वु, सं० ग्राम-) ; मध्यकालीन भारतीय भाषा में भी उसके कुछ उदाहरण मिलते हैं, किन्तु वे अनुनासिकों के कारण, और फिर विषमीकरण के कारण हैं: नम्- का प्राकृत में नम्वै, जैन अणवदग्ग- जो पा० अनमतग्ग- के लिये है।

दन्त्य अनुनासिक ध्वनि मूर्द्धन्य में परिणत हो जाती है। वैदिक स्थाणु́- आदि को देखा ही जा चुका है। पाणिनि को हर हालत में दण्डमाणव- ज्ञात था, जो मानव- से है; ऋ० भन्-, पन्य- के लिये पतंजलि ने भण- और शतपथ ब्राह्मण ने पर्णाय्य दिया है। पाली में ऐसे अनेक उदाहरण हैं: ञाण- (ज्ञान) जो जानाति के विरुद्ध है, फेण-, सुण- और सून-, सं० शनैः के लिये सणिम्, दन्तपोण- जो पवन- के समीप है, जण्णुक- जो जानु- के समीप है, आदि। प्राकृत में यह नियम है कि सब स्वर-मध्यग ण् मूर्द्धन्य हो जाते हैं। कुछ पाठों में, वैयाकरणों द्वारा प्रमाणित, प्रत्येक स्थिति के लिये इसी लेख-प्रणाली का प्रसार मिलता है। यह सामान्यीकरण, जो उच्चारण की दृष्टि से नहीं बताया जा सकता, अनुलेखन-पद्धति के साधारण तथ्य के कारण होना चाहिए; निस्संदेह ण् के दो उच्चारण हैं, उदाहरणार्थ जैसे सुमिण- (स्वप्न-; तुल० स्वपति के लिये पा० सुपति) में म् अनुनासिक व् है, और इसके अतिरिक्त एक निश्चित म् है। यह कहना सत्य है कि कोपबल के अशोक के अभिलेख में प्राकृत नियम का ही पालन हुआ है, और जो साथ ही

विषमीकरण द्वारा प्रमाणित प्रतीत होता है (टर्नर, 'दि गविमथ इन्सक्रि० ऑव अशोक', पृ० ११-१२); किन्तु यह पूछा जा सकता है कि क्या इस विचित्र उदाहरण में लेख-प्रणाली का विपर्यय तो नहीं हो गया।

हर हालत में यही बात रह जाती है कि न् और ण् का विरोध शक्तिशाली और दुर्बल का विरोध है, और जो प् अथवा ब् और व्, त् अथवा द् और ७ अथवा य्, म् और वँ के विरोध के अनुरूप है। यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि श्री टर्नर ने गुजराती ण् का अनुनासिक सोष्म के रूप में उल्लेख किया है।

अथवा आदि न् या पुनरावृत्त रूपों, स्वर-मध्यग ण् का विरोध ह० दुत्रु० में, कुछ प्राकृत अभिलेखों में और काग़ज़ पर लिखे जैन हस्तलिखित ग्रन्थों में सामान्यतः मिलता है: और यही बात आधुनिक भाषाओं के बहुत बड़े समुदाय में मिलती है: मराठी, गुजराती, सिन्धी, पंजाबी, राजस्थानी, कुमायूँनी, लोक-प्रचलित हिन्दी, दर्द (जिसमें ण् ऱ् है जो थोड़ा-बहुत अनुनासिक है)।

कुल मिलाकर, स्वर-मध्यग दुर्बल व्यंजनों का एक वर्ग ही प्रदान करते हैं, जो थोड़े-बहुत स्थायी हैं, जिनका परस्पर तीव्र विरोध रहता है, जिनके उदाहरण आदि व्यंजनों, और जैसा कि देखने को मिलता है, प्राचीन समुदायों द्वारा मिलते हैं।

३. व्यंजन-समुदाय

भारत में व्यंजन-समुदायों की सामान्य प्रवृत्ति तत्त्वों को आत्मसात् कर लेने की ओर है; यह न केवल उनमें जिनका संबंध मुखरता से है (पूर्ण० एक १. वेंद, २. वेंत्थ; अधि० एक० पर्दि : बहु० पत्सुं; सामान्य अतीत २ एक० निश्चयार्थ शंकः : आज्ञार्थ० शग्धि, आदि), किन्तु साथ ही उनमें भी जिनका संबंध उच्चारण से भी है। पहली प्रवृत्ति ईरानी में मिलती है और सामान्य आवश्यकताओं से उत्पन्न होती है; दूसरी भारतीय-आर्य भाषा की विशेषता है।

इस प्रकार ष् आगे आने वाले त् का मूर्द्धन्यीकरण करता है : जुष्टं- (अ० जुस्तं-) जिसमें ष् प्राचीन स् से निकला है; अष्टं (अ० अस्तं-) जिसमें ष् एक प्राचीन तालव्य से निकला है, तुल० अर्सौति-; इसी प्रकार लुप्त *ज़् का चिह्न रेंढ़ि, लिह् से लेढि, जो अस्-से निकले एधि के विरुद्ध है, के मूर्द्धन्य में दिखाई पड़ता है। तालव्य स्पर्श ध्वनि पूर्ववर्ती स् पर : कंश्चित, अ० कस्चिंत्; न् पर, न केवल उस समय जब कि वह पहले आता है (पंञ्च, अ० पन्चँ), वरन् यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है, जब वह बाद में आता है : यज्ञं- (अ० यस्न-, फ़ा० जेंस्न्, स्पर्श के दो विभिन्न प्रयोगों सहित, किन्तु अनुनासिक को बराबर बनाये रखते हुए) प्रभाव छोड़ती है।

सिन्धी में दन्त्य ध्वनि की गड़बड़ एक ही केन्द्र-विन्दु से उच्चरित परवर्ती अन्तस्थ के साथ हो जाती है : अॅङ्गाल् लोॅम्नः।

दो स्पर्श ध्वनियों का उदाहरण विशेषतः खास बात है। भारत में ये दो स्पर्श ध्वनियाँ प्रारंभ से ही रही हैं; किन्तु प्रथम व्यंजन के स्फोट में स्पष्टता का अभाव है, साथ ही अल्प श्रव्य होने के कारण उत्पन्न सुबोधता की विहीनता और निश्चितता के अभाव की ओर प्रवृत्ति मिलती है; साथ ही स्फोटक का उच्चारण अंतरंग स्फोट पर अतिक्रमण कर जाता है। इस रीति के अनुसार, भारतीय का ईरानी से स्पष्ट विरोध है। ईरानी में तो सोष्मीकरण स्पर्श ध्वनियों में से प्रथम के उच्चारण को [illegible] करता है। समुदायों में उनके दुहरे उच्चारण बने हुए हैं, उदाहरणार्थ अ० बख़्त, फ़ा० बख़्त्, सं० भक्त में जो प्राकृत भत्त-, हिं० भात् के विरुद्ध है; अ० में हृप्त, फा० में हफ़्त्, सं० में सप्त : प्रा० में सत्त, हिं० में सात्।

समीकरण मध्यकालीन भारतीय भाषा की विशेषता है, किन्तु अति प्राचीन काल से, पृथक्-पृथक् शब्द (अयोगात्मक?) इस बात के प्रमाण हैं कि शब्द-व्युत्पत्ति-शास्त्र और आकृति-विचार-शास्त्र से प्रभावित, लिखित परंपरा की अपेक्षा उनका अधिक प्रचार हो गया था : उत्- से उच्चा, तुल० अ० उस्चँ; वृक्कौ, तुल० अ० वॅरॅठक-; *मद्ज्-, तुल० मद्गु के लिये मज्जति। इससे यह जान कर आश्चर्य न होगा कि एक ग्रीक परंपरा, जो ३०० ईसवी पूर्व के लगभग की है, मध्यकालीन भारतीय भाषा के लिखित प्रमाणों से पूर्व की, सम्राट् चन्द्रगुप्त का नाम इस रूप में प्रदान करती है, सन्द्रॅकोत्तोस्।

तो दोनों स्पर्श ध्वनियों के संबंध में यह तथ्य सर्वव्यापी और प्राचीन है; जब समुदाय में केवल वास्तविक स्पर्श ध्वनि आती है, तो अन्य तत्त्व के शिन्-ध्वनि या स्वनंत होने के कारण, चीज़ें बड़े दुरूह रूप में सामने आती हैं।

१. शिन्-ध्वनि--ईरानी में, स् अपने को आदि में और स्वर-मध्यग में ही विवृत नहीं करता, वरन् स्वनंत हो जाता है (अ० अह्मि, पु० फ़ा० अमिय् : सं० अॅस्मि; अ० हज़ङरॅम्, फ़ा० हज़ार् : सं० सहॅस्रम्); किन्तु वह स्पर्श ध्वनि : पु० फ़ा० अस्तिय्, फ़ा० अस्त् (अस्ति); अ० पस्कात् पस्चॅ (पश्चात्); और साथ ही घोष : अ० ज़्दी एॅधि, मज़्गॅम्, फ़ा० मय्ज़् (मज्जा), अस्नात् (-अज़्न- से, तुल० नज़्द्यो); और शकार-ध्वनियों : वहिस्ॅत-, फ़ा० बिहिस्ॅत (वॅसिष्ठ-), अस्ॅत, फ़ा० हस्ॅत (अष्टा); मीॅज़्ॅद-फ़ा० मुज़्द् (मीह्ॅ) से पूर्व रहता है।

संस्कृत में स् कठोर है, यहाँ तक कि यदि आकृति-विचार-शास्त्र की दृष्टि से सहायता प्राप्त हो तो वह असाधारण रूप में स्पर्श हो सकता है : अथर्व० अवात्सीः जो वस्-से है; माद्भिः, उषॅद्भिः जो मास्-, उषस्- से हैं। मध्यकालीन भारतीय भाषा में

आदि और स्वर-मध्यग स् बने रहते हैं, और इसी प्रकार सामान्यतः आधुनिक भारतीय भाषाओं में। किन्तु स्पर्श ध्वनियों के साथ मध्यकालीन भारतीय भाषा में उसका प्रयोग समान नहीं है।

पाली और क्लैसीकल प्राकृत में, शिन्-ध्वनि का ठीक-ठीक उच्चारण लुप्त हो जाता है जैसा कि दो व्यंजनों के समुदाय में दुर्बल व्यंजन, अथवा स्पर्श के साथ का स्वनंत; वह केवल फुसफुसाहट वाली ध्वनि रह जाती है, जो, जैसा कि महाप्राण ध्वनियों से पूर्ण भाषा में स्वाभाविक है, स्पर्श ध्वनि के बाद आती है, ठीक वैसे ही यदि मूल शिन्-ध्वनि उच्चरित स्पर्श ध्वनि से पहले आती : फलतः सुक्ख-(शुष्क-) जो पक्ख-(पर्क्ष-) की भाँति हैं, हत्थ- (हस्त-), अट्ठ (अष्ट-), बप्फ- (बाष्प-) जो थरु- या छरु- (त्सरु-), अच्छरा (अप्सरस्-) और प्रागैतिहासिक दृष्टि से भी, प्रत्यय -छ- अर्थात् जो -*स्के- से है, की भाँति हैं।

अशोक० में हर जगह प(च्)छा (पश्चात्) मिलता है; और उदाहरणार्थ प(क्)खि (पक्षिन्-) जो प्रमुख हैं; किन्तु क्ष् का प्रयोग सर्वत्र एक-सा नहीं है। गिरनार और शहबाज़गढ़ी में पाली की भाँति संमृखि(त्)त- (-क्षिप्-) है, किन्तु छम्-(क्षम्-; पाली खम्-; पाली में विशेष्य छमा भी है जो विकृत रूप में सामान्य है) और छण्- (क्षण्-; पाली खण्-); गिरनार में छु(द्)दक-(क्षुद्र-) है, किन्तु शहबाज़गढ़ी में खुद्र- और कालसी में खु(द्)द- है; अंत में कालसी में छन्- है, किन्तु खम्- भी।

स्त् वर्ग (और स्थ् जिनमें योग उपस्थित होना स्वाभाविक है) में, शहबाज़गढ़ी और गिरनार में अस्ति, नास्ति, हस्ति, समस्तव- (और गिरनार विस्तत-, शह० विस्त्रित-)की दृष्टि से साम्य है, जो कालसी के अ(त्)थि, न(त्)थि, ह(त्)थि, समुठुत-, विठत- के विरुद्ध है; उससे शह० का ग्रह(त्)थ- है जो, गिरनार घरस्त- (तुल० सं० गृहस्थ-) के विपरीत कालसी गह(त्)थ- के साथ जाता है, पूर्वी प्रभाव के अंतर्गत प्रतीत होता है; किन्तु गिरनार थैर-(स्थविर-) अथवा इ(त्)थी·(स्त्री) जो कालसी के समान है, और फिर शहबाज़गढ़ी के इस्त्री और स्त्रियक के बारे में क्या कहा जाय? दूसरी ओर, घरस्त-, जिसमें पहले महाप्राण द्वारा दूसरे महाप्राण का विषमीकरण कठिनाई से स्वीकार किया जा सकता है, इस बात का सन्देह उत्पन्न करता है कि स्त् अनुलेखन फुसफुसाहट वाली ध्वनि प्रकट करने के लिये यथेष्ट है, फलतः उच्चारण की अनुलेखन-पद्धति देर से हुई। इस सन्देह की पुष्टि मूर्द्धन्य समुदायों की तुलना से होती है, जिनमें गिरनार में सेस्ट-(श्रेष्ठ-), तिस्टमृतो तिस्टेय (तिष्ठ्-), अधिष्टान-(अधिष्ठान-) और स्टित-(स्थित-) में महाप्राणत्व-विहीन हैं, देखिए उस्टान-(तुल० सं०

उत्था-) जो शह० स्रे (ट्)ठ कालसी से (ट्)ठ, शह० ति(त्)थे, शह० चिर(त्)-थितिक-, धौलि चिल(ट्)ठितींक- के विरुद्ध पूर्ववर्ती रूपों (तुल० प्रा० ठाइ और आदि ठ्- के समस्त आधुनिक रूप) के प्रभावान्तर्गत है। इस रूप में या अन्य रूप में यह स्वीकार करना आवश्यक है कि पश्चिमी बोलियाँ अधिक रूढ़ि-प्रिय थीं।

यदि अशोक ने प्राचीन ठीक उत्तर-पश्चिम में शिन्-ध्वनियों (य् से पहले यह स्वयं : संबंध० एक० -अस्स, किन्तु भविष्य० इश्शति) का भेद बनाये रखा तो यह कोई संयोग नहीं है, और न यह कोई संयोग है यदि स्वयं गिरनार में श् का इधर लोप हो जाने से अनुसस्टि (मिकेलसन, जे० ए० ओ० एस०, XXXI, २३७) के मूर्द्धन्य की समस्या हल हो जाती है और ओसुढ- का भी ष् लुप्त हो जाता है। उत्तर-पश्चिम सीमा की बोलियाँ आज भी बनी हुई हैं, और शिन्-ध्वनि का और शकार-ध्वनि का भेद बना हुआ है, और समुदाय में शिन्-ध्वनि के थोड़े-बहुत स्पष्ट चिह्न सुरक्षित हैं : सं० शुष्क (पा० प्रा० सुक्ख-, हिं० सूखा, सिंहली सिकु) के प्रतिनिधि हैं कश० हीख्^उ, शिना सूकु, जिप्सी-भाषा सुँको; किंतु अश्कुन वासें संभवतः सं० वक्षः है। दन्त्य या मूर्द्धन्य से पहले मिलता है : शिना हत्, कश० अथ, किन्तु जिप्सी-भाषा वस्त्, खोवार होस्त्, पशई हास्त्, ह्रास् (हस्त-) और कश० हस्^इ-(हस्तिन्-); कश० ऑठ्, किन्तु खोवार ओश्ट्, पशई अश्त्, शिना अष् (अष्ट); शिना पिट्, कश० पेठ्, कती पृटि, किन्तु जिप्सी-भाषा पिस्त, अश्कुन प्रिष्टि, कलाश पिस्टो (पृष्ठ-); शिन्-ध्वनि शिना बष्, अश्कुन बस् (बाष्प-) में स्पष्टतः ओष्ठ्य पर छायी हुई है; कश० ब्रस्-(बृहस्पति-); कश० पोसें, कती पिसें (पुष्प-) : यह प्रयोग ह० दुत्रु० में तो मिलता ही है : पुष, तुल० पोषपुरिअ-पेशावर का रहने वाला—जो अर (Ara) के अभिलेख में है। कंठ्य से पहले भी ऐसा ही मिलता है : कश० भास्करी से बोंसि।

२. स्वनंत—स्पर्श ध्वनि और स्वनंत के संपर्क से जो समस्या उत्पन्न होती है उसका समाधान दो प्रकार से हो सकता है। या तो स्वनंत के घोष कंपनों के एक अंश से स्वर-तत्त्व अपने को मुक्त कर लेता है जो थोड़ा-बहुत अज्ञात होता है और एक नया स्वर प्रदान करने की शक्ति रखता है; या, जैसा कि दो स्पर्श ध्वनियों के संबंध में देखा जाता है, उनमें समीकरण उत्पन्न हो जाता है, व्यंजन का उच्चारण या तो सुरक्षित रहता है या उसे अनुकूल बना लिया जाता है, उदाहरणार्थ, द्व्>द्द्, ब्ब्; त्म्>त्त्, प्प्; र्त्>त्त्, ट्ट्।

पहली रीति संस्कृत की नवीनता नहीं है। भारोपीय में ही, व्यंजन के बाद आने वाला स्वनंत व्यंजन-पक्ष के अंतर्गत स्वनंत से संबंधित स्वर-तत्त्व द्वारा प्रतिनिधित्व

प्राप्त करता है : सं० पुरः : ग्री० परोस्; ज्(इ)यां : ग्री० बिओस्; संबंध० भ्रुव्-अः : ग्री० ओफ्रुओस्। भारत-ईरानी में य् और व् वाले विविध रूप मिलते हैं, वैदिक में तो विशेष रूप से बहुत हैं, और यदि अनुलेखन-पद्धति की अपेक्षा छंद की दृष्टि से गणना की जाय तो।

पु० फ़ा० मर्तिय-, अ० मर्स्य- त्रिअक्षरात्मक, सं० मर्त्(इ)य- है, किन्तु पु० फ़ा० हर्सिय- (जिसमें स् त्य् के साथ सम्पर्क प्रमाणित करता है), अ० हैθय-, सं० सत्य- है; प्रस्तुत उदाहरण की भाँति अनेक उदाहरणों में पुनर्विभाजन समुदाय से पूर्व आने वाले शब्दांश के गुरुत्व पर निर्भर रहता है; उदाहरणार्थ, यह प्रवृत्ति भ्(इ)यः प्रत्यय के दो रूपों के संबंध में दृष्टिगोचर होती है। शेष स्वयं वैदिक में, जिसमें स्वतंत्रता सबसे अधिक ग्रहण की गयी है, वह सीमित है : -स्य (१ उदाहरण को छोड़ कर) में संबंध० एक० के प्रत्यय में -त्वा में अन्त होने वाले क्रियामूलक विशेष्य में भी, सबसे अधिक अश्व- (अ० अस्प-), चत्वारः (अ० चθवारो-), त्यजः नपुं० (अ० इθयेजों द्वयक्षरात्मक) स्वप्न-(अ० ख्^{व्}अफ़्न-) की भाँति अलग-अलग शब्दों के समुदायों में पृथक्करण कभी नहीं होता। और मध्यकालीन भारतीय भाषा इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करती है कि प्रत्ययों में स्वरों का अस्तित्त्व संभव है : अशोक० धौलि क(त्)तविय-जो शिना क(त्)त(व्)ब- के विरुद्ध पड़ता है, तुल० पाली कत्तब्ब- [गिरनार में तो वही प्राचीन समुदाय मिलता है क(त्)तव्य-]; कर्मवाच्य, जिसका पाली प्रकार है पुच्छ्-इयति, तुल० सं० पृच्छ्यते, रूप स्पष्टतः सुरक्षित रखने की इस स्वतंत्रता का एक प्रयोग है, जो उसी प्रकार है जिस प्रकार वैदिक स्तुव्-अन्ति; स्फुट शब्दों में सामान्य नियम समीकरण का है : अशोक० और पा० सच्च- (सत्य-); अशोक० कालसी च(त्)तालि (किन्तु मुखरता के समीकरण सहित गिरनार चत्पारो, अन्तःस्थ *फ् का तुरंत स्पर्श हो जाने से, किन्तु उच्चारण का सारूप्य नहीं होता), पा० चत्तारि; यही बात पा० चजति (त्यज्-) के आदि के संबंध में है; जिया, हिय्यो की गणना ज्यां, ह्यः के अनुरूप वैदिक शब्दों की भाँति की जाती है; ऐसा ही अन्य भाषाओं से निकले आधुनिक शब्दों में मिलता है (उदाहरणार्थ, नेपाली जिउरि, हिजो), जो निस्संदेह क्रमबद्धता के समान ही स्पष्टता के कारण संभव हो सका है।

स्वनंत के अन्य उदाहरणों में, वैदिक और मध्यकालीन भारतीय छन्द यह प्रकट करते हैं कि आगम इतना अधिक होता था कि लिखते समय उसका प्रयोग होता ही नहीं। ईरानी में पु० फ़ा० दुरुव[सं० ध्रुव-, अ० द्र्(उ)व-] जैसे उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। किन्तु र् से संबंधित असंख्य उदाहरण वेद में मिलते हैं : इन्द्·र, पित्·रोः, साथ ही प्·राक; शिन्-ध्वनि से पूर्व दर्·शत; अनुनासिक सहित यज्·न-। इससे यह स्पष्ट

हो जाता है कि ग्री० एरुथ्रोंस् का प्रतिरूप अथर्व० रुधिर॑- हो सकता है, तथा आदि स्वर का मात्रा-काल पूँरुष, तुल० पा० पुरिस- पोस- में परिवर्तनीय हो सकता है: प्राचीन रूप पूर्स् इटैलिक *पर्सो-, लै० पर्रि-सिद के अनुरूप है; -उरु-, -उरि- वाले रूप उसी प्रणाली पर आधारित हैं और पितुरोः के आश्रित पितूरोः जैसे शब्दांशों का प्राचीन 'गुरुत्व' बनाये रहते हैं। स्वरों के वितरण में इस स्वतंत्रता ने जन्तु॑- और ज॑न्मन- जो ज॑निमन्- के निकट है, कृणुमसि भी जो कृण्व॑न्ति के निकट है, विकरण के निर्माण की सफलता-संबंधी एक छोड़ कर एक के बाद रहने वाली लय की प्रवृत्ति को विपर्यस्त रूप में उत्पन्न होने में सहायता पहुँचाई है।

क्लैसीकल संस्कृत में र् वाले उदाहरण बहुत कम हैं, यदि कम-से-कम कोषों द्वारा प्रदत्त चन्दिर- जैसे उदाहरणों की गणना न की जाय; अथर्व० का रुधिर॑- से ब्रा० दहर- (वै० दह्र॑), महाकाव्य मनोरथ- (*मनो-र्थ-), अजिर- (अ॑ज्र-) और मिलते हैं। किन्तु प्रवृत्ति सदैव रही है, और बारह से लिये गये शब्दों में वह अब भी दृष्टिगोचर होती है।

त्म॑न्- के विरुद्ध, पाली में तुमो, तुमस्स हैं जो सिंहली तुमह (Ep. Zeyl. I, पृ० ७३) और शिना तोमुँ द्वारा विवर्द्धित हो जाते हैं, जब कि जिप्सी-भाषा पेस आत्मन्- की प्रचलित ध्वनि के साथ साम्य रखता है: प्रा० अप्प-, हिं० आप् आदि। सं० प्राप्नोति का प्रतिनिधि गिरनार में प्रापुनाति, पाली में पापुणाति, ह० दुत्तु० संभावक प्रकार (आदरार्थ०) में पमुनि (*पामुने) है; इन रूपों की पुष्टि ने० आदि के पाव्-, गु० पाम्-, सिंहली पूअंन्- द्वारा होती है; पाली पप्पोति का कोई रूप शेष नहीं है।

संस्कृत राँजा का संबंध० राँज्ञः है, किन्तु पाली में राजिनो, अशोक० में र्(अ)-जिने, लाजिने है, प्राकृत में पा० और अशोक० गिर० शह० रञ्ञो, प्रा० रण्णो के निकट राइणो है; वास्तव में संज्ञा-रूप, विकरण-युक्त रूप हो जाने के कारण, उसमें बिल्कुल नहीं रह जाता; केवल नेपाली आदि के रानि में स्त्री० राज्ञी का रूप शेष है।

स्वनंत समुदायों का समीकरण एकदम नहीं हो जाता; तुल० ग्री० सन्द्र॑ओत्तोस् जिसका पहले उल्लेख हो चुका है, जिसमें द्वितीय समुदाय पर, और अशोक० की पश्चिमी लेखन-प्रणाली पर प्रथम समुदाय बाद का है। किन्तु वह बनने बहुत पहले ही लगा था, कम-से-कम र् वाले समुदायों से उसका अनुमान लगाया जा सकता है जिनमें अत्यन्त प्राचीन वैयाकरणों ने स्पर्श का सापेक्षिक महत्त्व देखा है: पुत्त्र- छंद में स्वीकृत, स्थायी उच्चारण है, पाणिनि ने उसे वैकल्पिक माना है, किन्तु हीन प्रयोग में वह असंभव है; प्रथम शब्दांश केवल बौद्ध संस्कृत में नियमित रूप से ह्रस्व मिलता है, तत्पश्चात् एक ऐसे युग में जब कि समुदाय वास्तव में कठिनाई से मिलता है।

सामान्य नियम यह है कि प्रत्येक परिस्थिति में स्पर्श ध्वनि प्रधान रहती है: सर्प-

से पा० सप्प-, उद्र-से उद्द-, आम् (ब्) र- से अम्ब-, शुक्ल- और शुक्र- से सुक्क-, राष्ट्र- से रट्ठ-, शक्य- से सक्क-, उच्यते के लिये वुच्चति, अध्वन्- से अद्ध-, मग्न- से मग्ग- आदि। किन्तु इस स्पर्श ध्वनि का उच्चारण स्वनंत के साथ अनुकूलता प्राप्त कर सकता है; इस प्रकार पा० सच्च- (सत्य-), मज्झ- (मध्य-) में दन्त्य ध्वनियाँ तालव्य हो जाती हैं।

ये अनुकूलताएँ समान रूप से नहीं मिलतीं।

दन्त्य+व् वाले समुदाय से दन्त्य या ओष्ठ्य मिलता है, जो उदासीन नहीं अ-नियमित रूप में होता है। गिरनार के अशोक-अभिलेखों में क्रिया-मूलक विशेष्य के रूप -त्पा (-त्वा), चत्पारो (चत्वारः), द्बादस (द्वादश) में मिलते हैं, और कालसी में च(त्)तालि (चत्वारि) मिलता है और दुवाडस सुरक्षित मिलता है। पाली में चत्तारो है और कर्म० तम् (त्वम्) है, किन्तु बारस भी है, और दूसरी ओर क्रियामूलक विशेष्य के रूप में द्(उ)वे और -त्वा रूप सुरक्षित मिलते हैं; उसमें द्वार- भी उस समय मिलता है जब कि टोलेमी ने नगर का नाम बरके (द्वारका) दिया है; किन्तु उसमें दीप-(द्वीप-) मिलता है जो अशोक० (जंबूदीप), टोलेमी (इअबर्दिओउ) और प्राकृत के साथ साम्य रखता है। इस अंतिम शब्द में ओष्ठ्य के अस्तित्त्व ने निस्संदेह उसके प्रति अनुकूलता प्रकट की है; किन्तु अन्य प्रयोग कम-से-कम अस्थायी रूप से दृष्टिगोचर नहीं होते। उदाहरणार्थ सं० ऊर्ध्व- के लिये पाली में उद्ध- है जो क्लैसीकल प्राकृत की ओर भी झुका हुआ प्रतीत होता है, तुल० असामी ऊध-; जैन प्राकृत में उब्भ- (तुल०, पा० उब्भ-ट्ठक-) है जिसकी पुष्टि म० उभा, सिं० उभो, पं० उभ्, बंगाली उबि द्वारा होती है; साथ ही उसमें उड्ढ- भी है जिसकी पुष्टि सिंहली उडु से, और संभवतः सिंहल से बहुत दूर, पशई उड़े, कश० व्ओँड् से होती है। प्रत्येक शब्द का अपना इतिहास है : इतिहास जिस पर प्रकाश नहीं पड़ा; प्रमुख बात यह है कि मध्यकालीन भारतीय भाषा के प्रारंभ में ही विविधता मिलने लगती है।

त्+म् के लिये, पाली में आश्चर्यजनक रूप में अत्त- है; और साथ ही अशोक० में पूर्व और उत्तर में है; किन्तु गिरनार में आत्प- है, जो उस विकास का प्रथम चिह्न है जो प्रा० आप्प-रूप धारण कर लेता है जो महाराष्ट्री में अत्यधिक प्रचलित है और जो नाटक में पहले रूप के साथ परिवर्तनीय है; अप्पा विशेषतः कर्त्ता० है; किन्तु बंगाली में आपन् है जो विकृत रूप पर आधारित है और आप्- रूप लगभग सर्व-प्रचलित है (सिंहली अत् को छोड़ कर; उत्तर-पश्चिम में तन्- वाले रूपों का मूल ईरानी है; शिना तोम्उें)। यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि प्रत्यय -त्व-, -त्वन- से -प्प-, प्पन- (हिन्दी -पा, -पन् आदि) रूप बराबर पहले ही से केवल गिरनार (महत्पा) में

मिलते हैं, और पाली की भाँति प्राकृत भी केवल -त्त-, -त्तन- स्वीकार करती है, यहाँ सामान्यतः उधार लिये जाने का संदेह किया जा सकता है।

दन्त्य + र् के समुदाय के लिये, पुनर्विभाजन उलटा भौगोलिक दृष्टि से है। अशोक के अभिलेखों में 'तीन' के लिये शहबाज़गढ़ी में त्रयो है, गिरनार में त्री 'तेरह,' Mans. में त्रेडश है, गिरनार में त्रैदस; किन्तु इसके अतिरिक्त तिम्नि, तेदस रूप मिलते हैं जिनके साथ पाली : तयो, तीणि, तेरस का साम्य है : साथ ही मिलते हैं शह० और गिर० पराक्रम्- [गिर० में परा(क्)कम्- भी], जो कालसी आदि के पल(क्)कम- सेभिन्न है; शह० अग्र-, किन्तु गिर० अ(ग्)ग-। अथवा पश्चिमी बोलियों में र् वाले समुदाय थोड़े-बहुत सुरक्षित हैं : कती ग्र्ओम्, अश्कुन ग्लाम् जिससे मैयाँ लाभ् (ग्रामा) निकला है; कती ब्र्अं, पित्र्, पशई लाई (भ्राता); कती पुट्र, पशई पुθले, शिना पूत्र (पुत्र); अश्कुन द्राष्, खोवार द्रोच़, शिना जच़ (द्राक्षा); खोवार द्रोखुम् (ग्री० द्रॅक्मि) है जो हि० दाम् से भिन्न है। जिप्सी-भाषा में केवल दन्त्य और ओष्ठ्य वाले (समुदाय) संयुक्त रूप हैं : फ्रल (भाई), त्रिन् (रत, जो *रत्र् का वषिम रूप है और रात्री से है), लिन्द्र्- (हि० नीन्द्, सं० निद्रा), द्रख्, किन्तु गव्। सिंधी में मूर्द्धन्य हुए केवल दन्त्य संयुक्त हैं : ट्रे (तीन), पुट्र^उ, ड्राख्^अ, निण्ड्र्^अ, किन्तु चक्कु (चक्र-), अगि (अग्र-), भाई आदि।

अन्य र्, जो पूर्ववर्ती व्यंजन को द्वित्वयुक्त व्यंजन की भाँति बना देने में सहायक होता है, अपने को पूर्ववर्ती व्यंजन के साथ मिला लेने की संभावना प्रकट करता है : दीर्घ- >*द्रीर्घ- : कती द्र्ग्र्, सिं० ड्रिघो (न कि *ड्रिहो), कलाश द्रीग, शिना ज़्रिगु; ताम्र-: कश० त्राम्, सिं० त्रामो, पु० गुज० त त्राँबू, तुल० कती में ही त्रूत्र (तंत्र-)।

यदि दूसरी ओर व्यंजन से पूर्व र् की समस्या पर विचार किया जाय, तो यह ज्ञात हो जायगा कि एक ही क्षेत्र में, र् आदि व्यंजन के साथ भी सम्बद्ध हो जाने की प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है; किन्तु ऐसा बहुत कम होता है : कलाश प्रोन्, क्रोम्; तुल० शिना क्रोम्, पशई θलाम्; इसी प्रकार अशोक० में क्रम्म-, प्रू(व्)व-, ग्रभ- मिलते हैं, किन्तु कीर्ति- के लिये किट्रि, वर्ग- के लिये वग्र- प्रकारों के अस्तित्व से निश्चित निष्कर्ष तक पहुँचने में रुकावट पड़ती है।

इन दुर्लभ, किन्तु भली भाँति स्थानीय बातों को अलग रख देने पर, मध्यकालीन भारतीय भाषा और नव्य-भारतीय भाषाओं में अब भी र् दन्त्य की संभावना रह जाती है : वास्तव में परिणाम होता है, कभी दन्त्य, कभी मूर्द्धन्य।

अशोक के अभिलेखों में ऐसा प्रतीत होता है कि गिरनार वाले अभिलेख की

प्रवृत्ति दन्त्य की ओर है [अ(त्)थ-, अनुव(त्)त्-, क(त्)त(व्)व-, व(द्)ध्-, की(त्)ति] और पूर्वी अभिलेखों की प्रकृति मूर्द्धन्य की ओर है [कि(ट्)टी, वड्ढ-दिय(ड्)ढ-]; किन्तु धौलि में अ(त्)थ-, क(ट्)टविय- और क(त्)तविय- मिलते हैं; कालसी, अनुवट्- और अनुवत्-; उत्तर-पश्चिम में अथ्र-, वध्र- चिह्न मिलते हैं, किन्तु किट्रि भी मिलता है और अन्त में शह० अनुवत्-।

अस्तु, न तो एकता से, न बोली द्वारा और न शब्द द्वारा निश्चित निष्कर्ष निकलता है। इसी प्रकार पाली में चक्कवत्ती है, जैन प्राकृत में चक्कवट्टी। पाली में अत्थ- बहुत आता है, किन्तु अट्ठ भी प्रचलित है, विशेषतः सामासिक रूपों में; दोनों समीपवर्ती रूप एक संवाद में मिलते हैं, दूसरा प्रश्न में, पहला स्वामी को दिये गये उत्तर में; इसके विपरीत अड्ढ- की अपेक्षा अद्ध- कम मिलता है, संभवतः संस्कृत से निकले रूपों अद्धा और अध्वन्- के कारण उसका प्रयोग कम होता गया हो। पाली में क्रियामूलक रूपों में सदैव कित्ति-, वत्त्-, कत्तब्ब-, और वद्ध् मिलते हैं; किन्तु साथ ही वद्ध- और वुड्ढ-, वड्ढि-, वुड्ढि- और वुद्धि- जो बहुत कम प्रयुक्त हुआ है; दूसरी ओर वड्ढकि- (वर्द्धक-) है; अन्त में वद्ध-, सं० वर्ध्र-, यह संभवतः आदि र् के कारण निरोधात्मक विषमीकरण के फलस्वरूप उसका दन्त्य रूप होना चाहिए। तो दोनों प्रयोग प्राचीन हैं : आधुनिक विभाजन दुरूह है और शब्दावली पर निर्भर है, केवल सिंधी को छोड़ कर, जिसमें, श्री टर्नर के मतानुसार, केवल र् + द् से मूर्द्धन्य होता है, र् + त्, थ्, ध् से दन्त्य। उनसे मिले शब्द के लिये प्रत्येक भाषा में समानता नहीं मिलती। गर्दभ- के लिये मराठी में गाढव् तथा गध्डा है, और सिंहली में ग्अँडुम्बु तथा गदुबु है।

इसी प्रकार अनुनासिक के बाद आने वाली स्पर्श ध्वनि के भी अनेक प्रयोग हैं। यदि अत्यधिक देखे गये तथ्यों पर विचार किया जाय तो ऐसा प्रतीत होता है कि विभाजन भौगोलिक आधार लिये हुए है। ह० दुत्रु० की बोली में विशेषतः अधिक अनुनासिकता ने (तुल० पमुणि, पा० पापुणे, सं० प्राप्नुयात्; नमो, पा० नावम्; वदमदो, सं० व्रत-वन्तः; व् के अनुनासिक रूप से ऐसा हुआ है; तुल० विपर्यस्त अनुलेखन-पद्धति पुषविव, सं० पुष्पम् इव), एक तो अनुनासिक के बाद आने वाले कठोर को मुखरत्व प्रदान करने में प्रोत्साहन दिया : पग-(पङ्क-), पज(पञ्च), सबन (सम्पन्न-) प्रशझदि (-शंसन्ति), दे० इसके बाद; इसकी पुष्टि एक पुरुषवाचक नाम द्वारा होती है : ग्री० लम्बगइ टोलेमी (लम्पाक-)।

दूसरी ओर उसने घोष स्पर्श ध्वनि को (कंठय ध्वनियों कोछो ड़ कर) आत मसात् कर लेने के लिये प्रोत्साहन दिया है : तुनदि (तुन्द्-), उदुमर (उदुम्बर-), बन्हन-(बन्धन-), गम्हिर (गम्भीर-), पनिद- (पण्डित-)।

ये दोनों विशेषताएँ आज सिंधी, लहंदा और पंजाबी में अविरल रूप में, और दर्द तथा जिप्सी-भाषा में स्फुट रूप में मिलती हैं :

१. अनुनासिक + अघोष :

सिं० पञ्जाह (पञ्चाशत्) जो हिं० पचास् से भिन्न है, कश्० पन्‌चाह्‌ किन्तु पन्‌ज़ह;

सिं० कण्डा, सिं० कण्डो, कश्० कोण्ड्‌ᵘ, यूरोपीय जिप्सी-भाषा कन्‌रो, नूरी क़न्द्‌, ने० काँड़ो : यह विकास शिना कोणुँ (कण्ट-) तक में चलता है;

सिं० पन्धु, पं० पन्ध्‌, नूरी पन्द्‌, शिना पोनँ, पशाई खोवार पन्‌ (पन्थन्‌-);

पं० ने० हिउन्द्‌, कश्० वन्द, यूरोपीय जिप्सी-भाषा इवेन्द्‌, पशाई येमन्द्‌; शिना योनुँ, खोवार योमुन्‌ (हेमन्त-);

३ बहु० के प्रत्यय सिं० -अनि, पं० -अण्‌, नूरी -अन्द्‌, यूरोपीय जिप्सी-भाषा -एन्‌ (-आन्ति);

सिं० पं० कम्ब्‌, ने० काम्‌-, कश्० कम- (कम्प्‌-);

सिं० सङ्गुर, पं० सङ्गल्‌, ने० साँगलो तथा सान्‌लो, शिना शङाल्‌ईं; किन्तु कश्० हॉकल्‌; गु० म० साँकळ (शृंखला);

सिं० वञ्झु, पं० वञ्झ्‌ (वंश-), सिं० हञ्जु, पं० अञ्झू (अश्रु); सिं० कञ्ज्‌-(ह्‌)ओ (कांस्य-); सिं० हञ्जु, कश्० उंञ्ज्‌ᵘ, स्त्री० अन्‌ज़िञ्‌ (हंस-)।

२. अनुनासिक + घोष :

सिं० कानो, पं० कान्ना, कश्० कान्‌, शिना कोन्‌ (काण्ड-);

सिं० पं० कश्० चुम्‌- (चुम्ब-) : सिंहली को छोड़ कर स्पर्श ध्वनि इस शब्द में हर जगह अपना लोप कर लेती है;

पं० बन्न्ह्‌, कश्० बॊन्‌ᵘ, शिना बुओन्‌, नूरी -बनि; (बन्ध्‌-); कूलू बान्‌ जिसमें 'बाँध' का अर्थ फ़ारसी में बन्द्‌ हो जाता है और जिससे यह प्रकट होता है कि यह प्रवृत्ति सदैव रहती है।

तो भी यह सोचना ग़लत होगा कि यह प्रवृत्ति पश्चिमी भूमि-भाग में ही मिलती है। मालवा (वह भूमिभाग जिसमें गौनार्दीय के स्थान पर गोनार्दीय रूप मिलता है) के निवासी, वैयाकरण पतञ्जलि (ईसवी-पूर्व दूसरी शताब्दी) के नाम को, अति प्राचीन, और स्पष्टतः महत्त्वपूर्ण, नाम पतञ्चल से अलग करना कठिन है (प्रिज़ीलुस्की, बी० एस० एल०, XXXIII, पृ० ९१); स्वयं पतञ्जलि ने, उसे स्थानीय कारण के अंतर्गत न मान कर, मञ्चक (मंच) के स्थान पर अशुद्ध उच्चारण मञ्जक- की ओर संकेत

किया है। उससे भी पहले अशोक० पंन- (पाँच), पूर्वी अभिलेखों के "१५" और "२५", पञ्ज- पर आश्रित हो सकता है, जैसे अंन- अञ्ञ (अन्य-) का प्रतिनिधित्व करता है; जब तक -दश, -विंशति और -शत् का तालव्य विषमीकरण द्वारा न हो, *पन्द- जिससे दूसरी ओर खारवेल का पंदरस स्पष्ट हो जाता है [तुल० म० पन्नास् (५०), हिं० पचास्; हिं० पैंतीस् आदि]। आज मैथिली में ये चान् (चन्द्र-), आन्ह् (अन्ध-), सेन्हिया (सिंधी) मिलते हैं; गुजराती में साँघळ (शृंखला), उमर् (उदुम्बर-; म्ब्>म् कुछ-कुछ सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है); बंगाली में चान्, रान्- (रन्ध्-); बंगाल का नाम बँङाल् की तरह पुकारा जाता है। मैथिली में आँजु अञ्जु भी है जो असुवा (अश्रु-) के समीप है। अन्त में, सीमंती भाषाओं : उड़िया, मराठी और सिंहली को छोड़ कर हर जगह क्रियाओं के ३य बहु० के प्रत्यय में से संस्कृत -अन्ति के स्पर्श का चिह्न लुप्त हो गया है; अथवा यदि प्रा० तथा पु० हिं० -अहिँ सादृश्यमूलक पुनरावृत्तियों के किसी वर्ग से निकल सकता है, तो बंगाली -एन् कम-से-कम प्राचीन -न्द् का चिह्न सुरक्षित रखे हुए प्रतीत होता है, अन्त्य स्थिति के कारण (किन्तु -इते, -न्त्- वाले क्रियार्थक-संज्ञा-क्रिया-मूलक विशेष्य में मध्य बना रहा है)।

शिन्-ध्वनियों में एक स्पर्शता होती है जो सच्ची स्पर्श ध्वनियों से कमज़ोर होती है, किन्तु अन्य ध्वनि-श्रेणियों के साथ स्पर्श ध्वनि के रूप में आ सकती है। उसी से ऊष्म + म् अथवा व् और उन्हीं परिस्थितियों में स्थित दन्त्य ध्वनियों के बीच के समानान्तर प्रयोग मिलते हैं : अशोक० शह० स्पमि (स्वामिन्-), स्वसुन (स्वसृणाम्), स्पग्र (स्वर्ग-), ह० दुत्रु० विश्प-(विश्व-) और आजकल खोवार इस्पुसार् (स्वसर्-), कती उर्स्प्, शिना अश्ँो, कश० हास्(अश्व-) जिसकी शकार ध्वनि यह प्रकट करती है कि यह फ़ारसी अस्प् से नहीं है; दूसरी ओर अशोक० शह० अधि० एक० -स्पि (स्मिन्), खोवार इस्प (अस्मत्-), ग्रीष्प् (ग्रीष्म-) है। स्वभावतः यह प्रयोग अपवाद-स्वरूप है : स्व् की प्रवृत्ति साधारणतः स्स् की ओर रहती है, और जहाँ तक उसका स्म् से संबंध है तो, वह चाहे स्पर्श से पहले स् का ही प्रयोग हो, म्ह् (अशोक० गिर० और प्रा० अधि० एक० -म्हि; पा० गिम्ह-; सिं० घीम्[अ], म० गीम् आदि) स्न् से निकले न्ह् (सं० स्नुषा, पा० सुण्हा जो सुण्णा से है और जिससे म० सून् निकला है) का समानधर्मा है; स्य्, स्र् की भाँति समीकरण हो तो अधि० अशोक० (पश्चिम को छोड़ कर) -(स्)सि, पा० विस्सरदि (विस्मर्-) होता है जिससे म० विसर्- आदि बनते हैं, प्रा० रस्सि-, हिं० रस्सी (रश्मि-) आदि। किन्तु अशोक० में अधि० के विभाजन से हमें धोखे में नहीं रहना चाहिए; ये अभिलेख सुदूरपूर्व की ओर के हैं जिनमें सर्वनाम संबंध० बहु० अ(प्)फाक (अस्माकम्), कर्म० अ(प्)फे, तु(प्)फे में अधि० की ओर

झुका हुआ -सि मिलता है; कालसी में त(प्)का (तस्मात्) मिलता है। उसमें सिंहली अंप् स्पष्ट हो जाता है, और दूसरी ओर प्रशुन और शिना (विकृत रूप) असेँ, कश्० अस् इ, पं० असी, सिं० असिँ; कती में ग्[ए]रिसेँ 'अपराह्न', जो इम "हम" के समीप है, देखकर आश्चर्य नहीं होना चाहिए। तीनों प्रयोग प्राचीन हैं।

एक प्राचीन वैयाकरण ने अनुनासिक के अघोपत्व की ओर ध्यान दिया है; उसके अनुसार, अघोष सोष्म के बाद स्पर्श से पूर्व की [illegible] अनुनासिक से पूर्व एक 'अभिनिधान' आ जाता है : फलतः ग्रीष्[प]मे, अश्[त]नाति। इससे स्पष्ट हो जाता है म० विठो-बा जो विष्णु- से निकले वेण्हु- के निकट है और संभवतः, श्री एच० स्मिथ के अनुसार, पा० दक्खिनी कट्ठक- जो कृष्ण- से है, और हर हालत में आधुनिक बंगाली उच्चारण क्रिस्टो। किन्तु इससे अनुनासिक + शिन्-ध्वनि समुदाय से संबंधित कुछ तथ्य ज्ञात होते हैं, पहले के विपर्यस्त रूप, और जिनमें ह् का स्पर्श-मात्र उस रूप में एक सूक्ष्म व्यंजन भी उत्पन्न कर देता है : उसी से सं० संधि महान्-त्-सन् है। श्री स्मिथ के अनुसार यही कारण है कि गम्- का भविष्य० महावस्तु में गंसामि है, किन्तु पाली में, सामान्य अतीत अगञ्छि (*अ-गाम्-स्-ईत्) की भाँति, गञ्छामि (—म्[त]स्— > —न्[त]स्— > —ञ्छ्-); इसी प्रकार *हन्-त्-सिति से ३ एक० भविष्य० हञ्छिति है। और उसी भूमिभाग में जिसमें स्व्, स्म्, > स्प् है, ह० दुत्रु० में प्रशझदि है, अर्थात् प्रशञ्झन्दि जो क्षेत्रीय विशेषता अन्त्य घोषत्व सहित -शंश्-, -शम्[त]श्- (तुल० संसार- से सत्सर), -शञ्च्श्-, -शञ्छ्- मध्यवर्तियों द्वारा निर्मित प्रशंसन्ति से निकला है। इस प्रकार पं० अञ्झू, सिं० हञ्जु, मैथिली अञ्झु जो अश्रु से है, प्रा० अंशु; पं० वञ्झ्, सिं० वञ्झु जो वंश- से है आदि।

शिन्-ध्वनियों में यह व्यंजन भी रहता है : इससे स्पष्ट हो जाता है अथर्व० (अवास्[त]सी:) अवात्सी: और प्राकृत में मातुच्छा जो संयुक्त मातु-स्ससा से निकले माउस्सिआ के निकट सान्निध्य-प्राप्त *मातुस्[तृ-]स्ससा (संबंध० की प्रथम संज्ञा) से निकला है (एच० स्मिथ)।

इन कुछ उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि समुदायगत व्यंजनों से विविध निष्कर्ष निकलते हैं, और इन निष्कर्षों से, न तो ध्वनि-विज्ञान की दृष्टि से और न भौगोलिक दृष्टि से, कोई निश्चित परिणाम ही दृष्टिगोचर होता है।

मुख्यतः सामान्य निष्कर्ष है पुनरावृत्ति वाला रूप।

लहंदा और पजाबी में अब भी पुनरावृत्त स्पर्श ध्वनियाँ मिलती हैं (पं० मक्खण् (म्रक्षण-), कम्म् (कर्म-); किन्तु असिँ "हम" (अस्मे), लहंदा अस्सिँ, सिंधी की अरबी

लिखावट में अब भी दुहरा व्यंजन मिलता है और कविता में अज्ज् (अद्य) की दीर्घ गणना सुरक्षित है; कच्छ की सिंधी और भड़ौंच की गुजराती में, पूर्वी राजस्थानी में, बोलचाल की हिन्दुस्तानी और सामान्यतः गंगा की घाटी की सभी ग्रामीण बोलियों में, पुनरावृत्त रूप मिलते हैं; किंतु वे सरल रूप में भी मिल सकते हैं, और साहित्यिक भाषाओं में ये ही सरल रूप प्रचलित हैं : हिं० भूखा, खेतों में, होता, किन्तु स्थानीय बोलियों में भुक्खा (बुभुक्षित-), खेत्तों (क्षेत्र-), होत्ता (पा० भवन्तो)। मराठी में यह सरल रूप सामान्यतः मिलता है। अन्त में सिंहली में जिस प्रकार सभी स्वर ह्रस्व हैं उसी प्रकार सभी व्यंजन सरल हैं (गौण शब्द-रूपों को छोड़ कर)।

निष्कर्ष यह है कि मध्यकालीन भारतीय भाषा के समय से पुनरावृत्त रूपों का सरलीकरण हो जाता है, और यह भी एक अनुकूल परिस्थिति में, अर्थात् दीर्घ स्वर के बाद। यही चीज़ है जो अशोक के भविष्य० के प्रत्ययों में शिन्-ध्वनि की विवृति प्रमाणित करती प्रतीत होती है। साथ ही तुल० पा० कहापण- (कार्षापण-); आदि स्वर का ह्रस्वीकरण एक दीर्घ शब्द में और इसके आसपास अपनी स्थिति सरलतापूर्वक स्पष्ट कर देता है।

जैन प्राकृत में समुदायगत रूप त्र् दीर्घ स्वर के पश्चात् त् की भाँति ही परिवर्तित हो जाता है : गाय- (गात्र-), गोय- (गोत्र-), खेय- (क्षेत्र-), जाया (यात्रा), राई (रात्री)। यह अन्तिम रूप क्लैसीकल मराठी में मिलता है (क्या राइणी सं० रजनी, हिं० रैन् के प्रभावान्तर्गत ?)। आज भी बंगाली में गा(य्), दा के प्रमाण मिलते हैं; सिंहली में रूआं "रात", मू "मूत्र", हू "धागा" (मूत्र, सूत्र-) हैं।

क्लैसीकल प्राकृत में दीह- जो *दीघ से, जो स्वयं बाद को *दीग्घ- (दीर्घ-) से, निकला है, जैसे सीस *सीस्स-(शीर्ष-)से और पास *पास्स-(पार्श्व-)से। सं० वेष्ट्-से पाली में वेठ्- है ही जिससे सौर० वेढ्, जिससे अन्ततः म० वेढ्-, बंगाली बेड़्-, ने०बेह्ऱ्- आदि निकले हैं; इसी प्रकार ने० कोर् जो कुष्ठ-से है, खराउ जो काष्ठपादुका से है।

इन लगभग अपवादों में, पुनरावृत्त रूप, जो स्वयं सरल हो गये हैं, विशेष व्यंजन हैं। यह देखा जा चुका है कि इसके विपरीत अन्त्य और स्वर-मध्यग नष्ट हो जाते हैं अथवा कम-से-कम दुर्बल पड़ जाते हैं; इससे मध्यकालीन भारतीय शब्द की विशेषता निर्धारित होती है, जिसमें केवल आदि या पुनरावृत्त रूप में विशेष व्यंजन रहते हैं, जो किसी अन्त्य स्थिति में नहीं रहते, और जिनमें विवृति प्रायः रहती है। बहुत बाद को स्वरीय अन्त्य के लोप, पुनरावृत्त रूपों के सरलीकरण और विवृति के न्यूनीकरण ने भारतीय-आर्य भाषा को एक सामान्य रूप-रेखा प्रदान की है, किन्तु जिसमें व्यंजनों का समुदायगत रूप कठिन हो जाता है।

तो मध्यकालीन भारतीय भाषा की व्यंजन-प्रणाली की प्रमुख विशेषता है आदि, आश्रित और पुनरावृत्त स्पर्श-ध्वनियों में निरन्तर विरोध और स्वरों के बीच में सोष्म ध्वनियों का थोड़ा-बहुत बना रहना। अघोप दन्त्य ध्वनियों के लिये हैं :

तिल-, अन्त-, पुत्त- (पुत्र-), भुत्त- (भुक्त-); सौर० मेहुण- (मैथुन-) आदि उचित रूप में कही जाने वाली स्पर्श ध्वनियों के लिये।

एक विचित्र बात सिन्धी दन्त्य ध्वनियों से संबंधित है (जिसमें विशेष ध्वनियों के साथ सामान्यतः काकलीय आघात रहता है) : उसमें मूर्द्धन्य दन्त्य का विशेष रूप है : ड्ही (दधि), सड्[उ] (शब्द-) जो डूम् की भाँति है, हड्[उ] (प्रा० हड्डि-); द् केवल अनुनासिक के बाद आता है : तन्द्[उ] (तन्तु-)। जैसा कि देखा जा चुका है, ण् दुर्बल रूप है न् का; ळ् जहाँ कहीं है (सिंहली, मराठी, गुजराती, राजस्थानी, पंजाबी, उड़िया) ल़् का दुर्बल रूप है; कई भाषाओं में विविध रूपों ड् और डड् का भेद पाया जाता है (नेंटर, फ़ेस्टश्रिफ़्ट जाकोबी, पृ० ३४)।

यह प्रणाली स्वनंत ध्वनियों के लिये भी लागू होती है (उदा० म् का दर्द, सिंहली और गुजराती में व् एक दुर्बल रूप है), और यह दो अर्थों में : वास्तव में ब् का दुर्बल पक्ष व्, ब् का विशेष पक्ष ग्रहण करने की प्रवृत्ति प्रकट करता है; पाली से आये मध्यवर्ती पुनरावृत्त रूपों में यही बात पायी जाती है : कट्टब्ब-(कर्त्तव्य-), जो वग्ग-(वर्ग-) से भिन्न है; सिंधी में अभी वह वाघ्[उ], (व्याघ्र-) श्रेणी में है, किन्तु चब्ण्[उ] (चर्व-), कतब्[उ] (कर्त्तव्य-) भी है; लगभग पूरे हिन्दी समुदाय, पूर्वी समुदाय, दर्द के थोड़े से भाग (खोवार, शिना, कलाश, तीराही), और यूरोपीय जिप्सी-भाषा में एक साथ आदि ब् है; व् तो उनमें केवल स्वरों के बीच आता है (सिंहली, मराठी, पंजाबी, कश्मीरी, काफ़िर और एशियाई जिप्सी-भाषा में अकारण सर्वत्र व् सुरक्षित है)।

यही बात ज् के दुर्बल रूप य् के संबंध में है; सिन्धी, कश्मीरी और सिंहली आदि ही उनका भेद उपस्थित करती हैं, जब कि सामान्यतः य्- "सबल" की ज् से गड़बड़ हो जाती है : सिं० जो, कश० यु-, सिंहली य-(सं० य-), किन्तु सिं० अज्[उ], कश० अज़् सिंहली अद (प्रा० अज्ज, सं० अद्य) की भाँति सिं० जिभ्[अ], कश० ज़ेव्, सिंहली दिव (जिह्वा)।

शिन्-ध्वनि के लिये पीछे देखिए।

४. पुनरावृत्त रूप

यह देखा जा चुका है कि मध्यकालीन भारतीय भाषा में और तत्पश्चात् आधुनिक भारतीय भाषाओं में प्राचीन समुदायगत रूपों से निकले अथवा तदनुरूप पुनरावृत्त रूप भरे पड़े हैं: उदाह० पाली में समास के द्वितीय शब्द के आदि व्यंजन का पुनरावृत्त रूप हो जाता है: पटि-क्कूल-, सं० प्रति-कूल-, पटि-क्कमति, सं० प्रति-क्रामति; हिन्दी में जैसे मट्टी और माटी, मक्खन् और माखन हैं, वैसे ही मीरी और मिर्री "खेल का प्रथम स्थान" जो मीर(अरबी अमीर)से हैं, अद्दल "पाठ" (अरबी अदल "न्याय") हैं। मध्यकालीन भारतीय भाषा में प्रत्ययांश का आदि पुनरावृत्त रूप धारण कर लेता है जो उसके बिना साधारण स्वर-मध्यग में परिवर्तित हो जाने की गुंजायश रखता है: प्रा० त्ति(इति), व्व(इव), च्चेअ(चैव),तुल० म० -चि किन्तु सिं० -ज् "वही"; इसी प्रकार द्व्यक्षरात्मक सं० ह्(इ)यः जैसे सहायक शब्द के स्वनंत के बारे में है जिसका लोप हो जाना स्वयं शब्द को संकट में डाल देता है: पा० हिय्यो, देसी हिज्जो यूरोपियन जिप्सी-भाषा इज् (यह शब्द सब जगह नहीं बना रहा) आदि।

अंत में एक ऐसा ही, किन्तु अधिक महत्त्वपूर्ण, उदाहरण उस दुहरे रूप का है जो कम-से-कम विद्वत्तापूर्ण शब्दों में स्पष्ट है (प्रा० सवेग्गं आदि), जो उससे उत्पन्न होने वाले व्यंजनों के ह्रास और श्लेष पद वाली परिस्थिति की दृष्टि से आवश्यक उपाय है: वेअ- या वेग- और वेद-, लोह- प्रतिनिधित्व करता है लोभ- और लोह- का; यह बात वैयाकरणों की अपेक्षा लेखन-प्रणाली और साथ ही बोलने में अधिक देखी जाती है। वैयाकरण तो केवल उनके परिवर्तनों की व्याख्या करते समय उनका उल्लेख करते हैं।

किन्तु इसके अतिरिक्त, और वह भी लिखित प्रमाणों द्वारा न माप सकने योग्य अनुपात में, प्रत्येक युग में अभिव्यंजक या केवल लोकप्रिय पुनरावृत्त रूप रहे हैं; अनुलेखन-पद्धति-परंपरा की सामान्य कठोरता के रहने पर भी, अति प्राचीन संस्कृत में उसके उदाहरण मिलते हैं, और इससे इधर के उदाहरणों के महत्त्व की रक्षा होती है।

पृच्छावरोध (interpellation) के रूप अम्म पर आधारित अम्ब, जिसकी व्युत्पत्ति भारोपीय है, को अलग कर देने से (दे० मेइए, बी०एस०एल०, XXXIV, पृ० १), उसका अति प्राचीन प्रयोग निश्चयात्मक रचनाओं के प्रत्ययों को सशक्त बनाना है:

ऋ० इत्था, इत्थम्, जो उदाहरणार्थ, कथा, कथम् से भिन्न है। पाली में इत्थं मिलता है; किन्तु अन्य प्रत्यय ने स्थानीय अर्थ ग्रहण कर लिया है (-स्थ- से निकले -त्थ- वाले नामों का प्रभाव?), फलतः इत्थ और सामान्य विकरण के साथ निश्चयात्मक रूप के

समन्वय द्वारा एत्थ, अञ्जत्थ (अञ्ञथा), कत्थ आदि। यह वर्ग जीवित रहा है : सिंहली ऐत, म० एथ्, एथे, पं० इत्थे "यहाँ", हिं० इत् उत् आदि। इसी आदर्श के अनुकरण पर पाली में एत्तो (इतः), एत्ततो, एत्तावता मिलते हैं।

ऋ० के प्रथम अष्टक के अन्त में जो टोना-संबंधी ऋचा है उसमें पुल्लिंग इयत्तकः, स्त्री० इयत्तिका, जो नपुं० इयत् से निकले हैं, -अक-, -इका प्रत्यय सहित हैं, तुल० पा० यावतक- (-त- केवल द्वित- आदि में पाया जाता है)। पा० ऐत्तक-, तत्तक-, यत्तक-, कित्तक- वर्ग का यह प्रथम प्रतिनिधि है जो प्राकृत में सामान्यतः प्रचलित है [एत्तिअ-, जेत्तिअ-, केत्तिअ-] और आज तक प्रचलित है : ने० एति, इत्रो, हिं० इत्ना, इत्ता आदि; यूरोपीय जिप्सी-भाषा केति, नूरी कित्र आदि।

मध्यकालीन भारतीय भाषा की दृष्टि से प्रत्यय नहीं, वरन् प्रथम व्यंजन है जो द्वित्व रूप ग्रहण करता है। उससे प्राकृत में एव्वं बना, जिससे निस्सन्देह गु० एवो निकला अथवा म० एव्हाँ और एक्क- (हिं० आदि 'एक')।

उसका स्पष्ट मूल्य वह प्रमाण है जो शब्दों के एक ही समुदाय में मध्यकालीन भारतीय भाषा द्वारा निरंतर प्रयुक्त एक अन्य बात में है अर्थात् फुसफुसाहट वाली ध्वनि का उपसर्गीकरण (इसके विपरीत ह निपात परसर्ग के रूप में आता है)। पीछे दिये गये उदाहरणों में, गुज० हेव् जो एवो के समीप है, सिं० हिकु आदि भी जोड़ लेने चाहिए।

इसी प्रकार हिं० जब् जो 'जो' से भिन्न है, तब् जो तो से भिन्न है जैसे रूप एक प्रकार से *जव्व, *तव्व (यावत्, तावत्) का प्रतिनिधित्व करते हैं। परसर्ग पं० उप्पर्, हिं० ऊपर्, यूरो० जिप्सी-भाषा ओप्रे, जो हिं० पर्, म० वर् के निकट हैं, *उप्परि से संबंध प्रकट करते हैं। यही बात क्रि० वि० अपभ्रंश भव० सन्निउ (शनैः), म० मुद्दाम् (अरबी मुदाम्) में दिखाई देती है। विशेषणों में पाली में उज्जु तो है ही, जो उजु- (ऋजु-) के निकट है। रोमन की भाँति, बंगाली में 'सब' के लिये शब्दों में पुनरावृत्त रूप मिलते हैं—प्रेषित शब्द में और विद्वत्तापूर्ण शब्द में : सब्बै (सर्वे), सक्कलै (तत्सम सकल)। यदि लिखित की अपेक्षा वास्तविक उच्चारणों की गणना की जाय तो सूची निस्संदेह बहुत बड़ी हो जायगी : म० आँताँ का उच्चारण अब अत्ताँ होता है, आदि।

पुनरावृत्त रूप सरलतापूर्वक पहचाने जा सकने योग्य सर्वनामों और क्रिया-विशेषणों या विशेषणों से बाहर प्रचलित मिलता है। कुछ स्फुट बातों की झलक देखी जा सकती है। एक शब्द जैसे पा० कत्थति, सं० महा० कत्थते स्पष्टतः कथा, कथयति (कथां के संबंध से, कथम् आजकल प्रचलित नहीं है) का जनक है। पशुओं के कुछ नाम देखना आवश्यक है (तुल० लै० उअक्क जो सं० वशा से भिन्न है), वैदिक कुक्कुट- (v. sl.

कोकोत्उॅ), शब्द बुक्क- तुल० अ० बूज़। अथर्व० कुर्कुर- कुक्कुर- से पहले का है, किन्तु हिं० कुत्ता, म० कुत्रा में जो पुनरावृत्ति है वह सोग्दिएन कुत्-, सुंग्नि कुद्, बलगार कुँत॑र (आवाज़ देते समय क्चँ) में नहीं है; यही बात 'उल्ल्' शब्द के लिये है जिसका अर्थ 'मूर्ख मनुष्य' भी होता है, सं० उलूक, हिं० आदि उल्लू; निस्सन्देह 'भालू' शब्द के संबंध में भी भल्लूक- अर्थात् *भेरु- तुल० पुं० हिं० अ० बेरो जो सं० बभ्रु से भिन्न है, *भ्रूरो-, हिं० भूरा; साथ ही 'मोर' का नाम, अशोक० म(ज्)जूल-, शह० म(ज्)जुर- और ने० मुजुर जो सं० मयूर- से भिन्न है, अशोक० गिर० प्रा० मोर- हिं० मोर्।

शरीर के कुछ हिस्सों के नामों का उल्लेख विशेषतः किया जाता है: पाली में तो जण्णुक- है ही; म० कुल्ला और साथ ही कुला में -ल्ल्- की संभावना है, तुल० देशी कूलं, लै० कूलुस्; पं० चुत्त्, म० गु० हिं० चूत्, कश० चोंथ् आदि (स्त्री०), जिनकी व्युत्पत्ति जो भी हो (द्रविड़ तुल० ता० शूत्तु), उनमें पुनरावृत्त रूप है (देशी कोल्लो कुल्लो जो संभवतः द्रविड़ है, तुल० कन्न० कोरल् कोल्ल, और उलटे साधारण परिवर्तन प्रकार है)। इसी प्रकार म० शेप्, शेफ्, देशी छिप्प- जो सं० शेप- से भिन्न है; नख् निस्संदेह एक विद्वत्तापूर्ण शब्द है जिसका प्रयोग बहुत-से शब्दों के लिये होता है (तुल० पं० नहुँ, यूरो० जिप्सी-भाषा नइ)। एक शब्द विद्वत्तापूर्ण होने पर भी, उसकी व्युत्पत्ति का अनुमान नहीं किया जा सकता, म० थान् जो पं० थाण् (स्तन-; स्तन्यम् का अर्थ 'दूध' है)। अंत में प्राकृत णक्क-, जिससे 'नाक' के आधुनिक शब्द प्राप्त होते हैं, स्पष्ट नहीं है।

अभिव्यंजकता ही हर एक बात की व्याख्या के लिये यथेष्ट नहीं है: एक्क- स्वयं-पूर्ण है; किन्तु क्यों "१९" पं० में उन्नीह है जो सिं० उणीह्, म० एकुणीस् से भिन्न है, क्यों "८०" हिं०, पं० में 'अस्सी' है, किन्तु सिं० असी (अशीति-) है, और क्यों "९०" हिं० पं० में नव्वे, म० नव्वद्, बं० नब्बै (नवति-) है? क्या जब तक उनमें प्राकृत सट्ठि '६०", सत्तरि "७०" का सादृश्य न देखा जाय? किस कारण से प्राकृत में यकायक लक्कुड- और लौड-, कील- और *किल्ल- आ गए? म० विल्विणें (विलपन-) से भिन्न हिं० बिल्लाना क्रिया तो सोची जाती है; किन्तु प्रा० चल्लै, म० चाल्णे क्यों? *चल्यति तो असंभव है; इसी प्रकार देशी में कोणो "कोना" और कोण्णो "मकान का कोना" (मराठी कोण् और कोन्), तलं और तल्लमं "बिस्तर", तडै और तड्डै "फैलना", ओग्गालो और ओआलो "छोटी नदी" साथ-साथ चलते हैं।

निस्सन्देह यहाँ एक अधिक सामान्य प्रवृत्ति प्रस्तुत करने के लिये स्थान नहीं है: पंजाबी में, एक चलन् प्रकार के शब्द का उच्चारण सामान्यतः लगभग चल्लन् होता है (श्री ग्रियर्सन के अनुसार)। ऐसा प्रतीत होता है कि अंत में यदि बोलचाल की भाषाओं

में प्राचीन दुहरे रूप बनाये रखने की प्रवृत्ति है, तो वह संभवतः इसलिए क्योंकि उन्हें मध्यवर्ती प्रथम व्यंजन को दुहरा रूप प्रदान करना प्रिय है : हिं० में बोला जाता है लोग्गों पे, बास्सन्, बंगाली में साद्दि (अरबी० शादि)। इस समस्या का अध्ययन नहीं हुआ।

अंत में पुनरावृत्त रूपों के पर-प्रत्ययों की ओर संकेत करना भी आवश्यक है : पाली प्रदान करती है दुट्ठुल्ल-, अट्ठिल्ल- जिनमें महद्-ल- से निकला महल्लक- जुड़ जाता है, तुल० अशोक० दिल्ली महा-लक-; -ल्ल- वाले पर-प्रत्ययों के बड़े अच्छे दिन रहे हैं और उन्होंने विशेषतः प्राचीन भूतकालिक कृदन्तों को विस्तार प्रदान किया है। -क्क- वाले रूपों का व्युत्पत्ति में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है : हिं० उड़ाक्, लड़ाका, सिं० पिआकु, आसामी थमक्- (स्तंभ्-, बनक्-) (वर्णयति) आदि।

निष्कर्ष

भारतीय-आर्य ध्वनि-प्रणाली पर समग्र दृष्टि से, साथ ही काल और विस्तार की दृष्टि से, विचार करने पर, उसके तत्त्वों के स्थायित्व की ओर ध्यान आकृष्ट हुए बिना नहीं रहता। साहित्यिक भाषाओं की अनुलेखन-पद्धति यदि इतनी अपरिवर्तनशील हो, तो लिखित और बोले जाने वाले रूपों में इतना असाध्य पृथक्त्व देखने को न मिले जिसके सुन्दर उदाहरण फ़्रेंच और अँगरेज़ी भाषाओं में पाये जाते हैं। यदि फ़ारसी शब्द उमेद से बने उर्दू शब्द उम्(म्)ईद का उच्चारण कोई सुने, तो तुरन्त ज्ञात हो जायगा कि एक ऐसे मुसलमान से काम पड़ रहा है जिसे एक अच्छी इस्लामी शिक्षा का गर्व है; किन्तु वही व्यक्ति एक भारतीय व्युत्पत्ति के शब्द के ए का उच्चारण कभी ई नहीं करेगा।

यदि इतिहास के सुदीर्घ काल में ध्वनि-प्रणाली स्थायी रही है, तो वास्तव में उसका कारण यह है कि इतिहास के आदि काल में ही परिवर्तनशील सिद्धान्तों को ग्रहण या समन्वित कर लिया गया था। मूर्द्धन्यों की सृष्टि, स्वर ऋ, महाप्राण ध्वनियों का वि-स्पर्शीकरण ऐसी ही बातें हैं; केवल एक वास्तविक नवीनता ने अर्थात् तीन शिन्-ध्वनियों के हाल के सरलीकरण ने, हर जगह अपने को अपने शब्द तक सीमित नहीं रखा; और जहाँ उसने सीमित रखा है, वहाँ उस समय उसने शिन्-ध्वनि और शकार ध्वनि के युग्म में सुधार उपस्थित किया है (मराठी, बंगाली), यही है जो भारत-ईरानी सूत्र था, और एक ऐसा सूत्र जो त्रिपक्षीय समुदाय की अपेक्षा अधिक सामान्य और अधिक स्थायी है। इन महान् घटनाओं के समीप केवल आंशिक और स्थानीय नवीनताएँ हैं, जैसे काफ़िर में उ का तालव्य-भाव, कश्मीरी का स्वर-संबंधी साम्य, सिंहली में,

कश्मीरी में और (अंशतः) मराठी में तालव्य-ध्वनियों का दन्त्य-भाव, आश्वसित ध्वनियों अथवा सोष्म ध्वनियों का प्रकट होना।

किन्तु यदि प्रणाली के तत्त्व बने ही रहते हैं, तो उनके रूप में परिवर्तन हो जाता है। बहुत दिनों से ए और ओ संयुक्त-स्वरों के रूप में नहीं रह गये और आधुनिक ऐ, औ विवृति के कारण हैं और उनका कोई विशेष आकृति-मूलक महत्त्व नहीं। अब तो व्यंजनों के समुदायगत रूप भी नहीं मिलते, अन्यथा जो इधर के थे और जिन्हें अलग-अलग किया जा सकता था। शब्द में उनका स्थान विशेषतः तत्त्वों का विभाजन ग्रहण कर लेता है। वे स्वर जो प्रबल स्थिति में नहीं होते वे अपने प्रधान मात्रा-काल के लोप हो जाने की, और अपनी ध्वनि परिवर्तित करने की प्रवृत्ति प्रकट करते हैं, चाहे वह संवृत होने के कारण हो (ए>इ), चाहे उदासीनता के कारण हो (इ>अ, शून्य), चाहे अंत में समीपवर्ती स्वरों के सावर्ण्य द्वारा (सिंहली, कश्मीरी)। व्यंजनों का वितरण उनके सापेक्षिक बल, जो मध्यकालीन भारतीय भाषा में उनके तुल्य रूपों द्वारा निर्धारित होता था, की अपेक्षा शब्द-व्युत्पत्ति पर कम निर्भर रहता है।

ध्वनि-प्रणाली के इस नवीन सन्तुलन के आकृति-मूलक परिणामों की महत्ता आसानी से देखी जा सकती है। संस्कृत प्रणाली अन्यथा नियमित थी, कम-से-कम स्पष्ट थी : ध्वनि की दृष्टि से, मात्रा-काल की दृष्टि से, यौगिक रूप धारण करने की प्रवृत्ति की दृष्टि से निश्चित स्वर, समीपवर्ती व्यंजनों से स्वतंत्र स्वर; व्यंजन अधिक परिवर्तनशील, किन्तु जिनकी परिवर्तनशीलता तुरन्त समीपवर्ती ध्वनि-श्रेणियों से सम्बद्ध रहती है (दूर जाकर मूर्द्धन्य हो जाने वाले न् को छोड़ कर), उपयोगिता रहने पर भी जिनके समुदायगत रूपों का सरलतापूर्वक विश्लेषण किया जा सकता है (छ्, झ् को छोड़ कर, जो ठीक प्राकृत-स्वभाव के थे, और जो संस्कृत यौगिक रूपों से बाहर के हैं)। इस प्रकार की ध्वनि-प्रणाली उस रूप-विचार के भली भाँति अनुकूल रहती है जिससे शब्द प्रभावित रहते हैं : मूल और प्रत्यय-संबंधी तत्त्वों के स्वर-संबंधी परिवर्तनशीलता, धातु और पर-प्रत्यय के बीच, पर-प्रत्यय और प्रत्यय के बीच व्यंजनों का संपर्क। जब से इन परिवर्तन-क्रमों का अभाव होने लगता है, इन रूपमात्रों के बीच की सीमा अव्यवस्थित हो जाती है, इस प्रणाली में परिवर्तन होने लगता है।

द्वितीय खण्ड

रूप-क्रियाएं

शब्द : परिवर्तन-क्रम

भारोपीय की भाँति, वैदिक संस्कृत के शब्दों में विविध और दुरूह चिन्ह होते हैं जो एक ओर धातु द्वारा अभिव्यक्त केन्द्रीय विचार से संबंध प्रकट करते हैं, दूसरी ओर वाक्यांश में उनके कर्म का द्योतन करते हैं; इसके विपरीत शब्दों के क्रम का कोई व्याकरण-संबंधी महत्त्व नहीं होता। प्रस्तुत चिन्ह तत्त्वों, और विशेषतः स्वर-संबंधी परिवर्तन-क्रमों, के विविध पक्ष प्रकट करते हैं : सुरों का कार्य-संपादन, जो प्रायः उसमें सम्बद्ध रहता है; थोड़े-बहुत महत्त्वपूर्ण प्रत्ययों की उपस्थिति या अभाव (पर-प्रत्यय; अनुनासिक मध्यवर्ती प्रत्यय); अंत में प्रत्यय।

कुछ परिवर्तन-क्रमों का महत्त्व केवल ध्वनि-संबंधी है; उदाहरणार्थ, ये वे हैं जिनका संबंध शिन्-ध्वनियों से है (अस्, त्स् : इष्, क्ष् आदि); अनुनासिकों का मूर्द्धन्य-भाव (यान- : प्रयाण-); स्पर्श ध्वनियों का समुदायगत रूप (ददाति, दत्ते, देहि; विशः, विड्भिः, विक्षु); अंत में बाद में आने वाली ध्वनि-श्रेणी के अनुसार भारोपीय ओष्ठ्य-कंठ्य ध्वनियों का द्वित्व पक्ष [हंन्तिः जिघ्नते, घर्न-; भंजति : भंग-); यह अन्तिम परिवर्तन-क्रम तो भारत-ईरानी में अब भी सामान्य है, अ० तुल० 'को': संबंध० चॅह्या संस्कृत में नहीं मिलता : कः कस्य; किम् चित्, अ० चॅइत् से भिन्न नवीन है, अ० चित्। आकृति-मूलक (या रूप-विचार के) महत्त्व के परिवर्तन-क्रम स्वरों में प्रकट होते हैं।

सर्वाधिक प्राचीन ज्ञात शब्द-व्युत्पत्ति-विशारद, यास्क, शिष्यते से निकले, शॅव- (X.१७) की व्याख्या करते समय, एक ओर तो ष् के स्थान पर सामान्य पर-प्रत्यय -व- माना है, दूसरी ओर मूल स्वर का गुण : तो शे- और शि- एक ही धातु के दो पक्ष हुए। इसके अतिरिक्त (II, १-२) उन्हें दा- से प्र-त्-तम् (दिया) में, अस्- से स्-तः में, गम्- से ज-ग्म्-उः में स्वर-लोप की नियमितता, और गम्- से ग-तम्, साथ ही, राजन्- से राजा में स्वनंतों का लोप स्वीकार किया है : उन्होंने प्रथ्- में पृथुः का, अव्- में ऊति- का बल देखा है। क्योंकि उन्होंने इन सिद्धान्तों से ग़लत निष्कर्ष निकाले हैं, क्योंकि उन्होंने अन्य कम खपने वाली बातों का उल्लेख किया है, इसलिए उन्होंने परिवर्तन-क्रमों, जो भारोपीय की भाँति संस्कृत में धातुओं को प्रभावित करते हैं, के एक पक्ष की गणना की है; परवर्ती वैयाकरण इस सिद्धान्त को ठीक करते हैं और वृद्धि स्वीकार करते हैं।

वास्तव में धातुओं और कुछ रूपमात्रों में स्थायी व्यंजनों और परिवर्तनशील स्वरों का, अथवा किसी परिवर्तनशील स्वर का, जो भारोपीय में एँ, ओ, एं, ओं अर्थात् शून्य का रूप धारण कर लेते हैं, कंकाल-मात्र है। भारत-ईरानी में *ए और *ओ की *अ के साथ गड़बड़ के कारण, ध्वनि-प्रणाली केवल मात्राकालिक विकार स्वीकार करती है : अ, आ, शून्य (भर्-, भार्-, भृ-)।

एक और दुरूहता अनुनासिकों में मिलती है; अन्य स्वनंतों के स्वर-संबंधी रूप थे ऋ, इ, उ, जब कि भारत-ईरानी में *म्न और *न् अ हो गये थे : तो यह स्वर व्यंजनों और स्वनंतों की धातुओं में गुण का द्योतक था, किन्तु अनुनासिक की धातुओं में शून्य श्रेणी का; जहाँ तक अनुनासिक की धातुओं के गुण से संबंध है, उसमें एक साथ ही स्वर और अनुनासिक व्यंजन पाये जाते हैं, न कि केवल स्वर (ग-, ग्म्- : गम्-)। जहाँ तक अन्य स्वनंतों से संबंध है, उनमें गुण उसी रूप में नहीं मिलता : प्राचीन संयुक्त स्वरों के सरलीकरण के कारण ए और ओ उसी रूप में आते हैं जिस रूप में अर् : और इसी प्रकार ऐ, औ आर् के सदृश हैं।

भारोपीय अ॑ का *ए/ओ के साथ योग आ, इ, शून्य (जो स्वर से पूर्व *अ॑ का प्रयोग है) के भारत-ईरानी परिवर्तन-क्रम की उत्पत्ति के कारण है, उदाहरणार्थ प्ता-, पति-, पत्-; महा॑-म्, म॑हि, मह्-ए॑। यह परिवर्तन-क्रम ईरान की अपेक्षा भारत में अधिक अच्छे रूप में सुरक्षित है। ईरान में प्रस्तुत इ आदि शब्दांश के अतिरिक्त [पित, किन्तु दुग्(अ॑)दा] व्यंजनों के बीच लुप्त हो गयी है, और जहाँ दीर्घ श्रेणी क्रियाओं में सामान्य हो गई है : अ० स्तात-, सं० स्थित॑-, जो स्था-।

जब भारोपीय *अ॑ वाली द्व्यक्षरात्मक धातुओं में मध्यवर्ती ध्वनि-श्रेणी स्वनंत थी, तो उसमें विरोधी बातें उत्पन्न हो गईं जिसके स्वनंतों के अनुसार विभिन्न परिणाम दृष्टिगोचर होते हैं :

भवि- : भूत॑-; क्रयि- : क्रीत॑-; किन्तु परि- : पूर्ण-; दी॑र्घ-, तुल० द्रा॑घीय : जनि- : जात॑- (ज्ञात॑-); श्रमि- : श्रान्त॑-।

ये असम्बद्धताएँ, जो अंशतः संस्कृत के ही ध्वनि-संबंधी विकासों के कारण हैं, वैदिक रूप-विचार को विशेषतः दुरूह बना देती हैं, और फलतः नाश के कारणों से बचने की उसकी शक्ति क्षीण कर देती हैं।

शब्द के सभी अंशों के लिये परिवर्तन-क्रम लागू हो सकते हैं, और उनमें सन्तुलन रहता है : उदाहरणार्थ, किसी एक अंश की शून्य श्रेणी का दूसरे की अधिक या थोड़ी सबल श्रेणी से विरोध होता है :

स्तौँ-मि, बहु० स्नु-अः; कर्म० सॉन्-उ, अपा० स्न्-ओः; दंन्(त्स्), संबंध० दत्-अः।

यह बात छिपी रहती है, उदाहरणार्थ कर्म० एक० की -अम् प्रत्यय वाली संज्ञाओं में, क्योंकि अम् *म्̥ के स्थान पर आता है : उसी से दन्त्-अम् जो दत्-अः से भिन्न है : अथवा किसी क्रिया में जिसमें विशेष धातु "दुर्बल" रूप में सुरक्षित मिलती है : अंद्-मि, किन्तु अद्-अंन्ति।

ये गौण दुरूहताएँ प्राचीन प्रणाली की गड़बड़ी बढ़ाने में सहायक होती हैं, और जैसा कि देखा जाता है धीरे-धीरे भाषा ने इन सभी परिवर्तन-क्रमों का बहिष्कार कर दिया; वह रूपों के एक ऐसे वर्ग की पूर्ति करने की ओर झुकी जो प्रागैतिहासिक काल में प्रचुर मात्रा में थे, अर्थात् रूप जिन्हें विकरण-युक्त कहते हैं : ये वे हैं जो मूल (धातु और उसके पर-प्रत्ययों से निर्मित हैं) के बाद स्वर स्वीकार करते हैं, भारत-यूरोपीय *ओ, भारत-ईरानी और संस्कृत -अ-, और जिनमें स्वरत्व स्थायी रहता है और स्वराघात निश्चित।

अविकरण-युक्त अथवा विकरण-युक्त, भारतीय-आर्य भाषा की कुंजी, में विभाजन संज्ञा और क्रिया के लिये बराबर महत्त्वपूर्ण है।

संज्ञा

संस्कृत संज्ञा

विकरण

वैदिक संस्कृत जिन संज्ञाओं से सुसज्जित है वे अधिकांशतः भारतीय-ईरानी हैं; और उनकी रचना उन्हीं सिद्धान्तों और अधिकांश में उन्हीं अंशों से हुई है जिनसे ईरानी और भारोपीय संज्ञाओं की रचना हुई है।

संज्ञा सामान्य हो सकती है या संयुक्त। उसकी रचना प्रायः भारतीय-ईरानी काल और उससे भी पहले से चली आ रही है।

वास्तव में, वैदिक संस्कृत में भारोपीय शब्दों की रचना के सभी रूप सुरक्षित और विकसित हुए हैं; केवल वे जो द्वितीय अंश पर स्थित संज्ञा संबंधित क्रियामूलक रूप हैं, जिनके लिये प्रारम्भ में कम प्रमाण मिलते हैं, वेदों के बाद लुप्त हो जाते हैं : वे दा́तिवार-, त्रसंदस्यु-, और (भारतीय-ईरानी का) क्षयद्वीर- प्रकार के हैं। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रकार तीन की संख्या के हैं।

द्वन्द्व का संबंध विशेषणों से है : नीललोहितं-, अथर्व० दाक्षिणसव्यं-; किन्तु विशेषतः विशेष्यों से; यहाँ भारतीय-आर्य भाषा एक ऐसा सान्निध्य प्रस्तुत करती है जिसके दो पद द्विवचन में हैं : द्या́वा-पृथिवी-, संबंध० मित्रंयोर्-वंरुणयोः, तुल० अ० संप्र० अहुरएइब्य मिθरएइब्य; सामान्यतः संस्कृत पहले पद को विकरण में परिवर्तित करती है : इन्द्रवायू́, और, अर्थ को आगे बढ़ाने की दृष्टि से, सम्यक् रूप में बहुवचन : अहो-रात्रा́णि, अथवा समष्टिगत नपुंसक० : इष्टा-पूर्तम्, अथर्व० कृताकृतम्।

तत्पुरुष सन्निवेशन अथवा अनुकूल बनाने की अपेक्षा आश्रय के विविध रूप प्रकट करता है : वृषा́-कपि-, पूर्व-हूति-; विश्-पति-, गो-हंन्-, अ० गओजंअन्-। द्वितीय अंश समास के विशेष रूपों को प्रायः प्रभावित करते हैं : हविर्-अंद्-, वंसु-धिति-, लोक-कृत्-, तुल० अ० नसु-कंरंत्-; इस स्थान पर पूर्वकालिक कृदन्त नहीं मिलते, न कृदन्त, किन्तु -त- वाला क्रियामूलक प्रायः मिलता है : गोजात-, अंहर्जात-, तुल० अ० हठओ-जात-। प्रथम अंश कभी-कभी अपने प्रत्यय को बनाये रखता है : अभयंकरं-, तुल० अ० वीरंम्-जंन्-, दिविक्षित्-; पहला प्रकार, जो एक ऐसे उदाहरण में जिसमें अनेक ह्रस्व शब्दांश बाद में आते हैं निश्चित लय की संभावना प्रकट करता है, संस्कृत में बहुत विकसित हुआ।

बहुव्रीहि, अपने आधिक्य और लचीलेपन के कारण, संस्कृत रचना की एक अद्भुत मौलिकता है : रा́ज-पुत्र, अश्́व-पृष्ठ-; अथर्व० यम́-श्रेष्ठ-, प́ति-व्याम; तुल० अ० हज़ङ्र-ग्रओसँ-। संस्कृत ने एक विशेष प्रकार को जन्म दिया जिसका पहला पद -त- वाला क्रियामूलक है जिसका बाद में आने वाली संज्ञा के साथ क्रिया-जैसा संबंध रहता है : प्र́यत-दक्षिण-; क्लैसीकल साहित्य उसका संबंधवाची परसर्गों के रूप में प्रचुर प्रयोग करता है।

ऐच्छिक रूप में बहुव्रीहि में समासान्तविहीन पर-प्रत्यय आते हैं : प्र́त्यर्ध-इ-, सुहस्त्-य-, महाहस्तिन्-, संगव्-अ-, त्रिकद्रु-क-, तुल० अ० दव्रा-मएसी, हु-रैθय, उर्व-आप-; अन्तिम तीन प्रकारों का विकास अधिकाधिक और होता जाता है; विशेषतः अन्तिम दो के विकरण की सामान्य प्रवृत्ति और भी अधिक होती जाती है। वास्तव में,-अ- द्वारा पर-प्रत्यय का प्रयोग बहुव्रीहि वर्ग की सीमा को बहुत अधिक पार कर जाता है और निरन्तर रूप में विस्तृत होता जाता है, चाहे वह अन्त्य के छँट जाने के कारण हो : षडह́-, चाहे प्रायः व्याप्ति के कारण हो : सुप́थ-, पूर्व्वाह्णे́। इससे सब प्रकार के दुरूह बल प्रकट होते हैं, किन्तु रचना एक दम सरल और सामान्य रहती है।

वेदों में समासों की आवृत्ति और व्याप्ति लगभग वैसी ही है जैसी होमर की रचनाओं में; क्लैसीकल भाषा में उनकी बड़े प्रचण्ड रूप में वृद्धि हो जाती है : किन्तु उसमें यह प्रयोग शैली की दृष्टि से रोचक है, न कि भाषा के वास्तविक इतिहास की दृष्टि से; निस्सन्देह इसकी व्याख्या शिथिल तार्किक संबंधों के और रूपकों के स्थिर समुदायों के प्रति रुचि द्वारा हो जाती है, और जहाँ तक उसका रूप से संबंध है, वह संस्कृत की दुरूह रूप-रचना की आवृत्ति को नियंत्रित करती है : किन्तु यह अंतिम कारण उसी हद तक ठीक है जहाँ तक ग्रन्थकार, जिन्हें अपने व्याकरण की वैज्ञानिकता प्रकट करने में आनन्द आता है, एक पाठक-मण्डल प्राप्त करना चाहते थे, जिसके लिये मध्यकालीन भारतीय भाषा तो वैसे ही एक पुरानी और सापेक्षिक दृष्टि से दुरूह हो गयी थी। जो कुछ भी हो, अशोक की मध्यकालीन भारतीय भाषा, उदाहरणार्थ, और आधुनिक भाषाएँ यह प्रकट करती हैं कि रचना का प्रयोग एक प्रकार से नियंत्रित रहा है।

विकरण की रचना की दृष्टि से, समासों के द्वितीय पद, सिद्धान्ततः जिनके अकेले संज्ञा-रूप हो सकते हैं, साधारण रूप में आते हैं।

इनमें से कुछ नाम-धातुओं ने अपने प्राचीन परिवर्तन-क्रमों को बनाये रखा है : बहु० कर्त्ता० आ́पः, संबंध० अपा́म् (अ० आपो, अप्ąम्; एक० कर्म० पा́दम्, संबंध० पद́ः (अ० पादम्, पदो); एक० कर्त्ता० भ्रू́ः, संबंध० भ्रुवः (ग्री० ओ́फारुँस्, ओ́फरुँओस्);

एक० कर्त्ता० क्षाः, संबंध० ज्मः और सादृश्य द्वारा क्ष्मः (विपर्यस्त रूप में अ० कर्त्ता० ज़अं, ज़ंमो के व्यंजन सहित) : गौः, गाम्, संबंध० बहु० गवाम् (अ० गाउसें, गअम्, गव्अम्); श्वा, श्वानम्, संबंध० शुनः (अ० स्पा, स्पानम्, सूनो); दाः, संप्र० -दै (तुल० अ० बहु०, द्अंङ्हो) आदि : परिवर्तन-[illegible] वाक्, वाचम्, करण० एक० वाचा जो अ० वाख़्सें, वचें से भिन्न है, में लुप्त हो जाता है; भ्राट् (कर्तृवाची संज्ञा) करण० भ्राजा (कार्यवाची संज्ञा) में; भारत-ईरानी के समय से उसका विश्- (अ० वीस्-, पुरानी फ़ारसी विθ-), क्षप्- (अ०, पु० फ़ा० ख़्सप्-) में, भारोपीय के समय से मास्- (अ०, पु० फ़ा० माह्-) में उसका अभाव पाया जाता है। इन संज्ञाओं के प्रमाण कम और अपूर्ण हैं; विशेषतः कर्त्ता० के बहुत ही कम हैं, कर्म० नक्तम् (क्रिया विशेषण), द्वि० नक्ता से भिन्न नक् केवल एक बार आता है; किन्तु एक० संबंध० आसः (अ० अंङ्हो) के लिये, कर्त्ता० आस्यम् (लै० ओस्) है; एक० करण० रुचा, संप्र० रुचे, कर्त्ता० कर्म० बहु० रुचः जो लै० लूक्स से भिन्न है; संबंध० एक० वनस् (पति-), बहु० वनाम् जो कर्त्ता० एक० वनम् से है; संबंध ० एक० हृदः आदि जो हृदयम् और हार्दि से भिन्न है; कर्त्ता० कर्म० बहु० उदा जो एक० उदकम् से भिन्न है; दृशि दृशे क्रियार्थक संज्ञा। एक काफ़ी अच्छी संख्या तो केवल समास के द्वितीय पद के रूप में है : सर्वघा-, पूर्वजा-, वृत्तहन्-, दक्षिणावृत्- और आवृते, परिषद् क्रियार्थक संज्ञा और आम् आसदे, गरतारुक क्रियार्थक संज्ञा और आरुहम् क्रियार्थक संज्ञा आदि। अंत में समुदाय का विस्तार क्रियामूलक धातु इ, उ और ऋ के बाद -त्- व्याप्ति के नियमित प्रयोग द्वारा सीमित है, जैसे जित्- वृत्- भृत्-, -स्तुत् (अ०-बरंत्, -स्तूत्-); इसी प्रकार अक्रियामूलक विकरणों के बाद : क् अंसृक् (लै० अस्सर) के ह्रस्व ऋ को आश्रय प्रदान करता है, यकृत्, अ० याकरअ; शकृत् (ऊधर, स्वर् के विपरीत) में कंठ्य ध्वनियों के समक्ष -त्- अस्थिर रहता है।

वास्तव में शब्दावली का एक बहुत बड़ा अंश संज्ञाओं से निर्मित है जिनमें धातु पर-प्रत्यय से आती है, पर-प्रत्यय, दुरूह होने अथवा पर-प्रत्यय से आये शब्दों के साथ सम्बद्ध होने, और जिनमें अर्थ बना रहने के अतिरिक्त, एक विशेषता लिये रहते हैं जो थोड़ी-बहुत प्रमुख रहती है : जब कि एक ओर उदाहरण द्वारा कृदन्तों और तुलनात्मक रूपों की परिभाषा प्रदान की जाती है, तो दूसरी ओर साधारण विस्तार या व्याप्ति के तुल्य प्रयोगों की।

व्युत्पन्न शब्दों का मूल रूप प्रायः परिवर्तन के साथ परस्पर सम्बद्ध रहता है। विशेषतः गौण व्युत्पत्ति आदि में वृद्धि के साथ आ सकती है : सौमनसम् "सुमनस्- होने की स्थिति", तुल० अ० हओमनङ्हअम्; सप्तम्, साप्तम् "सप्त-समूह"; पार्थव-

पार्थ्(इ)य॑-, तुल० पु० फ़ा० मार्गव-। उसमें यह भारोपीय और भारत-ईरानी प्रणाली है, जिस पर अवेस्ता में गौण ह्रस्व रूपों का आवरण पड़ा रहता है, जो इसके विपरीत संस्कृत में बहुत अधिक विकसित हुई है—जिससे विद्वत्तापूर्ण गद्य की संस्कृत का आधुनिक भाषाओं से संबंध स्थापित होता है।

रूप और प्रयोग की दृष्टि से पर-प्रत्ययों की सूची बहुत-कुछ ईरानी की सूची से साम्य रखती है।

कर्तृवाच्य कृदन्त; वर्तमान : स॑न्त्-, अ० सन्त्- /सत्-; भ॑रन्त्-, अ० कर्म० बर॑न्त॑म्; द॑धत्-, ग्री० तिथेइ॑स्; पूर्ण : विद्वा॑स् (संस्कृत में ठीक-ठीक अनुनासिक)/ विदु॑ष्-, गाथा० कर्त्ता० वीद्वअ॑, करण० वीदुसॆं।

तुलनात्मक : व॑स्-यस्-, अ० वन्ह्॑-यह-; स्वा॑द्-ईयांस्- (विशेष कारक में भारत में ठीक-ठीक अनुनासिक)/ स्वा॑द्-ईयस्-, तुल० ग्री० ए॑डाइओन्।

संबंधवाचक विशेषण; एक तो बहुत कम मिलने वाले : मघ॑वन्-, अ० मγवन-; ऋतावन्-, अ० असॆवन्; दूसरे जो प्रायः मिलते हैं : पुत्र॑वन्त्-, अ० पुθरवन्त्-; मधु॑मन्त्-, अ० मδउमन्त्, त्वा॑वन्त्-, अ०θवावन्त्-; इससे संस्कृत में एक नया कृदन्त उत्पन्न हुआ : कृतवन्त्- (अ० विवरेज़दवन्त्- ही अकेला इस प्रकार का ईरानी उदाहरण है); -इन्- : मनीषि॑न्, तुल० अ० पर॑निन्।

संज्ञाओं, कर्तृवाची संज्ञाओं, विशेषणों, कार्यवाची संज्ञाओं, जो क्रियार्थक संज्ञाओं अथवा भाववाचक के निर्माण की प्रवृत्ति रखती हैं, के प्रकार के अनुसार रूप :

श्र॑वस्- अ० स्रवह्- ; सुश्र॑वस-, अ० हओस्रवह्- ;

ज्ञा॑ति; पीति-, क्रियार्थक संज्ञा-रूप में पीत॑ये, तुल० अ० क॑र॑ते, दाइतिम्।

जन्तु॑-, अ० जन्तु-; गातु॑-, अ० गातु "स्थान"; इस पर-प्रत्यय ने -तवे के संप्रदान क्रियार्थक संज्ञा, और -तुम् के रूप में कर्म० प्रदान किया है।

अर्यम॑न्- अ० ऐर्यमॊन्-; धा॑मन्-, अ० दाम; क्रिया सं० विद्म॑ने, अ० स्ताओमैने, क्रिया० सं० दाव॑ने, गु० वीद्वनोइ, अ० वीद्वनो;

संबंधवाची संज्ञाएँ : स्व॑सर-, अ० ख़्वङहर्; पित॑र, अ० पितर्- : कर्तृवाची संज्ञाएँ धा॑तर्-, अ० दातर्-।

यह प्रचलित पर-प्रत्ययों के संबंध में है : क्योंकि स्वयं रूपों द्वारा व्याख्या-योग्य कुछ शब्द ऐसे हैं जिनका संस्कृत की दृष्टि से विग्रह नहीं किया जा सकता त॑क्षन्, (अ० तॆसन्-, ग्री० तॆक्तोन्; अ॑श्मन्-, अ० अस्मन्-, ग्री० अॆक्मोन्; उष॑स्-, अ० उसंह्-, ग्री० ऐॆओस् आदि), इसी प्रकार कुछ पर-प्रत्यय केवल ग्रहण किये गये शब्दों में, बिना किसी विकास के, आते हैं : जैसा कि वे प्रधानतः -इ- और -उ- (अन्य -ति- और -तु-) के रूप

में हैं। केवल जिगीषु´-, पृतनायु´-, पृतन्यु-´ जैसे व्युत्पन्न क्रियामूलक विकरण के संबंध में यह नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के रूप में दिये जा सकते हैं:

पति-, अ० पैति-, ग्री० पोसिस्-; क्रिया० संज्ञा -नमे, तुल० अ० नमोइ; पथि-, अ० पθइ (परिवर्तनीय); सख्ये संप्र०, अ० हर्से जो सखा से परिवर्तनीय है, अ० हख; पुरु, अ० पओउरु-, ग्री० पोलुस्; बाहु-, अ० बाजु-, ग्री० प्ऐकुस्; सूनु´-, अ० हुनु-, गोथिक सुनुस्; दुरूह रूप : ऊर्मि-, अ० वरमि-; घृणि-, तुल० अ० सएनि-; क्षिपणु´-, तुल० अ० पसनु-।

प्राचीन दुरूह प्रत्यय और भी हैं : पणिन्-, अ० परनिन्-; सर्वतात्- (जिससे है सर्वताति-), अ० हौर्वतात्-; बहुत-से तो उन शब्दों या शब्दों के समुदायगत रूपों तक सीमित हैं जो भारतीय-ईरानी भाषा से आये हैं और जो वास्तव में प्रचलित नहीं हैं : प्रातर्-इत्वन्-, तुल० अ० अर्अθवन्, आयुष्- जो आयु- के समीप है, अ० आयू, अधिकरण० आयुनि, तुल० ग्री० अईएस् और अइएन्; मन्यु´-, अ० मैन्यु- ; मृत्यु´-, अ० मरθयु-।

बहुत अधिक प्रचलित, और वह भी शुरू से, प्रत्यय विकरणयुक्त स्वर है। कुछ उदाहरणों में तो व्युत्पत्ति का मूल्य अब भी स्पष्ट है : वर-, अ० वार-, -वर- जो वृणीते से भिन्न है, अ० वरने; उसका अर्थ कभी तो स्वराघात द्वारा, प्रायः किसी भारोपीय नियम द्वारा, निश्चित होता है : वर- "पसन्द", वर- "विवाहार्थी"; शोक- "फूट पड़ना", शोक- "चमक, प्रकाश"। किंतु यह बल दश- में स्पष्ट नहीं है; दशम- (अ० दसम-, तुल० लै० डेसेम, डेसीमुस) में और विशेषतः अश्व- (अ० अस्प-), वृक (अ० वह्रक-), देव- (अ० दएव-); भंग (अ० बγअ-), हस्त- (अ० ज़स्त-); कुछ सर्वनाम : एव´-, एत-, अ० अएसे- अएत-, कुछ विशेषण दीर्घ´-, अ० दर अ-; अन्य- अ० अन्य- आदि जैसे ग्रहण किये गये शब्दों के मात्रा- काल में व्युत्पत्ति के चिह्न नहीं मिलते।

वास्तव में -अ- यदि प्रत्यय से अधिक नहीं तो उसी मात्रा में व्यापकत्व के कारण काम आता है : ऋग्वेद से, उदाहरणार्थ, पाद-, मास-, भ्राज- प्राप्त होते हैं जो अपने सदृश अविकरणयुक्त के साथ-साथ मिलते हैं। अन्यत्र, जैसा कि देखा जा चुका है, -अ- समासों में स्वयं जुड़ जाता है, विशेषतः षष्ठी तत्पुरुष समासों में (षडक्ष-, उरूणस- और द्विगु समासों में (समुद्र-)।

यह रूप अविकरणयुक्त रूपों को अधिकाधिक आघात पहुँचाते हुए प्रचलित होता है; उसमें उसके लिये मूल की अपरिवर्तनशीलता और स्वराघात की स्थिरता रहती है (जहाँ तक क्रिया-विशेषणमूलक महत्त्व से संबंध है उसे छोड़ कर : दक्षिण "दाएँ" जो दक्षिण- से है); उससे पहले का -आ अथवा -ई द्वारा स्त्रीलिंग बनाने में

सरलतापूर्वक सहायता प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त उससे प्रायः मिल जाने वाले उन उदाहरणों की ओर संकेत करने में लाभ होता है जिनमें विकरणयुक्त -अ- अनुनासिक संयुक्त स्वरों की शून्य श्रेणी से निकलता है विं-पर्व-, देव-कर्म´-; अधिराज´- : इससे विकरणयुक्त इन विकरणों के परिवर्तन की भूमि तैयार होती है, तुल० तै० सं० अलोमक-। शेष विकरणयुक्त स्वर शुरू से ही भारतीय-ईरानी से आये कुछ पर-प्रत्ययों को प्रभावित करता है और स्वयं अन्य (पर-प्रत्ययों) तक प्रसारित हो जाता है।

निम्नलिखित प्राचीन और महत्त्वपूर्ण विकरणयुक्त पर-प्रत्यय हैं :

मध्य अविकरणयुक्त कृदन्त -आन- में : दंदान- (अ० दθआन-) (बिना मध्य अर्थ के; बाँवनिस्त, बी० एस० एल०, XXXIV, पृ० १८), जिनके आधार पर संस्कृत में विकरणयुक्त क्रिया-रूप ग्रहण करते हैं -मान-, अं० -म्न- : इच्छमान-, अ० इसंझ्-।

क्रियावाचक विशेषण में यह स्थिति -तं-(श्रुतं-, अ० स्नुत-, भृतं-, अ० बंरंत-) और -नं- (पूर्ण´-, अ० पंरंन-) में मिलती है; क्रियावाचक विशेषणों के लिये -य- [दंश् (इ)य-, अ० दरंस्य-, मर्तं (इ)य-, अ० मर्स्य-] और -त्व- [वक्त् (उ)व-, अ० वख़्अ्θव-], -त- (यजतं-, अ० यज़त-) में सम्भावना रहती है : ये अंतिम दो रूप भारत में लुप्त हो गये हैं, जब कि दूसरे -अनीय-, -अय्य-, -एय्य- वाले रूपों से सम्बद्ध हो जाते हैं और वे ही अकेले शेष रहते हैं।

तमबन्त -इष्ठ- में मिलते हैं, जो तुलनात्मक पर-प्रत्यय -यस्- से, स्थानसूचक पर-प्रत्यय -थ- (सप्तंथ-"सात", अ० हप्तθअ-) सहित, निकले हैं : वंसिष्ठ-, अ० वहिस्त-; तमबन्त, बहुपदी समुदाय में स्थिति प्रकट करने वाले पर-प्रत्यय सहित (अन्तम-, अ० अन्तंम-) -तम- में। इसी प्रकार कुछ विशेषण-विशिष्ट तुलनात्मक हैं जिनमें युग्म समुदाय में विरोध प्रकट होता है : उंपर-, अ० उपर-; तवस्तर-, तुल० अ० असें अओजेंस्तर- जो वैदिक ओंजियस्- से भिन्न हैं। ये अन्तिम दो रूप संस्कृत और मध्यकालीन भारतीय भाषा में बहुत अधिक प्रचलित हैं।

साधन अथवा वस्तुवाचक संज्ञाएँ: श्रोंत्रम्, अ० स्रओθरंम; मंत्रः, अ० मअ्θरो, वर्तमानकालीन विकरण पर आधारित कृन्तंत्र- की रचना से प्राचीन काल में पर-प्रत्यय की शक्ति का परिचय मिलता है; किन्तु क्लैसीकल भाषा में वह केवल विपरीत रूप में ही अधिक है।

कार्य और भाववाचक संज्ञाएँ -न- में : यज्ञः, अ० यस्नस्-सें; स्थानम्, पु० फ़ा० स्तानम्; समरणम्, पु० फ़ा० हमरनम्। नपुंसक० वर्ग से, जो अधिकाधिक उर्वर है, संस्कृत में क्रियार्थक संज्ञा का तुल्यार्थक और एक अंश तक आधुनिक भाषाओं में स्वयं

क्रियार्थक संज्ञा मिलती है : करणम्, हिं० करना। -त्व- में भाववाचक : वसुत्वं-, अ० वङ्हुθव-; और -त्व-न- में : वसुत्वनं-, तुल० अ० नाइरिθवन-।

अन्य पर-प्रत्यय विशेषतः व्युत्पत्ति बताने के काम आते हैं : गौण व्युत्पति में -इ- (सारथि-, तपुषि-) बहुत कम मिलती है; -य- बहुत अधिक मिलता है और वह विभिन्न रूपों में आता है (सत्यं-, हिरण्यय-, स्वराज्य-; बन्धनसूचक कृदन्त पीछे देखिए)। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण -क- है, इसलिए नहीं कि वह प्राचीन शब्दों में मिलता है (शुष्क, अ० हुस्क-; अस्माकम्, अ० अहमाकम्), न कि इसलिए वह सरलतापूर्वक साधारण विशेषणों का कार्य सम्पन्न करता है (अन्तक- जो विशेष्य से निकला है, एकर्क- जो एक से निकला है), किन्तु इसलिए कि शीघ्र ही बिना समासान्त के व्याप्ति उत्पन्न करने का कार्य सम्पन्न किया : सनकं- सन- की भाँति, वीरकं- वीरं- की भाँति, दूरके दूरे की भाँति, मूहुके मुहु की भाँति, और इसी प्रकार यके ये की भाँति और फलतः वा० सं० असकौ असौ की भाँति (रनू, 'स्ट्यूडिआ इंडो-ईरानिका', पृ० १६४) जिसमें साधारण व्याप्ति का महत्त्व, जिसकी रूप-रचना निर्धारित नहीं की जा सकती, भली भाँति प्रदर्शित है।

इस व्याप्ति का, -अक-, -इक-, -उक- (जो -न्-, -र्-, -इन्- वाले अन्य विकरणों में मिल जाते हैं) रूपों के अन्तर्गत, महत्त्व केवल मध्यकालीन भारतीय में विकसित होता है; और आधुनिक विकरणों के दो बड़े वर्गों में से एक उससे निकलता है।

यह भी देखने की बात है कि उसमें, इन रूपों के समीप, निस्संदेह दीर्घ स्वर से अधिक सम्बद्ध रूप होने चाहिए, जिनके ईरानी में सुन्दर प्रमाण मिलते हैं : *पवाक- ऋ० में पावकं- का आवश्यक छंद-मात्रा-गणन है (यह ठीक है कि ग्रगमन के अनुसार यह स्त्री० पर्वा पर आधारित होना चाहिए और फलतः अ० मस्याक- प्रकार से भिन्न होना चाहिए, किन्तु वही यहाँ पर ऐसा प्रतीत होता है कि लय के परिवर्तन की व्याख्या प्रचलित पक्ष के रूप के प्रति प्रतिकूलता से होनी चाहिए); जीव-जंतुओं के नाम देखने योग्य हैं : मण्डूक-, उलूक-, पृदाकु, वा० सं० वल्मीक- जो ऋ० के वम्रकं-, वम्रीं- के समीप है (प्रचलित ल् देखने योग्य है)। शेष अन्य संस्कृत पर-प्रत्ययों में विकल्प रूप में दीर्घ उपान्त्य स्वर होता है : -ऊल-, -आलु-, -आर-, -ईन- आदि।

विकरणयुक्त स्वर और पर-प्रत्ययों का यह अन्तिम समुदाय समासों में प्रचुर मात्रा में मिलता है; इसके अतिरिक्त आकृतिमूलक सरलीकरण का कार्य उसमें वही है जो साधारण में है (गोघ्नं- जो गोहन्- से भिन्न है, प्रपदम् जो अ० फ्रपद् से भिन्न है), उनसे समूहगत विशेषण की विशेषता का भी पता चलता है : शर्त-शारद-, उरू-णर्स-, वि-मन्युक-।

पर-प्रत्ययों का एक महत्त्वपूर्ण वर्ग वह है जिससे स्त्री० बनाने में सहायता प्राप्त होती है। वे भारोपीय (-आ, -ई) से निकले हैं और कम-से-कम स्वर वाले विकरणों में, पुल्लिंग के साथ युग्म निर्मित करते हैं; कंठ्य ध्वनियों की व्याप्ति में, यह देखने योग्य बात है कि -अक- का प्रचलित स्त्री० रूप -इका है; र्वतिका से भिन्न, वर्तका बोली के प्रयोग के रूप में पाया जाता है, तुल०, पा० वट्टका (एस० लेवी, जे० ए-एस०, १९१२, II पृ० ५१२)।

परिवर्तन-क्रम

जैसा कि देखा जा चुका है, विकरणयुक्त संज्ञाओं में, एक अपरिवर्तनीय विकरण रहता है; इसके विपरीत, अविकरणयुक्त, जिनकी प्राचीन काल में संख्या बहुत थी, दुरूह परिवर्तन प्रदर्शित करते हैं, वे चाहे विकरण के चयन में हो, चाहे स्वर-श्रेणी में, अंत में, चाहे स्वरित में हो।

१

पुरुषवाचक सर्वनामों और कुछ निश्चयवाचक सर्वनामों में भारोपीय के काल से नियमित रूप में चेतन वस्तुओं के लिये एक विशेष विकरण रहा है :

अहँम् : माँम्, मँम

सँ, साँ : तद्, तँस्य, तेँ आदि

विशेष्यों का, विशेषतः नपुं० का, एक प्राचीन समुदाय भी उसी प्रकार अनुनासिक विकृत-रूप का विकरण प्रस्तुत करता है जो कर्त्ता० कर्म० एक० के विकरण का विरोध करता है या अपने को उससे सम्बद्ध कर लेता है।

(१) -र् का मुख्य काल :

अँहर : अह्नँः, संबंध० बहु० अह्नाँम् (अ० अस्नम्)

अँसृक् : अस्नँः (हित्ती एसेँहुर्), एसेँनसेँ

इसी प्रकार ऊँधर, यँकृत् (तुल० लै० इएकुर : इएकिन्-), शँकृत्।

पानी का नाम, जिसका इस वर्ग से संबंध है, अपने मुख्य काल का विकरण कर लेता है :

उदकँम् : उद्नः (तुल० हित्ती वतर, वेतेनसें; ओम्ब्री उतुर्, अपादान उने)।

(२) -इ युक्त मुख्य काल :

अक्षि, द्वि० अक्षीँ (अ० असिँ), तुल० कर्त्ता० अनँक् (-स्- की व्याप्ति भारतीय-ईरानी है, तुल० लै० ओक्-उलुस, सं० अँनीकम् प्रँतीकम् तथा नीचँ- वाले विशेषणों की माला) : संबंध० एक० अक्षणँः।

इसी प्रकार अ॑स्थि (तुल० अ० अस्त्-वन्त्-, लै० ओस-), स॑क्थि, द॑धि, हा॑र्दि (तुल० ग्र० क्ऍर्)।

(३) शिन्-ध्वनियों वाले विकरण के -न्- द्वारा व्याप्ति :

शिर:(अ० सरो)शीर्ष्ण॑:, बहु० शीर्षा॑, जिससे गौण विकरण शीर्ष॑-(द्वि० सीर्षे॑ ऋ०, कर्त्ता० एक० शीर्षम् अथर्व०) निकला ही है।

इसी प्रकार तै० सं० यू॑:(लै० इउस्), ऋ० यूष्ण॑:; दो॑:(तुल० दओसें-), अथर्व० द्वि० दोर्ष॑णी।

विकरण वाले कर्त्ता० (तुल० उदक॑म्, हृ॑दयम्, व॑नम् जो संबंध० बहु० वना॑म् से भिन्न है, आदि) : आस्य॑म् (लै० ओस) ऋ० आस्न॑: जो आस: (अ० अंङ्हो और अंन्हानो) की अपेक्षा अधिक प्रयुक्त हुआ है; उधर अधिक प्रचलित आसा॑ से भिन्न करण० आस्ना॑ विचित्र प्रयोग है।

(४) -उ (दारु : द्रु॑ण: जो द्रो॑: की ओर संकेत करता है) वाले विकरण के न् द्वारा व्याप्ति : यह भारोपीय है और -उ तथा -इ वाले इन नामों की रूप-रचना पर अपनी सबलता स्थापित किये हुए है, तुल० ग्री० दो॑रु : दो॑र्fअतोस; किन्तु अ० दाउरु : द्रओसें।

चेतन संज्ञाओं में परिवर्तन-क्रम पुल्लिग -न्- मिलता है : स्त्री० -र्- विशेषत: कुछ विशेषणों में (पी॑वान् : पी॑वरी, ग्री० पिओन् : पिएइर) और दूसरी ओर सेदेस् : सेदिस् के लैटिन संज्ञा-रूप का विचित्र सदृश रूप है जो प॑न्था-, पथि- (अ० पन्तं॑; गाथा० एक० पθओ, पु० फ़ा० कर्म० स्त्री० पθइम्; (तुल० मेइए, 'इंडियन स्टडीज़.... लैनमैन', पृ० ३)।

शेष इन समुदायों में अति प्राचीन रूप हैं (मूल और शब्द-व्युत्पत्ति की दृष्टि से उनकी संख्या और भी बढ़ायी जा सकती है), जो अंशत: नवीन रीति में पालित-पोषित हैं।

२

स्वर-संबंधी परिवर्तन-क्रम पूर्व-प्रत्यय-अंश (मूल अथवा पर-प्रत्यय-संबंधी) पर आधारित रहते हैं; कुछ विकरणों की दृष्टि से प्रत्यय में वही एक परिवर्तन-क्रम मिलता है जो प्रथम को शक्ति प्रदान करता है : इस प्रकार के -उ- वाले दो विकरण हैं, गुरो॑-:, दिव्-अ॑:।

भारोपीय परिवर्तन-क्रम ऍ : ओं को मात्राकालिक परिवर्तन-क्रम से बदल देने के कारण भारतीय-ईरानी के संज्ञा-रूप में सबल और दुर्बल कारकों की विशेषता आ जाती है : विशेष काल एक० और द्वि० के मुख्य काल (कर्त्ता० कर्म०) हो जाते हैं; बहु०

में चेतन कर्त्ता० सबल हो जाते हैं; नपुं० में कर्त्ता०-कर्म० संभवत: सबल या दुर्बल हो सकते हैं : नामानि (अ० नामृन्) और नामा जिनमें भारतीय दृष्टिकोण से एक दीर्घ स्वर भी रहता है।

स्वनंत वाले विकरणों में, संस्कृत में फिर भी दो प्रकार के परिवर्तन-क्रम हैं :

संबंध० एक० वाला, मूल और प्रत्यय के सहायक परिवर्तन-क्रम : वसो-: (गाथा० वङहाउसॅ), किन्तु पश्व्-अ:, (अ० पस्वो);

अधिकरण० एक० वाले में र् और न् से पूर्व ह्रस्व स्वर मिलता है : नेतर-इ, अहन्; -इ- और -उ- वाले विकरणों में, दीर्घ स्वर और शून्य प्रत्यय : वसौ (अ० वङहाउ), गिरा (अ० गर)।

जहाँ कहीं भारोपीय -ओ- : -ए- : शून्य का परिवर्तन करती है, भारतीय-ईरानी में आ : अ : शून्य के अनेक रूप मिलते हैं। इससे स्वनंत वाले चेतन विकरणों में तीन परिवर्तन-क्रमों की स्थापना होती है :

वृत्रहा (*-झान्), अ०	वरθरजॅअं (*-झास्)
वृत्रहणम्	वरθरजॅनम्
वृत्रघ्न:	वरθरγनो

इसी प्रकार :

पिता (अ० पित), कर्म० पितरम् (अ० पितरम्), संप्र० पित्रे (अ० फ़δरोइ, पिθरे); उक्षा, उक्षणम् (अ० उख़्सॅनम्) और उक्षाणम्, उक्ष्ण: (अ० उख़्सॅनो); किन्तु वृषा, वृष्ण:, वृषणम् से भिन्न, अवेस्ता में हैं अर्सॅ, अर्सॅनो और दीर्घ अर्सॅानम् में कर्म०।

कभी-कभी तृतीय श्रेणी केवल संबोधन में प्रकट होती है : सखा (अ० हख़्), सखायम् (अ० हख़ाइम्); संबोधन० सख्(इ)या (अ० हसॅ); पुमान् संबोधन० पुम:, क्लैसी० पुमन्, संबंध० पुंस:, कर्म० पुमांसम्; चिकित्वान्, चिकित्व:, चिकितुष:।

अनुनासिक के संबंध में, शून्य श्रेणी के स्थान पर स्वर या व्यंजन हो जायगा क्योंकि प्रत्यय का प्रारंभ व्यंजन या स्वर से होता है; उसी से इनमें तीन परिवर्तन-क्रम मिलते हैं :

श्वा (अ० स्पा), कर्म० श्वानम् (अ० स्पानम्), संबंध० शुन्-अ: (अ० सूनो), करण० बहु० श्व-भि:।

अंत में पर-प्रत्यय के परिवर्तन-क्रम सहित :

पन्था: (अ० पन्तअं), पथ: (अ० पθओ), पथिभि: (तुल० पु० फ़ा० कर्म० स्त्री० एक० पθइम्)।

सामान्यतः एक दुहरे परिवर्तन-क्रम की प्रवृत्ति पायी जाती है : यह पाया जा सकता है :

दीर्घ श्रेणी : शून्य; उदाहरणार्थ -धाः : -ध्-ए, -पाः : -प्-ए (गाथा० क्रियार्थक संज्ञा पोइ); ता́रः (अ० स्तारो) : स्तृभिः (तुल० अ० स्त॑र॑ब्यो); द्वा́रः : दूरः (यहाँ ईरानी में अ० द्वर॑म् मिलता है जो प्राचीन है, तुल० लै० फ़ोरेस); न॑पातम् (अ० नपात॑म्) : न॑द्भ्यः; हा́र्दि : हृदः (तुल० अ० ज़॑र॑दा)।

दीर्घ श्रेणी : अ श्रेणी। यह संयुक्त-स्वर वाले विकरण में मिलती है, जैसे गौ́ः, गाम् (अ० गाउस्, गम्) : ग॑वाम्, गोभिः (अ० गवम्, गओबिस्) : और उन संज्ञाओं में जिनमें शून्य श्रेणी असंभव होनी चाहिए; अ॑पः : कर्म० अप॑ः, संबंध० अपा́म् (अ० आपो, अपो, अपम्); अंगिराः : संबंध० बहु० अंगिरसाम्; द्वि० ना́सा (तुल० पु० फ़ा० कर्म० एक० नाहम् : नसो́ः।

अ श्रेणी : शून्य। उन कृदन्तों में जिनमें द्वित्व नहीं किया गया : भ॑वन्तम् : भ॑वतः (किन्तु एक कर्ता० नपुं० बहु० ऋ० सा́न्ति रूप है) और इसी प्रकार बृह॑न्तम् बृहतः (अ० ब॑र॑ज़न्त॑म्, ब॑र॑ज़तो); त्र॑यः : त्रिभ्यः (अ० θरायो, θरिव्यो); कर्म० न॑रम्, संप्र० न॑रे : नृ॑भिः (अ० नर॑म्, नरोइ, न॑र॑ब्यस्-चॅ)।

क्रियामूलक वर्तमान के प्रभावान्तर्गत, विकरण युज्- में अनुनासिकता आ जाती है; इसके फलस्वरूप उसमें अ : अन् से तुलनीय लय-युक्त परिवर्तन-क्रम उत्पन्न हो जाता है। अस्तु ऋ० करण० युजा́, संबंध० युज॑ः, कर्त्ता० बहु० यु॑जः से विपरीत उच्च रूप मिलते हैं : कर्त्ता० द्वि० युञ्जा́, जो यु॑जा́, कर्म० एक० १ यु॑ञ्जम् जो १५ यु॑जम् के निकट है; वा०सं० कर्ता० युङ (*युङक्ष् के स्थान पर)। विधि अभी प्रकाश में नहीं आई; लैटिन कोनिउ(न्)क्स, अवेस्ता में कर्त्ता० अहुम॑र॑ख़्स् से निकला संबंध अहूम॑र॑नचो́ है, तुल० म॑र॑न्चैते।

सामान्य रीति से परिवर्तन-क्रम वैदिक और अवेस्ता के एक ही आकृतिमूलक वर्गों में आते हैं; उनके कुछ स्फुट भग्नावशेष हैं जो, अपने को पूर्ण या सदृश बनाते दिखायी देते हैं : उदाहरणार्थ बहु० संप्र० न॑द्भ्यः जो न॑पात् से है, से भिन्न, अवेस्ता में संबंध० एक० नप्तो, अधि० बहु० नफ़्सु मिलते हैं; वैदिक में कर्त्ता० एक० वे॑ः है, अवेस्ता में यओस्। किन्तु यह सादृश्य पूर्ण नहीं है : नपुं० के मुख्य काल एक० के रूपमात्र -इ का प्रभावित होना एक भारतीय नवीनता है; परिवर्तन-क्रम प्रायः लुप्त हो जाते हैं : जैसा कर्म० एक० और कर्त्ता० बहु० के संबंध में है; कर्म० बहु० में आ́पः मिलता है, दो विकरण उषस्-, उषास्- मिलते भी हैं, नहीं भी मिलते; वा́क् सभी रूप-रचनाओं में अपना दीर्घ अंश बराबर बनाये रखता है, जब कि गाथाओं में एक० कर्त्ता० वाख़्स्,

संबंध० वर्चों; सा॑नु- स्नु- के निकट दुर्बल कारक में भी पाया जाता है; ज्मा के निकट क्षर्मा करण० है; संबंध० न॑रः अ० न॑र॑सें से भिन्न है; स्व॑र- से निकले संबंध० सू॑रः अवेस्ता हूरो की भाँति है, जिसक रूप-रचना के सामान्य प्रकार के अनुकरण पर पुनर्निर्माण हुआ है : अकेले अवेस्ता में संबंध० ख्वा॑न्ग् का परिवर्तन-क्रम र् : न् में सुरक्षित है। फलतः वैदिक दुरूहताओं में प्राचीन उपलब्धि के अतिरिक्त और बातें भी हैं।

३

वैदिक संज्ञाओं के एक बहुत बड़े भाग में, सुर सभी रूप-रचनाओं में निरंतर एक ही स्थान पर बना रहता है (गौ॑ः, गा॑म्, ग॑वाम्) ; इसके अतिरिक्त वह मूल से प्रत्यय की ओर जाता है : आपः, अपा॑म्; पा॑दम्, पदः; पुल्लिग महा॑ः, नपुं० म॑हि, संबंध० मह॑ः; पशु॑ः, पश्वः।

भारोपीय में स्वराघात के सन्तुलन का सिद्धान्त दृष्टिगोचर होता है, जिसके बिना तथ्यों के विस्तार में सदैव अविच्छिन्नता बनी रह सकती है। श्री कुरीतोविच कुछ बातों में अवेस्ती से सादृश्य उपस्थित कर सके हैं जिनमें स्वराघात स्वर-संबंधी ध्वनि पर अपना प्रभाव छोड़ जाता है :

संबंध व॑सोः, अ० वङउहा॑सें; किन्तु मृत्यो॑ः,अ० म॑र॑θयओसें;

संप्र० व॑सवे अ० वङहवे; किन्तु मह्॑े, अ० मज़ोइ।

किन्तु उसी में जहाँ प्रमाणीकरण संभव है, भारतीय और ईरानी में पूर्ण साम्य नहीं मिलता। शेष प॑शु- और पशु॑-, म॑ति- और म॑ति- जैसे एकमूलक भिन्नार्थी शब्दों में से एक यह प्रदर्शित करने के लिये यथेष्ट है कि वैदिक भाषा के कुछ प्रागैतिहासिक परिवर्तन-क्रम लुप्त हो गये हैं।

तो प्रत्येक दृष्टिकोण से, वैदिक भाषा में प्राचीन बातें मिलती हैं और उसमें वास्तविक प्राचीन प्रयोग सुरक्षित मिलते हैं; किन्तु प्राचीन प्रणाली पूर्णतः प्रतिबिंबित भी नहीं होती और उसमें नवीनताएँ दृष्टिगोचर होती हैं; परवर्ती इतिहास ही यह प्रदर्शित कर सकने योग्य होगा कि ये नयी बातें उसकी शक्ति की प्रतीक हैं या उसके विनाश का पूर्वाभास।

नाम-प्रत्यय

संस्कृत और ईरानी प्रत्ययों के रूप और विभाजन लगभग समान रूप से अलग-अलग होने की स्थिति में हैं।

एकवचन

कर्त्ता० कर्म० अचेतन : विकरणयुक्त संज्ञाओं में, प्रत्यय -म् : क्षत्रम् (अ० ख़्सॅθरम्)। अविकरणयुक्त में शून्य प्रत्यय : मधु (मδउ), स्वर् (ह्वर), मनः (मनो), महत् (मज़त्)। पूर्ण साम्य।

कर्त्ता० चेतन : जहाँ कहीं परिवर्तन-क्रम कर्त्ता० का कर्म० से अन्तर स्पष्ट करने के लिये यथेष्ट है, शून्य प्रत्यय, जो भारोपीय नियम के अनुसार है : पिता (पित), श्वा (स्पा), सखा (हख़), और सादृश्य द्वारा हस्ती (सदृश ईरानी रूप नहीं है)। इसके अतिरिक्त, हर जगह, प्रत्यय -स् : वृकः (वॅह्को), गिरिः (गैरिसॅ), क्रतुः (ख़्रतुसॅ), पंथाः (पन्त्अॅ); इसी प्रकार एकाक्षरात्मक रूपों में गौः (गाउसॅ), क्षाः (ज़्अॅ), राः, गीः, भूः, धीः, वेः। शून्य रूप के अन्तर्गत *-या *-वा पर-प्रत्ययों वाले व्युत्पन्न रूपों में सदैव श्वश्रूः (लै० सोक्रूस; किन्तु अ० ततुसॅ जो कर्म० तनूम् से भिन्न है) पाया जाता है, किन्तु नप्तीः और देवी दो प्रकार भी; इसी प्रकार अवेस्ता की गाथाओं में वॅरॅज़ैती (सं० बृहती) और दाθरिसॅ (तुल० सं० जनित्री) मिलते हैं; पु० फ़ा० में ह्रौवतिसॅ है जो अ० वास्त्रवैती से भिन्न है।

अन्त्य व्यंजनों के समुदायों के आदि अंश की अपेक्षा अन्य अंशों का लोप होता है जिसके फलस्वरूप शुरू से ही संस्कृत में प्राचीन ईरानी की अपेक्षा -स् बहुत कम रहे हैं: फलतः व्यंजन और ऊष्म ध्वनियों के सभी विकरणों के बाद कर्त्ता० बिना अपने विशेष प्रत्यय के दृष्टिगोचर होता है : वाक् (अ० वाख़्सॅ, लै० उओक्स); स्पट् [अ० स्पसॅ, लै० -स्पेक्स], विट् (अ० वीसॅ), (ऋत)युक् [लै० (कोन्)इउक्स], पात् (लै० पेस्), अपाङ् (अ० अप्अॅसॅ) जो *अपाङ्क्ष् के लिये है, कृदन्त सन् (सन्न स्वर से पूर्व; वेद में -स् एक आदि त्- वाले शब्द से पूर्व दृष्टिगोचर होता है;—अ० हअॅस्; पूर्वकृदन्त विद्वान् (अ० विद्वाँ, ग्री० एईदोस्) की भाँति, संबंधवाचक विशेषण त्वावान् (अ०θवावॅस, तुल० ग्री० -व्एइस) की भाँति, तुलनात्मकों वस्यान् (तुल० अ० स्पन्यॅाँ) की भाँति, कुछ ऐसे रूप हैं जो विशुद्ध भारतीय हैं।

कर्म० चेतन : स्वर-संबंधी विकरणों के लिये -म् : अश्वम् (अ० अस्पम्), क्रतुम् (अ० ख़्रतूम), क्षाम् (अ० ज़ॅम्), गाम् (अ० ग्अॅम्); अन्य में ईरानी (तुल० ग्री० पोद) की भाँति -अम् : पादम् (अ० पाδअॅम्), श्वानम् (अ० स्पानॅम्)।

संबोधन० : भारोपीय काल से प्रत्यय (पूर्ववर्ती स्वर आवश्यकता से अधिक दीर्घ हो सकता है) का, और जब स्वराघात हो तो, आदि स्वराघात का अभाव होना (तुल० ग्री० अदेल्फे : अदेल्फोस्, पतेर् : पतेर्), असुर (अ० अहुरा), पितर (तुल० अ० दातर), मन्यो (अ० मैन्यो), विश्वमनः (तुल०, अ० हुमनो)। पूर्ण कृदन्तों में, -वन्त्-

वाले विशेषणों में, तुलनात्मकों में, -स् प्रकट होता है : चिकित्वः, ओजीयः। -आ वाले स्त्री० में, ईरानी के साथ पूरा साम्य बराबर मिलता है; अश्वे, सुभगे, तुल० अ० दएनए्। सादृश्य द्वारा देवि, यमि, अथर्व०, वधु (तुल० अ० वङ्उहि) बने हैं।

करण० : वैदिक भाषा में भारतीय-ईरानी की समग्र स्थिति ज्यों-की-त्यों पायी जाती है। प्रत्यय -आ।

व्यंजन-संबंधी विकरण : वाचा (अ० वचँ), पदा, (अ० पाθअ), मनसा (अ० मनङ्ह), ज्मा क्षमा (ज़्मा), वृत्रघ्ना (वॅरॅθरγन)।

विकरणयुक्त : यज्ञा, तुल० अ० जस्तों, किंतु इसका पुल्लिग रूप बहुत कम मिलता है; -आ वाले विकरण : स्वधा, जिह्वा (तुल० गाथा० दएना); भारत-ईरानी में प्रयुक्त होने वाले रूप जिह्वया [तुल० अ० दएनय]; -इ और -उ से युक्त विकरण : संख्या [अ० हसें], क्रत्वा [अ० ख्रθवा]; भारतीय-ईरानी में चित्ती (अ० चिँस्ति), किन्तु ख्रेतू के अनुरूप भारतीय भाषा में नियमित संज्ञा-रूप नहीं हैं।

स्वर-संबंधी विकरणों में संस्कृत में कुछ नवीन रचनाएँ पायी जाती हैं, और वे सब वेद द्वारा प्रमाणित हैं और जो क्लैसीकल युग में अन्य रचनाओं का स्थान ग्रहण करने वाली थीं; स्वर के दीर्घीकरण द्वारा उत्पन्न प्रत्यय विभिन्न श्लेष-पदों का कारण था (द्वि० के संबंध में, नपुं० बहु० के संबंध में अव्यवस्था के लिये, देखिए कर्त्ता० एक० के संबंध में); इसके अतिरिक्त अन्त्य रूपों की सापेक्षिक दुर्बलता के कारण अथवा किसी अन्य कारण से, संस्कृत में स्वर-संबंधी विकरणों के प्रत्ययों का समूह मिलता है।

-न्- की सहायता से ही संस्कृत में ये नवीन करण० बने थे; विकरणयुक्त में -एन ऋग्वेद से उपलब्ध बहुत-से -आ पर छाया हुआ है; ब्राह्मण ग्रन्थों में यही अकेला प्रत्यय रह जाता है। -इ- और -उ- से युक्त संज्ञाओं में -या, -वा वाले प्रत्यय स्त्री० तक सीमित हैं और साथ ही -अया के समकक्ष हैं। पु० और नपुं० में दो प्रत्यय मिलते हैं; जो अनुनासिक है वह प्रायः मिलता है।

संप्रदान : भारतीय-ईरानी की विशेषता *–ऐ है; फलतः व्यंजनजात संज्ञाओं में बृहते (अ० बॅरॅज़ैते), पित्रे (अ० पिθरे), वसवे (अ० वङ्हवे) मिलते हैं। विकरणों में संस्कृत में केवल सर्वनामों (अस्मै, अ० अह्माइ) में अ० अहुराइ से स्वर-संधि-युक्त संयुक्त-स्वर है; सामान्य रूप तो असुराय है, जो निश्चित रूप से भारतीय नवीनता नहीं है, तुल० गाथा० 'अहुराइ आ' और साथ ही एक शब्द 'याताया' में, किन्तु इस संबंध में संस्कृत के लिये ही यह सामान्य बात कही जा सकती है।

स्त्री० में, सं० देव्यै और अ० वङ्हुयाइ, और साथ ही सं० सूर्यायै और अ० दएनयाइ के बीच का साम्य, मध्यवर्ती अ के मात्रा-काल की अपेक्षा, केवल अनुलेखन-संबंधी हो

सकता है अथवा परवर्ती व्यवस्था का परिणाम है। हर हालत में करण० को छोड़ कर गौण कालों के सभी -आय- अंश के प्रयोग की दृष्टि से संस्कृत का ईरानी से साम्य है।

संबंध० : व्यंजनजात विकरणों में, वैदिक और ईरानी दोनों भाषाओं में, एक ओर *—अस् : अपः (अ० अपो), वाचः (वचों), क्रत्वाः (ख़्रθवो) हैं; दूसरी ओर गुण के पूर्व-प्रत्यय वाले रूप के बाद *—स् : गिरेः (गरोइसें), द्योः (द्यओसें), (पतिर्) दन् (तुल० अ० दआंन्ग् पैतिसें) है; मूल में -अर् से युक्त संज्ञाओं में शून्य श्रेणी मिलती है : पितुः (तुल० अ० नरसें, किन्तु सं० नरः पुनर्रचना है)। यही प्रत्यय दीर्घ स्वर वाली संज्ञाओं में है : बृहत्याः, तुल० अ० बरज़ैत्यआं; जिह्वायाः, तुल० अ० दएनयआं।

इन साम्यों का पूर्ण विस्तार नहीं मिलता है; जैसे पश्वः का पसूआउसं।

विकरणयुक्त रूपों में : असुरस्य (अ० अहुरह्या)।

अपादान : विकरणयुक्त रूपों को छोड़ कर संबंध० के संबंध में दृष्टिगोचर होता है : सोमात् (अ० हओमात्, तुल० मिθराδ-अ); इस दृष्टि से अवेस्ती, जिसमें अन्त्य दन्त्य का अन्य विकरणों में विस्तार पाया जाता है, की अपेक्षा संस्कृत अधिक प्राचीनता-प्रिय है।

अधिकरण : व्यंजन वाले विकरणों में, प्रत्यय -इ : मनसि (मनहि), नरि (नैरि), विशि (वीसि, वीस्य), तन्वि (तन्वि); विकरणयुक्त अ के साथ मिलकर इस -इ से -ए प्राप्त होता है : दूरे (दुइरे; दूरएचें), हस्ते (ज़स्तय्-अ)।

प्राचीन काल में यह -इ परसर्गात्मक निपात अव्यय के रूप में था, और प्रत्यय-रहित अधिकरण भारतीय-ईरानी में एक बहुत बड़ी संख्या में था ही। उसका -न्- से युक्त विकरणों में मिलने वाले अन्य विकरणों के साथ सह-अस्तित्व था : अहन् (तुल० अ० अय् अन्-), अज्मन् (तुल० बरसू-मन्); -ई और -ऊ से युक्त में : नदी, तनु (एक उदाहरण; अवेस्ता में केवल तन्वि है—ऋ० 'तन्वि' ७ उदा०); परुत् (तुल० ग्री० पेर्न्सइ) जैसे क्रिया-विशेषणों में और एक और स्वर-संबंधी श्रेणी में -इ और -उ से युक्त विकरणों में ही।

-उ- से युक्त विकरणों में, अ० परतो, गाθअव्-अ की भाँति -ओ की संभावना रहती है : संभवतः एक अकेले सानो, जो कठोर उच्चारण में सुरक्षित है, को छोड़ कर, संस्कृत में केवल -औ, भारतीय-ईरानी *-आउ हैं : वसौ जो गाथा० वङ्हाउ की भाँति है, जिसके समीप अ० वङ्उहि, जिसके स्वयं विपर्यस्त रूप से संस्कृत में दस्यवि है जो अ० दैन्हो, दैङ्हव से भिन्न है।

-इ- से युक्त विकरणों में, *-आइ, जिसकी संभावना की जाती है, नहीं मिलता; यहाँ केवल ध्वनि-संबंधी (या उच्चारण-संबंधी ?) एकमूलक भिन्नार्थी शब्दों में से एक में -आ मिलता है; अग्ना, स्रुता, तुल० अ० गर, ऐबी-दरसैंता। यह

अनुमान किया जा सकता है कि यह एकमूलक भिन्नार्थी शब्दों में से एक में *आउ के स्थान पर भी रहा है और उसी से अग्नौँ, गिरौँ, इष्टौँ के -औ (स्वर से पूर्व -आव्) उत्पत्ति हुई है; तुल० ऐसा ही ईरानी में अ० गरों।

दीर्घ स्वर-युक्त स्त्री० में भारतीय भाषा में -आम् प्रत्यय है : सरस्वत्(इ)याम् (पु० फ़ा० हरहुवतिया), श्वश्रु(व्)आम्, उस्राम्, ग्रीवायाम्(अ० ग्रीवय)। केवल स्वर भारतीय-ईरानी है; संस्कृत -ब्यों से भिन्न -भ्याम् के द्विवचन की भाँति अनुनासिक ध्वनि जुड़ जाती है; वह ईरानी में असाधारण रूप में मिलता है : अ० हुबरंत्अम् जो हुबरंतो के समीप है (तुल० सं० भृत्याम्)।

द्विवचन

कर्त्ता० कर्म०। ईरानी से पूर्ण साम्य।

अचेतन संज्ञाओं में -ई प्रत्यय : अक्षीँ (असि); शतें (सैते); इसी प्रकार -आ (प्राचीन समूहवाचक) से युक्त स्त्री० के लिये यमें, तुल० अ० उर्वैरे; उभें (गाथा० उबें)। अन्य ह्रस्व स्वर-युक्त चेतन संज्ञाओं में वह दीर्घ हो जाता है : पुत्रा (पुθर), बाहू (तुल० मैन्यू); किन्तु साथ ही बाहवा भी, अ० बाज़व, पती (तुल० अ० गैरि); इसी भाँति -ई से युक्त विकरणों के लिये देवीं की भाँति है (तुल० अ० अज़ी)। व्यंजन और -ऊ से युक्त चेतन संज्ञाओं में प्रत्यय -आ और -औ हैं जिनका उस अंश के पश्चात् विभाजन हो जाता है जो वाक्यांश में आते हैं; आ की प्रमुखता : नासा (न्अंन्ह), नरा (नर), श्वाना (स्पान), पादा और पादौ (पठअ और पठओ), पितरा और पितरौ (पितर), बृहन्ता (बरंजन्त)। विकरणयुक्त संज्ञाओं में भी बराबर -औ है जो -आ के समीप है: हस्तौ और हस्ता (ज़स्तो)।

करण० सप्र० अपा० : सामान्य ईरानी प्रत्यय है पु० फ़ा० -बिया, अ० ब्यॉ, जिसके स्थान पर संस्कृत में -भ्याम्; पितृभ्याम् (तुल० अ० नरंब्य) है। अवेस्ता में दो बार एक ही शब्द (ब्रवतुब्य्अम्) में अनुनासिक ध्वनि प्रमाणित होती है; उसका मूल निस्संदेह भारोपीय है : ईरानी से पृथक् होने की दृष्टि से, संस्कृत में तो भारतीय-ईरानी प्रत्यय के प्रयोग का विकास ही हुआ है।

इस प्रत्यय से पूर्व, विकरणयुक्त संज्ञाओं में एक दीर्घ स्वर होता है, ईरानी में साधारणतः एक संयुक्त-स्वर : हस्ताभ्याम्, अ० ज़स्तएइब्य, पु० फ़ा० दस्तैबिया; ईरानी में नपु० के लिये केवल दोइθराब्य है; यहाँ ऐसा स्वतंत्र प्रणाली द्वारा हुआ है।

संबंध० अधिकरण : संस्कृत का -ओः प्रत्यय अधि० भारतीय-ईरानी *-औ,

अ० -आ आर सबंध० *-अस्, अ० -अंस्, -अँ के प्रत्ययों को मिला लेता प्रतीत होता है (बाँवनिस्त, बी० एस० एल०, XXXIV, पृ० २५)।

बहुवचन

अचेतन कर्त्ता० कर्म० : वैदिक भाषा और ईरानी में भिन्नता है। अवेस्ती में प्रत्यय -इ (गाथा० साख़्व्आनी, तुल० सख़्वार्आ) के केवल कुछ ही उदाहरण हैं जो संस्कृत में सामान्य हैं : चत्वा॑रि, म॑नांसि (गाथा० मन्अँ); विपर्यस्त रूप में शून्य प्रत्यय ने, जो अवेस्ती में प्रचलित है, भारत में केवल कुछ दुर्लभ चिन्ह छोड़े हैं। उनमें केवल स्वर-संबंधी विकरणों में साम्य है; वह इस अर्थ में कि ईरानी की भाँति वैदिक भाषा में दीर्घ स्वर-युक्त प्रत्यय के कुछ उदाहरण सुरक्षित हैं : क्षत्रा॑ (ख़्सॅθर), त्री॑ (θरी), पुरू॑ (पोउरू) इसी प्रकार अनुनासिक-युक्त विकरणों के संबंध में है : ना॑मा (नअ्म)।

किन्तु इन अनुनासिक-युक्त विकरणों में नवीनता के प्रवर्तन का सिद्धान्त पाया जाता है जो भारतीय की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। पृथक् होते समय उसमें था ना॑मा, ना॑म और ना॑मानि जो ईरानी की भाँति हैं (एक ओर नअ्म, दूसरी ओर नाम्अन् और संभवतः नाम्आनि)। इसने क्षत्रा॑ प्रकार की ओर क्षत्रा॑णि प्रकार को आकर्षित किया है जो पहले की अपेक्षा ऋ० में लगभग बहुत है भी और जो प्रभाव की दृष्टि से प्रायः मनोवांछित शैली के साथ सम्बद्ध किया जाता है; अथर्व० में नवीन रूप के विजय-चिह्न मिलते हैं; इस प्रकार का विस्तार त्री॑णि, पुरू॑णि तक होता है।

इसके अतिरिक्त प्रारंभ से ही संस्कृत में सा॑न्ति घृत॑वान्ति प्रकार के मध्य-अनुनासिक का प्रसार -स्- युक्त विकरणों तक हो गया था : म॑नांसि (तुल० गाथा० मनअँ), हवीं॑षि; यह तो बाद को परिणाम दृष्टिगोचर होता है कि अनुनासिक व्यंजन अथवा मध्यवर्ती व्यंजन से मुख्य काल नपुं०, बहुवचन का कार्य संपन्न होता है; इसके विपरीत पूर्व-प्रत्यय वाले शब्दांश की दीर्घ श्रेणी, परंपरानुगत विशेषता, का प्रयोग बन्द हो जाता है : उससे अथर्व० बृह॑न्ति; ब्रा० -वृन्ति; -अञ्चि, -युञ्जि।

चेतन कर्त्ता० : इस दृष्टि से वैदिक भाषा बहुत प्राचीनता-प्रिय है : *ए श्रेणी के व्यंजन-संबंधी विकरणों के पश्चात् -अः : आ॑पः (आपो), गिर॑यः (गरयो), धीवन्तः, तुल० अ० द्र॑ग्वन्तो; -आः विकरणयुक्त और -आ युक्त स्त्री० में : अ॑श्वाः (अस्प), सेनाः (हएन, तुल० उर्वर्अ); और इसी प्रकार बृहतीः (ब॑र॑ज़ैतीस्); -अ युक्त पुल्लिगों में इसके अतिरिक्त प्राचीन व्याप्तियुक्त प्रत्यय मिलता है : अ॑श्वासः (अस्पअंन्हो), जो वैदिक में कुछ स्त्री० विशेषणों तक व्याप्त हो गया है (दुर्मि-त्रा॑सः)।

चेतन कर्म० : अविकरण-युक्त -अः=अ० -औं, सिद्धांततः दुर्बल विकरणों के पश्चात्: अ॑पः (आॅपों), धी॑वतः (तुल० द्र्अ॑ग्वतो), शु॑नः (किन्तु स्पानो)। स्वर-संबंधी विकरणों का संभवतः वही रूप है जो भारतीय-ईरानी में, किन्तु कुछ थोड़ा-सा अन्तर है : म॑र्त्(इ)यान (गाथा० मर्से॑य्आ॑न्ग्; अ० मर्स्थ्आस्-चॅं, सं० आंश् च) सनाः (तुल० उर्वर्अं) और साथ ही व॑स्वीः (वङ्उहीर्से॑); किन्तु गिरी॑न्, क्र॑तून् जो गैरी॑से॑ ख्रतू॑से॑।

करण० : सं० -भिः= अ० बिसॅ्। विकरणयुक्त में -एभिः और -ऐः का साम्य : म॑र्त्(इ)यैः, म॑र्त्(इ)येभिः, अ० मर्सॅयाइस्, पु० फ़ा० मरतियैबिस् (फ़ारसी में केवल यही अकेला प्रत्यय है, अवेस्ता में लगभग बिल्कुल नहीं है)।

अपादान : -भ्यः=अ० -ब्यो।

संबंध० : इसमें भी वैदिक भाषा भारतीय-ईरानी की स्थिति सुरक्षित रखती है। व्यंजन-संबंधी विकरण : -आम्=अ० अ्म्, प्रायः द्वयक्षरात्मक : अपा॑म् (अप्अ्म्), बृहता॑म् (ब॑र॑ज़त्अ्म्)। स्वर-संबंधी विकरण : -नाम्=पु०फ़ा० -नाम्, अ० -नअ्म् : म॑र्त्यानाम् (म॑र्स्॑यान्अ्म्, तुल० पु० फ़ा० बगानाम्), उर्व॑राणाम्, (तुल० ज़ओθरन्अ्म्), गिरीणा॑म् (गैरिन्अ्म्), पुरूणा॑म् (पोउरुन्अ्म्, पु० फ़ा० परूनाम्), और अकेली भारतीय भाषा में गो॑नाम् जो ग॑वाम् (गव्अ्म्) के निकट है और विशेषतः -र् युक्त विकरण : नृणा॑म् जो नरा॑म् (नर्अ्म्) के निकट है, पितृणा॑म् (तुल० दुग्अ॑द्र्अ्म्); विकरण युक्त में, -आम् वाले कुछ उदाहरण वेद और अवेस्ता में सुरक्षित हैं (देवा॑न् : वर्अ॑सॅ्अ्म् आदि)।

अधिकरण : दोनों भाषाओं में बराबर : सं० -सु(-षु)=अ० पु० फ़ा० -सु-सुॅ-हु (जिसके साथ प्रायः -अ परसर्ग जुड़ा रहता है जो अन्य रूपों में दृष्टिगोचर होता ही है)।

नाम-संबन्धी रूप-रचना

तो संस्कृत का प्राचीनतम संज्ञा-रूप सम्यक् दृष्टि से पुरातन है और भारतीय-ईरानी के निकट है; उसमें वह बिना उस रूप-रचना के ही मिलता है जिसे ठीक-ठीक क्रियाविशेषणजात काल कहते हैं जो ईरानी, कैल्टिक और इटैलिक को छोड़ कर सब जगह लुप्त हो गया है : तै०सं० मिथुनी॑कृ-, वशी॑कृ- ग्रामी॑भू-, तुल० अ० ख्सॅθइबुये, लै० लूकीफ़ेसीअर। किन्तु साथ ही उसमें कुछ ऐसी नवीनताएँ हैं जो साधारण पुनर्निर्धारण नहीं है, और जो स्पष्टतः संस्कृत को ईरानी से पृथक् करती हैं : -आय युक्त संप्र० एक० पु० नपुं० का -औ युक्त अधिकरण का, -औ युक्त द्वि० का सामान्यीकरण,

द्वि० के तिर्यक् प्रत्ययों, अन्त्य -म् और विशेषतः -न्- का करण० एक० और कर्त्ता० कर्म० बहु० के विविध रूपों में कार्य।

वेद में प्राचीन रूपों के आने से यह निस्संदेह प्रकट नहीं होता कि सामयिक भाषा की वास्तविक स्थिति क्या थी। इसके अतिरिक्त इस प्रकार के पाठ में पाये गये पुरातनत्व के सम्बन्ध में सामान्य अनुमान का तात्पर्य यह भी हो सकता है कि उसमें एक ही कार्य के लिये विभिन्न रूप हों। अथवा मध्यकालीन भारतीय भाषा में चली आ रही एक रीति के अनुसार, बहुत-से प्राचीन रूपों का नवीन रूपों के सान्निध्य में प्रयोग करने का उद्देश्य साहित्यिक प्रभाव उत्पन्न करता रहा है; उसी से है विश्वा जातानि, विश्वा वसूनि, विश्वा द्वेषांसि, और विपर्यस्त रूप में विश्वानि दुर्गा; इसी प्रकार त्रीं पूर्णा... पदानि जो त्रीणि पदा से भिन्न है; पुरू वसूनि और पुरूणि वसु। पुरातन रूप, श्लेष-पद, दूसरे के कारण चमक उठता है: यही कारण है कि ऊधर् दिव्यानि १. ६४.५, व्रता...दीर्घश्रुत् ८. २५.१७ जैसे रूप मिलते हैं। छंदों में यह प्रणाली मिलती है; कर्त्ता० बहु० की तुलना की जा सकती है:

बृहद् वदेम विदथे सुवीराः, २.१.१६

तथा सुवीरासो विदथम् आ वदेम, २.१२.१५

अथवा, करण० बहु०

यातम् अश्वेभिर् अश्विना, ८.५.७

तथा आदित्यैर् यातम् अश्विना, ८. ३५.१३

अथवा, और भी

अङ्गिरोभिर् आ गहि यज्ञेभिः, ऋ०, १०. १४.५

तथा अङ्गिरोभिर् यज्ञियैर् आ गहीह, अथर्व०, १८.१.५९

वास्तव में, प्राचीन रूपों की संख्या अधिक नहीं मिलती; अधिक प्रबल कारण की वजह से, अथर्ववेद, मूलतः पुरातन, किन्तु सामाजिक प्रयोग की दृष्टि से भिन्न, में वह नवीनता प्रदर्शित होती है जो क्लैसिक स्थिति की ओर झुकी हुई भाषा में दृष्टिगोचर होती है। अस्तु, रूपों की तालिका के आधार पर ऋग्वेद की भाषा-संबंधी स्थिति पर कुछ सोचना ग़लत होगा; उनकी तुलनात्मक गणना और उनके साहित्यिक प्रयोग की समीक्षा से यह प्रकट होता है कि बहुत बड़े अंश तक वे पहले के अवशिष्ट रूप हैं।

शेष के स्वयं ऋग्वेद में, यथेष्ट रूप में प्रचुर, विस्तार-प्राप्त रचनाओं के प्रमाण मिलते हैं; जैसे गवाम् के निकट संबंध० बहु० गोनाम्, चक्षुषः के निकट अपादान० एक० चक्षोः; अथवा और भी महिना भूना प्रकार का करण० एक०। अजीब बात यह है कि क्लैसिकल संस्कृत में, जो अव्यवस्थाओं की संख्या कम करने प्रवृत्ति प्रकट करती है, कई बार

परंपरागत रूपों के प्रति मोह पाया जाता है; उदाहरणार्थ, उसमें केवल गवाम् सुरक्षित है, वह भी गोनाम् की अपेक्षा अधिक नियमित रूप से। तो मध्यकालीन भारतीय भाषा (पाली गोनं, गुन्नं) परित्यक्त रूप की शक्ति प्रमाणित करती है; यह बात कि करण० बहु० विकरणयुक्त में, केवल -ऐः सुरक्षित रहता है, तो उस समय समस्त सदृश रूप -एभिः की विजय निर्धारित करते प्रतीत होते हैं (जिसकी पुष्टि मध्यकालीन भारतीय भाषा द्वारा होती है), जिससे संभवतः यह प्रदर्शित होता है कि जो नवीनता थी और जो वास्तव में भारतीय थी, पुरानी फ़ारसी के प्रयोग की दृष्टि से समानान्तर थी, न कि एक-सी।

वास्तव में क्लैसीकल संस्कृत की विशेषता, कम-से-कम जिसमें व्याकरण सुरक्षित है—क्योंकि शब्दावली तो नयी-नयी और प्रचुर मात्रा में होती जाती है—असमृद्धता है। सांस्कृतिक भाषा, संस्कृत ने स्वेच्छापूर्वक या अनिच्छापूर्वक ग्रामीण भाषाओं का अनुसरण किया है; अथवा उन्होंने, भारत में अन्य भारोपीय भाषाओं की भाँति, समृद्ध प्रागैतिहासिक रूप-रचना का आदर्शीकरण और सरलीकरण किया। यही कारण है कि संस्कृत ने, जैसा देखा जा चुका है, -एन, -औ, -आनि के लाभार्थ -आ युक्त संदिग्ध प्रत्ययों का परित्याग कर दिया है; -इ और -उ युक्त विकरणों में, उसने अर्यः, क्रत्वः प्रकारों का परित्याग किया; -अन् युक्त विकरणों का प्रत्यय-विहीन अधिकरण लुप्त हो जाता है, जानबूझ कर रखी गयी पुरातनता को छोड़ कर, और विकरण स्वयं अन्य विकृत रूपों की स्वरान्विति ग्रहण करता है (मूर्धनि राज्ञि नाम्नि); -वन्त् वाले विशेषणों के -वः युक्त संबोधन का स्थान अथर्ववेद का -वन् ग्रहण कर लेता है। -उ और -इ से युक्त नपुं० में -न्- का विकरण केवल सभी आदि स्वर वाले प्रत्ययों से पूर्व रहता है और -अन्ति, -आंसि की अनुनासिकता -उञ्जि आदि तक व्याप्त हो जाती है; कृदन्तों का मात्रा-काल पुंल्लिग में घुलमिल जाता है : सन्ति सन्तः की तरह। किन्तु ये ही अकेले स्फुट रूप नहीं है जो अपने को स्थिति के अनुकूल बना लेते हैं, ये ही बड़े-बड़े समुदाय नहीं है जो अपनी रचना करते या परस्पर निकट आ जाते हैं। स्वर-संयुक्त मूल विकरण व्युत्पत्ति वाले शब्दों में घुलमिल जाते हैं, जैसे ऋग्वेद से पुंल्लिग गोपाः के निकट गोप- (कर्म० बहु० गोपान्) है, और स्त्री० प्रजा जो पु० स्त्री० दिविजाः के निकट है; नवीन रूप तीं केवल क्लैसीकल संस्कृत में मिलता है; वृकीः और देवी के तिङ केवल एक तिङ में मिल जाते हैं जिसमें वे -आ वाले स्त्री० के संज्ञा-रूप के साथ सादृश्य को प्रमुख बना देते हैं।

दूसरी ओर वे संज्ञाएँ जिनका मूल दीर्घ स्वरान्त वाला होता है उनके साथ सम्बद्ध हो जाने की प्रवृत्ति प्रकट करते हैं जिनमें स्वर ह्रस्व है। आकृति-मूलक परिस्थितियों से इस कार्य में सहायता मिलती है : वास्तव में दीर्घान्त रूपों की रचना में संक्षिप्तीकरण

हो जाता है, जैसा कि एक ओर सेनजित्- और पृथिविष्ठा- में मिलता है, और दूसरी ओर गोप- में। निस्सन्देह अन्त्यों की दुर्बलता ने, जो साहित्यिक मध्यकालीन भारतीय भाषा में देखी जाती है, उसे बराबर सहायता पहुँचाई है। अंत में -इ- युक्त संज्ञाओं का -इन्- वाल संज्ञाओं में मिल जाने की प्रवृत्ति मिलती है, जिससे प्रथम में कर्म० बहु० -ईन्, द्वितीय में संबंध० बहु० -ईनाम्।

परिवर्तन-क्रम कम होते जाते हैं; जिससे हैं राजानः जैसे कर्म०, -अतः वाले वर्तमान-कालिक कृदन्त के कर्त्ता० बहु०; उसी से, वैयाकरणों द्वारा संपादित नियमों के रहते हुए भी, -अन्ती और -अती वाले कृदन्तों के स्त्री० के बीच वास्तविक अनिश्चितता है।

सामान्य परिणाम सुव्यवस्था और अत्यधिक स्पष्टता के रूप में दृष्टिगोचर होता है।

विकरणयुक्त और अविकरणयुक्त का पारस्परिक विरोध पहले की अपेक्षा अधिक स्पष्ट हो जाता है : करण० एक० -एन : -आ; संबंध० बहु० -आनाम् : -आम्; करण० बहु० -ऐः : -भिः। 'देवी' प्रकार का सामान्यीकरण और -इ-, -उ- और -ई, -ऊ युक्त रूप-रचना के स्वयं मिश्रण एक विचित्र स्त्री० विकरण की रचना की प्रवृत्ति से निकलते हैं, जिसमें जिह्वा के साथ, जो दूसरी ओर चन्द्रमा (-स्- युक्त प्राचीन विकरण) और स्वयं दुहिता (-र्- युक्त विकरण) को आत्मसात् करने की संभावना है, संबद्ध होने की संभावना है। इस स्त्री० समुदाय के विपरीत पु० नपुंसक० समुदाय अपना संकोच कर लेता है : ऋ० -आन्ति (सान्ति, घृतवान्ति) -अन्ति हो जाते हैं जिससे पु० -अन्तः (पदपाठ सन्ति, अथर्व० बृहन्ति हैं ही; किन्तु महान्ति : महान्तः बने रहते हैं); साथ ही आगे उसका अधिकाधिक स्पष्ट विरोध स्त्री० समुदाय से मिलता है जो विकरणयुक्त रचना के प्रयोग के प्रसार के अनुपात में है।

अथवा इस रचना को मूल रूपों से वास्तव में लाभ पहुँचता है। इस प्रसार के पृथक्त्व की एक बात रूप-रचना की कुछ अनिश्चितताओं में मिलती है : उदाहरणार्थ, पादम् पादौ, पाद् और पाद से भली भाँति सम्बद्ध रहता है, तथा पदा पद्- या पद- से; दूसरी ओर, व्युत्पत्ति वाले विकरणों के अस्तित्त्व में, जैसे -दृश- -दुघ- अपने अविकरण युक्त को दुहरा रूप प्रदान करते हैं; अंत में उन समुदायों में जो भारोपीय हैं ही, जैसे दम- और दम्-।

निस्संदेह प्रथम प्रयोग, जो विकरणयुक्त व्युत्पत्ति की वैदिक भाषा का निर्माण करता है, मुख्य कालों के एकाक्षरों को अलग करने में है; वारि जो वाः का स्थान ग्रहण कर लेता है, पुमान् जिससे पुंस्- कर्त्ता० का काम निकलता है, एक ही समस्या के अं-

साधारण समाधान हैं। इसके विपरीत भारतीय-ईरानी में नपुं० हृ́दयम्, अ० ज़र॑ठअएम्, वैदिक भाषा का, उद्क॑म् (जिसका विकरण अन्य कालों तक प्रसारित हो जाना चाहिए), आस्ये॑म् और स्त्री० पृ́तना (और फलतः पृ́तनासु जो पृत्सु́ से भिन्न है) हैं ही; ना॑सिका, कर्त्ता० द्वि० ना॑सि; यदि पु० पा॑दः को संभवतः पा॑द्- "पैर" (पशु का; चार द्वारा विभाजन भारत में अब भी प्रचलित है) से निकला मान लिया जाय, तो मा॑स- तुल्य है मा॑स्- के जिसका अर्थ वास्तव में 'महीना' साथ ही 'चन्द्रमा' हो सकता है (कर्म० बहु० में यह भेद बना रहा प्रतीत होता है); और हर हालत में द॑न्त- द॑न् का दुहरा रूप है, करण० बहु० दद्॑भिः ; अन्त में, न॑र- (रचना में सर्वप्रथम प्रमाणित) वीर॑- सहित अधि० न॑रि आदि के मुख्य काल प्रदान करता है।

बाद को यह व्याप्ति सभी तिङों तक में पायी जाने लगती है : ऋ० उदका॑त्, आसा॑ के निकट आस्ये॑न, विचित्र अधि आस्ये॑; अथर्व० मा॑साय मा॑सानाम्; तत्पश्चात् नवीन शब्द सामने आते हैं : ब्रा० द्वा॑रम्, उपनि० नक्तम्। साथ ही विकरणीकरण एकाक्षरों तक ही किसी प्रकार भी सीमित नहीं है।

अनेकाक्षरात्मकों में, अनुनासिकों का परिवर्तन-क्रम दर्मन्-, के निकट दर्म-, की उत्पत्ति के कारण है; अ॑हा(नि) से निकलता है अ॑ह्नाम् के निकट संबंध० बहु० अ॑हानाम्, शीर्षा॑(णि), अपा० एक० शीर्षत॑ः से द्वि० शीर्षे॑ और बाद को अथर्व० शीर्ष॑म्; तै० सं० में भी कर्त्ता० यू॑ः पाया जाता है, किन्तु करण० के लिये उसमें यूर्षे॑ण है ही (वा० सं० यूष्णा॑)। -अस्- और -अ- युक्त विकरणों का सह-अस्तित्व, जैसे ज॑नस्- और ज॑न- में, अ॑न्-आगस्- के निकट अ॑न्-आग- आदि को प्रोत्साहित करता है। किन्तु व्याप्तियाँ बिना किसी विशेष कारण के अधिक होती जाती हैं : देवर- बहुत शीघ्र ही अपने को -तर- वाली संबंध-सूचक संज्ञाओं से पृथक् कर लेता है; ऋ० विष्ट॑प- नपुं०, जिससे विष्ट॑प्- स्त्री० मुख्य काल उपलब्ध होता है, विकृत रूपों तक प्रसारित हो जाता है (साम० विष्ट॑पे = ऋ० विष्ट॑पि); तत्पश्चात् उत्पन्न होते हैं अथर्व० क॑कुद-, महाकाव्य का आमिष-, सुहृद-, तुलनात्मक श्रेयस- आदि।

इसी प्रकार -आ स्त्री० की विशेषता प्रकट करने का कार्य करता है : ऋ० क्षपा॑भिः, अथर्व० अप्सरा॑, कासे संबोध० "खाँसी" जो अपा० कासः के निकट है, ऋ० उषा॑म् और वा० सं० उषा॑, यजु० दिशा, पाणिनि निशा। इसके विपरीत -आ- पु० युक्त विकरणों का प्रचलन बन्द हो जाता है : पथेष्ठा- रथेष्ठा- के सदृश है; किन्तु ऋ० के वि॑पथि- के बाद अथर्व० का विपथ॑- आता है तथा बाद को पथ- प्रकट होता है। महा॑न्तम् के निकट कर्म० महा॑म् भी पाया जाता है, किन्तु कर्त्ता० एक० में केवल महा॑न् और मह॑ः (स्त्री० मही॑) है; विकरणयुक्त स्वर समासों में स्थान प्राप्त कर लेता है : रत्नधे॑भिः, रथेष्ठे॑न

कर्म० गोपम् जो गोपाम् के निकट है : एक तिङ की रचना इसी प्रकार होती है, जो प्रजां आदि का विरोधी है।

तो संस्कृत की नवीनताएँ एक ऐसी प्रणाली के मध्यवर्ती समुदायीकरण तक जाती हैं जिसका आर्ष रूप और दुर्बलता और भी अधिक प्रमुख हो जाती है क्योंकि बोलचाल की भाषा का विकास तीव्रता के साथ हो गया था। वास्तव में इन आंशिक सुधारों के कारण एक ऐसा अधिक सामान्य परिवर्तन उपस्थित होता है जिसका वास्तविक रूप मध्यकालीन भारतीय भाषा में दृष्टिगोचर होता है।

सर्वनाम

सर्वनाम दो प्रकार के हैं : पुरुषवाचक, जिनकी एक विशेष रूप-रचना होती है; और वे सर्वनाम जिन्हें विशेषण कहा जाता सकता है, जिनके प्रकार हो सकते हैं, और जिनकी रूप-रचना में कुछ बातें नाम-संबंधी संज्ञा-रूप से मिलती-जुलती हैं। इन दोनों वर्गों में संस्कृत में महत्त्वपूर्ण नवीनताएँ स्पष्ट होती हैं।

पुरुषवाचक सर्वनाम

एकवचन

मुख्यकारक : कर्त्ता० अहम् (अ० अज़म्, पु० फ़ा० अदम्) ; त्(उ)वम् (गाथा० त्व्अंम्, पु० फ़ा० तुवम्; गाथा० तू, वाक्यांश के आदि में प्रमाणित, संस्कृत में नहीं मिलता)। —कर्म० माम् (अ० म्अ्म्, पु० फ़ा० माम्), प्रत्ययांश मा (अ० मा);त्(उ) वाम् (अ०θव्अ्म्, पु० फ़ा०θउवाम् एकाक्षरात्मक), प्रत्ययांश त्वा (अ०θवा)।

करण : त्(उ)वा, जिसका असाधारण रूप में ऋ० में प्रमाण मिलता है (अ० θवा), भारतीय रचना त्(उ)वया के प्रति आत्म-समर्पण कर देता है; उत्तम पुरुष में मया कभी नहीं मिलता।

संप्रदान : शुरू से ही, मह्यम्, तुभ्यम् भारतवर्ष के लिये उचित अनुनासिक सहित। पहले के रूपों में, ऋ० तुभ्य कुछ स्थिति में पढ़ा जाता है, मह्य छंद के कारण प्रायः दिखाई पड़ जाता है। प्रथम तो मूल के भारतीयकरण के कारण है, तुल० गाथा० तैब्या; इसके विपरीत दूसरा अ० मैब्या की अपेक्षा अधिक पुराना है, तुल० लै० मिही जो टिबी से भिन्न है।

अपादान : परंपरा से प्राप्त रूपों के निकट मत्, त्वत् (अ० मत्, θवत्) से जो संक्षिप्त और समान हैं, उत्पन्न होते हैं, ऋ० ममत् (संबंध० मम के आधार पर) और अथर्व० मत्तः, जो महाकाव्य से लुप्त हो जाता है।

संबंध० : तव (अ० तव) भारतीय-ईरानी है; मम् वास्तव में भारतीय है (अ० मन, पु० फ़ा० मना) और संभवतः संस्कृत में होने योग्य सावर्ण्य द्वारा उत्पन्न होता है।

प्रत्ययांश रूप मे, ते (गाथा० मोइ तोइ, पु० फ़ा० मैय् तैय्) संबंध० और संप्रदान के लिये समान हैं; यह ग्रीक प्रयोग है; मे कर्म० के कुछ प्रयोग वेद में और फिर मध्यकालीन भारतीय भाषा में मिलते हैं, जो उस प्रवृत्ति का अनुसरण करते हैं जो इधर की अवेस्ता में और बाद की लिथुआनिअन में दिखायी देती है।

अधिकरण : ईरानी में एक भी विशेष रूप नहीं है। ऋ० मयि, किन्तु त्(उ)वे अथर्व० के त्वयि के पक्ष में लुप्त हो जाता है।

द्विवचन

स्वयं संस्कृत में तिङ है। कर्त्ता० के लिये भारोपीय में एक ओर तो था *वे : ऋ० ग्री० हापाक्स् वा प्रत्ययांश, अ० कर्म० ग्री० हापाक्स् वा, और अनुनासिक सहित ऋ० कर्त्ता० ग्री० हापाक्स् वाम्, कर्म० संप्र० संबंध० प्रत्ययांश वाम्; दूसरी ओर था *यू, तुल० साहि० जु-दु, जिसके दर्शन युवम् में होते हैं, कर्म० युवाम्, संबंध ऋ० युवाकु (रनू, 'स्ट्यूडिआ इंडो-ईरानिका', पृ० १६५ के अनुसार *युव्-औ का निकला हुआ), तुल० अ० यवाक्अम्। कर्म० गा० आंअंआवा से ब्राह्मणों का यह प्रकार स्पष्ट हो जाता है, कर्त्ता० कर्म० आवाम्। आव्- और युव्- के आधार पर ये तिङ बड़ी कठिनाई से बनते हैं : आवाभ्याम्, युवभ्याम् और युवाभ्याम् जो उसे हटा देता है; युवोः के स्थान पर शीघ्र ही तै० सं० युवयोः (तुल० ऋ० एनोः), अथर्व० एनयोः, आवयोः ; अर्पा० युवत्, तै० सं० आवत् हो जाते हैं।

प्रत्ययांश : नौ ने भारतीय भाषा के अनुकूल दुहरा प्रत्यय ग्रहण किया है (ना संबंध०, ग्री० नओ कर्त्ता० कर्म०) ; वा, संभवतः एक बार संबंध० की भाँति प्रमाणित, ने संस्कृत अनुनासिक का सामान्यीकरण कर दिया है : वाम्।

बहुवचन

संबंध० भारतीय-ईरानी है : अस्माकम् युष्माकम्, अ० अह्माक्अम् यूस्माक्अम्; और इसी प्रकार प्रत्ययांश नः वः, अ० नो वो; भारतीय-ईरानी में ही बराबर है अपादान अस्मत्, युष्मत्, अ० अह्मत् यूसमत्, तथा, लगभग अनुनासिक में, संप्रदान (अस्मभ्यम्,

अ० अह्मैब्या)। किन्तु कर्त्ता० में यूयम् (तुल० गाथा० यूसें का विस्तृत रूप यूज़ेंआम्) वयम् (अ० वएम्, पु० फ़ा० वयम्) के सावर्ण्य का फल है। अन्य रूपों में सामान्य प्रत्यय मिलते हैं: अस्मान्, तुल० गाथा० आह्मा, अ० अह्म; युष्मान्; स्त्री० ग्र० हाराक्स युष्माः; करण और अधिकरण (अस्माभिः, अस्मासु) में रचनाएँ नितान्त नवीन हैं (तुल० अ० ख़्सेंमा, करण०)। इसके अतिरिक्त मन्त्र विकृत रूपों अस्में युष्में को अलग करते हैं, जो 'मे ते' के आधार पर स्फुट रचनाएँ हैं, ब्राह्मणों में निश्चित रूप से नहीं रहते।

सर्वनामजात-विशेषण

संस्कृत में कुछ ऐसे सर्वनाम हैं जिनका लिंग परिवर्तनशील होता है, किन्तु रूप-रचना की दृष्टि से विशेष्यों और विशेषणों से केवल आंशिक साम्य रखते हैं। वे अधिकतर भारोपीय से आये हैं अथवा भारोपीय अंशों से निर्मित हैं।

(१) संबंधवाचक य-, अ० य-। ईरानी में वह सुरक्षित नहीं रहा, और पुरानी फ़ारसी में तो उसका स्थान निश्चयवाचक ह्य, त्य- (सं० स्य, त्य) ग्रहण कर लेते हैं; भारतीय-आर्य ही भारोपीय भाषाओं में एक ऐसी भाषा है जिसमें वह अब तक सुरक्षित है और उसे अपने दुरूह वाक्यांश का आधार बना रखा है (साथ ही उससे निकले विशेषणों और क्रिया-विशेषणों को)।

(२) प्रश्नवाचक क- कि-(और क्रिया-विशेषणों में कु-); संस्कृत में कंठ्य (भारोपीय का कंठ्योष्ठ्य) का ध्वनि-संबंधी परिवर्तन-क्रम नहीं मिलता: कः, कत् (अ० क्आ, कत्) के निकट उसमें अ० चॅह्या, होमरिक ग्रीक तॅओ के अनुरूप, अथवा चिंसें, चिंम्, ग्री० तिस् के अनुरूप नहीं, वरन् कस्य, किः (ग्री० हाप क्स् माकिः, नकिः वाले समुदायों को छोड़ कर), किम्, ऋ० कीम् हैं; चित् (अ० चिंत्) केवल निपात के रूप में आता है।

अनिश्चयवाचक ईरानी की भाँति द्वित्वयुक्त प्रश्नवाचक के रूप में, अथवा प्रश्नवाचक (अकेले या संबंधवाचक के बाद) के रूप में आता है जिसके बाद में च और विशेषतः चित्, बाद को 'आपे', रहता है।

विभिन्न आवृत्तिमूलक अथवा निश्चयवाचक जिनकी, भारोपीय से प्राप्त, विशेषता कई विकरणों का योग है, जिनमें एक चेतन कर्त्ता० एक० की दृष्टि से प्रधान होता है।

आवृत्तिमूलक स(:), सा: त- भारोपीय है, ग्री० द्, ओंस्, दीर्घ एँ: तों। उसका प्रयोग प्रायः होता है। उसमें ज़ोर देने का आशय हो सकता है, और साथ ही अपने को इतना दुर्बल बना सकता है कि वेद में स निपात की तरह आता है, और गद्य में उसे साधारण उपपद के रूप में माना जा सकता है, यद्यपि वह स्वयं भारतीय-आर्य में उपपद के रूप में था। एक व्युत्पत्ति वाला रूप है स्य- : त्य- जो ऋ० में मुख्य काल के लिये लगभग

सुरक्षित है और जो जीवित नहीं रहा (उसके कुछ अवशिष्ट चिह्न पाली में दृष्टिगोचर होते हैं); पुरानी फ़ारसी में अनुरूप सर्वनाम संबंधवाचक का काम देता है; और एक दीर्घ रूप, जो साथ ही भारतीय-ईरानी है ही, एषं, एतं-, अ० अएसें, अएत-, अत्यन्त सामान्य है।

निकट वस्तु के लिये निश्चयवाचक भारतीय-ईरानी से लिये गये इ- और अ- इन दो विकरणों से बना है : एक० पु० नपुं० अयंम्, कर्म० इमंम्, संप्र० अस्मैं, करण० अनां, जिससे नवीन रूप अनेंन आदि, तुल० अ० अएम्, इमंम्, अहमाइ, करण० एक० गाथा० अना, बहु० गाथा आइसें, अ० अनाइसें आदि। भारतीय-ईरानी निपात -अम् देखने को मिलेगा, जो पुरुषवाचक सर्वनामों और साथ ही अव्यय स्वयंम् (अ० ख़्वए) में मिलता ही है। कर्त्ता० कर्म० नपुं० इदंम् स्फुट रूप में मिलता है, अ० ईत् सर्वत्र संस्कृत ईत् की भाँति निपात है; किन्तु इदंम् संभवतः भारोपीय है, तुल० लै० आइडेम जो एमेम् कर्म० के निकट है। संस्कृत में भी एक विकरण एन- है जिसका अ- जैसा कार्य इस बात का अनुमान करने की स्वतंत्रता देता है कि वह एक निपात, संभवतः भारतीय-ईरानी, के बाद अ- हो जाता है, यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि पहलवी एँन्, फ़ारसी ईन् ने, जिसका प्रयोग कर्तृकारक में होता है, यह महत्त्व गौण रूप से धारण किया है।

दूरस्थ वस्तु के लिये निश्चयवाचक में केवल मुख्य काल ही भारतीय-ईरानी है या कम-से-कम भारतीय-ईरानी अंशों से निर्मित है : असौं, तुल० अ० हाउ, पुरानी फ़ारसी हौव्, किन्तु अव- जिससे ईरानी तिङ को पूर्ण करती है केवल विचित्र गाथा० अधिकरण द्वि० अवोंः में दृष्टिगोचर होता है; और यदि अमु- और अमि- (सचे मि कर्त्ता० एक० और बहु०, कोचीन् ओम्), के दूरवर्ती सदृश रूपों की खोज की जाय, तो उनका रूप, उनका सम्बन्ध अन्धकारपूर्ण मिलेगा; कर्मकाण्ड संबंधी मंत्रों में एक समीपवर्ती विकरण मिलता है (अथर्व० आमोंहम् जो सां त्वंम् के विरोध में है), किन्तु उसका आशय भिन्न है।

प्राचीनतम संस्कृत में ही कुछ पुराने भग्नावशेष मिलते हैं, जिनका आगे आने वाले इतिहास के लिये कोई महत्त्व नहीं है।

भारोपीय की भाँति संस्कृत के इन सर्वनामों की रूप-रचना की विशेषता कुछ खास प्रत्ययों के (एक० नपुं० तंत्, अ० तत्, लै० इस्-टुड, ग्री० त्ओं; कर्त्ता० बहु० पु० तें, अ० तोइ ते, लै० इस्-टि, ग्री० त्ओइं) और विकृत रूपों के मध्यवर्ती रूपमात्र के कारण है : एक० पुल्लिग - नपुं० में -स्म-(संप्र० अस्मैं, अ० अहमाइ, ओम्ब्री एस्मेइ; जो भारतीय-ईरानी में, अन्य विकृत रूप तक प्रसारित हो जाता है : अधि० अस्मिन्, अ० अहमि;

अपा० अस्मा॑त्, अ० अह्मात़ जो निपात अ॑त्, गाथा आत् के निकट है), स्त्री० -स्य्- (एक० अस्यैं, अ० ऐङ्हाइ, तुल० पु० प्रशुन स्टेसिआइ आदि); संबंध० बहु० में -स्- : पु० ऐषा॑म्, अ० अएसॅअ़म्, पु० प्रशुन स्टाइसन्; स्त्री० आसा॑म्, गाथा आङ्ह्अ़म्, तुल० लै० एआरुम।

भारोपीय में व्यक्त एक परंपरा के अनुसार, कुछ विशेषण सर्वनामजात प्रत्ययों के साथ थोड़े-बहुत पूर्ण रूप से कम प्रमुख हो जाते हैं; अन्य॑- उसे पूर्णतः अ० अन्य- की भाँति बना देता है; इसी प्रकार वि॑श्व- और अ० वीस्प- के संबंध में है, सिवाय इसके कि नपुं० एक० का मुख्य कारक वि॑श्वम्, अ० वीस्प्अ॑म् है, और यह कि ऋ० (और साथ ही गाथाओं) से कुछ नामवाची प्रत्यय उत्पन्न होते हैं; पर्यायवाची सर्व- (तुल० अ० हौर्व-) संस्कृत में केवल सर्वनामजात रूप-रचना ग्रहण करता है; इसके विपरीत, जब कि अ० ख़्व- में यह रूप-रचना होती है, तो संस्कृत स्व- में उसका केवल भग्नावशेष है। फलतः कुछ असमानताएँ मिलती हैं, किन्तु संस्कृत में सर्वनामजात रूप-रचना के प्रचलित होने की प्रवृत्ति मिलती है: कतम॑त्, अथर्व० कतर॑त् जो अ० कतार्अ॑म्, ग्री० पोतेरोन् से भिन्न है; कर्त्ता० बहु० पु० उ॑त्तरे, उत्तमें, प॑रे, पू॑र्वे आदि; क्लैसीकल भाषा में उसका और भी विस्तार मिलता है, कुछ बन्धनों के साथ, और उच्च मध्यकालीन भारतीय भाषा में वह काफ़ी अच्छी मात्रा में मिलती है (अशोक० उभयेसं आदि) और साथ ही अधिकरण और अपादान एकवचन के प्रत्ययों का संज्ञाओं की रूप-रचना में विस्तार मिलता है।

मध्यकालीन भारतीय भाषा में संज्ञा

प्राचीन मध्यकालीन भारतीय भाषा

संस्कृत में दृष्टिगोचर होने वाले सामान्यीकरण की गति वास्तविक भाषा में ध्वनि-संबंधी परिस्थितियों के कारण और भी तीव्र हो जाती है।

व्यंजन-संबंधी समुदायों के योग या योग-च्युत हो जाने के कारण उनकी परिवर्तन-क्रम वाली अपनी स्पष्टता का विनाश हो जाता है। अशोक० राजा, लाजा के क्षेत्रों के अनुसार संबंध० में राञ्(ञ्)ओ अथवा लाजिने हैं, जिनमें एक ऐसे स्वर को स्थान प्राप्त होता है जो अत्(त्)अन्- (आत्मन्-) वाला नहीं है; -र्- युक्त विकरणों में पितर् का करण गिरनार में पित्(त्)आ है जिसमें र् नहीं है (जिससे परिवर्तन-क्रम-विहीन पा० पितरा के पुर्ननिर्माण की क्रिया है), जब कि अन्य रूपान्तरों में ऋ से निकले हुए, किन्तु भिन्न, स्वरों सहित पितुना पितिना उपलब्ध होता है।

संयुक्त-स्वरों के न्यूनत्व के कारण द्वि० का लोप शीघ्रता से होता है, क्योंकि औ वाली विशेषता की गड़बड़ संबंध० -ओ: के साथ और, जो अधिक गंभीर बात हुई, कर्त्ता० एक० -ओ के साथ हो जाती है। करण बहु० -एहि के अस्तित्त्व या पुनर्जन्म का भी कुछ कारण होना चाहिए, क्योंकि -ऐ: -ए (उसके कुछ संदिग्ध उदाहरण बताये गये हैं) तक सीमित रहता है, जो न केवल अधिकरण एक० था, वरन् जिसने बहुवचन के रूप में कर्म० का भी काम दिया। अन्त में -इ- और -उ-, -औ जिससे -ओ हो जाता है, से युक्त-संज्ञाओं के अधि० एक० की गड़बड़ संबंध० एक० -ओ: से हो जाती है; उसी से शीघ्र ही करण (-उनो; इसी प्रकार -ए: के लिये -इनो), और, केवल क्रिया-विशेषण-संबंधी (पा० रत्तो, आदो) में सुरक्षित, अधिकरण के आधार पर बनाये गये रूप का विकास और इस रूप का बहिर्गत होना पाया जाता है; संज्ञाओं के अधिकरण में सर्वनाम-जात प्रत्यय का आश्रय लिया गया है।

अन्त में, और विशेषत: शब्दान्त्यों के परिवर्तन से, अनेक बाधाएँ उत्पन्न होती हैं: दीर्घ स्वरों का ह्रस्वीकरण, और पहले अनुनासिकों का: जिससे कर्म० एक० -अं पु० नपुं० और स्त्री० (-अम्, -आम्) और एक० का तदनुरूप बहुवचन (-आन्) के साथ सादृश्य दृष्टिगोचर होता है; उससे ही -वान् युक्त कर्त्ता० पु० और -अन् (कृदन्तों में)

युक्त नपुं० में साम्य दिखाई देता है, और अन्त्य त् का लोप वास्तव में ओजस्वत् को ओजवं का रूप धारण करने के लिये बाध्य करता है। अन्त्य -त् के इसी लोप से अपा० एक० -आत् की गड़बड़ मुख्य कारकों नपुं० बहु० अथवा स्त्री० एक० के साथ और -आ युक्त पुराने करण के साथ उपस्थित होती है। तादि (तादृक्) -क् का लोप इस शब्द को -इ युक्त, फिर अनुनासिक, विकरणों में स्थान प्रदान करता है : पा० तादिन्-; इसी प्रकार मरुत्, परिषत् स्वर-संबंधी विकरणों में चले जाते हैं : पा० मरु, परिसा। अन्त्य व्यंजन-अंशों में सबसे अधिक दुर्बल अंश, स् जो संस्कृत में अघोष फुसफुसाहट वाली ध्वनि है ही, -इ-, -उ- युक्त चेतन संज्ञाओं के कर्त्ता० एक० को अपनी विशेषता से युक्त करता पाया जाता है : उसी से चेतन और नपु० के बीच का भेद पूर्णतः लुप्त हो जाता है, पहले कर्त्ता का (अग्गि, अक्खि; जिससे कर्म० अक्खिम् उत्पन्न होता है), तत्पश्चात् अंशतः अन्य कारकों का (अग्गी, अक्खी जो अग्गयो, अक्खीनि के निकट है); इसमें से जिसका संबंध -अः से उत्पन्न -ओ से है (मनो आदि में), उसके पुल्लिग रूप के कारण तिङ के कुछ व्यतिक्रम बराबर मिलते हैं।

तो यह स्पष्ट है कि क्लैसीकल संस्कृत में रूपों के विकास से मध्यकालीन भारतीय भाषा में मिलने वाली अव्यवस्था का केवल निकटस्थ, या कहना चाहिए, दूरस्थ, आभास प्राप्त होता है।

-अ- युक्त विकरण

इसमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समुदाय हैं, एक तो क्योंकि उन्होंने व्यंजनजात विकरणों की एक बहुत बड़ी संख्या को आत्मसात् कर लिया है, दूसरे क्योंकि वे ह्रस्व और दीर्घ -इ- और -उ- युक्त विकरणों पर निर्भर रहते हैं।

एकवचन

कर्त्ता० और कर्म० :

पुल्लिग में, घोष संस्कृत -ओ से पूर्व का रूप, अघोष से पूर्व के रूप के साथ मिल गया है, जो स्वभावतः संवृत -अ में निहित रहता है, जो निस्सन्देह उस समय दीर्घ हो जाता है जब -ः का सुना जाना बन्द हो जाता है। उसी से पा० में प्रत्येक स्थिति में धम्मो है, और गौण रूप में पूर्वी बोलियों में, अशोक० दिल्ली धंमे।—कर्म० है धम्मं।

कर्त्ता० कर्म० नपुं० : पा० रूपं। अशोक ने दिल्ली में कर्त्ता० मंगले, कर्म० मंगलं रखा है; यह सादृश्यमूलक नवीनता नपुं०, जो बहु० में मिलती है, के लुप्त होने का चिह्न नहीं है। उसकी यही स्थिति सर्वनामों में है।

करण :

पाली के प्राचीन पाठों में वैदिक -आ के चिह्न अवशिष्ट मिलते हैं, जो अपादान० में भद्दे रूप में दृष्टिगोचर होते हैं; यह तो -एन रूप है, जो बहुत सामान्य है, जिससे टीकाओं में उन पर प्रकाश पड़ता है; अशोक के समय में केवल धंमेन, वचनेन प्रकार ज्ञात थे।

संप्रदान और संबंध० :

मध्यकालीन भारतीय भाषा से संप्रदान० लुप्त हो जाता है (दे० पीछे)। वह केवल विकरणयुक्त संज्ञा-रूप के स्पष्ट रूप में बना रहता है, और यह भी उद्देश्य बताने के लिये (सग्गाय प्रकार) और विशेषतः दस्सनाय जैसी क्रियामूलक संज्ञाओं में।

अशोक० का गिरनार की पाली से साम्य है; पूर्व में -आये युक्त रूप मिलते हैं, जो स्त्री० के संबंध० संप्र० एक० से मिलते-जुलते हैं, और जो वास्तव में स्त्री० भाववाचकों के साथ मेल खाने के फलस्वरूप निकलने चाहिए : संस्कृत में -नम् और -ना, -त्वम्, -तम् और -ता के रूप में उसके समानान्तर रूप विद्यमान् हैं; फलतः पाली के -तवे वाली प्राचीन क्रियार्थक संज्ञाओं में -तये, -ताये, -तुये वाले रूप और जुड़ जाते हैं, साथ ही -तु-, -ति- और -ता विकरणों को भी मिला लेते हैं; फलतः उसमें संप्र० स्त्री० के आधार पर एक रूप की उत्पत्ति होती है जो उद्देश्य बताने के लिये अपने को संज्ञा-रूप से पृथक् कर लेता है : अशोक० जीविताये; हिदतिकाये; उससे अ(ट्)ठाये[अ(ट्)ठ(स्)स मिलता है, किन्तु संबंध० के रूप में], मो(क्)खाये जो उन संबंध० भिन्न है जिनका वास्तविक मूल्य संप्रदान जन(स्)स आदि के रूप में है।

अपादान :

इस कारक का केवल विकरणयुक्तों में विशेष रूप था। अथवा, अन्त्य व्यंजन के लोप के फलस्वरूप, वह करण के साथ मेल खा जाता है : पा० सोका=सं० शोकात् और *शोका। दोनों कारक अपनी कुछ मिलती-जुलती बातों के कारण संस्कृत में थे ही : इसीलिए शिला पर खुदी हुई छठी आज्ञा में गिर० 'नास्ति हि कंमातरं सर्वलोक-हितत्पा', कालसी 'न(त्)थि हि कंमतला स(व्)वलोकहितेन' में साम्य मिलता है।

किन्तु करण-अपादान की उत्पत्ति लैटिन के अपादान-करण का विपर्यस्त रूप, अपादान की अर्थ-विचार-संबंधी संभावनाएँ रखती है। यही कारण है कि मध्यकालीन भारतीय भाषा में एक प्राचीन क्रिया-विशेषणजात पर-प्रत्यय मिलता है जो संस्कृत में (किसी से व्युत्पत्ति नहीं) निर्देश प्रकट करता है : सं० उत्तराहि (पाणिनि के भाष्यकारों के अनुसार वसति के साथ निर्मित); जिससे पा० कामाहि, प्रा० छेत्ताहि। विशेषतः वह -तः के प्रयोग को विस्तार प्रदान करता है जिससे मूल प्रकट होता है, जिससे है मुखतो, और फलतः अग्गितो आदि; प्राचीन प्रत्यय के साथ मिल कर, यह पर-प्रत्यय एक

चापातो प्रकार प्रदान करता है जो पाली में बहुत कम मिलता है, किन्तु जो प्राकृत में प्रचुर मात्रा में है। अन्त में, अधिकरण की भाँति, और निस्सन्देह उसके पश्चात्, उससे पाली में एक सर्वनामजात प्रकार का प्रत्यय उत्पन्न होता है : Sn. घरम्हा जो घरा के निकट है।

अधिकरण :

प्राचीन रूप ही चलता रहता है : पा० धम्मे, अशोक० गिर० विजिते। किन्तु सर्वनामों में गृहीत प्रत्यय भी मिलता है : पा० धम्मसमिम् जो तस्मिं की भाँति है, पा० और अशोक० गिर० धम्मम्हि, कालसी विजित(स्)सि, शहबाज़० विजयस्पि। यह प्रत्यय नवीन प्रत्यय के साथ-साथ चलता है : संभवतः वह -इ और -उ युक्त विकरणों का अंश है। बौद्ध संस्कृत (दे० महावस्तु, I, पृ० १७) में सम्मिलित प्रत्यय *-एस्मिन् के प्रमाण मिलते हैं।

बहुवचन

कर्त्ता :

चेतन संज्ञाओं में, संभावित रूप मिलता है : पा० अशोक० देवा। अचेतन में रूपानि प्रकार के निकट प्रायः रूपा मिल ही जाता है (जो पूर्वी अशोक० में एक दूसरे प्रकार के विशेष्य से सम्बद्ध विधेयात्मक कृदन्तों द्वारा प्रमाणित प्रतीत होता है, दे० शिला II, वाक्यांश B और C, किन्तु D नहीं)। पाली में काव्य-रूप धम्मासे वैदिक -आसः की याद दिलाता है; हर हालत में अन्त्य स्वर का कोई कारण नहीं दिया जा सकता।

पुंल्लिग कर्म० :

प्राचीन रूप, देवान्, जो *देवां तक सीमित रहता है, स्त्री० एक० में प्रतीत होता है (बौद्ध संस्कृत में उसके उदाहरण मिलते हैं), तत्पश्चात् *देवं तक, एक० का बहु० दृष्टिगोचर नहीं होता, फलतः अपरिवर्तनशील। क्या -आन् + निपात की भाँति, कर्त्ता० -आस्-ए की भाँति विचार किया गया, -आनि के पृथक् होने के संबंध में यही बात है? यह -आनि अशोक०, पाली और जैन प्राकृत में मिलने लगता है (ल्यूडर्स, 'Sitzb.,' बर्लिन, १९१३, पृ० ९९४)।

पाली और गिर० में सामान्य प्रत्यय -ए है, जो सर्वनामों से निकला कठिनाई से माना जा सकता है, क्योंकि ये, ते का मूल्य कर्त्ता० के लिये वही है जो कर्म० के लिये, और साथ ही उसमें कर्म० का प्रयोग गौण है : स्त्री० ता, नपुं० तानि, मूलतः कर्त्ता० और कर्म० होने के कारण, ते, जो संस्कृत में केवल कर्त्ता० है, की तरह काम आते हैं, विशेषतः तेहि के विरोध, ताहि से भिन्न तेसु, तासु ने ता की भाँति काम आने वाले ते

की रूप-रचना को सहायता पहुँचाई है। सर्वनामों के संबंध में जो कुछ भी कहा जा सकता है, वह यह है कि ते के प्रयोग से अन्य संज्ञाओं के आंशिक सादृश्य का खण्डन नहीं हुआ : कञ्ञाहि, जातीहि, अग्गीहि, ये कर्म० बहु० कञ्ञा, जाती (कर्त्ता० जातियो) अग्गी (कर्त्ता० अग्गयो) के अनुरूप हैं; पुरिसेहि फलतः कर्म० पुरिसे (कर्त्ता० पुरिसा) की याद दिलाता है।

करण० :

प्रत्यय -ऐः से अनिवार्यतः *-ए प्राप्त होने के कारण, संस्कृत -एभिः निरंतर बना रहता है; अथवा -ए, -हि युक्त अपा० -आ की भाँति व्याप्तियुक्त हो जाता है, ऐसा ऊपर कहा जा चुका है; इसीलिए पा० अशोक० देवेहि है; लौकिक अर्थ-सहित 'बहूहि वस्(स्)असतेहि'।

संप्रदान और अपादान :

सं० -एभ्यः से रूप-रचना में विचित्र दुहरे व्यंजन सहित *-एब्भो होना चाहिए; *-एहियो नियम की संभावित कठोरता के कारण था। किन्तु यह देखा जा चुका है कि सामान्यतः संबंध० के सामने संप्रदान विलीन हो जाता है और एक०, अपादान और करण में गड़बड़ हो जाती है। यही कारण है कि संप्रदान का प्रचलित रूप संबंध० वाला है; साथ ही यही कारण है कि अशोक० में आजीविकेहि मिलता है; गिर० तेहि व(त्)-तव्यं, जो शहबाज० तेषं वत(व्)वो के विपरीत है।

अपादान के लिये उदाहरण बहुत कम मिलते हैं: अशोक० गिर० आव पटिवेसि-येहि; पा० वीतरागेहि पक्कामुं।

संबंध० और अधिकरण :

ये समीपी रूप मिलते हैं : देवानां, देवेसु।

-इ-(-इन्-)और -उ- युक्त विकरण

एकवचन

कर्त्ता० और कर्म०

चेतन में तो कोई बात ही नहीं है : अग्गि, अग्गिं : भिक्खु, भिक्खुं। मूलम् के सादृश्य से अचेतन का भेद करने का काम निकलता है : अक्खि (अक्षि), अस्सुं (अश्रु)।

गौण कारक :

अग्नेः, मृदोः के प्रत्ययों के कारण कुछ समस्याएँ उत्पन्न होती हैं जो अग्निना, अक्षीणि प्रकार का विस्तार करते समय छोड़ दी गयी हैं। विस्तार सरल होने पर, क्योंकि

इसी कारण से -इन्- युक्त प्रत्यय संस्कृत में -अन्- (जिससे परिवर्तन-क्रम -इ- : -इन्-) पर आधारित था, वह -इ- युक्त संज्ञा-रूप के साथ जुड़ जाता है, और वास्तव में महाकाव्य-कालीन संस्कृत इस प्रकार के मिश्रण के प्रमाण प्रस्तुत करती है; इस प्रकार संबंध० एक० अग्गिनो, भिक्खुनो की उत्पत्ति के लिये, दूसरी ओर कर्म० एक० हुत्थिं, कर्त्ता० कर्म० बहु० हत्थी (सं० हस्तिनम्, हस्तिनः) की उत्पत्ति के लिये पीठिका प्रस्तुत हो गयी थी।

दूसरी ओर गिर० प्रियदस्(स्)इनो (-दर्शिन्-) से भिन्न अशोक० कालसी पियदस्(स्)इस्(स्)आ-, शहबाज़० प्रिअ-द्रश्(श्)इस्(स्)अ की भाँति संबंध० इस बात का प्रमाण है कि विकरणयुक्त की ओर गति प्राचीन है : उसी से अग्गिस्स, बौद्ध और उत्कीर्ण लेख० सं० भिक्षुस्य।

अधिकरण अग्नौ, मृदौ मुख्य या साक्षात् रूप में जारी रहने योग्य नहीं रहा। जिस प्रकार पा० धम्मस्मिं, तस्मिं, इमस्मिं के आधार पर बना है और अनिवार्य रूप में भी, उसी प्रकार पा० अग्गिस्मिं, अग्गिहि अपना निर्माण करते हैं अमुस्मिं के आधार पर; -स्मा युक्त अपादान भी मिलता है, किन्तु वह प्राचीन करण की प्रतिद्वन्द्विता में कमज़ोर पड़ता है : कस्मा हेतुना; क्रिया-विशेषणजात रूप की गणना किये बिना, पा० : चक्खुतो [चक्षु(ष्)-], अशोक० सवमुनगिरीते दीर्घ ई सहित विकरणयुक्तों के -आतो का समानधर्मा है।

अधिकरण पूर्वी अशोक० पुनावसुने, बहुने जनस्(स्)इ ने विकरणयुक्तों का प्रत्यय ग्रहण कर लिया है। सर्वनामजात प्रत्यय का प्रयोग करते हुए पाली कुछ प्राचीन रूप भी सुरक्षित रखती है; किन्तु कर्त्ता० कर्म० पभङ्गुनं, अधिकरण पभङ्गुने, जो पभङ्गु- से है, विकरणीकरण के प्रमाण हैं ('सद्दनीति', पृ० २३५, n. २)

बहुवचन

विकरणयुक्त रूप अति प्राचीन समय से चले आ रहे हैं : संबंध० (ईनाम्, अ० इनुअम्) भारतीय-ईरानी से, चेतन कर्म० में (आन् की तरह, अ० -ईर्स् के विपरीत -ईन्) और नपुं० मुख्य कारक (-ईनि, अ० ईं) संस्कृत मूल से। नवीन कर्त्ता०, पा० अग्गी, भिक्खू उसी प्रवृत्ति से निकलता है; नपुं० अक्खी क्या वैदिक का ही दीर्घ रूप है, अथवा मूला(नि) की तरह अक्खीनि के निकट की रचना है? यह निश्चित करना कठिन है। यह कहा जा सकता है कि अशोक० पुलसानि की भाँति चेतन कर्म० ह(त्)-थीनि मिलता है।

जहाँ तक चेतन कर्म० अग्गी से संबंध है, पु० नपुं० और स्त्री० तिङों का साधारण विरोध उसमें 'जाती' का सादृश्य देखने की दृष्टि से एक बाधा है : क्योंकि यदि जाती कञ्ञा (कन्याः) की भाँति कर्त्ता० और कर्म० के लिये उपयुक्त है, तो पुं० विकरणयुक्त के दो स ष्ट रूप हैं, देवा और देवे। तो क्या अग्गी में भारतीय-ईरानी का दीर्घ रूप देखना आवश्यक है, तुल० अ० ईसें? यह, आकर्षक, कल्पना आवश्यक नहीं है; प्रत्येक रीति से -आन् की भाँति -ईन् मध्यकालीन भारतीय भाषा में बना रहने की क्षमता नहीं रखता था; और बहुवचन के दोनों मुख्य कारकों के निकट आने की प्रवृत्ति संस्कृत में निश्चित रूप से है जिसके अंतर्गत -अयः युक्त कर्म० प्रायः मिल जाते हैं।

विकृत रूपों में पाली में कुछ प्राचीन रूप सुरक्षित मिलते हैं : पा० ञातिभि, भिक्खुसु; किन्तु सामान्यतः वह विकरण के स्वर को (कुछ वैदिक उदाहरण तो हैं ही) इस रीति से दीर्घ बनाता है कि उससे -एहि, -एसु की लय उत्पन्न होती है : उसी से हैं ञातीहि, भिक्खूहि, पूर्वी अशोक० नातीसु, बहूहि, बहूसु।

स्त्री० स्वर-संबंधी विकरण

जिस प्रकार पुल्लिग संज्ञाएँ विकरणयुक्त संज्ञा-रूप के प्रभावान्तर्गत आ जाती हैं, उसी प्रकार स्त्री० का संगठन इस रीति से मिलता है कि प्रथम से उसका विरोध हो जाता है; किन्तु इस समय -आ युक्त विकरण प्रमुख नहीं हो जाते; उनका परस्पर एक दूसरे पर प्रभाव पड़ता है। इस बात का साम्य उस व्युत्पत्ति से स्थापित होता है जिसका संस्कृत से लेकर आधुनिक भाषाओं तक विरोध मिलता है पु०-नपुं० -अक-, स्त्री० -इका। जहाँ तक -उ- युक्त विकरणों से संबंध है, उनकी रचना -इ- युक्त विकरण की तरह मिलती है।

एकवचन में कर्म० ह्रस्व और दीर्घ स्वर वाले विकरणों में समान रहता है : पा० कञ्ञं, जातिं, नदिं; पाली की लेखन-प्रणाली कर्त्ता० में ही जाति का नदी से भेद उपस्थित करती है, किन्तु स्वयं गिरनार में, अशोक० ने अपचिति, रति के निकट वधी, निझ (त्)ती, -प्रतिप् (त्)ती, अनुसस्टी, लिपी रूप दिये हैं; इसके अतिरिक्त जो ह्रस्व रूप मिलते हैं वे ध्वनि-संबंधी या लेखन-प्रणाली-संबंधी हैं, न कि आकृति-मूलक क्योंकि वह कठिनाई पहले से ही दृष्टिगोचर हो जाती है जिसका प्रमाण पु० अग्गि- प्रकार में मिलता है और क्योंकि उन अन्य -आ युक्त स्त्री० के साथ, जिनमें कोई समीपी ह्रस्व नहीं होता, समानता आ जाती है, इसलिए दीर्घ प्रकार वाला रूप ही सामान्य हो जाता है।

तो कर्म० बहु० में है रत्तियो, जातियो और फलतः पा० धेनुयो (जिसका -य्- उसकी व्युत्पत्ति भली भाँति बताता है)। कञ्ञा प्रकार के प्रभावान्तर्गत कर्त्ता० से मिलता-जुलता कर्म० भी मिलता है; पा० रत्ती, अशोक० धौलि० में संभवतः इ(त्)थी, शह० अटवि जो अटवियो के निकट है। एच० स्मिथ ('सद्दनीति', पृ० ४४८, नोट 'सी') के अनुसार, पाली के कुछ पद्यों में -ईयो (पढ़िए: —⌣⌣aut—) प्रकार के प्रमाण मिलते हैं।

किन्तु स्वयं कञ्ञा, एकवचन की भाँति प्रतीत होने वाला वहुवचन, भेद प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है; जिससे उपलब्ध होता है कञ्ञायो प्रकार (जो एक बार गिरनार की अशोक० रचना में, चेतन संज्ञा महिडायो के रूप में प्रमाणित होता है)।

विकृत रूपों की रूप-रचना समृद्ध नहीं है। प्रारंभ से ही ध्वनि-संबंधी कारणों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है :

पाली में संबंध० अपादान जातियाः करण जातिया से सम्बद्ध हो जाता है। इस आदर्श के आधार पर एक विचित्र प्रकार अशोक० पूजायॉ (पाली में अन्त्य स्वर सर्वत्र ह्रस्व) बनाया गया है जिसमें करण *कञ्ञया को, पृथक् करने का लाभ है उसकी लय द्वारा संज्ञा-रूप के सभी शेषांश का खण्डन कर देना; तो यह केवल व्याकरण-संबंधी विकृत रूप अधिक है। जहाँ तक स्थानवाचियों से संबंध है, अशोक ने त(क्)खसिलाते, उजेनिते मूल के अपादान का तूलनाय [और व(ड्)ढिया] से भली भाँति अन्तर किया है; अधिकरण में कञ्ञाय, जातिया अधिकरण के और करण के अस्थायी प्रयोग पर निर्भर रह कर प्राचीन रूप को आत्मसात् करने की प्रवृत्ति प्रकट करते हैं (अशोक ने तोसलियं, समापायं सुरक्षित रखे हैं)। शेष के लिये यह ज्ञात होना आवश्यक है कि यदि पाली का अधिकरण केवल भारतीय-ईरानी के अधिकरण का प्रसारीकरण नहीं है, तो संस्कृत में व्यंजन का अनुनासिक कहाँ नहीं था; पा० पभावतिया गताय और पु० फ़ा० भूमिया वेज़्र्काया की तुलना कीजिए।

उनमें ऐसे रूप नहीं हैं जो बच रहे हों। उनके साथ-साथ, अशोक के अ-पश्चिमी अभिलेखों में प्रमाणित, संप्रदान के प्राचीन रूप से निकले -ए संयुक्त विकृत रूपों की एक शृंखला मिलती है: कन्यायै, देवियै, भृत्यै (यह ह्रस्व -इ- संयुक्त विकरण से)। ब्राह्मण-ग्रंथों और प्राचीन उपनिषदों के गद्य में इन रूपों का संबंध० महत्त्व-सहित प्रयोग हुआ है : क्लैसीकल संस्कृत में यह प्रयोग नहीं मिलता, किन्तु मध्यकालीन भारतीय भाषा में उसका प्रयोग है अथवा -एभिः संयुक्त करण० बहु० पु० की भाँति उसकी पुनः स्थापना की गई मिलती है। उसी से अशोक० दुतियाये देवीये है जो विहिंसाये की भाँति है (यह देखा जा चुका है कि संप्रदान के एक विशेष अर्थ में यह रूप पुल्लिग तक विस्तृत हो जाता

है); किन्तु अशोक ने फिर भी करण० अपादान व(ड्)ढिया का भेद संबंध० संप्र० व(ड्)ढिये से किया है जिसके साथ अधिकरण : चातुंमासिये, पलिसाये जुड़ जाते हैं, तुलना के लिये पीछे देखिए।

व्यंजन-युक्त विकरण

यह देखा जा चुका है कि किन ध्वनि-संबंधी परिस्थितियों में उच्च मध्यकालीन भारतीय भाषा के समय से व्यंजन-संबंधी संज्ञा-रूप लगभग पूर्णतः लुप्त हो गया। आकृति-मूलक परिस्थितियों ने भी वैसा ही प्रभाव प्रदर्शित किया है, वह भी इस सुविधा के साथ कि सामान्य प्रवृत्ति व्याकरण-संबंधी समकक्षता की ओर हो गई थी। इसका एक स्पष्ट उदाहरण -स् युक्त विकरणों का है। पुल्लिग में, पाली में केवल चन्दिमा है जो उसके स्त्री० संज्ञा के उत्पन्न हो जाने के कारण है और जो बाद को स्त्री० में ही सम्मिलित हो जायगा। नपुं० में अशोक ने कुछ कर्त्ता० दिये हैं : यसो, तुलनात्मक भुये, दवीये; संभवतः संबंध० दिघावुसे; पाली में भी कोई अधिक विशेषता शायद ही हो; किन्तु करण० एक० में विकरणयुक्त रूपों पर प्रभाव डालने की काफ़ी शक्ति थी : बलसा, दमसा जो दमेन (कर्त्ता० बलं, दमो) के समीप है। सामान्य नियम की दृष्टि से -स्-संयुक्त विकरण, संकोच या व्याप्ति द्वारा, विकरणयुक्त संज्ञा-रूप की ओर झुक गये हैं : दुम्मनो, अव्यापन्न-चेतसो; बहु० नपुं० सोतानि (स्रोतांसि); तुलनात्मक सेय्यो, स्त्री० सेय्या, नपुं० सेय्यं और सेय्यसो (किन्तु साधारण तुलनात्मक वैकल्पिक -तर-पर-प्रत्यय सहित निर्मित होता है)।

-र्-, -न्-, -न्त्- युक्त विकरण

अकेले प्राचीन व्यंजनजात विकरणों में, ये विकरण परिवर्तन-क्रम वाले संज्ञा-रूप को अंशतः बनाये रखते हैं; किन्तु अशोक० और पाली में स्वर-संबंधी विकरणों का सावर्ण्य अभी काफ़ी दूर है।

एक० में, करण० पा० सत्थारा, पितरा उस युग के हैं जब कि समुदायगत व्यंजनों में, संस्कृत में, सारूप्य आ गया था अथवा वे पृथक् हो गये थे; अशोक० गिर० पित्(त्)आ, भात्(त्)आ जो भात्रा के निकट है, द्वारा प्रमाणित, सारूप्य एक ऐसे रूप को जन्म देता है जो तिङ में अच्छी तरह खप नहीं सका; स्वर-संबंधी समावेश द्वारा पा० सत्थारा, पितरा अधिकरण सत्थरि, भातरि, अशोक० पितरि से भली भाँत मेल खा जाते हैं; अन्त में, मुख्य कारकों के बाद स्वर का दीर्घीकरण, जो कर्म० सत्थारं और करण० अपा० सत्थारा को उसी रूप में स्थित करता है जिसमें कम्मारं और कंमारा हैं, और जो बहु० तक प्रसारित एक नवीन तिङ की रचना करता है।

किन्तु नवीन प्रणाली पूर्ण नहीं है; वह न तो कर्त्ता० कर्म० बहु० सत्थारो को जिसने एक० रूप धारण कर लिया था, और न संबंध० एक० सत्थु, पितु को एक दूसरे के समीप ला सकी।

तो भी इसमें रचना द्वारा पोषित बहु० करण० और अविकरण० हैं, जो प्रचलित हो जाने वाले सादृश्यों के अंश बन जाते हैं। उनमें ऋ अपने मूल रूप में प्रत्ययों से पूर्व -इ- अथवा -उ- द्वारा सीमित हो जाती है; प्रत्युत पूर्व की ओर -इ- वैसी प्रतीत होने लगती है; -उ- पश्चिम में और पाली में। उसी से -उ- और -इ- संयुक्त विकरणों के साथ सावर्ण्य स्थापित होता है : *सत्थुभि आदि रूप तो लुप्त हो जाते हैं, किन्तु पा० सत्थूहि, सत्थूनं, सत्थूसु, पितूनं (जो अस्पष्ट पितुन्नं के निकट है), पूर्वी अशोक० भातिनं नातीनं, शह० स्पसुनं ने करण० एक० पा० पितुना, पूर्वी अशोक० पितिना, शह० पितुना को अपनी ओर आकर्षित कर लिया है, और संबंध० सत्थु, पितु, अशोक० मातु की व्याप्ति सीधे संस्कृत से पा० सत्थुनो, पितुनो में, फिर सत्थुस्स, पितुस्स, मातुया में आई है। अशोक के पूर्वी रूप महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि उनसे यह प्रमाणित हो सकता है कि नवीनताएँ संबंध० एक० के अंश के रूप में नहीं हैं। शेष, पाली में कुछ अपादान पितितो, मातितो हैं और भातुक- के निकट भातिका- जैसे व्युत्पत्ति वाले रूप हैं।

किंतु संबंधियों के नामों के समुदाय में एक विशेष प्रतिरोध-शक्ति है; जिस प्रकार कि वैदिक भाषा में पत्युः और जन्युः उत्पन्न हो गये थे, पाली में सखि- के लिये कर्म० एक० सखारं, कर्त्ता० बहु० सखारो (शेष सामान्य रूप है सहायक-) है; इसी प्रकार महावस्तु में भार्याम् के लिये भार्यारम् है, और जैन प्राकृत भवन्तारो (भयन्तारो) को जन्म देती है (Aupap. १४२)। स्त्री० में कर्त्ता० सं० दुहिता, जो ऋग्वेद में एक बार द्व्यक्षरात्मक के रूप में आता है, धयति के प्रभावान्तर्गत धीता, जिसका संज्ञा-रूप पा० कञ्ञा की तरह होता है, रूप धारण कर लेता है; संस्कृत महाकाव्य उसका प्रमाण कर्म० एक० दुहिताम् द्वारा देता है, पाली में हैं कर्म० एक० धीतरं, बहु० धीतरो के निकट संबंध० धीताय, जो धीतु और धीतुया के निकट है, धीतानं जो धीतूनं के निकट है। इसी प्रकार संबंध० एक० माताय अशो० पा० मातु और पा० मातुया (धेनुया की भाँति) है। जहाँ तक स्वसृ- से निकले ससा से संबंध है, उसका स्थान पा० सं० भगिनी ने ले लिया है।

इस प्रकार -र्- युक्त संज्ञाओं के विविध रूप विकरणयुक्त और सामान्य स्त्री० को संबंद्ध करने के साधन हैं। कुछ संस्कृत शब्द भी इस प्रकार स्पष्ट हो जाते हैं : श० ब्रा० नापित- (*स्नापितृ- से), भट्ट- (भर्तृ-)।

-न्- युक्त विकरणों की रूप-रचना समान रहती है, कम-से-कम एक० के आत्मा, पा० अत्ता की तरह : किन्तु जहाँ कहीं भी विकृत रूपों की शून्य श्रेणी संस्कृत व्यंजनों

के निकट पहुँचती है, परिवर्तन-क्रम वैसा ही नहीं रहता। पाली, गिरनार के अशोक० और बेसनगर में संबंध० रञ्ञो, करण० रञ्ञा है; किन्तु पाली में राजिनो, राजिना, अशोक० लाजिने, लाजिना का भी प्रयोग हुआ है; बहु० में, करण० राजूभि राजूहि, अधिकरण राजूसु है। दूसरे शब्दों में -न्- युक्त विकरण -र्- युक्त विकरण के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं। पूर्वी अशोक० करण० लाजीहि की तुलना पितुसु के साथ, पाली राजूहि से भिन्न पितूहि के साथ इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। साथ ही उन संज्ञाओं में जिनमें संस्कृत में -अ- है, यह स्वर उपयुक्त परिस्थिति में नवीन तिङ के अनुकूल हो जाता है : पा० ब्रह्मुनो, पूर्वी अशोक० अत्(त्)उना और इसी प्रकार पा० कम्मुना।

अंत में -अन्- की शून्य श्रेणी का प्रतिनिधित्व करने वाला स्वयं अ साक्षात् अनुकूलत्व और विकरणयुक्त संज्ञा-रूप के पृथक्त्व के कारण रहा है : संबंध० राजस्स, कर्म० ब्रह्मं; नपुं० कम्मं, करण० कम्मेन; बहु० संबंध० अत्तानं, अधि० कम्मेसु; अशोक० में कर्त्ता० कंमे, कर्म० कंमं, संबंध० कंमस्स, कंमने के निकट, है।

संस्कृत में भी, कर्त्ता० नयी रचनाओं (तुल० उपर्युक्त दुहिता) के पृथक्त्व का कारण बना है : अथर्व० में मज्जा पु० श० ब्रा० के मज्जा स्त्री० के और अप्रत्यक्ष रूप से पा० मिञ्जा के बाद आता है; महाकाव्य में सीमा स्त्री० है, जो अथर्व० सीमन्- से है; कोशों में प्लीहा स्त्री०, प्लीहन्- पु० से, दिया हुआ है; और यदि वर्त्म नपुं० का प्रतिनिधित्व पा० वट्टा स्त्री० (जिस पर आप० गृ० वर्तमन्- स्त्री० आधारित होना चाहिए) द्वारा होता है, तो यह निस्सन्देह ही अन्तर्वर्ती पु० *वर्तमा ('स्ट्युडिआ इन्डो-ईरानिका', पृ० १७) के कारण है।

विकरणीकरण की ओर प्रवृत्ति के कम-से-कम विरोध का एक कारण विशेषण होना चाहिए; एक रूप अशोक० मैसूर बहु० महात्पा दृष्टिगोचर होता है; करण० एक० महात्पेन, जो खुद्(द्)अकेन के विपरीत है।

-न्त्- संयुक्त विकरणों में अशोक० में तो वर्तमानकालिक कृदन्त हैं ही : नपुं० बहु० गिर० तिस्टन्तो, करण० एक० हेतुवता, भगवता। कर्त्ता० एक० पु० कठिनाई से मिलता है : पूर्वी अशोक० भगवं; किन्तु कालसी० शह० पजाव, जो गुणवा (कियं अशोक० स्तंभ II का किन्यत्- के साथ कोई संबंध नहीं है : यह 'किं इयं' के समान है; धौलि में पृथक् हो गया प्रथम आज्ञा का महा अपाये समास होना चाहिए, जैसा कि जौगड का समानधर्मी रूप उसे प्रकट करता है); १४ वीं आज्ञा में धौलि और जौगड में एक विकरणयुक्त पु० एक० महंते रूप है जिसे ही अन्य रूप महल्(ल्)अके के पक्ष में बचा जाते हैं; सारनाथ में अव(-)ते (सं० यावान्) है, और इस रूप से पृथक् होता है व्युत्पत्ति वाले बहुतावंतके। इसी प्रकार कृदन्तों में गिर० करोंतो है (जिसका रूप करातो लेखन-

प्रणाली की दृष्टि से अपूर्ण होना चाहिए); अन्यत्र व्याप्ति प्राचीन रूप की याद दिलाती है : पूर्ण रूप में कलंतं, करंतं, किन्तु संबंध० एक० अश(न्)त(स्)स = सं० अशन्तः। अशोक में वर्तमान-कालिक कृदन्त मध्य में अधिक पसन्द किये गये हैं, फिर नियमित रूप से विकरणयुक्त रूपों में पाली, जिसमें समानो है, पस्सं, कुब्बं, भवं (संबंध० करोतो, भोतो) का बहुत प्रयोग करती है, किन्तु साथ ही बहुत पहले : कर्त्ता० एक० पु० पस्सन्तो, संबंध० पस्सन्तस्स : जानो, पस्सो काव्यात्मक ग्री० हॉपाक्स् से हैं। -वन्त्- युक्त विकरण में कर्त्ता -वा है : गुणवा, सतिमा, भगवा; किन्तु भवं गोतमो और साथ ही अरहं पुराने मंत्रों (?सूत्रों) में, अरहा जो स्वतंत्र शब्दों में माना गया है, 'सद्दनीति', पृ० १७३। नये रूप -न्- (जिसके संस्कृत में चिह्न मिलते हैं) युक्त विकरण के साथ मेल खाते प्रतीत होते हैं और एक रूप सतिमं, जो कर्म० एक० के रूप में प्रयुक्त हुए पाये जाते हैं, की अनिश्चितता की ओर झुके प्रतीत होते हैं; ओजवं नपुं० ओजवत् का स्थान ग्रहण कर लेता है, किन्तु स्वयं अपने में सतिमा प्रयुक्त होना चाहिए था और हुआ है कर्त्ता० बहु० के रूप में अथवा स्त्री० के रूप में (कर्त्ता० बहु० पु० मतीमा, नपुं० एक० स्त्री० कित्तिमा)। किन्तु -वन्त्- युक्त विकरणों में, जिस प्रकार वर्तमानकालिक कृदन्तों में, सामान्य रूप सीलवन्तो प्रकार, की व्याप्ति रही है ।

प्राकृत

क्लैसीकल प्राकृत के रूप प्रधानतः अत्यधिक ध्वनि-संबंधी क्षय के कारण उच्च मध्यकालीन भारतीय भाषा वालों से भिन्न हैं। व्याकरण की प्रणाली समान है; केवल नये रूपों की प्रमुखता हो जाती है, और सरलीकरण की आवृत्ति होती है। विभिन्न प्राकृतों में बहुत अधिक अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता; साथ ही ये स्वतंत्र बोलियाँ भी नहीं हैं; उनका एक ही व्याकरण-संबंधी आदर्श है और, वहुत कम अपवादों के रूप में, विविधताएँ रूपों के केवल ध्वनि या आकृति-मूलक पुरातनत्व की श्रेणी ग्रहण करती हैं; इन रूपों के ग्रहण करने में यह आवश्यक नहीं कि नियमों को पालन किया ही जाय : इस प्रकार एक ही ग्रन्थकार की रचना में कर्त्ता० एक० जुवा और जुवाणो (सं० युवा); सासं और सासन्तो (सं० शासन) मिलते हैं; इतने पर भी -अन्तो कृदन्त की स्पष्टतः प्रमुखता मिलती है।

' यहाँ यह कह देना भी आवश्यक है कि प्रायः जो रूप इधर के प्रतीत होते हैं वे कृत्रिम ढँग से बनाये गये संस्कृत के हैं; श्वा जैसा एक स्फुट शब्द इस बात की गणना करने के लिये यथेष्ट है : पाली में, कर्त्ता० एक० सा, बहु० सानो के निकट है सुवाण-, सुण-, जिसमें मूर्द्धन्य ण् है और जो प्रामाणिकता का चिह्न है, और साथ ही सुनख- है जो निस्सन्देह

एक श्लेष-शब्द : सु-नख- से बना है; प्राकृत साणो, जो पाली में भी प्रचलित रहता है, एक पुनर्निर्मित रूप में प्रतीत होता है; यह कोई संयोग नहीं है कि 'कुत्ते' की आधुनिक संज्ञाएँ सब भिन्न हों। इसी प्रकार पन्थो, और बहुत कुछ पहो (-पहो, -वहो विशेषत: रचना में मिलते हैं) संदेहात्मक हैं, जब कि वह शब्द, जिसका स्थान वट्टा स्त्री० ग्रहण कर लेता है, केवल कुछ विलक्षण बोलियों में मिलता है; उससे भी अधिक अद्धा (अध्वन्-) है, जिसका कोई आधुनिक रूप नहीं है।

एक० पु०-नपुं० में -आ युक्त अपादान दुर्लभ नहीं है, -आहि युक्त तो महाराष्ट्री में प्राय: मिल जाता है; -अम्हा युक्त सर्वनामवाची रूप का अभाव है; सामान्य क्रिया-रूप विशेषण से उत्पन्न हैं, किन्तु जैन प्राकृत को छोड़ कर, निरन्तर -आ सहित : सौर० पुत्तादो, महा० पुत्ताओ।

आदर्श अधिकरण है अर्द्ध मा० लोगंसि, महा० लोअम्मि, कभी-कभी लोगंमि, मागधी कुलाहिं; —ंसि जो स्मि (ंसि) से निकलता है, -म्मि जो -म्हि से निकलता है, और दोनों पाली में मिलते हैं; मागधी -आहिं, चाहे सं० प्रकार दक्षिणाहि का दीर्घीकरण हो (दे० पीछे), चाहे -अस्मिन् से निकले *-अशिंश में शिन्-ध्वनि की विकृति के कारण हो, तुल० पूर्वी अशोक० -अ(स्)सि, संबंध० मागधी कामाह की भाँति -अश्श से निकल सकता है।

ध्वनि-संबंधी क्षय से यह स्पष्ट हो जाता है कि संबंध० बहु० का अन्त्य अनुनासिक उदासीन हो सकता है : पुत्ताण; विपर्यस्त रूप में प्राय: अन्त्य अनुनासिक सहित लिखा जाता है महाराष्ट्री करण० एक० पुत्तेणं, अधि० बहु० पुत्तेसुं, करण० बहु० पुत्तेहिं।

इसी प्रकार स्पष्ट हो जाता है फलाणि के निकट बहु० नपुं० फलाइं का मुख्य कारक।

पुत्ते के निकट, जो सामान्य है, कर्म० बहु० पु० में प्राय: पुत्ता पाया जाता है जो संस्कृत से नहीं निकला, न पाली से, किन्तु जो अग्गी, रिऊ (तुल० सं० रिपून्), वहू, दे० माला, प्रकारों के उदाहरण, के कारण होना चाहिए।

-आ(द्)ओ में अपादान एक० से भिन्न, पाली की भाँति प्राकृत में बहु० में करण के प्रयोग की रीति प्रचलित है। किन्तु एक विशेष रूप बनाने के लिये कुछ प्रायौगिक रूप उत्पन्न कर लिये गये हैं; अकेला एक जो प्रकाश में आता है, और वह भी जैन धर्म-नियम में, वह एक विचित्र रूप में है, वह करण में क्रिया-विशेषणजात प्रत्यय -तो के जोड़ने से बनता है : पुत्तेहिंतो; वैयाकरणों ने तो (कुछ पाठों के आधार पर ?) पुत्ताहिंतो, पुत्तेसुंतो और संकर रूप में पुत्तासुंतो पर भी, जो एक ही सिद्धान्त के आधार पर बने हैं, दृष्टिपात किया है : वे एक० के रूप भी स्वीकार करते हैं। ये प्रायौगिक रूप प्राचीन

काल में जिनकी रूपरेखा मिलती ही है (ऋ० पत्सुतः), भाषा के इतिहास की दृष्टि से महत्त्वहीन रहे हैं।

स्त्री० में, अपादान के समान प्रत्ययों का ही प्रयोग होता है : सौ० मालादो, वहूदो, महाराष्ट्री मालाओ, वहूओ; और बहु० में : मालाहिंतो आदि।

स्त्री० एक० के अन्य विकृत रूपों में, प्रत्यय -आअ बना रहता है; पाठों में वह बहुत कम मिलता है, और वररुचि ने उसकी अनुमति नहीं दी; प्रचलित रूप -आए है; यहाँ प्राकृत पूर्णतः पाली का खण्डन करती है (किन्तु -आये गाथायं,'सद्दनीति', पृ० ६७५) और अशोक द्वारा प्रयुक्त पूर्वी बोलियों से साम्य रखती है : फलतः मालाए और इसी प्रकार देवीए, वहूए दीर्घ स्वर सहित हैं।

इसी प्रकार कर्त्ता० कर्म० बहु० में मालाओ, जो पाली मालायो का समानधर्मी है, देवीओ, वहूओ रूप में स्वर का दीर्घीकरण स्वीकार करता है।

जो अधिक महत्त्वपूर्ण बात है वह यह है कि स्त्री० की प्रतिक्रिया पु० पर होती है और जैन धर्म-नियम के पद्यों में कर्त्ता० बहु० में देवा प्रकार के निकट माणवाओ जैसे कुछ रूप हैं; वे कितने ही दुर्लभ हों, वे एक वास्तविक तथ्य प्रतिबिंबित करते हैं; यह मन्द प्रत्यय गआइं (गजान्) प्रकार के कर्म० रूप का संतुलन करता है जो कि फिर अशोक-युग से लेकर प्राकृत तक चला आता है।—क्लैसीकल साहित्य में भी इसीओ (ऋषयः), गिरिओ के कुछ उदाहरण मिलते हैं।

दो प्रमुख रूप-रचनाओं ने अन्य रूप-रचनाओं को आत्मसात् किया है अथवा उनके लिये आदर्श का काम दिया है। पु० मनो और नपुं० मनं, प्रथम महाराष्ट्री और जैन, द्वितीय विशेषतः शौरसेनी और मागधी में, प्रकारों की रचना ज्ञात है ही; इसी प्रकार कम्मो और कम्मं हैं; -अन्- युक्त पु० में, -आ युक्त कर्त्ता० में स्त्री० वाले कुछ अंशों के कारण हुआ है : चन्दिमा, जो पाली में पु० है, अद्धा (और वट्टा), उम्हा जुड़ जाते हैं।

-न्- युक्त विकरण -इ- युक्त संज्ञाओं में बराबर मिलते रहते हैं : र्आआ (राजा) का बहु० करण० में र्आईहिं, संबंध० र्आईणं है, जिसका परिणाम यह होता है कि सभी समानान्तर प्रत्ययों में एक-सी ही लय रहती है।

अपभ्रंश

प्राकृत रूपों में अपभ्रंश, पाठों के अनुसार परिवर्तनीय अनुपात में, कुछ ऐसे रूप जोड़ लेती है जो ध्वनि की दृष्टि से उनके और साथ ही नवीन प्रत्ययों के, काफ़ी परिवर्तित दुहरे रूप हैं।

अपभ्रंश रूपों में ह्रस्वीकरण हो जाता है और अन्त्य स्वरों की ध्वनि मन्द पड़ जाती है : कर्त्ता० बहु० प्रा० पुत्ता पुत्त हो जाता है; कर्त्ता० एक० पुत्तो भी पुत्तु हो जाता है; दूसरी ओर कर्म० एक० पुत्तं का अनुनासिक स्वर संवृत हो जाता है : जिससे पुत्तु हुआ; और समान कर्त्ता० कर्म० के इस पुत्तु का अन्त्य यहाँ तक मन्द पड़ने की प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है कि बाद के कुछ पाठों में कर्त्ता० बहु० पुत्ता से निकले पुत्त से उसकी गड़बड़ हो जाती है।

इस प्रणाली की अन्य विशेषताएँ हैं प्रत्ययों में -ह्- की प्रचुरता, और बहु० के विकृत कारकों में अनुनासिक स्वरों की प्रचुरता।

विशेष-विशेष प्रत्यय निम्नलिखित हैं :

विकरणयुक्त, पु०-नपुं०

एकवचन

कर्त्ता० कर्म० पुत्तु (जो पुत्त हो सकता है), फलु, के संबंध में बताया जा चुका है।

करण० में पुत्तेँण (⏑́), पुत्तेँ, पुत्ति के संपूर्ण प्रत्यय का ह्रस्वीकरण हो सकता है, जो प्राकृत के नियमों के विरुद्ध है; इसके अतिरिक्त अनुनासिक अपनी स्पर्शता खो बैठता है, जिस प्रकार प्राकृत में बहु० नपुं० आइं में है।

अधिकरण के दो रूप होते हैं : पुत्ति, प्रा० पुत्ते का दूसरा रूप, और पुत्तहिं, जो मागधी पुत्ताहि और साथ ही पा० प्रा० तहिं आदि सर्वनामजात क्रिया-विशेषणों की याद दिलाता है।

रूपों की इस दूसरी माला में अपादान पुत्तहेँ जुड़ जाता है, तुल० पा० भयाहि, प्रा० मूलाहि। अपादान का एक और रूप पुत्तहोँ है जो निस्सन्देह उपलब्ध रूपों के अनुकूल हुआ प्रा० पुत्ताओ है (अथवा क्या यह स्वीकार करना आवश्यक है कि ह्रस्व रूप का स्थानांतरण हुआ है, पा० पुत्तओ ?)।

संबंध० के अनेक रूप हैं : पुत्तह का मूल सर्वनामजात है (प्रा० मह, जिससे तुह); संभवतः पुत्तहो भी क्योंकि मह के निकट, अपभ्रंश में महु है, जो मह+मज्झु (मह्यम्) है, और तौ (*तओ, तव से ?)। यह देखने की बात है कि पुत्तहो साथ ही अपादान भी है; इससे तथा इस बात से कि दो कारकों में स्त्री० एक० और बहु० में एक-सी ही अभिव्यंजना है, संभवतः 'नीसरियैँ सरियैँ मन्दिरासु' का अपादान० प्रयोग स्पष्ट हो जाता है, भव० ३४२, ७ तथा पृ० ३४*।

जहाँ तक पुत्तसु, पुत्तासु से संबंध है, उनका अन्त्य स्वर पुत्तह, पुत्तहु के सादृश्य पर

है; संभवतः यह भी केवल कर्त्ता० बहु० पुत्त के दीर्घ से निकले अ की अपेक्षा अधिक संवृत अन्त्य अ का संकेत-चिह्न है।

बहुवचन

कर्त्ता० कर्म० पुत्त, फलैँ का संबंध प्राकृत के पुत्ता, फलाइं से है। वह एकवचन और बहुवचन दोनों में होता है—एक विचित्र मुख्य कारक है।

करण० पुत्तेँहिँ, पुत्ताहिँ; अधिकरण पुत्तहिँ।

करण० का परंपरागत प्रत्यय सामान्यतः *पुत्तिहिँ, *पुत्तिसु तक सीमित रहता है और उसकी गड़बड़ -इ- युक्त संज्ञाओं से हो जाती है जैसे अग्गिहिँ; उसी से विकरणयुक्त स्वर उत्पन्न होता है, जो बाद को समस्त तिङ को प्रभावित करता है। किन्तु अधिकरण में इस प्रकार उपलब्ध *पुत्तसु अपरिवर्तनशील होता है, संबंध० एक० होने के कारण, और फलतः वह एक महत्त्वपूर्ण कारक है; अधिकरण और करण को संबद्ध होते भी देखा गया है, भले ही एकवचन और बहुवचन के लिये एक ही रूप प्राप्त हो। यह उन छोटी-सी बातों में से एक बात है जो इस भाषा के कृत्रिम रूप का आभास देती है; वास्तविक बोलचाल में इन अनेक अनिश्चितताओं का भेद बनाये रखना निस्सन्देह कठिन ही था; किन्तु इस बात का अनुमान करने का अधिकार तो होना ही चाहिए कि जिस युग में अपभ्रंश में लिखा जाता था, संयुक्त "मध्य में, बाद में" के अर्थ में शब्दों के समुदाय या समासों द्वारा कारक की अभिव्यंजना, विशेषतः अधिकरण की, पहले ही से प्रचलित थी।

यह कहा जा सकता है कि करण और अधिकरण एकवचन के निकट रहे हैं, चाहे वह युग रहा हो जब कि पुत्तें और पुत्तें रहे हों, चाहे बाद का जब कि अधिकरण पुत्ताहिँ पुत्ते हो जाता है।

संबंध० पुत्तहँ।

यह देख लेने पर कि पुत्तेण पुत्तेँ हो जाता है (और फलाणि, फलाइं हो जाता है, प्राकृत के समय से), तो यहाँ फिर चाहे *पुत्ताँम् की, चाहे *पुत्ताअँ की आशा की जा सकती है। इन कष्टप्रद रूपों का स्थान दुहरा संबंध० ग्रहण कर लेता है : पुत्तह+अँ जो -आणं से निकलता है। परिणामस्वरूप दृष्टिगोचर होता है एक द्वयक्षरात्मक प्रत्यय, जैसा कि, एकवचन और बहुवचन में, विकृत कारकों के सभी प्रत्यय होते हैं।

किन्तु साथ ही अनुनासिक स्वरों के केवल अस्तित्त्व के कारण बहु० का एक० से

विरोध स्थापित हो जाता है : पुत्तह : पुत्तहँ। इससे संभवतः अपादान का नवीन रूप पुत्तहुँ का स्पष्टीकरण हो जाता है जिसका एक० पुत्तहो से विरोध है।

प्राकृत में पहले से ही पुत्तानं का अनुनासिक करण० पुत्तेहिं और अधिकरण पुत्तेसुं तक पहुँच चुका था।

स्त्री०

एकवचन में : कर्त्ता० और कर्म० (बिना अनुनासिकता के) माल, पु० की भाँति एक विचित्र रूप है। विकृत कारकों में मालएँ की आशा की जाती है, और वास्तव में यह करण का रूप है; किन्तु अधिकरण अपादान की विशेषता ह् द्वारा मालहे, -हि संकेत-चिह्न निर्धारित होता है; अधिकरण मालैं, जो मिल भी जाता है (भव०, पृ० ३५*), इस बात का द्योतक है कि वास्तव में पुल्लिंग आदर्श-स्वरूप रहा है।

बहुवचन में : कर्त्ता० कर्म० माल, करण० अधि० मालहिँ; संबंध० में मालहँ के निकट मालहु मिलता है; भलीभाँति प्रमाणित न होने पर इस रूप का एक अपादान-संबंधी पक्ष होता है; उससे, स्वयं मालहे के एक वचन में उत्पत्ति के आधार पर, प्राकृत मालाओ प्रकार के जीवित रहने का प्रमाण मिलता है।

अन्य विकरण

-इ और -उ युक्त संज्ञा-रूप, न तो भली भाँति स्थापित तिङ प्रदान करते हैं, न महत्त्वपूर्ण समस्याएँ। संबंध० एक० अग्गिस्स प्रकार का लोप ध्यान देने योग्य है; पुत्तह के विपरीत अग्गिहेँ, अग्गिहि और गुरुहेँ मिलते हैं, देखिए (भव०, पृ० ३६*) गुरुहु; बहु० में अग्गिहु अथवा अग्गिहू, अथवा स्त्री० में देविहु जो सौनिहँ (शकुनीनाम्) के निकट है, किन्तु सनत्कुमारचरित में मुण्हिँ, सहिहिँ।

सर्वनाम

आदर्शीकरण की प्रवृत्ति ने, जिसके फलस्वरूप नामजात संज्ञा-रूप की स्वर-संधि उत्पन्न हुई, सर्वनामों में कुछ परस्पर विरोधी बातें उत्पन्न हो गयी थीं। उनमें पृथक् करने वाली बातें अनेक और बार-बार दृष्टिगोचर होने वाली हैं; कोई एक सामान्य विधान नहीं मिलता। उसी से होती है रूपों के मूल की वृद्धि और विकास, कभी-कभी अस्पष्ट, किन्तु जिसकी प्रामाणिकता के संबंध में शायद ही कभी संदेह हुआ हो; वे विविध प्रायौगिक रूपों का एक युग प्रमाणित करते हैं और प्रायः आधुनिक बोलियों में प्राप्त रूपों के अधिक स्थायी विभाजन की ओर संकेत करते हैं।

पुरुषवाचक सर्वनाम

एकवचन

मुख्य कारक--कर्ता० द्वयक्षरी वैदिक त्(उ)वम् और कर्म० एकाक्षरात्मक त्वाम् का विरोध, पा० प्रा० तं से भिन्न पा० प्रा० तुवं (पा० त्वं के निकट) तक पहुँचता है; किन्तु प्राकृत तुमं दो कारकों की प्रवृत्ति प्रकट करता है। उत्तम पुरुष में भी पा० अशो० गिर०, अहं, कर्म० पा० मं; एक व्युत्पत्तिवाला बौद्ध प्रा० रूप अहकं, प्रा० मागधी अहके, जैन, अहयं है, जिसमें आदि स्वर के लोप के कारण द्वयक्षरात्मक पक्ष निहित रहता है : पूर्वी अशोक० हकं, प्रा० मागधी ० हगे, हग्गे, जिससे अप० हउँ जो तुहुँ की उत्पत्ति का कारण बना और जो उसी की तरह केवल कर्त्ता० है; (अ)हं कुछ क्रियामूलक रूपों में अपने को संयुक्त कर बना रहता है, दे० और आगे।

गौण कारक के सभी रूपों का यहाँ संग्रह करना निरर्थक होगा, कुछ उदाहरण ही वास्तविकता को प्रकट करने के लिये यथेष्ट होंगे।

उत्तम पुरुष के संबंध० के लिये, प्राचीन मध्यकालीन भारतीय भाषा में 'मम' बना रहता है। किन्तु संबंध० और संप्र० वाक्य-विचार-संबंधी तुल्यता से यह ज्ञात होता है कि मह्यं अपनी अनुनासिकता, जो अस्थायी भी है, इस प्रकार 'मम' को प्रदान करता है।

दूसरी ओर अशोक० शह० मअ है, जो पाली में सदृश रूप के अभाव के कारण, प्रा० मह को, जो भारोपीय में मिलता है, प्राचीनत्व प्रदान करता है : *मेघे, तुल० *तेभे, v. sl. तेवे और संभवतः प्राकृत सह-, v. sl. सेवे और अर्थ के लिये सं० स्वयम् से साम्य रखता है। प्राकृत मह ने सं० मह्यम्, जिससे महं, से अनुनासिकता ग्रहण की है; यह समानता मध्यम पुरुष तुह, तुहं में भी मिलती है।

अपादान में, मत् ने, जो अत्यन्त संक्षिप्त और असुविधाजनक है, प्राकृत में सामान्य पर-प्रत्यय ग्रहण किया है, जिससे मत्तो बना, जो वैयाकरणों को ज्ञात कुछ रूपों के लिये आदर्श का काम देता है और संबंध० को प्रभावित करता है : ममत्तो, मज्झत्तो।

करण भी संबंध० को आधार रूप में ग्रहण करता है : पूर्वी अशोक० ममया, जो कभी ममिया था, जिसके लिये पृथक्-पृथक् आज्ञाओं में ममियाये की गणना नहीं की गयी। इन आज्ञाओं में बाद को महावस्तु में ज्ञात करण० मये का चिह्न मिलता है। इसके विपरीत भब्र कर्त्ता० हमा हमियाये के आधार पर शेष उन सबका काम निकालते हैं जिनकी ठीक-ठीक परिभाषा निर्धारित नहीं हो सकी। क्या महावस्तु मये रूप के साथ करण० मया और प्राचीन प्रत्यांश मे के संबंध का भी क्या वही महत्त्व हो सकता है? अथवा वह नाम-प्रत्यय से संबंधित है? जो कुछ भी हो, यह रूप क्लैसीकल प्राकृत तक में

बना रहता है : मए, मै, और इसी प्रकार मध्यम पुरुष तए, तै (जो पा० करण० अपा० तया का स्थान ग्रहण कर लेता है)।

मं के निकट मुख्य कर्म कारक ममं में संबंध० स्वयं विकरण की सहायता करता है; क्या यह भारोपीय में भी है ?अन्यथा प्रत्ययांश मे, ते में दो मूल्यों का अस्तित्त्व विपर्यस्त रूप के लिये सहायक सिद्ध हो सकता है।

ये सभी रचनाएँ इसलिए और भी अधिक रोचक हैं क्योंकि ये बहुत या कम शीघ्रता के साथ लुप्त होने वाली थीं (उदाहरणार्थ, अशोक के करण० केवल उन्हीं में मिलते हैं), और इससे उस प्राचीन संप्रदान को लाभ पहुँचा जिसे सर्वनाम उस समय तक सुरक्षित रखता है जब कि वह संज्ञाओं में से लुप्त हो जाता है : पा० मय्हं [जिससे प्रा० मज्झ (–), अप० मज्झु] से तुय्हं [प्रा० तुज्झ; तुज्झु के निकट, अप० में तुध्र है, भव० (तुद्धु) जिनकी विकृति अस्पष्ट है] की उत्पत्ति को सहायता मिलती है, जो भिन्न रूप तुब्भ (–) (सं० तुभ्यम्) को, जिसका केवल क्लैसीकल प्राकृत में प्रमाण मिलता है और जो फलतः संदेहात्मक है, बचा जाता है।

मध्यम पुरुष एक० के तु- विकरण का प्रभाव अन्य रूपों तक प्रसारित होता है। संबंध० तुह तो देखा ही जा चुका है; निय संबंध० तुस्य (कर्त्ता० तुओ) प्रदान करता है। करण० में, तए, ऊपर उद्धृत तै, से प्राकृत तुए, तुइ बनते हैं जो इधर तुमं से सम्बद्ध हो जाने पर, तुमे, तुमए प्रदान करते हैं। स्वयं तुमे, तुमए फिर अपादान में दीर्घ रूप तुमाहो, तुमाहि, जिससे तुमाए, धारण कर लेते हैं। ये सब रूप एक ही पाठ में पास-पास मिल जाते हैं : गौड अवहो तए, तै, तुमाए, तुमाइ; हाल तुए, तुइ, तुमए, तुमाइ; जैन तए, तुमे, तुमए। प्रामाणिक रूपों का अनुपात बताना कठिन है; अपभ्रंश में संज्ञाओं के करण० की अनुनासिकता के कारण अत्यधिक प्राचीन रूप दीर्घ हो जाता है, तइँ (पइँ संस्कृत के आधार पर बना उसका एकमूलीय-भिन्नार्थी शब्द प्रतीत होता है : हर हालत में उसमें संस्कृत का चिह्न नहीं मिलता; सर्वनामों के प्- ने आत्मन्- वर्ग, प्रा० अप्पा की याद दिलाई)।

बहुवचन

उत्तम पुरुष के कर्त्ता० में, वयम् का आदि, जो मध्यम पुरुष के प्रत्ययांशों सं० वः, पा० वो की याद दिला सकते हैं, अपने को एक० के अनुकूल बना लेता है; जिससे है पा० मयं, पूर्वी अशोक० मये : उसी से बाद को ह० दुत्रु०, महावस्तु मो नो के लिये, सं० नः। यह पूर्ण नहीं है : अशोक में मये का कर्म० है अ(प्)फे, अ(प्)फेनि (पीछे भी देखिए) जो सीधे वैदिक अस्मे विकृत रूप की याद दिलाता है जिसे केवल यास्क ने मुख्य

कारक के रूप में स्वीकार किया है; अप्फे *अप्फं पर आधारित है जो सीधे संस्कृत अस्मान् से निकला है; *अप्फं, पा० संबंध० अम्हं, सं० अस्मान् की भाँति नहीं, स्वतंत्र रूप में, बना है और *नूस्मे के प्रतिनिधि से बना है, लेस्बियन (ग्री०) अंम्मे, हाल के कर्म० संबंध० अम्ह में सुरक्षित, पीछे भी देखिए। इस कर्म कारक का केवल एक अंश है; प्रा० अहृमे कर्त्ता० कर्म० है और अशोक० मये का प्रभाव उसमें आ गया प्रतीत होता है; पा० तुम्हे, पूर्वी अशोक० तु(प्)फे दो कारकों के लिये आवश्यक है। यह तुम्हे विकरण एक० युष्मे, जिसने यूयम्, जो संस्कृत की अपनी रचना और मध्यकालीन भारतीय भाषा के प्रतिकूल है, का स्थान ग्रहण कर लिया है, के आधार पर पुर्नानिमित हुआ है; और *तूयं को एक० sur. प्राकृत उम्ह- के अत्यन्त निकट होना चाहिए, पीछे देखिए।

अन्त में, मुख्य और विकृत कालों के प्रत्येक सर्वनाम में केवल एक विकरण रहता है। दूसरे प्रकार के कारकों की टीका-टिप्पणी की कोई आवश्यकता नहीं है।

सर्वनामजात विशेषण

संस्कृत में सर्वनामजात विकरणों की संख्या कम हो ही गयी थी और जिन्हें उसने सुरक्षित रखा, उन्हें समुदायगत किया। मध्यकालीन भारतीय भाषा में विकरणों और तिङों का सरलीकरण जारी रहा।

विकरण अमु-, जिससे निकले वैदिक अमुतः, अमुंग थे ही, उस समुदाय की वास्तविक विशेषता है जिसमें असौ कर्त्ता० एक० पु० है। यही कारण है कि पाली में अमू जो पहले स्त्री० बहु० था पुं० में अमी का स्थान ग्रहण कर लेता है; एक० में कर्त्ता० पुं० अमु पु० स्त्री० असु के समीप आ जाता है। असु में विशेष स्वर उतना ही ग्रहण किया गया है जितना ध्वनि की दृष्टि से अपने जैसे रूपों में से छोड़ देने के बाद आवश्यक था : क्योंकि असौ > *असो स्वभावतः सो, एसो (स, एष) के साथ जाता है। वही स्वर नपुं० में दृष्टिगोचर होता है : अदुं *अदो, सं० अदः, के लिये। प्राकृत में एकीकरण जारी रहता है : पु० स्त्री० एक० अमू, नपुं० अमुं, जिससे -उ युक्त संज्ञाओं के संज्ञा-रूप के आधार पर संबंध० अमुणो, साथ ही अमुस्स (अमुष्य) हैं। वास्तव में इस सर्वनाम के रूप प्राकृत में विरल हैं, और अशोक० में तो एक भी नहीं है; तो भी यह देखा जायगा कि संभवतः उसके कुछ चिह्न अवशिष्ट रहते हैं, कम-से-कम कश्मीरी में।

निकट वस्तु-सूचक सर्वनामों में, अ- विकरणों का कोई प्रतिनिधित्व नहीं होता, और यह कुछ प्रत्ययांशों में, प्रा० संबंध० एक० अस्स, स्स, बहु० सं। कर्ता, पु०, एक० अयं का रूप अशोक० गिरनार में, पाली और अर्द्ध-मागधी में स्त्री० का काम देता है; इसके विपरीत अशोक के पूर्वी अभिलेखों में वह (पुरानी फ़ारसी की भाँति) इयं है और वह

भी पुल्लिग में। जहाँ तक कर्त्ता० कर्म० नपुं० इदं से संबंध है, उसकी प्रतिद्वन्द्विता इमं (तुल० अ० इमत्) से है जिसके सामान्य विशेषण के रूप में आने पर उसके साथ साम्य उपस्थित हो जाता है, और कर्म० पु० स्त्री० (इमं इमम्, इमाम्) के साथ भी; यहीं पर विकरणयुक्त प्रकार के सामान्यीकरण से अलगाव हो जाता है : संबंध० एक० पु० नपुं० इमस्स, स्त्री० इमाय, पूर्वी अशोक० इमाये; पु० बहु० इमेसं, करण० इमेहि आदि, जिससे अन्ततः प्राकृत में कर्त्ता० एक० पु० इमो, स्त्री० इमा, इमिआ।

प्रश्नवाचक में, मुख्य काल नपुं० सं० किम् का स्पष्ट विरोध क- के साथ है; उसका एक प्रमाण है कश्चित् > *कच्छि पर आधारित पूर्वी अशोक० किंछि, तुल० अशोक० कालसी पु० केछ (कश्च)। विकरण का प्रभाव विकृत कालों तक पर दृष्टिगोचर होता है : पा० संबंध० किस्स जो कस्स के निकट है, अधि० किस्मिं जो क्रिया-विशेषण कस्मा के रूप में अपादान से भिन्न है, अशो० किनस्(स्)उ जो पा० के नस्सु के तुल्य है, प्रा० किणा वि (केनापि) इस प्रकार स्प्पट हो जाता है, न कि भारतीय-ईरानी का आश्रय लेने से, तुल० गाथा० चिंना। स्पष्टतः भाषा की प्रवृत्ति वास्तविक लिंग के संज्ञा-रूप से पृथक् एक विशेष्यमूलक सर्वनाम की ओर है; इसीलिए बाद को हिं० क्या, गु० क्युँ जो कि- की व्याप्ति द्वारा बना है, जो हिन्दी कौन्, कोण्, जो क्- की व्याप्ति द्वारा है, से भिन्न है, अप० कवण (दे० आगे)।

वास्तव में प्राकृत में विशेषतः कीस का प्रयोग 'क्यों'? और साथ ही 'जो' के अर्थ में होता है, जो पा० किस्स हेतु, प्रा० मागधी कीश कालणादो जैसी अभिव्यंजनाओं से निकलता है।

अपनी विशेषता लिये हुए स्वर गति-सूचक सर्वनामों में प्रकट होने की प्रवृत्ति प्रकट करता है : अशोक० ऐति(स्)स जो एत(स्)स के निकट है, एतिन जो एतेन के निकट है, और फलतः एतिय अ(ट्)ठाय, इमिना जो इमेन के निकट है। उससे मैसूर में है इमिना कालेन और पा० पु० में इमिना, जिसे अमुना द्वारा बल प्राप्त होता है; तुल० महावस्तु एकिना पु० और स्त्री०। जिस अथरस पु० (फलतः पढ़िए इमिस्स) के साथ न केवल शहबाज़० इमिस मिलता है, वरन् ध्रंमनुशस्तिये स्त्री० भी (फलतः यहाँ पढ़िए इमिस्सा); पाली में भी स्त्री० में -इस्स्- का प्रयोग हुआ है : संबंध० (ए)तिस्सा, इमिस्सा और साथ ही एकिस्सा, अञ्ञिस्सा, अधि० तिस्सं, इमिस्सं आदि (*यि- की असुविधा के कारण केवल यस्सं शेष रहा है)। प्राकृत की-, जी-, ती- से स्त्री० विकृत रूप के नवीन विकरणों का अलगाव देखा जा सकता है।

शेष में विकरण क-, इम- की भाँति, संबंधवाचक य- की भाँति, प्रा० ज- और निश्चय-वाचक अथवा आवृत्तिमूलक त-, एत-, प्रा० एअ-, त्य- (जो बहुत कम मिलता है), अंत में

न- (संबंध त- के बाद आने वाले एन- से निकला प्रत्ययांश : एत- जिनकी संज्ञाओं के आधार पर रूप-रचना निर्धारित होती है, किन्तु मुख्य कारकों के रूपों की एकता बनाये रखने के साथ-साथ ते, इमे, अमू आदि)। इम- का कारक तो देखा ही जा चुका है। इसी प्रकार है कर्त्ता० कर्म० नपुं० यं, एतं (यद्, एतद्), अशोक० संप्र० पु० एताय, स्त्री० एताये, पा० अधि० स्त्री० तायं जो तस्सं (तस्याम्) के निकट है, अशोक० पा० येसं, किन्तु पूर्वी अशोक० एतानां जो शह० एतेषं के निकट है; पाली में समझौता उपस्थित किया गया है जिसमें कम सफलता मिली है : एतेसानं, येसानं। स्त्री० में प्राकृत रूप होगा ताए, तीए जो मालए, देवीए के आधार पर एक सामान्य विकृत रूप है। जैन प्राकृत में संबंध० बहु० पु० तेसिं, स्त्री० तासिं का एक च्युत रूप है जो अभी तक स्पष्ट नहीं हो सका।

यह देखा जाता है कि रूपों की स्वयं वृद्धि सामान्यीकरण के प्रायौगिक रूप से हुई है; और उत्पत्ति की स्वतंत्रता होने पर भी, जो सर्वनामों में स्वाभाविक है, उनकी संख्या बड़ी नहीं है; केवल अपभ्रंश में ही कुछ नवीन रूप मिलते हैं, शेष अस्पष्ट हैं : आअ-, एहु, कर्त्ता० बहु० ओइ (अदु-, अमु- में, अथवा भारतीय-ईरानी अव- में प्रदर्शित, अथवा पज़ेंद-फ़ारसी ओंइ से लिया गया ?)

नव्य-भारतीय भाषाओं में संज्ञा

वर्ग

वह प्राचीन संज्ञा-रूप जिसका रूपों से संबंध है अपने को घटाता हुआ और नियमित करता हुआ चलता है; किन्तु इन रूपों का प्रयोग लगभग वही रहता है, और प्राचीनतम संस्कृत के समय से मध्यकालीन भारतीय भाषा तक संज्ञा-रूप की मूलतः एक ही प्रणाली रहती है, जो भारतीय-ईरानी के उत्तराधिकार के रूप में है। जब ध्वनि-संबंधी विकास के कारण शास्त्रीय प्रणाली के नष्ट हो जाने से सब कुछ अपरिवर्तनशील हो जाता है, तभी आधुनिक भाषाओं की विशेषता नवीन प्रणाली का जन्म हुआ।

लिंग

संस्कृत और मध्यकालीन भारतीय भाषा में संज्ञाओं के और उन सर्वनामों के जो पुरुषवाचक नहीं हैं (पुरुषवाचक सर्वनाम स्त्री० का एक स्फुट उदाहरण वा०सं० युष्माः है; नव्य-भारतीय भाषाओं में सिंहली में केवल ती स्त्री०, पु० ता है) तीन लिंगों का भेद मिलता है। आधुनिक भाषाओं में से अधिकतर भाषाओं में केवल दो लिंग हैं; नपुं० केवल मराठी और गुजराती, और दूसरी ओर हिमालय की भद्रवहि (bhadra-wahi) में मिलता है (एस० वर्मा, 'इंडियन लिंग्विस्टिक्स', I)। लंका में चेतन और अचेतन के भेद पर आधारित एक नवीन संगठन मिलता है। अन्त में पूर्वी समुदाय है: बंगाली-असामी-उड़िया में प्राचीनतम पाठों के समय से ही कोई लिंग-भेद नहीं है।

भारोपीय के चेतन और अचेतन के प्राचीन भेद का संस्कृत में कोई महत्त्व नहीं है; इसके विपरीत रूप-विचार की दृष्टि से, मुख्य कारकों को छोड़ कर, सर्वत्र पुल्लिगों और स्त्री० के नपुं० का विरोध मिलता है; ऐसा विशेषतः स्वर-संबंधी विकरणों से युक्त संज्ञाओं में दृष्टिगोचर होता है, अर्थात् स्वयं उनमें जो मध्यकालीन भारतीय भाषा में जीवित रह जाते हैं। कुछ प्राचीन पर-प्रत्ययों, उदाहरणार्थ, -अ-, -त्र- के विशेष्य के चेतन अथवा अचेतन अर्थ का अनुसरण करते हुए दो लिंग संभावित थे। वास्तव में संस्कृत में विकरणयुक्तों की एक बहुत बड़ी संख्या के लिये पुल्लिग और नपुंसक० के बीच

अनिश्चितता का सिद्धान्त दृष्टिगोचर होता है; अस्तु, नीडः और नीडम् : आकाशः, आकाशम्; पुस्तकः, पुस्तकम्; मस्तकः, मस्तकम्; सामान्य प्रवृत्ति नपुं० की ओर पायी जाती है, वै० गृहः, क्लैसीकल गृहम्; दिव्यावदान में मार्ग-, द्रव-, कोव- नपुं० हैं (यह ठीक है कि उसमें त्राण- पु० है) ; तमिल और तेलेगू के उधार लिये गये शब्दों (यह कहना आवश्यक है कि उनकी तिथि अनिश्चित है) में नपुं० की प्रचुरता देखते हुए, यह कहना पड़ता है कि क्लैसीकल पाठ जितना अचेतनों के लिंग के रूप में उसे प्रकट नहीं करते उससे अधिक उस पर विचार होना चाहिए : अस्तु, तमिल में हैं सयमरम् (स्वयंवरः), सुंदेसम् (स्वदेशः), सुरुवम् (स्रवः और स्रुवा), सन्दनम् (स्यन्दनः) और साथ ही मर्चम्, मच्चम् (मत्स्यः); तथा प्राकृत से लिये गये हैं पुयम् (भुजः), दे० कयम् (गजः) (उदाहरण अनवरतविनायकम् पिल्ले कृत 'संस्कृतिक ऐलीमेंट . . ., ड्रैवीडिक स्टडीज़', III, मद्रास, १९१९ से लिये गये हैं)।

जिनका मुख्य कारकों से संबंध है, उनके बहु० के रूपों में शीघ्र ही एक अनिश्चितता ज्ञात हो जायगी। एक ओर तो -आ युक्त नपुं० प्राचीन प्रत्यय, जो पु० के सदृश है, पाली में बना रहता है, जिसमें कभी-कभी पु० का विरोध मिल जाता है (सर्वनाम : ये केचि रूपा, सब्बे रूपा)। किन्तु दूसरी ओर मध्यकालीन भारतीय भाषा में नपुं० मिलता है।

अशोक के पूर्वी अभिलेखों में, पु० और नपुं० के लिये कर्त्ता० एक० -ए युक्त है : किन्तु उसमें एक नपुं० है; क्योंकि कयाने का कर्त्ता० बहु० कयानानि (सं० कल्याणम्) है। यह ठीक है कि कर्म० पु० के लिये अशोक ने प्रायः -आनि, -ईनि से युक्त प्रत्ययों का प्रयोग किया है, जैसा कि श्री ल्यूडर्स का कहना है ('Sitzb.' बर्लिन, १९१३, पृ० ९९३; एफ़० डब्ल्यू० टॉमस, जे० आर० ए० एस०, १९२५, पृ० १०४; तुल० अप्फेनि, पृ० १४६)। यह अनिश्चितता बहुत दिनों तक बनी रही, अथवा उचित बात तो यह है कि प्रत्यय -आनि अथवा उससे निकले हुए रूप बहुत दिनों तक बने रहे ताकि कुछ भाषाओं में वे स्त्री० बहु० के रूप में काम आकर रह जाते।

मुख्य कारक के एक० से जहाँ तक संबंध है, वह, जैसा कि देखा जा चुका है, मध्यकालीन भारतीय भाषा की ध्वनि-प्रणाली द्वारा संतुलित हो जाता है।

अब प्राचीन नपुं० रूपों में कुछ संख्यावाची संज्ञाएँ रह जाती हैं। पाली में तो दुवे का सामान्यीकरण हो ही गया था, जो अनेक स्थलों पर दृष्टिगोचर होता है; प्राकृत में दोण्णि, तिण्णि (प्रथम दूसरे के आधार पर बनता है, और जो अप्रत्यक्षतः "चार" से निकलता है, दे० बार्थोलोमी, 'Sitzb'., हाइडेलबर्ग, १९१६, पृ० ६), चत्तारि, अप० चारि, जिससे लगभग सर्वत्र चार् बनता है, तीन् सिंधी, लहंदा और दर्द को छोड़ कर, दोन् केवल मराठी में।

'क्या, कुछ' अर्थ वाले सर्वनामों की आधुनिक उत्पत्ति के संबंध में आगे देखिए।

तो नपुं० व्याकरण के उचित लिंग के रूप में लगभग सर्वत्र लुप्त हो गया है; इसके विपरीत चेतन और अचेतन संज्ञाओं में अन्तर करने की प्रवृत्ति के चिह्न मिलते हैं।

पहले वाक्य-विचार में : संज्ञा के चेतन, पुरुषवाचक अथवा अचेतन के अनुरूप कश्मीरी में परसर्ग का चुनाव; गुजराती में स्त्री० के संबंध में बहु० नपुं० का; स्पेनिश अ से तुलनीय, चेतन संज्ञाओं के कारकों में मुख्य कर्मकारक का स्थान ग्रहण करने के लिये परसर्ग का सामान्य प्रयोग।

स्वयं रूप-विचार में, पहले सिंहली की ओर संकेत करना उचित है, जिसमें एक नवीन संज्ञा-रूप की प्रणाली का निर्माण मिलता है : एक ओर तो पुल्लिंग और स्त्री लिंग हैं, जिनका निर्माण मुख्य कारक और गौण कारक, जिसमें परसर्ग भी जुड़े रहते हैं, के दो वचनों में होता है; दूसरी ओर अचेतन हैं, जिनमें करण और अधिकरण भी हैं, इन विकृत कारकों की रचना केवल एक० में होती है। यहाँ कुछ निश्चित न कर सकने योग्य अनार्य आधार का प्रभाव देखा जा सकता है।

नेपाल में भी उसी प्रकार व्याकरण-संबंधी लिंग लुप्त हो गया है; उसमें केवल ऐसे कुछ स्त्री० रूप रह गये हैं जिन्हें स्त्री रूप में कहा जा सकता है, उदा० नारि; यह एक ऐसी बात है जो व्युत्पत्ति और शब्दावली से निःसृत होती है, न कि व्याकरण से। साथ ही इसमें एक ऐसी भाषा के चिह्न भी मिलते हैं जो इधर हाल ही में भुला दी गयी है। यह भी निस्सन्देह एक आधार, तिब्बती और मुण्डा, का प्रभाव है, जो पूर्वी समुदाय में लिंगों के पूर्ण लोप के मूल में है; केवल कुछ विद्वत्तापूर्ण रचनाओं में ही उसके अधिक चिह्न पाये जाते हैं; और पुराने बँगला पाठों के कुछ उद्धरण, जो उसके संबंध में दिये जाते हैं, इतने कम हैं कि उनका कोई महत्त्व नहीं रह जाता।

सर्वनामों में स्त्री० के न्यूनत्व के संबंध में, और आगे देखिए।

इस प्रकार प्रणाली तो निश्चित थी, अब केवल इस बात की ओर संकेत करना शेष रह जाता है कि अलग-अलग शब्दों का लिंग बिना परिवर्तित हुए सदैव प्रेषित नहीं होता। पाली के समय से ही यह दृष्टिगोचर होता है कि कुच्छि, सालि और धातु मूलतः पु० थे, किन्तु जिनमें स्त्री० प्रत्यय ग्रहण करने की प्रवृत्ति रहती थी; और वास्तव में दीर्घ और ह्रस्व -इ- और -उ- युक्त विकरण एक दूसरे के निकट हैं। उससे हैं :

अग्निः पु० : म० गु० हिं० आग्, सिं० आगि, जिप्सी-भाषा यग्, पं० लहंदा० अग्, स्त्री० हैं;

कुक्षिः पु० : कश्० कोँछ, पं० कुक्ख्, कुच्छ्, सिं० कुखि, गु० कुख्, म० कूस् स्त्री० हैं;

वायुः पु० : हिं० वाओ, सिं० वाउ, पं० हिं० वा स्त्री० हैं; म० वाव्, गु० वा पु० वात- से निकल सकते हैं;

इक्षुः पु० : हिं० ऊख्, ईख्, गु० ऊस् स्त्री० हैं; किन्तु म० ऊस्, पं० इक्ख् पु०;

बाहुः पु० : हिं० पं० लहंदा बाँह्, सिं० ब़ाँह् स्त्री लिंग हैं; व्युत्पत्ति वाले स्त्री० म० बाही, गु० बाँही;

अक्षि नपुं० : गु० हिं० आँख्, पं० अक्ख्, सि० अक्खि स्त्री० हैं;

व्याप्ति सहित :

दधि नपुं० : गु० म० दहिँ नपुं०; हिं० दही पु०; किन्तु पं० दहिँ, लहंदा दही, सिं० ड़ुही स्त्री०।

वस्तु नपुं० : सिं० वथु और साथ ही तत्सम हिं० गु० वस्तु, स्त्री० हैं।

इसी प्रकार वर्त्म नपुं० जो प्राकृत में वट्टा हो जाता है सर्वत्र स्त्री० द्वारा प्रतिनिधित्व प्राप्त करता है, तुल० दे० पीछे।

और भी विविधताएँ मिलती हैं, विशेषतः विद्वत्तापूर्ण शब्दों में; इस संबंध में कोई सामान्य नियम नहीं है : उदा० हिं० पं० गु० देह् स्त्री० (मराठी में पु०) की स्त्री० में व्याप्ति मिलती है : सिं० देह्[इ]। हिन्दी में सौंह् (शपथ-) स्त्री० है, (बात्, सं० वार्ता, का प्रभाव ?) ; किन्तु तारा, देओता पुल्लिग हो सकते हैं; व्यक्ति में यह नियमित रूप से है।

यहाँ स्त्री० व्युत्पत्ति वाले रूपों के संबंध में विचार करना व्यर्थ होगा : क्योंकि संस्कृत -इनी और विशेषतः -इका, जो सामान्यतः -अको स्त्री० वाले का काम देते हैं, से निकले पर-प्रत्ययों के कार्य की ओर संकेत कर देना यथेष्ट है।

व्युत्पत्ति-युक्त संज्ञाओं में लिंग के एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग की ओर संकेत करना आवश्यक है। हिन्दी में, सं० भाण्डम् से भिन्न, कभी-कभी हण्डा पु० और हण्डी स्त्री० मिलते हैं; पहले का अर्थ है बड़ा बर्तन, दूसरे का छोटा बर्तन; सं० रश्मिः पु० से भिन्न, हि० में रस्सा, रस्सी है। सैद्धान्तिक दृष्टि से यह वैपरीत्य वैसा ही है जैसा, घोड़ा, घोड़ी का; किन्तु व्युत्पत्ति-युक्त पु० अधिक बड़ी चीज़ का आशय प्रकट करता है, स्त्री० छोटी या कोमल वस्तु का। अन्यत्र भी, यह अन्तर मिलता है : गु० टेक्रो पु०, टेक्री स्त्री०; गडुँ नपुं०, गडी स्त्री०; सि० कातु पु० "वड़ा चाकू", काति स्त्री० "छोटा चाकू"; माटो पु०, माटी स्त्री०। निश्चित विस्तार की ओर ध्यान नहीं जाता और विशेषतः इस तथ्य का, किन्तु इतिहास सामान्य भाषा-विज्ञान की दृष्टि से रोचक हो सकता है।

वचन

भारतीय-ईरानी और भारोपीय की भाँति, संस्कृत की रूप-रचना में तीन वचन होते हैं – एकवचन, द्विवचन, बहुवचन। अन्य भारोपीय भाषाओं की भाँति, द्विवचन बिल्कुल लुप्त हो गया है, यह अलगाव मध्यकालीन भारतीय भाषा से पाया जाता है। वैदिक संस्कृत में, द्विवचन सामान्य बात है, साथ ही भारोपीय से अधिक, जिससे युग्म की भाँति विचार होता है : युग्म प्राकृतिक या निरंतर मिलने वाला (अक्षी, ग्री० ओ''स्से; और साथ ही भ्रंवौ, तुल० ग्री० ओफ्रुउंएस्; दुहरी चीज़ें : द्वांरौ जो द्वांरः के निकट है, ग्री० थु'रइ), अथवा संदर्भ द्वारा ज्ञात अथवा परंपरागत जोड़े (हंरी, 'इन्द्र के दो घोड़े'); जोड़े की भावना ही वचन की भावना में है, जिसका प्रमाण एक ओर प्राचीन मंत्रों का अस्तित्त्व है जिनमें किसी व्यक्ति को बताने वाले द्वि० में सदैव साथ रहने वाला व्यक्ति निहित रहता है (मित्रां, मित्र और वरुण; अंहनी, दिन और रात; क्लैसी० सं० पितरौ माता-पिता; भ्रातरौ, -भाई और बहन), साथ ही द्वौ की उपयुक्तता प्रमाण-स्वरूप है जब कि वह अन्य, प्रकट या अप्रकट, की सहायता से वचन घोषित करता है (उंभौ 'वे दोनों' में 'साथ- साथ' की भावना निहित है)।

ऋग्वेद के कुछ कम प्राचीन अंशों में कुछ अनिश्चितता मिलती है (मेइए, बी० एस० एल०, XXI, पृ०५९); यदि उदाहरण ठीक हैं, तो यह इसके ह्रास के शुरू होने का प्रतीक होना चाहिए, और इस संबंध में प्राचीनतम क्लैसीकल संस्कृत में वास्तविक विकास पूर्णतः छिपा रहा, क्योंकि उसमें दो चीज़ों का उल्लेख, चाहे द्वौ उपयुक्त हो या न हो, जब कभी होता है तो द्वि० का प्रयोग होता है : ऋ० (१०वाँ अष्टक) घर्मा, महा० अङ्गुल्यौ। वास्तव में, बौद्ध संस्कृत में कभी-कभी, विशेषतः सर्वनामों में, द्वि० के लिये बहु० मिलता है; उसमें यह चिह्न स्पष्ट है; और सच बात तो यह है कि अधिकांश उच्चतम मध्यकालीन भारतीय भाषा में द्वि० के केवल कठिनाई से मिलने वाले चिह्न मिलते हैं (श्री एच० स्मिथ के अनुसार : जातक V ३७५ वं; व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के कुछ द्वन्द्व, दे० सद्दनीति, पृ० ६३४, n. १९; गार्बे, 'फ़ेस्टश्रिफ़्ट जाकोबी', पृ० १२८ के आधार पर भास में एक प्राकृत उदाहरण)। 'दो', 'सब दो' की संज्ञाओं के लिये, पा० दुवे, उभो में प्राचीन रूप सुरक्षित है, किन्तु उनसे लै० ड्यूओ की भाँति द्वि० का प्रतिनिधित्व नहीं होता; दो, जो संभवतः अनुकरण-मूलक प्राचीन रूप है (प्राकृत बे के अनुकरण पर *दुवो से दो ?; प्रा० दोण्णि का स्पष्टतः एक बहुवचन रूप है; अन्य व्याख्या बार्थोलोमी Sitzb. Heidelberg, १९१६, पृ० १७n.) और जो पाली में मिलता ही है, के समीप, 'चार' और 'तीन' के रूपों के अनुकरण पर बने विकृत रूप द्विन्नां बहु० हैं।

आधुनिक भाषाओं में केवल एक० और बहु० हैं। तो भी मध्यकालीन भारतीय भाषा की ध्वनि-प्रणाली के कारण प्रायः बहु० के मुख्य कारक और एक० के मुख्य कारक में भेद दृष्टिगोचर नहीं होता : ऐसा मूल संज्ञाओं (प्रातिपदिक) में होता है। जिप्सी-भाषा की भाँति कुछ भाषाओं में इस अभाव की पूर्ति मूल संज्ञाओं (प्रातिपदिक) के बहु० में व्याप्ति-युक्त संज्ञाओं के प्रत्यय के प्रयोग द्वारा की गयी है। इसके अतिरिक्त एक शब्द में दूसरा शब्द जुड़ जाता है, उसकी रचना चाहे उपयुक्त रूप में हो, चाहे 'सब, लोग, समुदाय', आदि की भाँति समूह की भावना निर्धारित और प्रदान करने वाले रूप में। ऐसा विशेषतः चेतन संज्ञाओं में होता है, जब कि संभवतः एक ऐसी 'प्राचीन' धारणा का अनुगमन पाया जाता है जिसके अंतर्गत अचेतन को सामूहिक रूप में, न कि अलग-अलग व्यक्ति के रूप में,देखा जाता है : काल्डवेल[3] पृ० २३२, ने कहा है कि द्रविड़ भाषाओं में बहु० के पर-प्रत्यय केवल बुद्धि-सम्पन्न जीवों के लिये प्रयुक्त होते हैं; बोडिंग, 'मैटीरियल्स ...' II, पृ० ४० के आधार पर संथाली में वचन के चिह्नों का एक निर्णयात्मक महत्त्व है। इसके विपरीत तिब्बती में बहु० का रूपमात्र नहीं है, किन्तु उसमें 'बहुत' और ऐसे ही शब्दों का प्रयोग होता है।

एक आकृति-मूलक कारण भी पाया जाता है : जब तक नपुं० बना रहता है, उसका एक स्पष्ट बहु० वाला रूप मिलता है, जब कि उसमें एक० का अभाव रहता है : उदा० मराठी में ऐसा अब भी मिलता है : पु० एक० और बहु० चोर्, किन्तु नपुं० सूत्, सूते (सूत्राणि)। किन्तु यह केवल पूरक है, क्योंकि यह होता तो बहुत पहले से चला आ रहा था : पतंजलि कुम्भकार -कुल- "कुम्हार" न कि 'कुम्हारों का संघ', महा० बन्धु-जन- "माता- पिता", पा० मातु-गाम "स्त्रियाँ"।

हिन्दी में कहा जाता है 'हम् लोग्' ('हम्' का बहु० "moi" का अर्थ देता है), 'साहिब् लोग्'; लोग् (सं० लोक-) बहु० है। अवधी में कहार लोगन् मं, हमे पने। बंगाली में अधिक विविधता का आश्रय ग्रहण किया गया : पुरानी बं० लोअ, जन, सएल (सकल-); मध्यकालीन बं० सभ् और कुछ संस्कृत शब्द : गण, कुल गुला हो जाता है; आदि, आदिक दि हो जाते हैं, १५वीं शताब्दी में दिग्; सान्निध्य-प्राप्त कुछ आदि शब्द : सकल, जत जो पहले आश्चर्यबोधक थे; अंततः -कर अथवा -केर- से युक्त पर-प्रत्यय से बना व्युत्पत्ति-युक्त विशेषण और प्रथमतः सब् के साथ जुड़ने वाला : आम्रा सब्, बामुनेरा सब्; बाद को 'सब्' शब्द का प्रयोग बन्द हो गया और पर-प्रत्यय से बहु० प्रकट करने के लिये काम निकाला जाने लगा, १४ वीं शताब्दी से ऐसा सर्वनामों में हो रहा है और एक शताब्दी बाद संज्ञाओं में : छेलेरा, कामारेरा; अब तो यह अत्यधिक सामान्य रूप है। कुछ बोलियों में -इगा युक्त विशेषण मिल जाते हैं। पूर्वी बंगाली में मीन, मान्

छत्तीसगढ़ी मना, उड़िया मान (१५ वीं शताब्दी में माण) के सदृश हैं : ये सं० मानव के कुछ रूप हैं। असामी में बोर (बहुतर- ?) होता है। पूर्वी बोलियों के और भी रूप उद्धृत किये जा सकते हैं जिनकी व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।

उत्तर-पश्चिम में कती किले (विकृत किलो; फलतः यह बहु० है), वैगेलि केले, प्रशुन किलि, पशई कुलि; गवर्बती गिल : ये ईरानी से उधार लिये गये हैं : अफ़ग़ानी क्अलै "गाँव"। गवर्बती में नम् 'नाम' भी है, तुल० लै० नोंमेन।

इसके विपरीत सिंहली में अचेतन संज्ञाओं के लिये एक प्रत्यय होता है : नुवर-वल् का संज्ञा-रूप एक० की भाँति होता है; इस शब्द 'वल्' की व्युत्पत्ति स्पष्ट नहीं है। साथ ही उसमें, संबंधियों या उपाधियों के कुछ नामों के साथ सम्बद्ध, -वरु (सं० -वर-आदरसूचक) और -ला (अय्य-ला, अय्य-वरु) हैं; समासों के द्वितीय अंश से वह प्रभावित होता है, एक सामूहिक अर्थ में, दूसरे आदरसूचक अर्थ में।

बहु० की दृष्टि से भारत में आदरसूचक बहु० का महत्त्व ध्यान देने योग्य है। सच बात तो यह है कि क्रिया-रूप में वह विशेषतः देखा जाता है : हिं० 'राजा (आप) कहते हैं,' लेकिन इस प्रकार भी कहा जा सकता है : 'राजा के बेटे यहाँ हैं' जिससे तात्पर्य है 'राजा का बेटा'। इस एक० और बहु० के मिश्रण का प्रभाव संज्ञा-रूप पर पड़ता है, विशेषतः सर्वनाम-जात संज्ञा-रूप पर।

कारक

जिन लिंग-संबंधी कुछ अव्यवस्थाओं को देखा जा चुका है उनसे और साथ ही द्वि० के लोप से लिंग और वचन-संबंधी व्याकरण के वर्गों के प्रयोग में कोई गंभीर परिवर्तन नहीं हुआ। जो परिवर्तन रूप-रचना में उत्पन्न हुए उनका बहुत बड़ा महत्त्व रहा; क्योंकि जिन रूपों का उल्लेख हो चुका है उनके परिवर्तन और उनकी पुष्टता के साथ-साथ, उन रूपों के स्वयं प्रयोग में कुछ परिवर्तन हुए हैं जिनके फलस्वरूप अंत में एक ऐसा संज्ञा-रूप प्राप्त होता है जो उत्तरोत्तर पुराने संज्ञा-रूप से निकलता है, किन्तु जो अत्यन्त भिन्न रूप धारण कर लेता है।

भारतीय-ईरानी और भारोपीय से प्राप्त आठ कारकों का भेद संस्कृत में बना रहता है। रूपों का पुनर्विभाजन एक-सा नहीं था : जैसे बहु० और विशेषतः द्वि० की संज्ञाओं में, और सर्वनामों में, कई कारकों में समान रूप विद्यमान थे; किन्तु यह अव्यवस्था, जो ध्वनि-संबंधी परिवर्तनों के फलस्वरूप मध्यकालीन भारतीय भाषा में उत्पन्न अव्यवस्था से अधिक नहीं थी, स्वयं इस प्रणाली के लिये घातक थी। वास्तव में प्रणाली का प्रधान स्वरूप कुछ समान रचनाओं के संबद्ध रूपों के पूर्ण समुदाय द्वारा सुरक्षित रहता है;

और भाषा केवल रूप से संबंधित क्षत-विक्षत अंशों की फिर से रचना करने की स्थिति में बनी रहती है : जैसे संस्कृत और मध्यकालीन भारतीय भाषा में अपादान का उत्तरोत्तर विचित्र होने वाला रूप प्राप्त करने के लिये क्रिया-विशेषणजात पर-प्रत्यय -तः के प्रयोग का प्रसार मिलता है; इसी प्रकार अवेस्ती में, उस युग में जब कि विकरणयुक्त पु०-नपुं० का अन्त्य -त् बना हुआ था, -आ युक्त विकरण और अविकरण-युक्त का विस्तार संबंध० से अपादान का दृढ़तापूर्वक भेद प्रकट करने के लिये होता है।

संस्कृत प्रणाली की मुख्य दुरूहता वाक्य-रचना-संबंधी तुल्यता की बहुतायत के कारण है। अस्तु, पुरुष जिसे कुछ दिया जाता है, संप्रदान, संबंध० और अधिकरण द्वारा प्रकट किया जा सकता है; जिससे कुछ कहा जाता है, वह कर्म, संप्रदान, अधिकरण, संबंध० द्वारा; उद्देश्य कर्म०, संप्रदान, अधिकरण द्वारा; स्थान करण या अधिकरण द्वारा; और इसी प्रकार परिस्थिति के लिये : काल, उन्हीं कारकों द्वारा और कर्म० द्वारा भी; करण और अपादान से इसी प्रकार कारण, पृथक्त्व, तुलना का बोध होता है; क्रियामूलक विशेष्यों के निकट, सादृश्य प्रकट करने वाले शब्दों के निकट, 'पूर्ण करना' अर्थ का द्योतन करने वाली क्रियाओं आदि के निकट संबंध और करण समान हो जाते हैं। कम परिष्कृत भाषा के पाठों में, यह अव्यवस्था और बढ़ जाती है, जो प्रणाली के ह्रास होने का चिह्न और कारण दोनों है। इसी प्रकार क्रिया के संबंध में है, जब कि कुछ महत्त्वपूर्ण रूप जो मूलतः अलग-अलग थे समान प्रयोगों का काम देते हैं, उदाहरणार्थ अतीत की अभिव्यक्ति के लिये, वह एकदम लुप्त हो जाती है।

कारक की प्राचीन प्रणाली प्रत्यक्षतः तो संस्कृत में बनी रहती है। किन्तु उसमें सामान्यीकरण के चिह्न मिलते हैं; जैसे कर्म० में क्रिया के पूरकों के रूप में सामान्यी-करण करने की प्रवृत्ति मिलती है; कर्मवाच्य के पूरकों, क्रिया-विशेषणजात वाक्यों और विशेष प्रयोगों में करण स्थित होता हुआ दृष्टिगोचर होता है।

एक बात जो कम महत्त्वपूर्ण नहीं है वह है संप्रदान का लोप। लक्ष्य और संबंध अथवा गुणारोपण वास्तव में समीपवर्ती भाव हैं और प्रागैतिहासिक काल से प्रत्यांश सर्वनामों में समान रीति से व्यक्त हुए हैं; सं० मे, ते पु०फ़ा० मैय्, तैय् की भाँति। ऋ० के समय से संबंध० अन्य कारकों के समान हो सकता है, विशेषतः संप्रदान के। ब्राह्मण ग्रन्थों में दोनों कारकों का प्रयोग संज्ञाओं के पूरकों के अथवा क्रिया 'देना' के साथ-साथ पाया जाता है (ऐत० ब्रा० 'तस्य ह शतं दत्त्वा'); बाद को यह अन्तिम प्रयोग स्थायी रूप में पाया जाता है। विपर्यस्त रूप में, इन्हीं पाठों में,-आ और -ई युक्त स्त्री० का संप्रदान एक०, संबंध का स्थान ग्रहण कर लेता है (यही बात अवेस्ता में दृष्टिगोचर होती है) : यह

एक ऐसा प्रयोग है जो संस्कृत से लुप्त हो जाता और मध्यकालीन भारतीय भाषा में निरन्तर बना रहता है, किन्तु जिसमें रूप अन्य संबंध० के समानान्तर रहता है।

मध्यकालीन भारतीय भाषा के आदि में ही संप्रदान का लगभग ह्रास हो चुका था। संप्रदान बहु० के लिये अशोक के अभिलेखों में एक प्रत्यय -एहि मिलता है, जो 'देना' क्रियाओं के साथ संबद्ध हो जाता है, वह मुख्यतः श्लेष-पद-युक्त था (दे०, एस० मजूमदार, 'आसुतोष मेमोरियल', पृ० ३१), जब कि उसमें करण अथवा अपादान का भाव भी निहित रहता था; वास्तव में, पाली में केवल एक० विकरणयुक्त रूपों में संप्रदान के उदाहरण मिलते हैं, और वह भी लक्ष्य (सग्गाय गच्छति) और विशेषतः भावना के अर्थ-सहित; जिसमें एक महत्त्व भी रहता है जो क्रियार्थक-संज्ञा संप्रदान अशो० पा० -तवे के प्रायः निकट होता है : अपुनब्भवाय, दस्सनाय (-त्तए युक्त प्राकृत क्रियार्थक-संज्ञा संभवतः इस संप्रदान को -तवे युक्त प्राचीन क्रियार्थक-संज्ञा सहित जारी रखता है)।

एक और कारक ने बहुत बड़े अंश में संप्रदान का कार्य स्वीकार किया है, और वह है अधिकरण। वास्तव में इस कारक का नामकरण ठीक नहीं हुआ और वह विविध और प्रायः अस्पष्ट संबंध प्रकट करता है, जिन्हें 'भाग लेना' शीर्षक के अन्तर्गत रखा जा सकता है, यदि इस शब्द को हम वह मूल्य प्रदान करें जो उसे समाजशास्त्री प्रदान करते हैं। पाणिनि ने 'अधिकरणं' शब्द का प्रयोग किया है। अधिकरण का विरोध संस्कृत में वैसा नहीं है जैसा लैटिन में, उदाहरणार्थ संज्ञा-रूप की मुख्यतः साक्षात् विशेषता द्वारा। अधिकरण द्वारा अभिव्यक्त इस संबंध की अनिश्चितता के कारण वह पूर्ण प्रयोग के लिये विशेषतः योग्य हो जाता है, जो बात संस्कृत में संबंध तथा लगभग अन्य कारकों के संबंध में अज्ञात है। स्थिति या गुणारोपण, दिशा (क्योंकि संस्कृत में अधिकरण द्वारा प्रश्नवाचक quo और साथ ही प्रश्न ubi प्रकट होता है) और लक्ष्य समीपवर्ती भाव हैं : साथ ही क्लैसीकल संस्कृत अधिकरण द्वारा लक्ष्य और गुणारोपण प्रकट करने योग्य है; बौद्ध संस्कृत में अधिकरण में 'कहना' क्रिया के पूरक स्वमेव मिल जाते हैं। पाली में अधिकरण, करण, अपादान और यहाँ तक कि कर्म० का भी स्थान ग्रहण कर सकता है : वी० हेनरी ने उसे पाली संज्ञा-रूप को बनाने वाला कारक कहा है।

स्वयं कारक से बनने पर, मध्यकालीन भारतीय भाषा की रूप-रचना प्रणाली में तो तुल्यताएँ बहुत बड़ी मात्रा में पायी जाती हैं। जिन सूक्ष्म भेदों को रूप नहीं निश्चित कर पाता उन्हें निश्चित करने के लिये, भाषा अनेक परसर्गों का प्रयोग करती है।

सबसे पहले वाले प्राचीन पूर्व-क्रिया से निकले हैं; वे लघु क्रिया-विशेषण हैं, जैसे अ॑नु, अ॑भि, आ॑ जो प्राचीन भारतीय भाषा में, भारतीय-ईरानी और भारोपीय की भाँति, स्वतंत्र शब्द थे। पूर्व-क्रिया क्रियाओं से तुरंत पहले और संज्ञाओं के पहले या बाद

में, आने लगी : ऋ० पथ्या अ॑नु, अ॑नु द्यून्। क्रम शीघ्र ही स्थापित नहीं हो जाता : महाभारत में भ्रातृभिः सह और सह भ्रातृभिः मिलता है, किन्तु ब्राह्मण-ग्रन्थों में एक ही उपसर्गात्मक अव्यय के लिये दो ही परसर्ग मिलते हैं; और यह उपसर्गात्मक अव्यय वाली प्रवृत्ति क्लैसीकल संस्कृत में सामान्य हो जाती है, और वह इस रूप में कि समुदाय का क्रम निर्धारण के सामान्य क्रम के साथ संवद्ध हो जाता है, वह चाहे अनिश्चित संज्ञाओं के समुदाय में और रचना में हो चाहे पूरक-समुदाय में और क्रिया के समुदाय में हो।

तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि संस्कृत या स्वयं मध्यकालीन भारतीय भाषा में वाक्यगत एक शब्द का दूसरे शब्द पर कारक, वचन आदि से संबंधित निरंतर प्रभाव की दृष्टि से परसर्गों की प्रणाली थी। संज्ञा का कारक केवल अपना संबंध क्रिया के साथ और निपातों के साथ, विना समुदाय की भाँति हुए समुदाय के साथ सान्निध्य प्राप्त करते हुए, अत्यधिक भिन्न कारकों के साथ-साथ चलते हुए, स्थापित करता है : ऋग्वेद में अ॑नु प्राय: कर्म० के साथ सम्बद्ध रहता है, किन्तु वह संबंध० अपादान, करण के साथ भी आ सकता है; क्लैसीकल संस्कृत के वैयाकरण तो इन रचनाओं में से प्रथम तीन की अनुमति प्रदान करते हैं; साथ ही पाली में, जिसमें अन्य दृष्टियों से वह बहुत कम है, अनु अधिकरण के साथ स्वमेव आ जाता है; सं० विना* "पृथक्", जिसमें 'बिना' रहित जो कर्म० के साथ केवल शतपथ ब्राह्मण में आता है, पाणिनि के ग्रंथ में अपादान के साथ आता है, जो उन्हीं के संबंध में कहा जा सकता है, किन्तु साथ रहने की निहित भावना के कारण वह करण के साथ भी पाया जाता है। इसी प्रकार पाली में : माता-पितुहि विना, विना मांसेन हैं। यह ध्यान देने योग्य बात है कि एक स्पष्टत: विचित्र अर्थ का नवीन उपसर्गात्मक अव्यय एक विचित्र कारक के साथ निरंतर सम्बद्ध हुए बिना रह जाता है।

सच तो यह है कि पूरी प्रणाली कमज़ोर है, और परवर्ती इतिहास यह प्रदर्शित करता है कि प्राचीन पूर्व-क्रिया का केवल कुछ हद तक ही क्रियाओं के साथ संबंध बना रहता है; शब्द-व्युत्पत्ति-शास्त्र प्रकट करता है कि ओ- अथवा उ-(अप, अव-, उद्-), अथवा प्- (प्र-, ॰ति-), व्-/ब्-(वि-), सं- द्वारा शुरू हुई अनेक आधुनिक क्रियाओं के आदि में कुछ पूर्व-क्रियाएं आती हैं : बाकी के यदि समीपवर्ती अर्थ वाले कुछ शब्दों का समुदायी-करण पूर्व-क्रियाओं से निकला हो या न निकला हो, उस संबंध को और भी अधिक स्पष्ट कर देता है, तो पूर्व-क्रिया की रचना फिर उसी रूप में सामने नहीं आती। संज्ञाओं में, शेषांश और भी कम रह जाता है; लिखित भाषाओं में प्राचीन पूर्व-क्रियाओं के प्रयोगों में सामान्यीकरण का अभाव एक ऐसी परंपरा प्रकट करता है जो अब भाषा के वास्तविक प्रयोग में पोषित हुई नहीं मिलती।

वास्तव में वाक्यांश में संज्ञाओं के रूप में आने वाले कारकों के प्रयोग का आवश्यक निर्धारण विशेष्यों के स्वयं अनिश्चित रूपों के साथ समुदायीकरण द्वारा यथेष्ट तीव्रता के साथ प्राप्त होता है।

ऋग्वेद के समय से अन्तः (अ० अन्तरअं, लै० इन्टर) के निकट अन्तरा मिलता है जो अन्तर-(अ० अन्तरो) का करण रूप है और जो फलतः प्राचीन काल में 'भीतर' होना चाहिए; किन्तु अन्तरा कर्म० के साथ अन्तर् के रूप में आता है (जिसका एक अधिकरण रूप भी होता है) और फलतः विशेष्य के साथ संबंध नहीं रखता; किन्तु ऋ० III,८,२ के समिद्धस्य श्रयमाणः पुरस्ताद् में, पुरस्ताद पुरः की भाँति अपादान या कर्म० के साथ नहीं चलता (ब्राह्मण-ग्रंथों में उपरिष्टाद् उपरि की भाँति कर्म० के साथ चलता है); यह एक ऐसी संज्ञा है जो संज्ञा ही के साथ संबंध रखती है। मध्ये समुद्रे के निकट, तुल० पा० मज्झे समुद्दे, उदाहरणार्थ, मध्ये अर्णसः; मिलता है। बाद को श › ब्रा० आत्मन उपरि; उपरि की ईरानी और वैदिक रचना कर्म० और करण० में है; नवीन रचना सामान्य अधिकरण में है। यह रीति संस्कृत और मध्यकालीन भारतीय भाषा में भरपूर प्रचलित होती है : उदा०, इस प्रकार निर्मित होते हैं अन्तिके, समीपे, पृष्ठे, अर्थे, अर्थाय (पा० अत्थाय, अत्थं), हेतोः (पा० हेतु), निमित्तम्, निमित्तेन, वशाद्, वशेन आदि। इन्हीं नामजात समुदायों के इस प्रसार से उपसर्गात्मक अव्यय-संबंधी प्रणाली का अभाव स्पष्ट हो जाता है।

रचना में कुछ कृदन्त और जुड़ जाते हैं, जैसे -सहित- जो सह का स्थान ग्रहण कर लेता है, आश्रित-, जो कभी-कभी 'मध्ये' की भाँति ही विशेष्य हो जाने की, और रचना में अथवा कर्म० सहित निर्मित होने की प्रवृत्ति प्रकट करता है। इसी प्रकार हम गवाक्षगता तिष्ठति, गुरुगताम् विद्याम् से गतम्, गते की ओर चलते हैं।

अर्थ लुप्त हो गये विशेषणों में सबसे अधिक रोचक 'कृत' है। महावस्तु में उद्यानकृता आसना मिलता है; पाली में विज्जागत- पाया जाता है, किन्तु कायगत भी; और साथ ही अट्टीनं नगरं कतं अभिव्यंजना भी है जिसमें जो करण मिलता है उसमें भावपूर्ण प्रणाली का अभाव पाया जाता है। इसी प्रकार की रचना में कृत- का प्रयोग प्रतिबिंबित होता है जिससे सामान्य निर्भरता प्रकट होती है, और जिसका पृथक्त्व सं० महा०मम कृते, मत्कृते, पा० मंकते, मंसस्स कते में पाया जाता है; सं० अर्थकृते, अमीषाम् प्राणानां कृते। स्वयं क्रिया के बन्धन-सूचक विशेषण से प्राकृत में *केर(क्)अ मिलता है : मागधी शकुं० तव केलके मम यीविदे, मृच्छ० चालुदत्ताह केलके, शौर० अज्जस्स केरओ जो दारअ केरिआए के निकट है साहित्य में ग्राम्य-भाव का द्योतक है।

क्रिया 'होना' के वर्तमानकालिक कृदन्त से एक सदृश प्रयोग वाला विशेषण प्राप्त

होता है। नासिक के अभिलेखों के अम्हस(न्)तक, पितुस(न्)तक में अब भी विकरणों से काम पड़ता है, न कि संज्ञा-रूपों से। किन्तु दिव्यावदान में, विहारस्वामिसन्तकं श्रद्धादेयम् (पृ० ४६४) के निकट (पृ० ५२९) देवस्य सन्तकं भक्तम् और (पृ० १७४) भगिन्याः सन्तिका प्रेष्यदारिका भी मिलते हैं।

अन्त में कुछ अत्यन्त सामान्य क्रियामूलक विशेष्य, कर्म० के परवर्ती रूप में, परसर्गों के तुल्य हो जाते हैं; यह प्रयोग, संस्कृत में देर से, पाली में प्रायः मिलता है : कर्म० के साथ आदाय सिद्धान्ततः 'लिया हुआ' का अर्थ प्रकट करता है, किन्तु वास्तव में वह केवल 'सहित' का अर्थ प्रकट करता है; इसी प्रकार गहेत्वा है; सं० उद्दिश्य और पा० निस्साय प्रति के लोप की पूर्ति करते हैं; पा० उपादाय का वास्तव में अर्थ 'अनुसार' है, आगम्म का 'सापेक्षिक दृष्टि से, कृपा से'; ठपेत्वा 'छोड़कर या सिवाय'। यही रीति चलती रहती है, दे० आगे; उसकी रचना सामयिक सदृश समुदायों से होती है, किंतु उसमें अँगरेज़ी के ढंग की चीज़ों की संभावना की जा सकती है : ये संबंधित, संसृष्ट आदि के आधार पर अनुकरणमूलक हैं, न कि व्याकरण-संबंधी व्यवस्था के अंश।

यह जो केवल नामजात रीति है पाली में सबसे अधिक विकसित हुई है। संबंध० के प्रभाव के निकट, रचना प्रायः रहती तो है, किन्तु प्रमुख रूप में नहीं : उदाहरणार्थ ('एर्ज़ाहलुंगेन इन् महा०'); १.४ में भिक्ख्'अट्ठा पाया जाता है और १.२१ वह्'-अट्ठयाए जो ३४.४ जस्स्'अत्थाए के निकट है, ६३.१२ मम्'अत्थाए जिसमें रचना असंभव हो गयी थी; १०.३७ बम्भदत्त्-अन्तियं किन्तु ३३.३ महावीरस्स अन्तिए,' ८.२५ नियभगिणीणम् अन्तिए; कए(कृते)अथवा कज्जे(कार्ये)जैसे अर्थ-विहीन शब्दों में रचना संभव नहीं है : २९.३५, भोगाण कज्जे, ५०.३४ तस्स य कज्जे, ७८.८ तुम्हाण कज्जेण; ६.३४ मुक्खबड्डयस्स कए। भविसत्तकह(११ वीं शताब्दी)में केवल एक बार पौर-मज्झि मिलता है, सामान्य सूत्र संबंध० है : दुज्जणहँ मज्झि, सज्जनहं मज्झि, नायरहँ मज्झि। ऐसे ही स्थलों पर वह रीति मिलती है जो आधुनिक प्रयोगों पर प्रकाश डालती है।

संज्ञाओं की रचना

विद्वत्तापूर्ण शब्दों से बनी भाववाचकता विशेषतः संस्कृत और मुसलमानी भाषाओं में मिलती है (अर्थों के व्यतिक्रमों सहित, जिनका अध्ययन किया जाना आवश्यक है), आधुनिक शब्दों का बहुत बड़ा समूह जिसमें अर्थ-व्युत्पत्ति-विचार से प्रभावित होने की प्रवृत्ति रहती है संस्कृत शब्दों का प्रयोग जारी रहता है; किन्तु जब से मध्यवर्ती व्यंजन अपना ऊष्मत्व खोकर स्पर्श में परिणत होने या एकीकरण करने लगते हैं, इन

शब्दों की रचना बहुत सार्थक नहीं रह जाती। प्राकृत के बाद पर-प्रत्यय -त्र- की हिन्दी पात् में आवश्यकता नहीं रह जाती, और न पर-प्रत्यय -स्ना की ने० जुन् (ज्योत्सना) में; हिं० चून् (चूर्ण-) या चौक् (चतुष्क-) में अन्त्य व्यंजनों के पर-प्रत्यय-संबंधी मूल्य का कोई चिह्न अवशिष्ट नहीं रह गया; बंगाली में, जिसमें लिंग लुप्त हो गया है, कोई ऐसा शब्द स्मरण नहीं हो आता कि जिससे बेल् कभी बिल्व-, कभी वल्ली प्रकट हो सके।

तो जिस अनुपात में आधुनिक भाषाओं ने रचना की उसी रीति का आश्रय लिया जो संस्कृत में थी, मध्यकालीन सामग्री उससे उतने ही बड़े अंश में भिन्न है; और जहाँ उनमें साम्य है वहाँ उनका मूल्य वही नहीं रह गया।

इसी कारण, अनेक प्राचीन समास दृष्टिगत होते हैं : हिं० माउसी, मसी, प्रा० माउस्सिआ केवल *मातृष्वसृका अर्थ-व्युत्पत्ति-शास्त्री के लिये हैं; स्वयं हाल की रचनाएँ जैसे ने० चौलानि में -आनि, अथवा फुलेल् में -एल् केवल पानी, तेल् से मेल खाते हुए बने हैं और जो रचना में अपना आदर्श स्थापित कर देते हैं।

तो भी, दोनों पदों या शब्दों की रचना सामान्य बनी रहती है, और इस प्रकार रहती है कि बड़ी कठिनाई से यह जाना जा सकता है कि उदाहरणार्थ क्या हिं० चौकोना, चौमास्, पछ्ताओ आधुनिक रचनाएँ हैं अथवा सं० चतुष्कोण-, चतुर्मास्(य्)अ, पश्चात्ताप- से निकले हैं। असाहित्यिक भाषाओं में शब्दों या पदों का सदैव विश्लेषण नहीं किया जा सकता, किन्तु उसके संबंध में कम-से-कम थोड़ा-सा ज्ञान प्राप्त कर लेन सरल होता है : कती इन्द्रोन् (इन्द्र-धनुष्-), अश्कुन इम्रा, एक देवता का नाम (यम-राज-), बहुत प्राचीन होने चाहिए; किन्तु अश्कुन में ही अपल-गोन् 'दुर्गंध', अङल-वट् 'आग का पत्थर', गअँणि अङ्ुर 'गिनने वाली उँगली' आदि मिलते हैं; शिना सुँउँदार 'लड़का', सुंण्ममुयो चूहा' में बहु० दारि् "लड़कों" और सं० मूष- के मिल-जुल जाने से रचना उपलब्ध होती है। मराठी जैसी भाषा में, वैयाकरणों को प्रधान संस्कृत रचनाएँ प्राप्त करने में कोई झंझट नहीं हुई (यह महत्त्वपूर्ण बात है कि संस्कृत समासों का आधुनिक शब्दों के समासों के साथ मिश्रण से ऐसा होता है): तत्पुरुष : राज्-वाडा, पोल्-पाट्, तोण्ड्-पाठ्; ताम्बाड्-माती, चोर्गाँठ्; बहुव्रीहि, प्रत्यक्षतः संख्या में कम (व्याप्ति सहित, तुल० सं० -क-) ति-मज़ला वाँकद्नाक्या, -सिन्गी; संयोजन किये हुए रूप म० आईबाप्, तुल० हिं० माबाप्।

एक प्रकार की रचना जिसके संस्कृत में केवल चिह्न मिलते हैं शब्दों का दुहरापन (द्वित्व) है, किन्तु दुहरे रूप में अनियमित ढंग से परिवर्तित होने की प्रवृत्ति रहती है। पुनरावृत्ति से संस्कृत में नवीनता या विभाजन प्रकट किया जाता है; विशेष्य : दिवेंदिवे

(विचित्र स्वराघात की ओर ध्यान दीजिए), सदः सदः, तुल० पा० पब्बं पब्बं, प्रा० केसाकेसि। इस संबंध में कुछ अन्य बातें भी हैं, अर्थात् बिना किसी ऐतिहासिक बन्धन के भारोपीय संस्कृत अतिशयार्थकों सहित एक अभिव्यंजक रचना है; उससे संज्ञाओं और क्रियाओं के मिलने की संभावना रहती है। यह बात क्लैसीकल संस्कृत और मध्यकालीन भारतीय भाषा में ध्वनि प्रकट करने वाले कुछ शब्दों द्वारा व्यक्त होती है: सं० (पतञ्जलि) झलज्झला, पा० घुरुघुरु, घुरुघुरायति। आधुनिक भाषाओं में ऐसे अनेक, साथ ही अत्यन्त व्यवहृत, उदाहरण हैं: बँ० कट्कटा; ठक्ठका; म० कडक्डी, क्रियाविशेषण उठाउठी।

हिं० पानिवानि जैसे प्रकार से पंजाबी पनित्'अनि; पनि सेंनि। किन्तु यह अधिक दूर की चीज़ हुई। पर्यायवाची शब्दों के प्रयोग द्वारा एक भिन्न रूप मिलता है: डोग्री (पंजाबी बोली) रुक्क-सुक्क, लल्-सुर्ख, अख्ना-बेख्ना, कछो-कोलें (गौरीशंकर के अनुसार, 'इंडियन लिंग्विस्टिक्स', I, पृ० ८१)। किन्तु इसी कारक में एक अंश विकृत भी हो सकता है: ग्रीक जिप्सी-भाषा में सस्टो-वेस्टो है, फ़्रेंच 'sain et sauf' ('निरापद') के विपरीत, जिसके वह तुल्य है, दूसरा शब्द (या पद) सुस्पष्ट नहीं है। क्योंकि उसके मूल में लय है और इन समुदायों में से मुख्य के मूल में है, इससे केवल एक ही अंश स्पष्ट हो पाता है; म० उघळ्माघळ्, आळाटोळा में प्रथम; म० आर्पार्, अडोसी पडोसी, इडापिडा में दूसरा। यद्यपि हिं० उपास्-आनास् संभवतः सं० उपवास- को अनाश- के साथ जोड़ कर बनता है, और हिं० आस्पास्, सं० अश्र- को पार्श्व- के साथ जोड़ कर: किन्तु इनसे यह निष्कर्ष निकालना अनुचित होगा कि ये समुदाय पूर्वोल्लिखित समुदायों के लिये आदर्श का काम देते हैं, अथवा यदि वे उन्हीं से निकलते हैं, तो अर्थ-व्युत्पत्ति शास्त्र का साम्य संयोगवश है।

इसी प्रकार की रचनाएँ आरमीनियन, तुर्की, फ़ारसी में भी मिलती हैं; भारतवर्ष में वे संभवतः स्थानीय परिस्थितियों के कारण हैं; वास्तव में वे देसी भाषाओं में प्रचलित हैं भी।

इनमें से जहाँ तक उनका संबंध व्युत्पत्ति से है, यह उन बोलियों में जिनमें कोई साहित्य नहीं है, और उनमें जिनका अभी ऐतिहासिक अध्ययन नहीं हुआ कठिनाई से दृष्टिगोचर होती है, जिसकी वजह से एक भाषा के उधार लिये गये शब्दों को दूसरी भाषा के ऐसे शब्दों से अलग न करने का खतरा रहता है; यह बात खास तौर से संभव है कि हिन्दी से उसकी समीपवर्ती भाषाओं ने अनेक शब्द ग्रहण किये हों।

संस्कृत से आये पेर-प्रत्ययों का समुदाय दुर्बल है, निम्नलिखित की ओर संकेत किया जा सकता है:

अत्यधिक प्रचलित क्रियार्थक संज्ञा संस्कृत की -अनम् युक्त कार्यवाची संज्ञाओ से निकलती है : सिंह० -णु, कश० -उन्, सिंधी -नु, लहं० -उण्, बुंदेली -अन्, तथा व्याप्ति सहित हिं० -ना, राज० -णो, ब्रज० -नौं, पं० -णा, -ना, म० -णें; प्रेरणार्थक धातु प्रकार के -आपन- से बंगाली की प्रेरणार्थक धातुमूलक संज्ञाएँ चालान, सोनान निकलती हैं और कर्तृ० के अर्थ में, कुछ कृदन्त : देखान। गु० -वुँ, राज० -बो, जो बंगाली -बे की भाँति है, -तव्यम् पर आधारित हैं; बन्धनसूचक कृदन्त उसी रूप में म० -आवा में सुरक्षित है और वर्तमानकालिक कर्मवाच्य कृदन्त के रूप में सिंधी और गुँजराती में; उससे बंगाली भविष्य० प्राप्त होता है।

वर्तमानकालिक और भूतकालिक कृदन्त नियमित रूप से प्राकृत -अन्त- और -इ(त्)अ- से निकलते हैं, वह भी सदैव व्याप्ति धारण कर।

सामान्य : म० हिं० पाँच्वाँ (पञ्चम-) आदि; इसी प्रकार सिंधी -ओं; तोरवाली चोटोम् "४था" जो पैन्जअंम् आदि के सदृश है। गुजराती और बंगाली में -म संस्कृत जैसा ही रहता है। सिंहली, शिना, जिप्सी-भाषा में नवीन रचनाएँ मिलती हैं।

स्त्री० की रचना। -इका से निकला अत्यन्त प्रचलित पर-प्रत्यय, आगे दे०; इनिँ प्रायः मिल जाता है : हिं० धोबिन्, पं० धोबण्, म० वघीण्, पु० बं० चुरणी, यूरोपीय जिप्सी-भाषा खबिनी (गर्भिणी), मनुसेंती।

भाववाचक, सं० त्वम्, -त्वनम्; हिं० पं० बुढ़ापा, हिं० बुढ़ापन्, सिं० बुढपण्[उ], गु० बुढ़ापों, पं० लड़क्पुणा, म० चाँग्लेपण्, चाँगुल्पण्, कश० बैंन्युत्रुंपोंन्[उ] अथवा -तोंन्[उ], जिप्सी-भाषा मनुसिंपे, चोरिपेन्, वेल्श जिप्सी-भाषा बिग्निपेन् जो अँग० begin से है; गौण रूप से म० चोर्वण्, चोर्वें; बंगाली में कुछ व्युत्पत्ति-युक्त विशेषण हैं चाँद्पाना, लाल्पाना।

कुछ पर-प्रत्यय तो वास्तव में उन विशेष्यों से बने हैं जो पहले समासों के द्वितीय अंश के रूप में प्रयुक्त होते थे : -रूप-, (-द्)हर-, -कर-, -कार-, -पाल-; और जो मुसलमानी कोश में, -गर् आदि रूप ग्रहण कर लेते हैं।

सर्वाधिक रोचक अंश तो विशेष मूल्य से रहित पर-प्रत्ययों के हैं, जिन्होंने आधुनिक संज्ञाओं की रचना में एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है।

आधुनिक व्युत्पत्तियों में निस्संदेह सबसे अधिक प्रमुख उनमें से सबसे कम महत्त्वपूर्ण है, सं० -क , -प्रा० -(य्)अ- जिनके पूर्व -अँ-, -ईं-, -ऊँ- आते हैं; और ठीक उसी के भाव का कारण है जिससे उसका व्यापक प्रयोग व्याप्ति की भाँति होता है। उसके कारण शब्दों की एक बहुत बड़ी संख्या का विशेषता-सूचक स्वर सुरक्षित बना रहता है, जो

उसके बिना अपना ऊष्मत्व खोकर स्पर्श में परिणत हो गया था : उदाहरणार्थ, सं० अश्रु, प्रा० अंसु, पशाई में ओओस्त्र रह जाता है, किन्तु सर्वत्र भी उसी व्युत्पत्ति वाले रूप के अंतर्गत दृष्टिगोचर होता है : हिं० आँसू, पं० अञ्झू, ने० आँसु (सिंह० अंस अन्य सिद्धान्त के आधार पर बना है) ; अक्षि, नपुं० स्त्री० हो जाता है अपने अन्त्य के कारण, हिं० में आँख् रह जाता है, किन्तु शिना में अन्त्य दीर्घ हो जाता है, अछी; सं० मालिन्-, मालिका- के रूपान्तर्गत, हिं० माली, में वह पर-प्रत्यय बना रहता है जो उसे माला, हिं० माल् (और जिनके साथ उपादेयता के साथ 'चीनी' वाला मुसलमानी मूल का पर-प्रत्यय जुड़ जाता है) से पृथक् करता है। इस व्याप्ति की ख़ास बात यह है कि उसके कारण उन लिंगों के वर्गों का निर्माण होता है जो विशेपणों और संज्ञाओं में परस्पर विरोधी होते हैं; यहाँ पर स्त्री० -अका अथवा -अकी नहीं है, किन्तु -इका है; उसी से हैं, उदाहरणार्थ, मैथिली वड़् : बड़ी। किन्तु सामान्यतः पु० की भी व्याप्ति हो जाती है : गु० बड़ा, बड़ी; घोड़ा, घोड़ी, शिना सैंउ, सैंइ (श्वेत) ; मालु-ए, मालिय्-ए (महल्लक-) ; अश्कुन गड्व्अँ, -वी; काँड़, काँड़ि; नूरी चोन, चोनि; कुर्स्तोत-ति "छोटा, छोटी"।

शेष में व्याप्ति स्वयं अपने में ही जुड़ जाती है : बं० कालिआ (*कालकको), मैथिली० घरैया, हिं० रख्वैया; किन्तु यह हाल का है : बं० माटिका से उसी प्रकार माटी का अनुमान किया जा सकता है जिस प्रकार छत्तीस० मछरिया से मछ्री का। मैथिली में तो ऐसे रूपों की एक पूरी शृंखला है : घोड़्, घोड़ा तुल्य है, घोड़्[अ] वा के निश्चित रूप से : ग्राम्य रूप घोड़ौवा। इससे यह प्रकट होता है कि प्रणाली जीवित है, और संभवतः व्याप्ति-युक्त रूपों का प्रयोग इधर हाल का है।

एक दृष्टि से विशेषणों की योजना भिन्न हैं : छोट्, छोटा, छोटक्का, छोट्कवा। वास्तव में प्राकृत में पुनरावृत्त क् वाला एक पर-प्रत्यय है : राइक्क- (=राजकीय-) ; गोणिक्क-, महिसिक्क- (किन्तु मध्यकालीन भारतीय भाषा के अभिलेखों में पूर्वी अशोक० -इक्य-, बरबर् देवदाशिक्यी एक प्रकार से तरल कंठ्य के प्रतीक हैं) ; प्रारंभ में यह योजना एक अभिव्यंजक रूप में पायी जाती है : म० थोड़्का जो थोड़ा के निकट है, फुशार्की जो फुशारी के निकट है। पशुवाची संज्ञाओं को देखिए : कलाश गर्दो-क्, पछिएक्। बंगाली में वह एक प्रचलित पर-प्रत्यय हो जाता है : चड़्-अक् (प्रा० चढ-), -फट्-अक्, बैठक्। उसमें स्वभावतः संस्कृत पर-प्रत्ययों का मिश्रण है : हिं० पैराक् (-आकु-) । प्रशुन, कलाश, खोवार और शिना के -क युक्त कृदन्त और क्रियार्थक-संज्ञा संभवतः ईरानी प्रयोग हैं, तुल०, मौर्गेन्स्टिएर्न, 'इंडो-ईरा० फ्रंटियर लैंग्वेजेज़', पृ० ३५८।

प्राचीन काल में संस्कृत में -ल-(-र-)प्रत्यय का प्रयोग कम पाया जाता है : स्थिर-अनिल-, बहुल-। यह पर-प्रत्यय अल्पार्थक की ही रचना के रूप में नहीं हो जाता, वरन् एक साधारण व्याप्ति के रूप में भी (कुछ दीर्घ स्वर वाले रूप हैं जैसे -क- के लिये : कर्मार-, वाचाल, शीतालु)। मध्यकालीन भारतीय भाषा में यह प्रयोग व्यापक होता है और पुनरावृत्ति ग्रहण करता है : पा० दुट्ठुल्ल-(दुष्ट- और दुष्ठु-), अट्ठिल्ल-(अस्थि), महल्ल(क)-(तुल०, अशोक० महालक-)। प्राकृत में, विशेष मूल्य-रहित, बहुसंख्यक उदाहरण मिलते हैं। आधुनिक भाषाओं में विशेषणों के निर्माण में उसका प्रयोग होता है : हिं० आगला, म० अगळ (जिसमें मूर्द्धन्य सामान्य -ल्- की कल्पना करता है), नें० अघिल्लो(-अग्र-); -हिं० पहिला (प्रथम-; प्रा० पहिल्लै; बं० पाकिल (पक्व-); -मराठी, गुजराती (हाल ही में), बंगाली, बिहारी और हिन्दूकुश की कुछ बोलियों में भूतकालिक कृदन्त की भी व्याप्ति हो जाती है; म० गेला (गत-), पात्ला (प्राप्त-), बं० भान्गिल, सुतिल, उसी से क्रियामूलक विशेष्य, जो विकृत कारक में है : चलिले।

आधुनिक भाषाओं में एक और प्रायः मिलने वाली व्याप्ति मूर्द्धन्य ड् अथवा ट् है। पाणिनि को ही वाचाट- ज्ञात था : किन्तु अपभ्रंश और देसी तक उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। बं० खाग्ड़ा (खड्ग-), पात्ड़ा (पात्), शासुड़ी जो सास् (श्वश्रु-)के तुल्य है, चाम्ड़ा (चर्म-)आदि में उसका कुछ व्युत्पत्ति का मूल्य है; वह सिंधी पन्घ्डो,भोलिडो, गु० गाम्डुँ, घाँट्डी, हिं० अन्क्ड़ी, अण्ड्ड़ा में वह अल्पार्थक है।

अघोष-रूप, जो संस्कृत *-ट्ट- की कल्पना करता है, का प्रतिनिधित्व सिंधी और मराठी में क्रियामूलक धातुओं से निकले कुछ विशेषणों में होता है : सिंधी घरटु, म० चेपट्; इसी प्रकार बँगला में निरन्तर घस्टा है, नामजात विकरणों के अनुकरण पर : पाँसुटा, रोगाटे। प्रत्यक्षतः यह वही पर-प्रत्यय है जो गवर्बती सोंट्अ (शिरः) के अन्त में आता है। बंगाली में उसका एक विशेष प्रयोग है : संज्ञाओं के साथ प्रत्यय होने पर इससे उन्हें एक निश्चित मूल्य प्राप्त होता है; वह एक उपपद की स्थान-पूर्ति करता है : गाछ्टा "यह, बड़ा पेड़," गाछ्टी "यह, छोटा, सुन्दर पेड़"।

-वट् (हिं० बनावट्) और -हट् (हिं० बुलाहट्) रूप अस्पष्ट है; घट्- धातु, तुल० सं० दन्तघाट-, दोनों रूपों में से केवल एक की स्मृति दिलाता है और कार्यवाची संज्ञा को स्पष्ट नहीं करता।

संस्कृत पुरःप्रत्ययों के कुछ चिह्न मिट गये हैं; उदाहरणार्थ अनेक शब्द प-(प्र-) द्वारा, ओ- और उ- द्वारा शुरू होते हैं जिनसे उदासीन रूप में अप-, अव-, उप-, उत्- का प्रतिनिधित्व होता है, और फलतः कोई स्पष्ट महत्त्व दृष्टिगोचर नहीं होता। कुछ संस्कृत पुरःप्रत्ययों का काफ़ी उदार रूप में प्रयोग हुआ है, किन्तु उन्हीं शब्दों के साथ जो स्वयं

संस्कृत के हैं; वे हैं, स-, सु- जिनमें स्व-(सुभाव्=स्वभाव) के समाहित हो जाने की संभावना रहती है; स्वयं स्वर से पूर्व, अन्-रूप के अंतर्गत नकारात्मक अ-प्राय: मिल जाता है, जैसे मध्यकालीन भारतीय भाषा में। स्वभावतः कुछ मुसलमानी पुरःप्रत्यय हैं : हिं० बे, जिप्सी-भाषा बि- जो फ़ारसी के बे, बी के सदृश हैं, न कि सं० वि- के; बद्-, ना-, जो बंगाली में देशज शब्दों के साथ सम्बद्ध हो सकता है, सं० 'न' में सुरक्षित मिलता है। किन्तु प्रचलित शब्दावली के शब्दों के निर्माण की दृष्टि से सचमुच इन सबसे कोई लाभ नहीं है।

रूप-रचना

मध्यकालीन भारतीय भाषा के विकास-काल में, ध्वनि-संबंधी परिस्थिति और आकृति-मूलक सादृश्य के कारण कर्त्ता० और कर्म० का सामंजस्य उपस्थित हो जाता है, जो पृथक्त्व की दृष्टि से केवल नपुं० के लिये सामान्य था; -इ- और -उ- युक्त स्त्री० और नपुं० संज्ञाओं में, यह बात शीघ्र ही प्रस्तुत हो जाती है; विकरणयुक्त पु० में, प्रतिरोध-शक्ति अधिक लंबी रही है, किन्तु बहु० में प्राकृत में तो पुत्ते के निकट कर्म० पुत्ता मिलता ही है; अन्ततः उस दिन से जब से, जैसे अपभ्रंश में, पुत्तो और पुत्तं पुत्तु के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं, एक नामजात रूप-रचना मिलने लगती है जिसमें गौण कारकों के विरोध में एक मुख्य कारक मिलता है।

उनके दो समुदायों में भेद उपस्थित किया जा सकता है :

एक ओर तो प्राचीन संबंध०-संप्र० का स्थानापन्न, जिसका सामान्य कार्य परसर्गों को जारी करना है (उपसर्गात्मक अव्यय पूर्णतः अपवाद-स्वरूप है : अश्कुन प, प्रशुन नु 'में') और जो विशेष्य का वाक्यांश के साथ संबंध स्थापित करता है; इसका तात्पर्य यह है कि इस विकृत रूप में संज्ञाओं का पूर्ण अभाव होता है, वे सब सर्वनामों में सुरक्षित रहते हैं (उदा० मैथिली बं० से : ता; पशई ऊसे : उँतिस्; अकेली छत्तीसगढ़ी एक-वचन में कुछ पुरुषवाचक सर्वनाम और प्रश्नवाचक सर्वनाम) : यहाँ परसर्गों को संज्ञा में अपने को दृढ़ बनाने की सुविधा प्राप्त होती है और उससे एक नवीन रूप-रचना का निर्माण होता है।

दूसरी ओर परिस्थिति-सूचक कारक हैं : करण, अधिकरण, अपादान, जो वास्तव में बच रहते हैं, किन्तु उत्तरोत्तर वास्तविक संज्ञा-रूप से अलग होते जाते हैं : वे वहाँ भी मिल सकते हैं जहाँ कोई अन्य रूप-रचना नहीं है, वहाँ लुप्त हो सकते हैं जहाँ एक नियमित रूप-रचना है; अंत में वे एक क्रिया-विशेषणमूलक मूल्य ग्रहण लेते हैं।

मुख्य कारक

दो रूप हैं : एक जिसके अंत में न्यून स्वर या व्यंजन आता है, दूसरा जिसके अंत मे दीर्घ स्वर। प्रथम मूल रूप है : व्यंजन प्रकार में, लिंग और वचन दृष्टिगोचर नहीं होते। इसके विपरीत द्वितीय वर्ग में वे दृष्टिगोचर होते हैं, और निस्संदेह विशेषणों अथवा मूल द्वारा लिंग न प्रकट करने वाली संज्ञाओं में उनके सामान्य प्रयोग का यही कारण है।

मूल संज्ञाएँ

एकवचन

कुछ उदाहरण :

	पुं०	स्त्री०
पु० राज०	पाउ (पादः)	वाट (प्रा० वट्टा)
		आगि (अग्निः)
सिंधी	देह्$^{\text{उ}}$ (देशः)	सध्$^{\text{अ}}$ (श्रद्धा)
	पि$^{\text{उ}}$ (पिता)	रात्$^{\text{ए}}$ (रात्री)
	केहर्$^{\text{ए}}$ (केशरी)	विज्ज्$^{\text{उ}}$ (विद्युत्)
शिना	मोस् (मांसम्)	जिप् (जिह्वा)
		ग्रेन् (गृहिणी)
		सॅष् (श्वश्रूः)
कश०	चूंर् (चौंरः)	ज़ेव् (जिह्वा)
		राथ् (रात्री)
यूरोपीय जिप्सी-भाषा	चोर्	चिंब्, रत्
हिं०	चोर्	जीभ्, रात्, सास्
छत्तीस०	फर् (फलम्)	गोठ् (गोष्ठी)

इसी प्रकार नपुं० के लिये : म० सूत् (सूत्रम्)।

न्यून स्वर स्वर-संबंधी प्रत्ययों से निकलते हैं या निकले थे : प्रा० चोरो, चोरं, जिब्भा, जिब्भं, रत्ती, रत्तिं; अग्गी, अग्गिं, सस्सू सस्सुं।

आधुनिक समानता इन विविध विकासों को छिपा सकती है। प्राचीन बंगाली में मिलता है कुम्भीरे, काह्नि (संबोधन, "कृष्ण"), बंगाली बोली में पुति जो पुत्$^{\text{अ}}$ के समीप है, नेइ (स्नेह-) ; इस बात की ओर भी प्रायः ध्यान जाता है कि उनमें शेष मागधी

प्राकृत की विशेषता -ए वाले हैं; व्याप्ति वाला रूप -ए है : लोके बोले, चल सबे। साम्य के कारण कठिनाई उत्पन्न होती है; और यह एक ध्यान देने योग्य बात है कि प्राचीन सिंहली में कर्ता० पुं० नपुं० है जो -ए युक्त है (पुन्ने, लेने) और जो उसी प्रकार पु० बहु० -अहु के विपरीत है जिस प्रकार अर्द्ध-मागधी -ए -आसो के। किन्तु -ए का स्वयं विरोध : -आसो जो इस अंतिम बोली में पाया जाता है यह सूचित करता है कि हर हालत में यह तथ्य रूप-विचार-संबंधी है, न कि ध्वनि (उच्चारण)-संबंधी; स्वयं बंगाली में, सिंहली की भाँति, सामान्य व्याप्ति -आ युक्त है, जो -अए से नहीं आ सकती, जैसा कि लोक्-ए के अनुमान से होना चाहिए; यदि यह अंतिम रूप ध्वनि-संबंधी था, तो हिंदी का -आ युक्त पूरा समुदाय आधुनिक, उधार लिया हुआ समझा जाना चाहिए। तब करण का आश्रय लेना पड़ता है : इससे वाक्य-रचना का प्रश्न उत्पन्न होता है, और -ए तथा -अहि अथवा -एं की प्राचीन लेखन-प्रणाली में साम्य का अनुमान होता है। समस्या अस्पष्ट बनी रहती है।

ईसी प्रकार जहाँ वे हैं (आधुनिक सिंहली में व्याप्ति सामान्यतः मिलती है), वहाँ ह्रस्व विकरण एक साथ ही सब भाषाओं में दृष्टिगोचर नहीं होते। -उ- युक्त विकरण की सामान्यतः व्याप्ति हो जाती है और इसी प्रकार, किन्तु कुछ कम, -ई युक्त स्त्री० विकरण की : जैसे गवर्‌बती में पुल्‌त् *"पुत्र", किन्तु ससे "बहन" भी; साथ ही विशेषण में मैथिली में स्त्री० बड़्[इ] का पु० बड़ से विरोध है।

बहुवचन

पुल्लिग

प्राचीन काल में विकरणयुक्त पुल्लिगों के बहुवचन, प्रा० -आ, व्यंजनयुक्त संज्ञाओं में दृष्टिगोचर नहीं होते : हिं० जिप्सी-भाषा चोर्, कश० चूर्। जहाँ न्यून स्वर बना रहता है, वहाँ उसका विरोध एक० के न्यून स्वर से पाया जाता है (अपभ्रंश -उ जो प्राकृत -ओ और अं से निकला है)।

सिंधी	एक० डेह्[उ]	बहु० डेह्[अ]
लखीमपुरी	घर्[उ]	घर्[अं]

इस विरोध के चिह्न दो समीपवर्ती भाषाओं में अनेकाक्षरात्मक स्वर-संबंधी परिवर्तन-क्रम में पाये जाते हैं :

कश०	एक० वाँदुर्	बहु० वाँदर् (किन्तु चूर्)
लहंदा	कुक्कुड़्	कुक्कड़् (किन्तु घर्)

स्पष्टता की आवश्यकता निस्संदेह मूल संज्ञाओं के बहुवचन में व्याप्ति के विस्तार के मूल के संबंध में रही है।

यूरोप की जिप्सी-भाषा में एक० मनुसॅं, फल् का विरोध बहु० मनुसां, फला से पाया जाता है, जैसा कि स्त्री० एक० चिंब्, बहु० चिंबा; नूरी में मान्उॅस् से भिन्न मानुस्-ए नियमित रूप से मिलता है, तुल० एक० चोन्अॅ का बहु० चोने। इसी प्रकार सामान्य गुजराती में है बाळको, किन्तु खैर (khaira) में बाप् का बहु० बाप है (और नपुं० में घर् : घराँ); पलन् (palan) में नोकर् का है, नोक्राँ, घराँ की तरह।

यह प्रत्यक्षतः कलाश एक० सॉ 'राजा' वाला कारक है : बहु० सॉवौ (मोंचॅ् एक० बहु० के निकट), संभवतः माल् के निकट तोराही अदम्-अ की भी (तुल० स्त्री० में, एक० चलि, बहु० चले जो -इ-अ से है), अन्त्य -ए सहित, कती तोत्-किल्-ए, वैंगेलि गुड्-ए, कलाश ददै (स्त्री० छू-लै?); शिना च़हर्-इ (स्त्री० बाम्-ऍ), डह् की ब्रोक्पा अपसॅं-आ और अपसॅं-इ "घोड़े"।

-इ युक्त संज्ञाओं में, सिंधी केंहरे बहु० और एक० में समान रूप से है।

नपुंसक

प्रा० -आइं की स्वर-संधि स्थानों के अनुसार विविध रूपों में होती है : म० सूतें (सूत्राणि), गुज०बोली घराँ [सामान्य भाषा घरो; -आँ व्याप्ति वाली संज्ञाओं में काम आता है : छोक्राँ, जो छोक्रुँ का बहु० है, कोंकनि वोर्साँ (वर्षाणि)]।

स्त्रीलिंग

प्राचीन -आ युक्त विकरणों में, प्रा० -आओ सामान्यतः -आ तक सीमित रह जाता है : कश० एक० ज़ेव् : बहु० जेव; यूरोपीय जिप्सी-भाषा चिंब् : चिबा; मन्देआलि (mandeali) देद् "बहन" : देद्दा (किन्तु घर् एक० और बहु०); म० ईट् : ईटा; कोंकनि वाट् : वाटो।

किन्तु दूसरी ओर, उन भाषाओं में जिनमें केवल दो लिंग हैं, नपुं० में कुछ प्रत्यय मिलते हैं : ब्रज० बातैं, हिं० बातें; लखीम० किताबै, बर्सै जो तुल्सीदास की रचनाओं में -ऐं युक्त अचेतन को दीर्घ कर देता है : गुजराती, जिसमें बहु० नपुं० -आँ युक्त है, के निकट, सिंधी में सघाँ और सघू हैं, लहंदा में ज़बानाँ, अंत में मार्वाड़ी में बाताँ है; इन पिछली दो भाषाओं में साक्षात् रूप विकृत रूप के समान ही है। इसस्थान-पूर्ति का इतिहास अज्ञात है। यह एक रोचक बात है कि भीली में स्त्रियों के लिये अनियमित रूप में कभी स्त्री० और कभी नपुं० का प्रयोग होता है : बैरी और बैरू; इससे द्रविड़ नियम की याद

आती है। गुजराती में स्त्री से संबंधित विशेषण (किन्तु न तो संज्ञा, न क्रिया) आदर-भाव के कारण नपुं० बहु० में आता है : माराँ मा साराँ छे, ओ माराँ प्याराँ वेहेनो।

मध्यकालीन भारतीय भाषा की -ई युक्त संज्ञाओं में प्रा० -ईओ के सदृश -ई की आशा की जाती है। वह वास्तव में मिलती है : कोंकनि कूड्, बहु० कूडी; भद्र० बैह्‌ण्, बहु० बैह्‌णी; कश० राथ्, बहु० र्‌ओं च्‌उँ। किन्तु यह अपवाद-स्वरूप है। चाहे -ई, -आ की भाँति, बाधा के रूप में प्रतीत होती हो, क्योंकि उससे पु० एक०, अथवा संस्कृत से लिये गये (नदी, आज्ञा) स्त्री० एक० का स्मरण हो आता है, अथवा अन्य कोई कारण हो, वह सामान्यतः सदैव व्याप्तियुक्त प्रत्ययों के रूप में प्राप्त होती है : यूरोपीय जिप्सी-भाषा फेन् "बहन" : बहु० फेनीआ, चुरी : चुरीआ; गवर्‌वती ज़ु "लड़की", बहु० ज़ुअ; तोरवाली धू "लड़की", बहु० धी (तुल० अर्सीँ स्त्री० एक० और बहु० सामान्य; पु० एक० अर्सू) । व्याप्तियुक्त प्रत्यय सिंधी में नपुं० रूप में है : रातिउँ। लहंदा में केवल उसका नपुं० के साथ अनुकूलत्व हो जाता है : अक्खीँ (सं० अक्षीणि, नपुं० जो -इ युक्त अन्य विकरणों के साथ स्त्री० में हो गया है : क्या उसमें स्त्री० बहु० के नपुं० रूप-रचना के मूल तो निहित नहीं हैं ?); छोह्‌रीँ, बहु० छोहिर्; रन्नाँ, जो रन्न् (रण्डी) से है। साथ ही हिं० बहनें आदि में -आ युक्त संज्ञा-रूप वाले अंश।

-ऊ युक्त संज्ञाएँ अन्य संज्ञा-रूपों, और विशेषतः -आ युक्त वालों, के आधार पर अपना रूप निर्धारित करती हैं : चाहे सादृश्य के माध्यम द्वारा हो, लहंदा हञ्‌ऊ, भणाँ की भाँति, ज़बानाँ; चाहे पूर्ण समीकरण द्वारा हो, म० विजा, सिंधी विजू।

संबंध-सूचक संज्ञाओं का बहुवचन

-र्- युक्त संबंध-सूचक संज्ञाएँ बहुत समय तक एक अलग समदाय का ही निर्माण करती रहीं, और उसके चिह्न अब भी अवशिष्ट मिलते हैं। इसके अतिरिक्त उनमें समीपवर्ती अर्थ की संज्ञाएँ भी जुड़ गयी हैं।

वेदों के समय से, पितुः के अनुकरण पर पत्युः ('पति' के अर्थ में, किन्तु 'स्वामी' के अर्थ में पतेः), जन्युः (हॉपाक्स्; विकरण जनि- से निकले संबंध० का यह अकेला उदाहरण भी है) और साथ ही सख्युः। यदि पाली कर्त्ता० बहु० सखारो, कर्म० एक० सखारं से पितरं की अपेक्षा सत्थारं का रूप अधिक सामने आता है, तो करण० सखिना, संबंध० सखिनो को -इ- युक्त विकरणों के रूप में माना जाता है और पिति- जैसे प्रकार की स्मृति दिलाते हैं जो उत्कीर्ण लेखों की मध्यकालीन भारतीय भाषा में प्रायः मिल जाता है (किन्तु प्रत्येक दृष्टि से ये पुराने रूप हैं, पाली गद्य में साधारणतः सहायक- अधिक मिलता है)। महावस्तु में भार्याम् के बदले भारियरम् है, जिसकी रचना माताम् के साथ-साथ मिलने

वाले मातरम् के आदर्श पर हुई है : इसी प्रकार प्राकृत में माअरं है और माअं है; और 'देवी माता' का अर्थ प्रकट करने के लिये रचित माअरा इस बात का प्रमाण है कि बहु० माअरो निरन्तर बना रहता है।

अथवा सिंधी में संबंध-सूचक संज्ञाओं में बहु० (किंतु एक० के विकृत रूप में नहीं) की विशेषता र् सुरक्षित है :

एक० पि^उ बहु० पिउर्^अ एक० मा^उ बहु० माइर्^उ

भा^उ भाउड़्^अ

इसी प्रकार सादृश्य के आधार पर मा^उ, भेन्^उ, धि^उ, नुह्^उ के संबंध में विचार किया जा सकता है।

हिन्द्की धीरिँ, नूहाँ के समीप गोह्रिँ निस्सन्देह इसी संज्ञा-रूप का बचा हुआ रूप है, एल० एस० आई०, VIII, I, पृ० ३३७।

शिना में सीधे संबंध-सूचक संज्ञाओं के समुदाय अथवा संबंध द्वारा बहु० -आरे में मिलता है : दि "लड़की" : दिज़ारे, म "मा" : मॅयारे, स "बहन" : सयारे, सॅअॅष् "सास" : सॅअॅषारे, ग्रेन् "पति" : ग्रेनारे, ज़ॅअॅम्त्रो : ज़ॅअॅम्त्रारे, सॅरि "साला या बहनोई" सॅयारे आदि।

व्याप्ति-युक्त संज्ञाएँ

इन संज्ञाओं के मुख्य कारक का इतिहास प्रत्येक भाषा में स्वर-संधि के सूत्रों पर आधारित रहता है। फलतः यह देखा जाता है कि -ई युक्त संज्ञाओं में, प्रा० एक० -इओ और बहु० -इआ का अन्त में आने से समान परिणाम होता है : हिं० सिंधी माली, म० माली एक साथ एक० और बहु० दोनों हैं। अस्तु, मूलतः जिन पर विचार करना होता है वे केवल -अओ युक्त पु०, अंत में -अ(य्)अं युक्त नपुं० और स्त्री० हैं।

पुल्लिग

एक० में, ब्रज के कृदन्तों (गयौ) में और क्रियार्थक-संज्ञाओं (मार्नौ) में संयुक्त स्वर बना रहता है; किन्तु घोड़ा (दे० अन्यत्र)। सिंधी, गुजराती, राजस्थानी और नेपाली, बुन्देली में मिलता है घोड़ो; इसके साथ हैं कश्० गुर्^उ, शिना माल्^उ (महल्लक-) तोरवाली सूँ, यूरोपीय जिप्सी-भाषा खोरो (घट)।

मराठी, हिन्दी, ब्रज, पंजाबी, बंगाली में : घोड़ा; पशई, गवर्बती गोड़ा, वैगेलि

तत "पिता", अश्कुन काँड़; सिंहली पुता [सामान्य रूप : अंता (हाथी); और इसी प्रकार बहु० -ओ के सामान्य रूप हुए हैं, पु० सिंहली -अहु, दे० अन्यत्र।]

सीरिया की जिप्सी-भाषा में दो रूप मिलते हैं : बक्र, दीर्ग विशेषणों के प्रकार हैं; प्रकार जन्त्रो (जामातर्), ज्ररो अपवाद-स्वरूप हैं, किन्तु सर्वनामजात प्रत्यय नन्दो-म्, र् वाले अतीत काल में वह सुरक्षित है। मराठी में भी ऐसे क्रियामूलक रूप हैं जिनकी रचना प्रत्यक्षतः -तो और -लो, जो -ता -ला के निकट हैं, से युक्त कृदन्तों के आधार पर हुई है (तुल० दोदेरे, बी० एस० ओ० एस०, IV, पृ० ५६७)। ब्रज के संबंध में दे० ऊपर। बंगाली लोके के संबंध में अन्यत्र देखिए।

बहुवचन में,*-अय अथवा *-अअ (सं० अकाः) से आगे बढ़ने पर परिणाम भिन्न आता है : म० गु० घोड़ा, किन्तु बुन्देली हिं० पं० सिं० घोड़े, कश० गुरि; शिना माळ्एँ, वैगेलि ताते, यूरोपीय जिप्सी-भाषा खोरे; नूरी क्के (मूल संज्ञाओं तक प्रसारित : मनुसे, अगे)।

नपुंसक लिंग

म० मुल्गिँ, मुल्गेँ का बहु०; गु० छोक्राँ, छोक्रूँ का बहु०।

पुल्लिग और नपुंसक० की स्वर-संधि के नियम स्वतंत्र हैं : कोंकनि में जिसमें गुजराती की भाँति पुं० गडो है, नपुंसक० में मराठी नियम का पालन करते हुए बुर्गेँ है।

स्त्रीलिंग

यह प्रा० घोडीओ है जिसका संबंध गु० घोड़ी से स्थापित करना आवश्यक है और निस्संदेह कश० गुर्एँ के साथ। किन्तु उसके समीप एक रूप था -इआओ, -इअओ, जिससे हैं गु० घोड़ीयो, कोंकनि घोड़्यो, म० घोड़्या, हि० पं० राज० घोड़ियाँ, यूरोपीय जिप्सी-भाषा रनीआ (हिं० राणी, सं० राज्ञी); नूरी चोनिए, जूरे, जो चोनि, जूरि से हैं, में संभवतः नपुं० का प्रत्यय है; तुल० नपुं० पानि-ए; उसी से मिलता है पुं० सहित बक्रे, ऊपर देखिए; यही प्रश्न मुलाइ (महल्लकी) के बहु०, मुलायो के निकट मुलाय्एँ के संबंध में उठता है, तुल० अन्नहिये स्त्री० (प्राचीन नपुं०), सउँ (सेतु-) का बहु० सेवे, और पु० माले।

गौण कारक

एक विचित्र मुख्य कारक के विपरीत सामान्यतः एक विविध प्रकार के मूल्यों से युक्त विकृत कारक मिलता है, जो परसर्गों से शक्ति ग्रहण करता है और प्राचीन संबंध०

पर आधारित रहता है। इसके अतिरिक्त शेष तीनों प्राचीन कारक—करण, अपादान और अधिकरण कुछ-कुछ सर्वत्र उपलब्ध हो जाते हैं।

यह सोचा जा सकता था कि यह कारक अपने कम-से-कम महत्त्वपूर्ण चिह्न तो छोड़ जाता, क्योंकि भूतकालिक क्रियामूलक रूप के साथ उसके प्रयोग की आवश्यकता पड़ती रहती थी, और जैसा कि उसके कर्मवाच्य रूप में देखा भी जाता है। उसमें ऐसा कुछ नहीं है; उसमें बड़ी मुश्किल से केवल विकरणयुक्त एक० मिलता है, जो सामान्यत: क्रियाविशेषणमूलक रूप में है।

पुरानी मराठी में उसका प्रचुर रूप में प्रयोग हुआ है : गाधवें (गर्दभेन); सेनवइएँ में प्रत्यय का प्रयोग -इ- युक्त (सेनापतिना) विकरण में होता है; बहु० पु० नपुं० पण्डितिँ, चिह्निँ (प्राकृत -एहिं से)। स्त्री० एक० में देविआ, जो विकृत रूप में देवीए से भिन्न है, तुल० प्रा० -आए ? अथवा संस्कृतपन ? हर हालत में बहु० का अभाव है : पूजाँ विकृत रूप है, ऐसाँ चिह्निँ। आज वह केवल एक० विकरणयुक्त के रूप में रह गया है और ऐसे शब्दों में मिलता है जो मूळे, सङ्गेँ, अथवा 'अप्ल्या कृप्-एँ करून' प्रकार के समुदायों में परसर्ग का काम करता है।

व्याप्तियुक्त विशेषण में, पु० बोड्^{उ}, स्त्री० बृंयुंड्$^{उं}$, कश० में संप्रदान एक० पु० बडिस्, स्त्री० बजेँ से, कर्तृ० पु० बड्^{इ}, स्त्री० बजि को, जिसके प्रत्यय निस्सन्देह प्राचीन कश० -ए, -इ, प्राकृत में –(अ)एण-ईए द्वारा प्रकट होते हैं, अलग रखा जाता है।

बहु० में, प्रत्यय की गड़बड़ अपादान के साथ हो जाती है; और एक० में मूल संज्ञाओं के साथ। पु० चूरन् अपा० चोर के आधार पर निर्मित हुआ प्रतीत होता है; हर हालत में वह उससे भिन्न है; तुल० सुँतिन्, जो मराठी शेँ, सिँ की भाँति *सहितेन से है ?

सिंहली में, अचेतन संज्ञाओं में, जो नपुं० मूल संज्ञाओं के सदृश हैं, करण एक० के अन्तर्गत एक प्रत्यय होता है : अतेन्, अतिन् (हस्तेन) जो अत (व्याप्तियुक्त मुख्य कारक) से है। इन संज्ञाओं के आधुनिक बहु० का निर्माण एक समास द्वारा हुआ था जिसका द्वितीय अंश एक० के रूप में आता है, करण का रूप उसमें समान रहता है : अत्वलिन् "हाथों से"।

पुरानी राज० -इँ प्रत्यक्षत: संस्कृत -एन, अप० -एँ का उत्तराधिकारी है : सुखिँ, देहइँ; और इसी प्रकार पानिइँ; पु० गु० घोड़इँ, हथिइँ। स्त्री० में स्त्रीइ और मालाइँ। बहु० में (हाथे, नयने, पाणीए, स्त्री० ज्वालाए, नारीए) -ए अप० -अहिँ के सदृश है जो प्राकृत -एहिँ का स्थान ग्रहण कर लेता है। उसमें केवल ऐसे रूप ही अधिक मिलते हैं गु० हाथि, राज० घोड़ै, गु० घोड़े (मुख्य० घोड़ो, विकृत० घोड़ा)।

पुरानी बंगाली में, पूर्ण एकीकरण है : बेगें (वेगेन), -जाले, स्त्री० लीलें, भान्तिये (लीलया, भ्रान्त्या) और बहु० में : तिणिएँ पटें; उसमें 'हाथे' शेष रह जाता है। इसी प्रकार मैथिली में फलें, नेनें जो नेन्अँ साँ (मुख्य० नेना) के निकट है और साथ ही पानिएँ और स्त्री० में कथे वेटिएँ। प्रत्यय -एँ सम्बद्ध हो गया है।

उत्तर-पश्चिम में भी वह मिलता है, जिसके बिना उसका विस्तार नहीं जाना जा सकता : वैगेलि अवातें (अश्कुन आवोतूं), खोवार छुई-एन्, वैगेलि सुदें (सुदु), खोवार पचेन् (संभवतः पक्षेण)।

अपादान

इसके संबंध में अवशिष्ट चिह्न भी वहुत कम हैं, और वे एक० के उस प्रत्यय के साथ सम्बद्ध हुए भी मिलते हैं जो मूलतः क्रियाविशेषणमूलक था, प्रा० -आओ। सिंधी की नियमित रचना, म० में -औ-नि, -ऊ-न् में अन्तर्भूत, से पु० राज० का हाथो हाथइँ, दिसो-दिसि प्रकार प्राप्त होते हैं, तुल० पा० दिसोदिसं। उत्तर-पश्चिम समुदाय में खोवार अन्-आर् (संबंध० अनो), अचॅर्, मिलते हैं, तुल० अचॅं; तोरवाली सिँर, तुल० करण० अधि० सिँरे, विकृत० सिर्; संभवतः गवर्वती बाबो, तुल० विकृत० बाब; पु० कश्० ऑंसा, कश्० चूर, पेठ, अन्द् अ अर। यूरोप की जिप्सी-भाषा में सदृश प्रत्यय सहित क्रियाविशेषणों से अधिकरण का अर्थ निकलता है : तलल्, अङ्गल् (अग्रतह्, *अग्गातो) और फलतः मुई-अल्।

एक अनुनासिक रूप भी मिलता है, जो करण के सादृश्य पर बना प्रतीत होता है : ब्रज० भूखों, सों, तुल० हिं० से, म० सिँ; पु० राज० कोपाँ, कम मिलता है; पं० घरों, सिंधी घरँ और फलतः स्त्री० ज़बानाँ, नोड़िआँ, बहु० घरनिआँ; -अउँ, -ओं, -उँ भी मिलते हैं और साथ ही परसर्गों में : खाँ, खउँ, खों। संभवतः अश्कुन अवोतू की तुलना करना भी आवश्यक है। अर्थ के रहते हुए भी, मराठी अधिकरणों गलाँ, इयाँ पाटणिँ, कोंकनि शेताँ, गराँ का निस्संदेह वही मूल है।

अधिकरण; पूर्वी विकृत रूप

इस संबंध में भी, प्राचीन प्रत्यय, अकेला जो स्पष्टतः सुरक्षित रह सका है, विकरण-युक्त के एक० का है।

संस्कृत -ए कभी-कभी -इ की भाँति मिलता है : कश्० वारि, गु० हाथि (हस्ते), तुल० पु० राज० घरि, कूइ। प्रायः यह स्वर लुप्त हो जाता है, किन्तु उसका चिह्न पूर्ववर्ती

स्वर में विशेषतः रह जाता है, जैसे गु० घेर्, कोंकनि गेर् (*घरि से), लहंदा जन्गिल् (जन्गुल् से, विकृत० जन्गल्) में; हिं० जिप्सी-भाषा आदि दूर्, लहंदा घर्, बं० दोर् दोर्। यह रूप कुछ परसर्गों में सुरक्षित है : कोंकनि गेर्, कश० मन्ज् (मध्ये), हिं० पास् (पार्श्वे)।

व्याप्ति-युक्त संज्ञाओं में, -अके से एक स्वर, -ए अथवा -इ, उपलब्ध होता है : जिप्सी-भाषा खेरे, पु० कश० गरे, गु० पं० लहंदा० राज० ब्रज०, पु०बं० घरे; पु० कश० आथे (हस्ते), दूरि, अन्ति, गगनि; कलाश खुरे, जिप्सी-भाषा अग्रे, अन्द्रे। मारवाड़ी में तो अब भी 'आगै' मिलता है, जिसके अनुसार फिर बने हैं पछै, मै।

कभी-कभी इस प्रत्यय का विस्तार अन्य विकरणों तक हो जाता है : पं० छाँवे जो स्त्री० छाँ(व्) (छाया) से है; पु० कश० वते, दारे (धारा), आधुनिक दारि दारि; पु० बं० साँझे। इसमें प्राचीन विकृत रूप -आए को अधिकरण के रूप में मानने का कोई कारण नहीं है; शेष पु० राज० रात्रै, बाहि (बाहु से) में और विशेषतः विद्याइ, शिबिकाइँ में, -इ निश्चित रूप से परसर्ग है।

एक बड़ी भारी कठिनाई अपभ्रंश में दो प्रत्ययों, -ए, -इ और -अहि अथवा -अहिँ का साथ-साथ मिलना है। यह पु०हिं० देसहिँ, 'सेवकहि निद्रा लागै' द्वारा प्रमाणित भी है; दिवसै के निकट हिअहि, कश० द्वारा अन्ति के निकट अन्तिहि; वेहेरअँ के निकट पु० सिंहली वेहेरहि, और आज भी लखीमपुरी घरै, गाँवै, बजारै जो दुआरे के निकट है, समहे। स्त्री० में, लहंदा अक्खिँ, ज़बानिँ (पं० बहु० घरिँ हथिँ निस्संदेह अनुकूलत्व-प्राप्त हैं)। ऐसा नहीं है कि अनुनासिक प्रत्यय की व्युत्पत्ति मालूम करना कठिन हो : अधिकरण क्रियाविशेषणमूलक प्रा० तहिँ से नमूना प्राप्त होता है; किन्तु अधिकतर यह ज्ञात नहीं यदि -ऐ, -ए एक या दूसरे प्रत्यय पर आधारित है। फिर करण के साथ गड़बड़ की आशा की जा सकती है : और वास्तव में गुजराती और मारवाड़ी में घोड़े के दो महत्त्व हैं।

गुजराती में यह प्रत्यय विकृत० के बाद सुप्प्रत्यय के रूप में आता है : घोड़ए, इसी प्रकार स्त्री० घोड़ीए, बहु० घोड़ाए, घोड़ाओए, घोड़ीओए; इसी प्रकार सिंहली में अधिकरण बहु० असाधारण रूप में विकृत० और -हि के योग से बनता है: तम्ॅबरन्हि।

चाहे सामान्य रूप में हो, क्योंकि अधिकरण सामान्यतः एक ऐसा कारक है जो कहीं भी खप जाता है, तुल० दे० अन्यत्र; चाहे व्याप्ति-युक्त विकृत रूप पु० एक० -ऐ जो -अहिँ से निकला है, के साथ गड़बड़ के फलस्वरूप हो; फिर चाहे इस कारण हो कि भारोपीय से आया एक सर्वनामजात विकृत रूप प्रा०-अहि बना रह गया हो अथवा अन्य

सब बातों की दृष्टि से, क्या हमेशा ऐसा तो नहीं होता कि पूर्वी समुदाय में अधिकरण से साम्य रखने वाला एक विकृत रूप होता है।

तुलसीदास की पु० अवधी : संछेपहि, गुनहि, अब अधिकरण नहीं रह गये, वहु० पायन्ह, पीढन से अधिक नहीं; और वास्तव में न केवल 'चोरहिँ राति न भावा' ही ठीक-ठीक विवादास्पद है, वरन् मोतिहि जो, रामहिँ टीका, 'पुरोहितहिँ देखा राजा' भी।

पु० मैथिली हरदहि, खेतहि, किन्तु वलहि भी (जिसमें प्रा० -आहि का शेषांश हो सकता है), और विशेषतः सत्रुही आन् (एक और प्रत्यय -हु; अप० -अहु, अपादान में प्रा० -आओ का शेषांश ?)। इसी प्रकार पु० वंगाली कुले कुल, किन्तु (चर्या) 'सहजे कहेइ' भी।

अस्तु, इस समुदाय में अधिकरण पर आधारित विकृत रूप सचमुच विद्यमान था; वह लुप्त हो गया है। मैथिली में ही एक और -आ युक्त विकृत रूप है; और वंगाली में विकृत रूप का विशेष रूप नहीं है; -ए ने संभवतः मुख्य कारकों से व्याप्ति ग्रहण कर ली है, दे० पीछे।

वास्तविक विकृत रूप

रूप-रचना, यदि कोई हो तो, उसके रूप में संकेतित अवशिष्ट रूपों से वना भाव-वाचक, सदैव मुख्य कारक, जिसमें बहुत से विकृत रूप-संबंधी मूल्य रह सकते हैं, के विपरीत रहता है, और जो सामान्यतः परसर्ग पर आश्रित रहता है।

बहुवचन

विकृत रूप लगभग सर्वत्र स्पष्टतः बहुवचन में आता है; उसकी विशेषता है अन्त्य, अनुनासिक व्यंजन या अनुनासिक स्वर।

पु०सिंहली पिलिमल्न (प्रतिमल्लानाम्); दनन् (जनानाम्), महणुन् (श्रमणानाम्), वेदुन्। उसमें आधुनिक वहु० विकृत रूप केवल चेतन संज्ञाओं के लिये है।

यूरोपीय जिप्सी-भापा म्रॅंनुसॅन्, चॅवेन्' लड़के'; स्त्री० चिवेन् 'भाषाएँ', फेनिएन् 'बहनें'; नूरी मन्सॅन्, चौंनन्, स्त्री० लचिंएन् 'लड़कियाँ'।

कती मन्चॅअॅ, मन्चिँ से। अश्कुन गोंड़ाँ, ब्राँ 'भाई', सुसाँ 'बहनें', नोकरन् 'नौकर'। वैगेलि गोंड़ाँ, जेंराँ (फ़ा० यार्); वहु० के पर-प्रत्यय सहित -केले : ततेकेलियाँ; प्रशुन याकिलिओँ 'माता-पिता', लुसॅत्किलिओँ। पशई आद्मेय्अन्; वेयन् 'लड़की', वयाँ, वेय से।

खोवार दगन् 'लड़का', अन्नन् 'पर्वत'।

क॰ ''संप्रदान'' च़ूरन्, चूर् से; गुर्ऐन्, गुर[उ] से; स्त्री॰ मालन्, माल् से; रोच[उं]न् 'रात', राथ् से, गर्ऐन्, गुर्[उ] से।

तीराही व्रनिन्, अद्मन्; दुन्, 'लड़की', दी से।

शिना -ओ, तोरवाली -अ में अनुनासिकता नहीं है (तुल॰ करण -ए)।

सिंधी डेहन्[ए], पिउन्[अ], पिउरन्[अ], केहरिन्[ए]: स्त्री॰ सधुन्[ए] सध्[अ] से, विज्जुन[ए], विज्ज्[उ] से, रुखन्[ए], रुखे, रुखाँ, रुखिन्[ए], रुखिएँ, रुखिआँ, पु॰ रुखो से, स्त्री॰ रुखी।

व्रज॰ घरन्(इ), घरनु, घरौं; स्त्री॰ बातन्(इ), बातौं।

पं॰ लहंदा॰ गु॰ राज॰ घराँ, घोड़ाँ; हिंदी घरों, घोड़ों, घोड़िओं; मराठी घराँ, नपुं॰ सुताँ (सूत्र-), स्त्री॰ इटाँ (इष्टा-), रातिँ (रात्री)।

अवधी (लखीमपुरी) चोर् से चोरन्, दिया से दियन्; अद्मिन्, हिन्दुन्, स्त्री॰ लाठिन्।

पूर्वी समुदाय में, जो विकृत रूप से नहीं है, कुछ एसे रूप शेष हैं जो विशेषतः बहु॰ के अन्तर्गत प्रत्ययों या उपसर्गों का काम करते हैं : मैथिली॰ लोकनि, मध्यकालीन बंगाली सभान्, बंगा॰ -गुलि-गुल के निकट -गुलिन्-गुलान्।

अनुनासिक व्यंजन और अनुनासिक का सिंधी और व्रज में सह-अस्तित्त्व हिन्दी के प्राचीन कवियों के दुहरे प्रत्यय से साम्य रखते हैं : तुलसीदास सुरन्[अ], नाउन्[अ] एक ओर हैं और दूसरी ओर लोगन्ह्[अ], मुनिन्ह्[अ], बधुन्ह्[अ], दासिन्ह्[अ], नयनन्ह्[इ]। ये अन्तिम प्रत्यय (और फलतः -न् युक्त अन्य प्रत्यय) प्राचीन प्रत्यय में अप॰ -(अ)ह प्रत्यय के जुड़ जाने से बनते हैं (तुल॰ विपर्यस्त रूप में दे॰ पीछे; एच॰ स्मिथ, बी॰ एस॰ एल॰, XXXIII, पृ॰ १७१ n. ने कुछ समान प्रयोगों की ओर संकेत दिया है, और विशेष रूप से त्रयात्मक सर्वनामजात संबंध॰ हिं॰ इन्-ह्-ओं की ओर)। निस्सन्देह इन अतिरिक्त बलों की आवश्यकता संस्कृत -आनि से निकले मुख्य नपुं॰ (तत्पश्चात् अंततः स्त्री॰) और -आनाम् से निकले संबंध॰ के बीच ध्वनि-संबंधी संघर्ष से उत्पन्न होती है।

एकवचन

पुल्लिग में, प्रत्यय प्रा॰ -अस्स उत्तर-पश्चिम समुदाय के एक भाग में मिलता है : ''कर्म॰'' यूरोपीय जिप्सी-भाषा चोरेस् (जो टर्नर, जे॰ आर॰ ए॰ एस॰, १९२७,

पृ० २३३; बी० एस० ओ० एस०, पृ० ५० के अनुसार एक मध्यवर्ती रूप *-अस की कल्पना करता है; स्वरित सर्वनाम कस् में -स्स्- का चिह्न सुरक्षित रह जाता है), नूरी मन्सस् (व्याप्ति- युक्त संज्ञाओं तक प्रसारित प्रत्यय : यूरो० चवो से चवेस्, नूरी चोन से चोनस्); "संप्रदान" कश० चूरस्, गुरिस् (घोटकस्य), कलाश मोच्-एस् और फलतः छूअस्; पशई लोनिस् और वेयस् अथवा वयेस्। भारत के मुख्य भाग में, केवल सर्वनामों में उसके कुछ चिह्न अवशिष्ट रह गये हैं, अथवा स्वभावतः दो लिंगों (अस्य, अस्याः) के लिये इन रूपों का महत्त्व है : हिं० इस्, आपस् में, ब्रज० इस् याहि के समीप है, पं० जिस् जो संबंधवाचक जिह् के समीप है, लहंदा के नाँ-उस् ?, कस्स्-इस्; जाते ओस्— किन्तु इस अन्तिम भाषा में, जैसे कश्मीरी के अतिरिक्त, अधिकरण एकवचन को नियमपूर्वक ला सकते हैं, तुल० ध्वनि-संबंधी अस्सि के लिये।

अन्यत्र असाधारण मूल संज्ञाओं से संबंधित बातों में अधिकरण प्रकार मिलता है, अन्यत्र दे० ; सामान्यतः *-आ अप० -अह यथेष्ट रूप से प्रमाणित हैं : म० देव् से देवा, सूरत और काठियावाड़ की गुज० वाप्-आ, सिंधी देव् अ जो देव् उ से है, लहंदा कुक्कड़् जो कुक्कुड़ से है, लखीमपुरी घर्अ; कुछ परिस्थितियों में मैथिली अन्ह अ रा, क्रियार्थक संज्ञा देक् अ ब्-आ; बं० देखिबा(र्); तोरवाली पन्द्-अ, गवर्बती बाब्-अ, अश्कुन मचें-अ (इन अन्तिम तीन भाषाओं में -अ भी स्त्री० में), खोवार दग्-ओ, अन्-ओ, वैगेलि गुड़् से गुड़ो और तत से ततो "पिता"।

गुजराती, हिंदी आदि में शून्य प्रत्यय (दे० पीछे)।

व्याप्ति-प्राप्त संज्ञाओं में प्राचीन कंठ्य का चिह्न प्रायः स्वर के तालव्यीकरण में पाया जाता है, प्रकार * घोड़या : राज० घोड़ा घोड़ो से, किन्तु म० घोड़्या, सिं० लहंदा० हिं० घोड़े, घोड़ा से ब्रज घोड़ै; लखीमपुरी में घोड़ा परिवर्तित नहीं होता, किन्तु मूल में ठण्ड् का विकृत रूप है ठण्डे।

स्त्री० में, मराठी में माले, प्राकृत मालाए का 'राती', प्रा० रत्तीए से भली भाँति अन्तर पाया जाता है; इसी प्रकार यूरोपीय जिप्सी-भाषा चिंव जो चिंब से है और फेनी जो फेन् से है (जिह्वा, भगिनी)। कश० में रओं च् उँ के अनुकरण पर 'मालि' समान रूप धारण कर लेता है। नूरी, पंजाबी, सिंधी, हिंदी और विशेषतः पूर्व में और गुजराती में, विशेष रूप नहीं है।

व्याप्ति-प्राप्त संज्ञाओं में, प्रा० -इआए : म० गु० राज०, पं०, हिं० लखीमपुरी घोड़ी, तुल० तोरवाली विकृत रूप सीँ, सुं "बहन" से; किन्तु पु० राज० देवीअ, राणीअ,

रानि से जिप्सी-भाषा रानीआ, नूरी चोनि-अ "लड़की" (जो -इ युक्त पु० में आ गया प्रतीत होता है : बेलि-अ) ; सिंधी गोलि-अ, निस्सन्देह कश० गूर्ऍं, किकिली से सिंहली किकिलि़य।

यूरोपीय जिप्सी-भाषा में अब भी विकृत रूप का प्राचीन मूल्य बना हुआ है : न देलस् ई जेक्स चिं ते ख्अ॑ल् (na delas ī Jakes či te xål) "जैक को कुछ खाने को मत दो", सस् मे ददेस्, सी लेस्, लेन्; क्रिया-विशेषणों का अति लचीला प्रयोग; तचॅंनेस् 'सचाई के लिये', अकेदिवेस 'आज'। अन्यत्र, स्वयं भाषा में ही अन्य प्राचीन विकृत कारक सुरक्षित रह जाने के कारण, विकृत रूप विविध प्रकार के संबंध प्रकट करता है।

कश० र्ऍतस खरज्; फकीरस् औस्$^{\text{उ}}$; नियुऍं खबर राज्ऍस्; मस्त् कासनि अमिस् लाल्सॆ्ऍनाकस्, और कॖ्र्नॖ्छाह् कर्त अमिस् लाल्सॆ्ऍनाकस्; दोप्$^{\text{उ}}$ .... पननिस् मों लिस्; व्उंच्ह्$^{\text{उँ}}$स् ग्रीस्तिगरस्, जो गरन्, वोंतु गर (मुख्य), और गरि (अपा०) बैंहुन् के निकट है; जेनतस् किन दोज़कस् ; सुब्$^{\text{अ}}$ हस्। अश्कुन गोंड़ाँ, जो मुख्य गोंड़्$^{\text{अँ}}$ "(मैं देता हूँ) एक घोड़ा" से भिन्न है।

पु० म० अभि० मढा दिन्हला; ज्ञानेश्वरी वसया भेदें; ते समास्ताँ क्रियाँ नाँव्$^{\text{अ}}$; किन्तु मासियाँ कोपे, गगना भेटे, स्वभावें विलया जाती (एक अधिकरण मिलता है : सागरिँ)।

इसी प्रकार सिंधी पानव्$^{\text{अ}}$-जि$^{\text{अ}}$ पब्बूह्$^{\text{अ}}$ ।

विकृत रूप की यह रचना असाधारण है; सामान्यतः वह, जैसा कि वैयाकरणों का कहना है, एक ऐसे समुदाय के काम आती है जिसका द्वितीय अंश परसर्ग होता है, वास्तव में संज्ञा-रूप-युक्त शब्द जो संबंध० को प्रभावित करता है; तो रचना वैसी ही है जैसी फ़्रेंच में "à côté de, auprès de, dans la direction de, au moyen de, à l'égard de" आदि। यह प्राचीन है :

पु० म० (ज्ञान्) ऐसयाँ काजाँ लागीं, कृष्णा ते म्हाणे;
पु० अवधी (तु० दास) बरहिँ लागि, मिलेहिँ माझ;
पु० बंगाली (सरह) स्वपणे मै;
पु० कश० (लाल देद) पानस मनज़्, कजे पेंठय (मुख्य क्उज़्$^{\text{उँ}}$)।

कश्मीरी में एक दुरूहता मिलती है : प्राचीन संबंध० (जो संप्रदान कहा गया है)

चूरस् के समीप उसमें अपादान चूर रह जाता है; अथवा जब कि अन्दर्, मन्ज़्, क्युत् उ आदि जैसे परसर्ग "संप्रदान" के साथ जाते हैं, तो अपादान के अर्थ और रूप वाले परसर्ग अपादान के अंतर्गत संज्ञा के साथ जाते हैं : अट पेठ, साथ ही अन्द् अ र, किन् इ आदि : सान् का संबंध दो कारकों के साथ हो सकता है : संबंधवाची विशेषण -होनुदु जो आजकल संप्रदान में चलता है, लाल देद में अपादान है। यह रचना प्राचीन नहीं हो सकती : संस्कृत में 'समीपे' का संबंध० समीपात् की भाँति बनता है। तो भी इस बात की ओर संकेत कर देना आवश्यक है कि पुरानी मराठी में 'सहित' के द्योतक शब्द करण० में हैं जो करण० वाली संज्ञाओं के साथ आते हैं : जीवितें सिँ, इहिँ नानभूतें सहितें। अस्तु, यहाँ निस्सन्देह एक ऐसे रूप का आकर्षण प्रदर्शित होता है जो आधुनिक भाषाओं के प्राचीन काल से संबंधित है; और जो सं० 'मध्ये रेमुद्रे' प्रकार का अवशिष्ट रूप नहीं है, दे० अन्यत्र।

यह देखा जा चुका है कि गुजराती में और हिन्दी-समुदाय में मूल संज्ञाओं में विकृत रूप एकवचन नहीं होता। यह प्राचीन स्थिति है; तुलसीदास में है :

रघुबंसिन्ह मह,
तरुबरन्ह मध्य;

किन्तु छन महँ, जग मँझँ, सचिव संग, सम्भु पहँ, बिरिछ तरे, भगतन (विकृत० बहु० जो संबंध० के धर्म वाला है) हित लागी, दच्छकुमारी संग।

पुरानी गुजराती में, एक ही वाक्यांश में मूल विकृत रूप शून्य और व्याप्ति-युक्त विकृत रूप दिखायी देता है : वर्ग तणा पहिला अक्षर परै (मुख्य तणौ, पहिलौ)। पु० राज० में टेसिटरी ने बताया है कि -ह "में बिना कोई चिह्न छोड़े लुप्त हो जाने की अति प्रबल प्रवृत्ति मिलती है" : वनह महि, किन्तु, जिन साथी, और साथ ही, किन्तु बहुत कम, बहु० 'कुमर सूँ' सहित।

यह तथ्य कि अन्य रूपों में भी विकृत रूप दिखायी देता है इस बात के सोचने पर बाध्य करता है कि वह वास्तव में ऐसा प्रत्यय के तीव्र न्यूनत्व के कारण हो जाता है। तो भी पु० मराठी में नित्ययाग सहितें, लाल देद वाली पु० कश्मीरी में वर् प्यॅठ्, जो, चायॅस् वागाबरस् की भाँति है।

तो ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ निर्भरता और तुलना द्वारा रचनाएँ मिलती हैं, जिनसे प्राचीन एकमूलक भिन्नार्थी शब्द उत्पन्न होते हैं : सं० तस्य समीपात् और तत्समीपात्, उपरि धनानाम् और चाणक्योपरि, पा० गोतमस्स सन्तिके और निब्बानसन्तिके, वानरस्स पिटठे और सीहपिटठे। निस्सन्देह कविगण शीघ्र ही

उस विकृत रूप के विकसित रूप की ओर ध्यान देते हैं जो सौभाग्यवश प्रिय बने रहने वाले परंपरागत रूप के साथ साम्य रखता है; यही कारण है कि चन्द में सर्वनामजात संबंधवाची विशेषण का विकृत रूप मिलता है :

ता के कुल् ^{अ} ते उप्पनौ।

और बिना परसर्ग के :

सब् ^{अ} जन् ^{अ} सोच् ^{अ} उप्पनौ।

संभवतः ऐसा शैली के एक ऐसे प्रभाव के कारण हो जाता है जिसमें वास्तव में व्याकरण के संबंध दूर हो जाते हैं, ऐसे रूप में जिससे संस्कृत की साहित्यिक शैली के दीर्घ समासों की याद हो आती है; तो भी इतना कह देना आवश्यक है कि यह प्रभाव कम होता यदि लेखन-पद्धति में (जैसा कि निस्सन्देह कम-से-कम कवि के उच्चारण में था) दुर्बल रूप में उच्चरित स्वर बने रहते, किन्तु जो आज भी सिंधी अथवा लखीमपुरी में तो दृष्टिगोचर होते ही हैं : संभवतः प्रथमतः ये थे *सब् ^{इ} जन् ^{इ} सोच् ^{उ}।

एक कारक है जिसमें परसर्ग से पूर्व का रूप, मुख्य कारक में है : ऐसा उस समय होता है जब मूल वाला परसर्ग होता है, न कि एक संज्ञा वरन् मुख्य कर्म कारक में एक क्रिया (दे० अन्यत्र)। शिना में भी मज़ो 'में', साति 'सहित' विकृत रूप-सहित, किन्तु गि० (गृहीत्वा) मुख्य रूप-सहित : चिलिम् रीलिगि; किन्तु यह विकृत रूप सादृश्य के कारण है : चिलिम् रिलै गि। पु० मराठी में वाँचूनि "सिवाय", ठीक-ठीक "छोड़ते हुए", अब भी मुख्य रूप में ही बनता है। बंगाली में कहते हैं मथुरापुरेर माझे और वन् ^{अ} माझे, किन्तु केवल हाथ् दिआँ देख ^{अ}; मोर् ^{अ} ठायि, किन्तु आमा छाड़ा।

परसर्ग। संबंधवाची विशेषण

परसर्गों का कार्य भी निश्चित है, उनका शब्द-व्युत्पत्ति-विचार की दृष्टि से विभाजन करना केवल शेष रह गया प्रतीत होता है। यह निश्चित होना चाहिए, ताकि परसर्गात्मक शब्दों की स्वतंत्र सत्ता की रक्षा हो सके और फ़्रेंच परसर्ग de, depuis, parmi, sauf, pendant, hormis आदि की भाँति उनमें स्पष्टता आ सके। किन्तु ऐसी बात नहीं मिलती; एक बहुत बड़ी संख्या में भारतीय शब्द केवल व्याकरण-संबंधी साधन की भाँति हैं; इस विशेषता के कारण उनमें एक ध्वनि-संबंधी ह्रास पाया जाता है जो कुछ एकमूलक भिन्नार्थी शब्दों में दृष्टिगोचर होता है : सिंधी माँझाँ और माँ, हिं० ऊपर् और पर् (यह सं० उपरि से ऐसा नहीं होता, वरन् अधिकरण से निर्मित

एक शब्द से है, प्रा० उप्परि, पं० उप्पर्; इस रूप में अधिकरण हैं जिप्सी-भाषा ओप्रे, तुल० ओप्राल् अपा०, म० वरिँ); शिना गोट्एँज़् अँज़्एँ में एक ही शब्द दो बार है। इस ह्रास का प्रभाव यह हुआ है कि इन परसर्गों की शब्द-व्युत्पत्ति-विचार की दृष्टि से व्याख्या प्रायः कठिन या असंभव हो जाती है।

स्पष्ट शब्दों और क्षीणता-प्राप्त शब्दों, जिन्हें व्याकरण-संबंधी साधन मात्र बना डाला गया है, में भेद के कारण वैयाकरणों ने अनिश्चित प्रत्ययों या उपसर्गों और "परसर्गों" का भेद उपस्थित किया है। इस भेद, सैद्धान्तिक मूल्य रहित, का तो भी एक वास्तविक आधार इस दृष्टि से है कि उल्लिखित विषयों द्वारा कुछ ऐसे शब्द जाने जा सकते हैं जिनकी स्वतंत्र सत्ता है, जैसे कश० मन्ज़् जिसका अर्थ "बीच" होने के साथ 'में' भी है, जब कि अन्य का कोई सम्बन्ध नहीं है; ऐसे ही म० सिंधी ला, हिं० को, ब्रज सोँ, हिं० से; गु० ने, हिं० ने। एक भाषा से दूसरी भाषा में, अथवा स्वयं एक ही भाषा में उन सबके विविध रूप मिलते हैं: कश० पेठ्[इ] अधि०, पेठ्[अ] अपा० (पृष्ठ-), म० पाशिँ अधि० हिं० पास् की भाँति, किन्तु पासून् अपा० (पार्श्व); सिंधी सेँ, हिं० से, ब्रज सोँ; बंगाली के, हिं० को।

इसके अतिरिक्त यह परिणाम निकलता है कि परसर्ग न तो विशेष्यों से हैं, न क्रियामूलक विशेष्यों से, किन्तु कुछ-कुछ उन विशेषणों से जो "संबंधित" का अर्थ प्रकट करते हैं, और उस संज्ञा के साथ साम्य रखते हैं जिसका विकृत रूप, जो उनके साथ आता है, पूरक है। इसी को प्रचलित व्याकरणों में "संबंध०" कहा गया है।

मध्य युग से संबंधवाची विशेषण का प्रयोग प्रचलित है :

पु० म० (ज्ञान०) जया चेया इन्द्रियाँ चेया घरा, तयाचिये दिठि, खपनेयाँ चाँ गाँविँ।

तुलसीदास : सन्तन्ह कर साथ, जा करि तइँ दासि।

लाल दॆँद : गौँर सोन्द्[उ] वनुन्, दयेँ सन्ज़ेँ प्रहे।

आधुनिक उदाहरणः

सिंधी घर जो धणि "घर का मालिक"।

घरन्[ए] जो धणि "घरों का मालिक"।

मुर्स जी जोए।

मुर्सन्[ए] जू जोयू।

प्रियाँ सन्दे पार्[अ]।

हिं॰ कुत्ते का सिर्।

कुत्ते के सिर् पर् (जिसमें विकृत रूप की भाँति सिर् का रूप ठीक परसर्ग द्वारा देखा जाता है जो उसके साथ साम्य रखता है)।

लखीम॰ गोपाल् कअ लरिका।
गोपाल् के लरिका।
गोपाल् की लौंड़िया।
गोपाल् कें लरिक के।

इसी प्रकार हैं म॰ चा (ची, चें); गु॰ नो, राज॰ रो, सिंधी जो, पं॰ दा, यूरोपीय जिप्सी-भाषा 'को' अथवा 'केरो', कश॰ होन्दु समस्त स्त्री॰ वहु॰ और एक॰ सहित, उक्^{उ} और उन्^{उ} केवल पु॰ एक॰ में मिलते हैं; अन्त में क्युत् से अधिक विशेष रूप में उद्देश्य का द्योतन होता है, तुल॰ सं॰ कृत्य-। बंगाली में सामान्यतः अव्यय रूप विशेषण "संबंध॰" -एर् उड़िया -आर् से बने प्रत्यय को स्पष्ट करता है।

इस विशेषण के प्रयोग के कारण "सामासिक परसर्ग" की रचना संभव होती है; जैसे फ़्रांसीसी में sur के निकट au dessus de है, वैसे ही हिन्दी में 'पर्' के निकट 'के ऊपर' का प्रयोग होता है जिसमें द्वितीय अंश विशेष्य है; जब कि मराठी में अधिकरण पाशीं, अपादान पासून् सीधे विकृत रूप के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं, हिन्दी में 'के पास्' का प्रयोग होता है।

इसी प्रकार सिंधी 'जे आगे', बं॰ -एर् बाहिरे, -एर् भीतरे। वाक्य-विस्तार की यह प्रणाली हिन्दी में विकसित नहीं हुई और वह विविध विशेष्यों को, अधिकांशतः फ़ारसी-अरबी को, आत्मसात कर लेती है।

अस्तु, संबंध प्रकट करने वाला परसर्ग विशेषण है। अथवा यह विशेषण उस मूल के कारण हो सकता है जो नामजात पूरक से बनता है और जो प्रायः विकृत रूप में मिलता है।

तो भी मराठी में (घर् चा, घरा चा) और राज॰ में (देव तणै प्रासादि); देवतनाँ कुसुम तनी वृष्टि, और दूसरी ओर, चरित्र सुन्या तसु तणाँ ["उनके (३-४) चरित्र (१) सुने गये हैं (२)"] दोनों रचनाएँ अपवाद-रूप में मिलती हैं।

आधुनिक युग में, संबंधवाची विशेषण में, न केवल विकृत रूप से, वरन् परसर्ग वाले समुदायों के साथ सम्बद्ध होने की संभावना रहती है, और यह दुरूह परसर्गों के अनुकरण पर : जैसे गुजराती में कहा जाता है निशल् माँ थी, कहा जा सकता है घर्माँ-नी छोकरी, आ देश्-माँ-न लोको; और मराठी में : घरिँ चाँ, त्या दिवशीं चाँ।

निश्चित रचना, जो अंशतः आश्रित-वाक्य-योजना, जिसका आगे प्रश्न उठेगा, के अभाव की पूर्ति करती है।

इस प्रकार आधुनिक रूप-रचना दो कारकों में स्थित होने की प्रवृत्ति प्रकट करती है; किन्तु सर्वत्र ऐसा नहीं हो पाया; तथा दूसरी ओर उनमें विकृत रूप निर्धारित करने वाले शब्द सामान्य नियमानुसार परसर्गात्मक किये गये, तो नवीन रूप-रचना फिर से प्रत्ययों के संज्ञा-रूप ग्रहण करने की प्रवृत्ति प्रकट करती है। फलतः विकास-क्रम के संबंध में सोचते समय मूल विकरण हो गये विकृत रूप "मूलों" पर आधारित प्राचीन प्रकार की रूप-रचना की संभावना सोची जा सकती है; किन्तु जहाँ तक संज्ञा-रूप के योग्य बना रहा संबंधवाची विशेषण उसे पर-प्रत्ययों में स्थान देता है, उसमें यह एक कठिनाई है। अथवा अव्यय-रूप प्रत्यय या उपसर्ग द्वारा विचित्र रूप में प्रकट होने वाला नामजात प्रभाव बहुत कम मिलता है : सिंहली गे (गृहे); अश्कुन ब, वैगेलि बअं (भावात् ?); तोरवाली से, सि; एक मध्यवर्ती भाषा में, मारवाड़ी रइ, तुल० पु० राज० व्रत रह पीडाइँ "व्रतानाम् पीडा"।

अस्तु, प्रणाली एक स्थायी संतुलन के निकट नहीं है।

विशेषण

विशेषणों की कोई विशेष रचना-प्रणाली नहीं है। संज्ञाओं के मूल या व्याप्ति-प्राप्त होने के अनुसार उनका रूप हो सकता है (संस्कृत या मुसलमानी भाषाओं से ग्रहण किये विशेषण प्रथम वर्ग के हैं) : म० उञ्च; हि० ऊञ्चा, स्त्री० ऊञ्ची।

अपवाद रूप में ब्रज में, विशेषणों का व्याप्ति-प्राप्त रूप पु० एक० में संज्ञाओं से भिन्न है : अलीगढ़ में छोटौ बेटा, आगरा में लहुरौ छौरा। पहले तो उसे समुदाय-गत रूप के परिणाम-स्वरूप देखने का लोभ होता है : नूरी में भी एक ओर तो विशेष्य कज्ज और क्रियामूलक नन्द के रूप में एक मात्र कृदन्त पाया जाता है, और दूसरी ओर नन्दो-म् समुदाय में निहित कृदन्त। किन्तु यह सूत्र ब्रज के संबंध में लागू नहीं होता, जिसमें क्रियामूलक रूप वाले कृदन्त के अन्त में उसी रूप का समुदाय आता है जिस रूप का विशेषण : छोटौ बेटा चल्यौ गयौ। इसमें दो प्रकार के मिश्र संज्ञा-रूप मिलते हैं; उन संज्ञाओं के जो अन्य बोलियों से हाल ही में ग्रहण किये गये हैं, हिन्दी-पंजाबी प्रकार के।

एकरूपता

जिन भाषाओं में व्याकरण-संबंधी लिंग स्वीकृत है, उनमें लिंग-संबंधी एकरूपता व्याप्ति-प्राप्त रूपों में मिलती है, और साथ ही मूल रूपों में, जहाँ कहीं उनमें अन्त्य स्वर

सुरक्षित रहता है : सिंधी उमिर्ए चौसाल् अ (पु० चौसाल उ); इसी प्रकार तुलसी-दास में दाहिनि आँखि और सपथ अ बड़ि जिनमें केवल विशेषण में लिंग मिलता है। लखीमपुरी में यह प्रयोग सुरक्षित है : पातर्, पातर् इ (तुल०पातलो; पत्र से उत्पन्न); नीक्, नीक् इ (फ़ारसी शब्द); किन्तु व्याप्ति-प्राप्त विशेषण में स्वर दीर्घ है : थोरा थोरी। और यही कती में भी एव् डेगेर् अड़ि "एक बुरा लड़का", एव् डेगेरि जुक् "एक बुरी लड़की"।

बंगाली जैसी प्रसिद्ध भाषा में अर्थ के अनुसार संस्कृत अन्त्य-रूपों का प्रयोग होता है : सुन्दर् बालक्, सुन्दरी बालिका; परम मित्र, परमा शान्ति।

सामान्य रूप में ऐसा प्रतीत होता है जैसे दीर्घ रूपों का विस्तार आधुनिक हो; हिन्दी में पुल्लिग के बजाय मूल रूपों को अधिक पसन्द किया गया प्रतीत होता है, जिनकी रचना में सन्देह बना रहता है; अध्चन्दर् संस्कृत समास; किन्तु तद्भव में आधा चाँद; यें बात् सच् है, किन्तु सच्ची बात्; 'सब्' जैसा शब्द विशेषणों के वर्ग से हटकर संख्यावाची संज्ञाओं में चला जाता है। एक स्पष्टता और अन्तर उपस्थित करने की विशिष्टता की झलक मिलती है : दूर्, किन्तु दूर् का, की; काल्, काला (असाधारण रूप में काल्जुआरी)।

विशेषण के विशेष्य की भाँति निर्मित होने के कारण, ऐसी आशा की जाती है कि उसकी रूप-रचना विशेष्य के समान हो, (तो) एकरूपता मूल रूपों या व्याप्ति-प्राप्त रूपों के बीच स्थापित हो सकती है : हिं० मीठे बचन् से; हिं० काले घोड़े को, म० काला घोड्या-स्; म० थण्ड् पाण्या नें। वास्तव में वह पूर्ण एकता जो संस्कृत में आदर्श थी केवल कुछ ही भाषाओं में मिलती है : कश्मीरी (बडिस् अज्ऐंगटिस् मन्ज़्, स्त्री० बज्ऐं गरीबियें मन्ज़्, बाझौ मालौ); सिंधी [छोथें डिंह् अँ, केतिर् अ उमिर् ए जो (पु०)?, थोरन् ए डीहन् ए क् 'हआँ पो]; पंजाबी और गुजराती (में नामजात बहु० के प्रत्यय या उपसर्ग -ओ का भाववाचक रूप करते समय)। लखीमपुरी में सामान्यतः संज्ञा-रूप प्राप्त करने वाले विशेषणों के रहने पर नामजात रूप-रचना के क्षीण हो जाने का अपवाद मिलता है।

किन्तु स्वयं सिंधी में बहुवचन के स्थान पर एक० विकृत रूप का प्रयोग होते देखा जाता है : कूड़े (अथवा कुड़न् ए) नबिउन् ए खे। हिन्दी का प्रयोग इस प्रकार है : काले घोड़े को, काले घोड़ों को; काली बिल्ली, बिल्लियों को। इस सरलीकरण के मूल

में ध्वनि-संबंधी विषमीकरण की झलक मिलती है, जो उस युग से पहले उत्पन्न होता है जब कि विकृत रूप बहु० का अन्त्य *-आँ मन्द पड़ जाता है : *कालयाँ घोड़याँ > *कालय घोड़यँ > काले घोड़(य्)उँ (ब्रज घोड़उँ)। क्योंकि समदाय में होने वाले परिवर्तन के कारण वास्तव में ऐसा होता है, इसी से यह तथ्य प्रदर्शित होता है कि वह केवल 'पीले फूलों-वाला गन्दा' प्रकार में ही उत्पन्न नहीं होता, वरन् विशेष्यों में भी : हम् बच्चे लोगों को (हम-बच्चे विकृत रूप एक० अथवा मुख्य बहु० ? -गेन्स् विकृत रूप बहु०), लड़के और लड़कियों के लिये [लड़कों के लिये (प्रत्यक्षतः विकृत रूप एक० अथवा मख्य बहु०) और लड़कियों के लिये (विकृत रूप बहु०)] और विशेषतः एक स्त्री० संज्ञा में 'बाते बातों में' [प्रत्यक्षतः मुख्य बहु० बातें के स्थान पर बाते, बातों (विकृत रूप बहु०)]। इस अन्तिम उदाहरण से मन में यह आता है कि पुल्लिग में एक-वचन विकृत रूप पर किस प्रकार मुख्य बहु० की भाँति विचार हो सकता था, 'घोड़े' में दो मूल्य हैं ही; सर्वनाम वाले समुदायीकरण की गणना करना भी आवश्यक है : 'इन् लोगों ने' जो 'इन्होंने' से भिन्न है; और हम् जो मुख्य या विकृत रूप हो सकता है : हम् लोग्; हम् लोगों ने; 'काली बिल्लियों' तब तो मुख्य में प्रतीत होने वाले विकृत रूप एक० 'काली बिल्ली' से अलग होने में स्पष्ट हो जाता है, अथवा मुख्य बहु० 'काली बिल्लियाँ' से अलग होने में, किन्तु स्वयं इसका तो निर्माण समुदायगत शब्दों के विषमीकरण के सिद्धान्त का अनुसरण करने के कारण होता है।

अन्यत्र विशेषणजात रूप-रचना का न्यूनत्व एक दूसरे रूप में होता है : यूरोपीय जिप्सी-भाषा में हिन्दी की भाँति है : काले मनुसैंस्, काले मनुसैंन्, किन्तु पुल्लिग रूप ने फिर भी स्त्री० बहु० को प्रभावित किया है। मराठी में भी यही बात है, किन्तु फिर भी विकृत रूप स्त्री० एक० में पुल्लिग प्रत्यय भी मिलता है।

शिना और गवर्बती में लिग में विशेषण एकरूपता रखते हैं, किन्तु विकृत रूप के लिंग में नहीं।

अस्तु, विशेषण को रूप-रचना विविध रूपों में मिलती है; इस प्रक्रिया का इतिहास तैयार नहीं हुआ।

तुलना

पीछे दी गयी आधुनिक प्रत्ययों की छोटी-सी सूची में न तो तुलनात्मक, न तमवन्त के पर-प्रत्यय का उल्लेख हुआ है।

भारोपीय से प्राप्त, संस्कृत में वे थे : एक ओर -ईयांस्- और -इष्ठ- धातु के साथ सीधे संबद्ध हैं, दूसरी ओर -तर- और -तम- विशेषणों से उत्पन्न हैं; ये अंतिम, जो अधिक स्पष्ट

हैं, क्लैसीकल संस्कृत में अधिक सामान्य हो जाते हैं; प्रत्यक्षतः वे पाली में बने रहते हैं; किन्तु यह बता देना भी लाभदायक होगा कि पाली और अशोक० में केवल -तर- ही रचनात्मक है। (अश्कुन और वैगेलि के -स्त्ॳ युक्त व्याप्ति-प्राप्त विशेषण तो फिर, तमवन्त पर-प्रत्यय से युक्त न होकर, किन्तु जैसा कि श्री मौगैंस्टिएर्न को दृष्टिगोचर हुआ है, स्था- धातु से सम्बद्ध एक रूप से युक्त सान्निध्य-युक्त होंगे)।

किन्तु स्वयं तुलनात्मक पर-प्रत्ययों को आघात पहुँचता है; पाली की अपेक्षाकृत हाल की सीमा में एक नवीन सूत्र मिलता है, अर्थात् अधिकरण में तुलना के अंश के साथ विशेषण के सामान्य रूप : एतेसु कतरं नु खो महन्तं, अथवा अपादान में : सन्ति ते ञातितो बहू (महावंश, काफ़ी बाद का पाठ)। यह दूसरा सूत्र था जिसे अत्यधिक सफलता प्राप्त हुई; वह द्रविड़ सूत्र के अनुरूप है, और फिर मुण्डा में मिलता है, जिसमें वह संभवतः आर्य-प्रभाव के कारण है; क्योंकि सोरा में वह नहीं है, और किसी दूसरे रूप में मुण्डा में उत्कर्ष-सूचक मध्यवर्त्ती-प्रत्यय है।

'अलग होना' का अर्थ प्रकट करने वाली अभिव्यंजना स्वभावतः अलग-अलग भाषाओं में अलग-अलग है, उदाह० हिं० से, गु० थी, पं० थो, छत्तीस० 'ले', बंगाली होइते, थाकिया, शिना ज़ेंओ, तोर० केजा, अश्कुन तैं, सिंहली सिट। अन्य अभिव्यंजनाएँ हैं: कश० निसेंए, खोत जो खस्- के कृदन्त का अनियत रूप है (खस्- का मूल ईरानी है, दे० हॉर्न 'ख़ास्'- शब्द के अन्तर्गत); बिहारी और पु० अवधी चाहि, बं० चाहिया, ने० भन्दा।

यूरोपीय जिप्सी-भाषा में केवल एक पर-प्रत्यय है, जो उसने ईरानी से ग्रहण किया है और जो नकारात्मकता के साथ रहता है : 'सॅन् तू बर्वलेदेर् न मे' और साथ ही भारतीय 'बॅरेदेर् न तुते' में "अपादान" के साथ "*बड़ा नहीं तुमसे"।

संबंधवाची तमवन्त भी बराबर सामान्य रूप द्वारा व्यक्त होता है, किन्तु "सबकी अपेक्षा अधिक" अथवा "सबमें" का अर्थ प्रकट करने वाले शब्दों के साहचर्य में, तुल० पाली सब्बकनिट्ठ अर्थात् "सब से छोटा"; हिं० यें घर् सब् से ऊँचा है, इन् पेड़ों में बड़ा येहि है।

जहाँ तक पूर्ण तमबन्त से संबंध है, सबसे अधिक प्रचलित सूत्र है "आवृति" : हिं० गरम् गरम् दूध्, बं० भाल भाल कापड़्। 'बहुत' का अर्थ प्रकट करने वाले क्रिया-विशेषण का भी प्रयोग किया जा सकता है : पु० म० थोर्, हिं० बहुत्, निहायत्, कश० सेँठा, सिंहली इता; बड़ा का अर्थ प्रकट करने वाला विशेषण शायद ही कभी स्थान प्राप्त करता हो : हिं० बड़ा ऊँचा, म० मोठी लाम्ब् काठी, तुल० मिश्र या संयुक्त विशेषण चाङ्गला शहाणा।

विस्तार महत्त्वपूर्ण नहीं है; जो बात महत्त्वपूर्ण है वह यह है कि विशेषण का केवल एक ही रूप है।

विशेष्य का निर्धारण

संस्कृत में उपपद नहीं है। तो भी सर्वनाम सः का आवृत्तिमूलक मूल्य बहुत शीघ्र मिटता हुआ दिखाई देता है; महाकाव्यों में, और विशेषतः बौद्ध पाठों में, वह वास्तविक उपपद के रूप में आता है।

उपपद और निश्चयवाचक के बीच की मध्य स्थिति आज भी एक से अधिक भाषाओं में दृष्टिगोचर होती है। किन्तु समस्त भारतीय-आर्य भाषाओं में केवल यूरोपीय जिप्सी-भाषा ही एक ऐसी भाषा है जिसमें वास्तविक उपपद मिलता है, स्पष्टतः ग्रीक प्रभाव के अन्तर्गत। अस्तु, सिद्धान्ततः भारतीय आर्य संज्ञा-निर्धारण के प्रति उदासीन रहता है।

दूसरी ओर अनिर्धारण अपने को स्वेच्छापूर्वक एक- द्वारा प्रकट करता है; यह प्रयोग दूर की चीज़ है : अथर्व० से ही बहु० एके का अर्थ 'कुछ' मिलता है; महाकाव्यों और विशेषतः जातकों में अनिश्चयवाचक के रूप में 'एक' का यथेष्ट बड़ी संख्या में प्रयोग मिलता है। आज 'एक' की अभिव्यंजना अनिवार्य है और वह सिंहली में (मिनिहेक्, गमक्; इसमें समुदायगत रूप-रचना चलती है) और नूरी में (जूरि-क् "एक स्त्री"; जूरि "स्त्री", जो एँ-जुरि "यह स्त्री" से अलग है) परसर्गात्मक रूप में आता है; स्वभावतः यहाँ इस प्रत्यय या उपसर्ग के अप्रस्तुत विशेष्य का निश्चित मूल्य है। कश्मीरी में जिसमें -आह्, जो कर्त्ता० एक० अनिश्चयवाचक के बाद आता है, अनिवार्य नहीं है, पृथक् हुआ विशेष्य भी उसी के द्वारा निर्धारित नहीं होता।

तो भी निर्धारण की कुछ अनिश्चयवाचक रीतियाँ मिलती हैं। हिन्दी, लहंदा, सिंधी, बंगाली, तीराही (एल० एस० आई०, I,I, पृ० २७१) में निश्चित उद्देश्य मिलता है, मुख्य कारक में नहीं, किन्तु "à" (में, पर) का अर्थ बताने वाले परसर्ग के बाद आने वाले विकृत रूप में : हिं० पानी मेज़् पर रखो, पानी को ठण्डा करो; कोई नौकर् लाओ, नौकर् को साथ लाओ; सिंधी कनिक् के भाण्ड् में मेड़े रखो। बंगाली में यह नियम केवल चेतन जीवों और फलतः पुरुषों के नामों में लागू होता है : गोरू चराय् : गोरु-टा के बाँधो (टा का तो वैसे ही निर्धारक महत्त्व है, दे० आगे); पु० बं० राधा का देखिआँ, बड़ायि क छाड़ी; इसी प्रकार गुजराती में हुँ गोपाल ने कार्कुन् ठेर्वुँ छुँ, राइ-रंक् ने समान् दृष्टिए जोतो, भुण्डो ने चार्वा सारु; मराठी में मिँ तुला एक् राजा दाखवितोँ किन्तु आपण् राजा ला जाऊन् पाहूँ; अवधी (लखीमपुरी) में मर्दन कुअँ त माड्डारेउ '

कश्मीरी और यूरोप की जिप्सी-भाषा में अकेले विकृत रूप का संप्रदान वाला मूल्य है; पुरुषवाची संज्ञाओं के लिये वह कश्मीरी में मुख्य कर्म कारक का भी काम देता है : वाज़स् मारान्, जिप्सी-भाषा में पुरुषवाची नामों के लिये, अनिवार्यतः पशुओं के लिये कम : अन्द् पानी "पानी ला", कूर् ई जुक्लेस् "कुत्ते को मार", अन्द् दुइ ग्रेन् "दो घोड़े ला", खार्दस ई मूर्सैंस अरे। नूरी में नपुं० मुख्य कर्म कारक प्रत्यय-रहित है, चेतन विकृत कर्म कारक में है। सिंहली में भी ऐसा ही मिलता है।

निश्चित और चेतन भावों का योग भी दृष्टिगोचर होता है; ऐतिहासिक विस्तार नहीं मिलता। यह संभव है कि पुरुषवाची सर्वनामों में मुख्य कर्म कारक का अभाव विकास का सूत्रपात होते समय हुआ हो।

मैथिली में व्याप्ति-प्राप्त रूप, जो उसका निश्चित सिद्धान्त है, उपपद के तुल्य मूल्य धारण कर सकता है : नेन्^{अ}वा घृनिष्ठ है या बुरी नज़र से देखा जाने वाला; किन्तु घोड़्^{अ}वा का अर्थ केवल प्रस्तुत 'घोड़ा' है।

छत्तीसगढ़ी में हर् (अपर-) एक ऐसी संज्ञा के साथ संबद्ध होता है जो "तथा अन्य, आदि" कहलाने योग्य है; किन्तु यह महत्त्व 'ओमाँके एक् हर्' में लुप्त हो जाता है; स्वयं ओहर्, इन्हर् मिलते हैं; चेरिया हर्, सूआ हर्, गर् हर् में वह उपपद के रूप में आता है (हीरालाल, पृ० ३७, ४१)।

जिस सीमा तक वह केवल ज़ोर देने की रीति का विशेष प्रयोग हो जाता है, वहाँ तक वचन-युक्त संज्ञाओं का निर्धारण समीप रखा जा सकता है : हिं० दोनों, तिनों, तुल० सैकड़ों (विकृत के रूप), तुल० छत्तीस० दुनो, तिन्नो, सैओ और सबो, मैथिली दुन्^{उ}, अवधी दोउ, चारिउ, तुल० एकौ, घर् अथवा 'घरौ से', पु० राज० बिहु, त्रिहुँ, चिहुँ और ज़ोर देने वाले -इ सहित 'अढार-इ लिपि', अवधी कुत्तै, मराठी दोघे, तिघे, चौघे (संज्ञा-रूप-योग्य), भोजपुरी दोगो, तिन्गो अस्पष्ट हैं, किन्तु उसी सिद्धान्त के अनुसार बनते हैं।

बंगाली में एक विचित्र प्रयोग मिलता है : वह है एक संज्ञा के बाद निर्धारण वाले निपात का : टा से मोटी या भद्दी वस्तुओं का द्योतन होता है, टी से छोटी, कोमल, अच्छी लगने वाली वस्तुओं का : मानुष, एक अथवा एक्टा अथवा एक्टी मानुष्; मानुष्टा अथवा मानुष्टी; इसी प्रकार चौड़ी और लम्बी वस्तुओं के लिये : (खण्ड- से) बल् खाना, कापड़खानि और एक दण्ड से मिलती-जुलती वस्तु के लिये (गाछ्) लाठी-गाछ्, छरी-गाछि, दड़ी-गछि; इसी प्रकार पु० बंगाली में : बाण गोटा, बाँसी गुटि,

तुल० वचन-युक्त संज्ञाओं से : मैथिली दुहुँ गोटा; यह शब्द जो इसी प्रकार उड़िया में आता है, बंगाली में केवल "पूरा, सब" के अर्थ में प्रयुक्त होता है। पूर्वी समुदाय तक सीमित, यह प्रयोग अपने को भाववाचक के अवशिष्ट रूप में घोषित करता है : यह कोई संयोग की बात नहीं है कि वर्गीकरण करने वालों ने स्यामी भाषा में उसे उपपद में परिवर्तित होते पाया है (श्री बुर्ने द्वारा सोसिएते द लाँग्विस्तीक को पत्र, बी० एस० एल०, XXIX, पृ० XXVI)।

सर्वनाम

पुरुषवाचक सर्वनाम

जब कि संज्ञाओं में कर्त्ता० और कर्म० इस रूप में थे कि मुख्य कारक हमारे सामने प्रस्तुत हो जाता है, सर्वनामों में कर्त्ता० और कर्म० में पृथक्त्व की दृष्टि से विभिन्न विकरण थे। नामजात विकरणों के प्रभावान्तर्गत और अन्य सर्वनामों के भी, विशेषत: संबंधवाचक के जिनके नियमित रूप से विपरीत रूप थे, निश्चयवाचक में प्राय: नामजात रूप-रचना मिल जाती है। उत्तम और मध्यम पुरुष के पुरुषवाचक सर्वनामों में, जिनमें वही प्रभाव इतना कम दृष्टिगोचर होता है कि ये सर्वनाम वस्तुओं के संबंध में व्यवहृत नहीं हो सकते, कर्त्ता० का अन्य कारकों में विरोध होता चला आ रहा है।

किन्तु फिर मुख्य कर्म कारक में गौण कारकों से मिल जाने की संभावना थी : अश्कुन में प्राप्त एक उदाहरण से यही परिणाम दृष्टिगोचर होता है : इमा तो लानुमिर्से, ऐ तो पल प्रेम् अथवा तो-अ ब्र की भाँति। इस विकास का प्रारंभ निस्संदेह प्रत्ययांश न:, व: का वह प्रयोग प्रदर्शित करता है जो उसी समय वैदिक था, और इस दृष्टि से, संस्कृत में अधिक संयमित, किन्तु जो कर्म० साथ ही संबंध० और संप्रदान० मूल्य सहित मध्यकालीन भारतीय भाषा के 'मे, ते' द्वारा भली भाँति प्रमाणित होता है। यह देखा जा चुका है कि प्राचीन मध्यकालीन भारतीय भाषा में कर्म० ममं, जो संबंध० मम के अनुकरण पर मं के निकट है; मह के अनुकरण पर प्राकृत में महं और मिलता है; अन्त में अपभ्रंश में मइं (हिं० मैं) है जो करण० है।

अपने में यह कर्म० और विकृत रूपों की गड़बड़ उन्हीं भाषाओं में कठिनाई उपस्थित कर सकती थी जिनमें संज्ञाओं का कर्म० उनके कर्त्ता० के समान था। परसर्गों के प्रयोग के प्रचलित होते समय, यह संभवत: पुरुषवाचक सर्वनामों के मुख्य कर्म कारक तक "को, लिये" (à, pour) का अर्थ प्रकट करने वाले परसर्गों के प्रसार की निर्णयकारी स्थितियों में से एक रही है : हिं० 'को' आदि; इस प्रयोग ने ही फिर सामान्यत: वाक्य-विचार

में चेतन और अचेतन संज्ञाओं का भेद प्रकट करने की प्रवृत्ति को दृढ़ किया, दे० ऊपर।

दूसरी ओर प्रमुख-प्रमुख रूपों में कर्त्ता० को आत्मसात् करने की प्रवृत्ति पायी जाती है : उसी के कारण पाली में है ही अम्हे तुम्हे [अशोक मये जो पाली मयं है, और तु(प्)-फे] जिनमें बहु० में प्राकृत भाषाओं में एक अधिक नियमित विशेषता पायी जाती है। आधुनिक भाषाओं में, म० मी, हिं० मैं आदि, भूतकालिक क्रियाओं के साथ सामान्यतः करण, मुख्य कारक में हो जाते हैं।

एकवचन

उत्तम पुरुष

संस्कृत अहं का प्रतिनिधि, अथवा उचित रूप में मध्यकालीन भारतीय भाषा अहकं का प्रतिनिधि अव भी कुछ भाषाओं में मिलता है : पं० और ब्रज हँउ, पु० गु० हँउ हूँ हो जाता है, मालवी, मारवाड़ी हूँ, कोंकनि हाँव्, प्राचीन पं० हौं (हउँ) जिसका स्थान मई ने ले लिया है, सिंधी आऊ, आँ; पशई, गवर्‌बती, तोरवाली, कलाश आ, तीराही अओ, खोवार आव।—कती उज़े ऊंच, प्रशुन उन्‌जू जो कल्पित *अझम् का प्रतिनिधित्व तो नहीं करते? अश्कुन ऐ, वैग० ये, संभवतः निश्चयवाचक है; कश० बोंह् अस्पष्ट है।

पं० मइँ (और लहंदा मअँ) मूलतः करण० ही है (जो अपभ्रंश में ही कर्म० में दृष्टिगोचर होने लगता है); यही रूप फिर ब्रज, जयपुरी और मेवाती, अवधी में पाया जाता है; पु० मैथिली, भोजपुरी में (छोटों के बारे में कहते समय) 'में' है। निस्सन्देह यही रूप प्रकट होता है म० में 'मी', ने० में 'म' (उच्चारण करते समय अनुनासिक); पूर्वी समुदाय में विकृत रूप मो- पर आधारित एक सदृश रूप है : पु० बं० मोए, बं० मुइ, असामी मै, उड़िया मुँ।

यूरोपीय जिप्सी-भाषा मे, नूरी अम, समान बहु० अमे से भिन्न, शिना म स्पष्ट नहीं है; हर हालत में वे निकलते बराबर हैं विकृत रूप से।

पंजाबी में कर्तृ और कर्त्ता० मइँ का विकृत रूप मैं, मे से भेद है; गु० में भी विकृत रूप म से भिन्न 'में' कर्तृ० है।

अनेक रूपों की उत्पत्ति विकृत रूपों से हुई है।

नूरी -म् (कर्त्ता० में प्रतीत होने वाले अम के निकट), लहंदा -म्, सिंधी -म्^ए, कश० मएँ, -म्, पशई मे, -म्, तीराही, तोरवाली मे, प्रशुन -म् सं० प्रा० मे का प्रतिनिधित्व कर

सकते हैं; दीर्घ स्वर-युक्त अथवा परंपरागत रूप सर्वनामों में स्पष्ट किये जा सकने वाले प्राचीन रूप होने चाहिए। किन्तु तोरवाली में कर्त्ता० आ, ऐ, विकृत रूप मे के समीप कर्म० मा है। यह संभवतः प्राचीन संबंध० मह है जो विकृत रूप में पु० म० मा-, गु० मालवी जैपुरी म-, सिंधी बोली मह्ए, कोंकनि मोज्- के निकट मा-, खोवार म, तीराही मे के निकट म में बने रहते हैं; तुल० अश्कुन इम संबंध० (किन्तु क्या जो विकृत यूँ का प्रतिनिधित्व करता है?)। इसके अतिरिक्त मह अपभ्रंश में महु था जो सिंधी मूँह्, जैपुरी मेवाती मूं, ब्रज, बुन्देली, पूर्वी हिन्दी, बिहारी, बंगाली आदि मो में पाया जाता है (ब्रज, बघेली, मैथिली, भोजपुरी मोहि नामजात विकृत रूप का प्रत्यय -हि है)।

अन्य संबंध०, प्रा० मज्झ, माझ्- में मिलता है, गु० मज्, कोंकनि मोज्-, मेवाती मुज्, ब्रज और हिन्दी मुझ् (तुझ् से प्रभावित स्वर)।

उत्तर-पश्चिम में, कर्त्ता० ये के विपरीत ँई, कर्ता ईं और साथ ही यूँ, संबंध० इम अयम् जो फिर अहम् की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं; साहित्यिक मध्यकालीन भारतीय भाषा में कोई गड़बड़ ज्ञात प्रतीत नहीं होती है। प्रत्येक स्थिति में कर्म० कती -चैं्, -ई, -अ सर्वनामों में नहीं हो सकते।

सर्वनामों के प्रत्यांश रूप हैं; विकृत रूप के तो उद्धृत हो चुके हैं; इसके अतिरिक्त सिंधी -स्ए, कश० -स् मिलते हैं जो अस्मि का प्रतिनिधित्व करते पाये जाते हैं।

सिंहली में कर्ता की भाँति मम है, जो संस्कृत संबंध० प्रतीत होता है, और जो विकृत रूप मा के निकट प्रतीत होता है; पशई मम् कर्तृ का, जो विकृत रूप मे के निकट है, वही रूप है अथवा उससे उत्पन्न होता है।

मध्यम पुरुष

मराठी कोंकनि सिंधी लहंदा पंजाबी तूँ, गु० तुँ, अवधी तू, यूरोपीय जिप्सी-भाषा तु, कती कर्त्ता० त्युं, विकृत० तू, नूरी अतु के संबंध में कोई कठिनाई नहीं है। किन्तु यदि यह कहा जाय कि सिंहली 'तो तव' पर आधारित हो सकता है, तो खोवार. गवर्बती, कलाश तु, पशई तो, तोरवाली तु (आ, ऐ के आधार पर निर्मित त, तै के निकट), तीराही तु तो, शिना तु, कश० चह् का मूल निश्चित करने का साहस नहीं होता।

विकृत रूप में, वे रूप जो भारत के मुख्य भाग में प्रायः मिलते हैं 'तुझ्-' और 'तो' हैं जो प्राकृत तुज्झ और सं० तव पर आधारित हैं। पशई -ए (दन्द्-ए), नूरी -र्, सिंधी -ए, लहंदा -ई, सं० प्रा० ते के साथ खपने वाले प्रतीत होते हैं; किन्तु प्राकृत तए के निकट रूप हैं जो पु० कश० तोँयँ, आघु० चॅएँ (किन्तु प्रत्ययांश -थ्, -य्) की याद दिलाते हैं;

इसी प्रकार कलाश तै, पं० तैं, लहंदा तूअं हैं। केवल तीराही ते (कर्त्ता और साथ ही कर्तृ), तोरवाली ते जो संबंध० चिं से भिन्न है (तुल० कती पता-सें जो तोत्-चीं से भिन्न है) और कर्म० ता के संबंध में निश्चय किया जा सकता है।

उन्जु से भिन्न प्रशुन में इयू, विकृत रूप ई- हैं जो निश्चयवाचक सर्वनाम के रूप में भली भाँति प्रतीत होते हैं, तु से भिन्न विपर्यस्त रूप में कती ईं की भाँति।

कर्त्ता के रूप में प्रत्ययांश रूप, कश० -ख्, लहंदा -एँ, ई, सिंधी -एँ, स्त्री० अँ अस्पष्ट हैं।

सिंहली का विकृत रूप एक विचित्र विशेषता प्रस्तुत करता है, और वह है लिंग ग्रहण करने की : पु० ता, स्त्री० ती (ती गे अत, ती पिया)।

बहुवचन

आदि रूप सामान्यतः संस्कृत अस्मत् युष्मत् आदि में अनुनासिक का अनुसरण करने वाले शिन्-ध्वनि या शकार ध्वनि वाले समुदाय के ध्वनि-संयोग के अनुकरण पर वर्गों में विभाजित होते हैं।

सिंहली में वे इसी रूप में मिलते हैं : अंपि, विकृत रूप अप; तेपि, विकृत० तोप (* अप्फे प्रकार जो अशोक को भी ज्ञात था, दे० अन्यत्र)।

इसी प्रकार "प्राकृत" वाले समुदाय में सर्वत्र ह्म है : म० आह्मि, विकृत० आह्मा; तुम्ही, विकृत० तुम्हा, गु० अमे, अमा; तमे, तम्; राज० म्हे, म्हा; थे, थाँ; ब्रज हम्, हमउँ; तुम्, तुम्हउँ; बं० आमि, आमा; तुमि, तोमा; नूरी अमे, मेन्; अत्मे (विकृत० अत्रन्, -रन् का निर्माण एक० विकृत० के आधार पर हुआ है); विचित्र रूप : हिं० हम्, तुम्(ह); ने० हमी, तिमी; मैथिली हम्, तोह्; जिप्सी-भाषा अमेन्, तुमेन्।

पश्चिमी भाषाओं में शिन्-ध्वनि के बाद म् व् हो जाता है; जिससे हैं * अस्वे, जब कि *तुस्वें- *तुह्व्- के निकट आ जाता है :

कश०	असि, विकृत० असे	तोंही, विकृत०	तोंहं
सिंधी	असीं, विकृत० असाँ	तवहीं, विकृत०	(त्)अ(व्)हाँ
शिना	अस्, बे का विकृत०		चूहओ

पंजाबी और लहंदा में, चाहे दोनों वर्गों का समान रूप में व्यवहार होता रहा हो, चाहे मध्यम पुरुष उत्तम पुरुष में मिल गया हो, हमें मिलते हैं : लहंदा अस्सीं तुस्सीं, पंजाबी असीं तुसीं, विकृत० असाँ तुसाँ।

अह्म से भिन्न *तुह्व् के व्यवहार से संभवतः स्पष्ट होते हैं :

तीराही	मेन्, विकृत म्या	ता
तोर०	मो	थो तो
गर्वी	संबंध० मो	संबंध० था

निस्सन्देह शिन्-ध्वनि और शकार ध्वनि के अन्तर से ही कती एम, सेँ (ईरानी विशेषता का रूप, किन्तु जो समीपवर्ती ईरानी बोलियों में नहीं पाया जाता) बराबर स्पष्ट हो जाते हैं।

किन्तु उत्तर-पश्चिम में कुछ अस्पष्ट बातें मिलती हैं : खोवार इस्प (अस्मत् ?), पिस, प्राचीन बिस (वः +*-स्मत् ?) ; कलाश आति "हम" और "तुम", विकृत० १. होम, २. मीमि। इस अन्तिम समुदाय से गर्वी १. अम, २. मे की ओर ध्यान जाता है; पशई १. हम, २. (ह्)ऍमा। निश्चयवाचक के प्रवेश की झलक दृष्टिगोचर होती है : जैसे वैंगेलि येम युम, ये का बहु०, विकृत० ईं से सं० इमें की ओर ध्यान जाता है, जब कि तु का बहु०, जो 'वी' है, वीम बड़ी अच्छी तरह से यूयम् (अथवा वः जिसके कारण दूसरी ओर वयम् का प्रचार बन्द हो गया ?) को जारी रख सकता है। विपर्यस्त रूप में प्रशुन में, वी से भिन्न, विकृत० यम् (यूयम्, युष्मत्), उत्तम पुरुष में वास्तविक सर्वनामों से मिलते हैं : एक० उन्ज़ू, विकृत० उम्, बहु० असेँ, विकृत० अस्।

उन भाषाओं में जिनमें नामजात-पूरक संज्ञा के बाद आने वाले संबंधवाची विशेषण द्वारा प्रकट होता है, 'संबंध०' का संबंध स्वच्छन्दतापूर्वक व्युत्पन्न विशेषण द्वारा प्रकट होता है।

एक वचन में मराठी में विकृत० के विकरण माझ्-, तुझ्- के आधार पर माझा, तुझा हैं; किन्तु बहुवचन में उसमें, संज्ञाओं की भाँति, आम् चा, तुम् चा मिलते हैं।

विशेषण का अत्यधिक प्रचार संबंध० से उत्पन्न एक रूप पर आधारित है, जो सं० मामक-, तावक- नहीं है; किन्तु एक सदृश सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए *ममकर- अथवा *महकर-(अप० महार) है जो अंत में विकृत० के साथ सकरता स्थापित कर लेता है : जैपुरी मालवी मारवाड़ी म्(ह्)आरो, गु० मारो; ब्रज मेर्‌यौ मेरौ, मेवाती कनौजी नेपाली मेरो, पं० हिं० मेरा, यूरोपीय जिप्सी-भाष. मीरो (नूरी में वास्तविक संबंध० का प्रयोग होता है); पूर्वी हिन्दी, मैथिली, बंगाली मोर्।

सिंधी में सभी सर्वनामों का संज्ञाओं की भाँति व्यवहार होता है। इसी प्रकार कश्मीरी में, जिसमें शीघ्र ही पुल्लिग व्यक्तिवाची संज्ञाओं के प्रत्ययों : म्योँन्^उ, सोँन्^उ, छ्योँन्^उ का रामुन्^उ की भाँति प्रयोग होने लगता है, और शीघ्र ही सामान्य संबंधवाची विशेषण का : तुहोन्द्^उ का चूरसोन्द्^उ, मालिहोन्द्^उ की भाँति।

पुरुषवाचक सर्वनाम उस व्याकरण के अंश हैं जिसमें वह बात भली भाँति दृष्टि-गोचर होती है जिसे मध्यकालीन भारतीय साहित्यिक भाषाएँ भारतीय भाषाओं के अंग के रूप में प्रस्तुत करती हैं; जहाँ से वे अलग होती हैं वह पूरे समुदाय के लिये समान है, किन्तु, अन्य बातों के अतिरिक्त, ध्वनि-संबंधी पृथक्त्व ने फलतः एक ओर सिंहली को स्पष्टतः अलग कर दिया है, दूसरी ओर हिन्दूकुश की बोलियों को।

आदरसूचक रूप

पुरुषवाचक सर्वनामों का व्यवहार में सर्वत्र शब्द-व्युत्पत्ति-विचार-संबंधी मूल्य नहीं रह गया। भारतवर्ष में, परिवार में या परिवार से बाहर, सामाजिक संबंध वह सूक्ष्म भेद या अंतर उपस्थित करते हैं जो शब्दावली और व्याकरण में एक साथ प्रतिबिंबित होते हैं; जैसे एक, अकेले, आदरणीय व्यक्ति को संबोधित करते हुए, 'तू, तेरा' स्वभावतः वर्जित है : कहीं-कहीं पर "तुम" दृष्टिगोचर होता है, और मध्यकालीन भारतीय भाषा में तो मध्यम० बहु० के सर्वनाम द्वारा प्रकट किया गया मिलता ही है, अन्यत्र ऐसी संज्ञा द्वारा— महराज्, हुज़ूर, साहेब आदि (तुल० सं० भवन्त्-) जो प्रथम पुरुष से बने हैं (सामान्यतः बहु० में)। अंत में एक, अकेला, आदरणीय व्यक्ति संस्कृत आत्मन्- द्वारा प्रकट हुआ है, जिसका मूलतः अर्थ "आत्मा, व्यक्ति" होता है और जो साथ ही तीनों पुरुषों में प्रतिबिंबित अन्य सामान्य प्रयोग में आता है, किन्तु कारकों का अनुसरण करते हुए जिसमें 'हम', 'तुम', 'वह' होने चाहिए और भाषाओं के अनुसार जिनकी विविध रूप में रचना होनी चाहिए।

सिंहली में 'तो' उग्र और अभद्र है; उम्॑ब अथवा नुब का प्रयोग बराबर वालों में होता है (प्रथम पुरुष में); तमा (आत्मन्), तमुसे आदरसूचक हैं; वे 'वहन से' के साथ आ सकते हैं।

मराठी में आह्मी का मी के संबंध से वही रूप है जो फ़्रेंच में nous का je के संबंध से है; इसी प्रकार 'तुम्ही' vous की भाँति है जिसका प्रयोग उन सब के लिये होता है जो परिचित या निम्न नहीं हैं; किन्तु बड़े के लिये संबोधित 'तुम' (vous) आपण् द्वारा प्रकट किया जाता है और क्रिया बहु० में मध्यम पुरुष की होती है। इसी प्रकार गुजराती में तूं केवल ग्रामीणों में बड़ों के लिये प्रयुक्त होता है; तमे सामान्य रूप है; आदरार्थ आप् और बहु० के मध्यम पुरुष का प्रयोग किया जाता है।

हिन्दी में भी ऐसे ही भेद मिलते हैं, किन्तु आप् की रचना बहु० के प्रथम पुरुष में होती है। उसमें स्वच्छन्दतापूर्वक हम् (उत्तम पुरुष बहु० की क्रिया के साथ) का प्रयोग एक व्यक्ति के लिये होता है और जिसमें अहं की भावना नहीं होती। इसी प्रकार

लखीमपुरी में मै कहेउँ की अपेक्षा हम् कहेन् अधिक प्रचलित है; तुइ का प्रयोग छोटे बच्चों और घर के नवयुवकों के लिये होता है; किन्तु अधिक उम्र वाले लड़के या लड़की के लिये तुम् का प्रयोग होगा; आपु बहुत कम मिलता है और एक अजीब-सा रूप लगता है; वह बहु० के मध्यम पुरुष में रहता है।

छत्तीसगढ़ी में आत्मन्- नहीं मिलता; इसके विपरीत यह एक अजीब बात है कि उसमें तइँ, तू(ह्) के समीप का प्रयोग विशेषतः नम्रतासूचक है, मुख्यतः संबंधित परिवार के लोगों में; बहु० में तुम् है। इसमें पड़ौसी बिहार का प्रभाव प्रतीत होता है। वहाँ एक और नयी प्रणाली दृष्टिगोचर होती है। मैथिली में प्राचीन सर्वनाम 'मे', तू' लुप्त हो गये हैं और उनके स्थान पर हम्, तोँह् रह गये हैं जिनका एक नया बहु० बनाना और सभ् शब्द जोड़ना आवश्यक हो जाता है, जिससे भाषा के सभी बहु० बनते हैं, साथ ही निश्चयवाचक भी (इ, एह्इ; इ सभ, एहइ सभ्; एकर्, एहइ सभक्); फलतः हम सभ्, तोँह् सभ्; इनसे आदरसूचक सर्वनामों अहाँ, अपने आदि को कोई आघात नहीं पहुँचता।

भोजपुरी में प्राचीन सर्वनाम लुप्त नहीं हुए। इससे एक दुरूह प्रणाली दृष्टिगोचर होती है :

(निम्न) मेँ (उच्च) हम् (निम्न और उच्च) तुँ, तेँ
(,,) हम्नीका (,,) हम्रन् (निम्न) तोह्नीका, (उच्च) तोह्रन्;

जिनमें जुड़ जाते हैं अप्ने, बहु० अप्नन् और रउवाँ अथवा रौरा (राँजराज), बहु० रवन् अथवा रउरन्।

बंगाली में, जिसमें मुइ ग्रामीण हो गया है और तुइ अभद्रता-सूचक (केवल छोटे या स्थिति में निम्न व्यक्तियों के लिये प्रयुक्त हो सकता है), संप्रति सामान्य रूप आमि या तुमि है; उसमें एक नवीन बहु० की आवश्यकता पड़ जाती है आम्रा, तोम्रा (अंततः आम्रा-सब्, आम्रा-सकले आदि द्वारा पुष्ट)। इसके अतिरिक्त एक नम्रतासूचक रूप है आप्नि (जिसने सर्वनामों का प्रत्यय ग्रहण कर लिया है) जिसका बहु० रूप बनता है आप्नारा। इसी प्रकार प्रथम पुरुष से, बहु० ता(हा)रा के समीप का नम्रतासूचक एक रूप है एक० तिनि, बहु० ताँ(हा)रा; जब उसका व्यक्तियों से संबंध होता है तो समीपवर्ती निश्चयवाचक में एक० में ए रहता है, आदरसूचक इनि (दोनों का बहु० इहारा; आदरसूचक एनारा); दूरस्थ निश्चयवाचक में ओ रहता है, आदरसूचक उनि (दोनों का बहु० ऊहारा, आदरसूचक ओनारा)। उड़िया में भी सदृश प्रणाली है।

नेपाली में हम् का प्रयोग आदरसूचक एक० के लिये होता है और साथ ही बहु०

के लिये; उससे एक नये बहु० की रचना होती है हामि हरु, जो हम् के तुल्य है। मध्यम पुरुष में, तँ प्रचलित है, तिमि (बहु० में क्रिया-सहित) कम; एक० में *आप् जोड़कर आदरसूचक रूप बनाया जाता है, जिससे तपँइँ बनता है जिसका अर्थ 'तू-स्वयं' मालूम होता है, किन्तु होना चाहिए 'तुम, श्रीमन्' के समान; उसका बहु० तपाइँहरु बनाया गया है।

अन्त में कुछ प्रायौगिक रूपों की ओर संकेत कर देना आवश्यक है जिनका प्रयोग बात करने वाले के सहित या रहित 'हम' का अन्तर बताने के लिये होता है। यह भेद 'वह स्वयं' अर्थ के द्योतक शब्द में भी मिलता है; गुजराती और राजस्थानी में आप्, लखीमपुरी में आप्ना स्वयंवाची हैं; इसी प्रकार सिंधी में विशेषण पाहा॰ जो "हमारा ('तुम' और 'हम' दोनों में)" और मराठी में आप्ला जो आम्-चा "हमारा (तुम बिना)" के विपरीत है।

निश्चयवाचक और आवृत्तिमूलक

विशेषण-सर्वनामों की रचना और रूप-रचना में एकसूत्रता का अभाव मिलता है। संस्कृत और मध्यकालीन भारतीय भाषा में प्रयुक्त प्राचीन विकरणों से तो हम परिचित ही हैं; और इन विकरणों में से कुछ कर्त्ता० के विकरण का शेष रूप-रचना के संबंध में विरोध बनाये रखते हैं। किन्तु कुछ ऐसे विकरण भी हैं जो संस्कृत में अज्ञात हैं और अस्पष्ट व्युत्पत्ति के हैं; दूसरी ओर प्राचीन रूप-रचना में प्रायः नामजात रूप-रचना घुलती-मिलती देखी जाती है, जो निस्सन्देह प्रश्नवाचकों, और विशेषतः संबंधवाचकों, के जो सामान्यतः विपरीत पड़ते हैं, प्रभावान्तर्गत है।

प्राकृत विकरण सो : तस्स (प्रत्ययांश 'से') आज तक विविध बोलियों में प्रसारित है :

गवर्बती	से : तस (कर्तृ० तेन्); बहु० थेमि : तसु (ते+इमे, तस्स+तेषाम्?)
वैगेलि	से : तसोँ (सेओ); बहु० ते : तेँस
पशाई	ऊ-स्^अ : उ-ती (स्); बहु० ऊत्^अ
कलाश	से : तासे, ताअ; बहु० तेह् : तासे, सैंतासे
खोवार	ह-स : ह-तोγओ; बहु० हते-त् : हते-तन्
दह की ब्रोक्प	सो, स्त्री० सा : तेस्, वहु० ते : तेन्
कश०	सुह, स्त्री० सोँह्, स : तस् [और तमि (स्)]; बहु० तिम्, स्त्री० तिम : तिमन्; अचेतन तिह् : तम्^इ, तथ् (तत्र ?)

ब्रज सो : तसु, तिस्, ता; पबहु० ते (और सो) : तिन्

नेपाली सो : तस्; बहु० ती और तिनि दो प्रयोगों में

कुमायूंनी (पुरुष)सो और तौ,(वस्तु)ते : तैं, ते; बहु० ते (और सो, तौ) : तन्

अवधी से (और तौन्) : ते; बहु० ते : तेन्(ह्)

(तुलसीदास सो : ता, तासु, ताहि, तेहि; बहु० ते और तिन्ह् : तिन्ह्- : ब्रज रूपों का मिश्रण)।

इनमें से कुछ भाषाओं में एकीकरण के क्रम का सूत्रपात देखा ही जाता है : इनमें कर्त्ता० बहु० एकवचन में मिल जाता है :

पं०	सो : तिस्	बहु० से : तिन्ह्-
सिंधी	सो (स्त्री० सा) : ताह्;	बहु० से : तन्-
तोरवाली	से : तेस्;	बहु० से

अन्यत्र विकृत विकरण है जो कर्त्ता० एकवचन को प्रभावित करता है और फलतः संज्ञाओं का समीकरण दृष्टिगोचर होता है : तोरवाली में ते से की अपेक्षा कम प्रचलित है, बहु० तियँ; मराठी तो (जिसमें अन्त्य स्वर प्राचीन ही वना रहता है), गु० ते, विकृत० ते, बहु० तेस्; मारवाड़ी तिको जो सो के समीप है; अन्त में अँगरेज़ी जिप्सी-भाषा ल लि, बहु० ले जो लेस् (तस्य) से निकलता है।

उपर्युक्त उदाहरणों में, गवर्बती और कश्मीरी विकरण इम- का प्रवेश प्रदर्शित करती हैं। इन भाषाओं में से सर्वप्रथम में स्वयं एक निश्चयवाचक है जिसमें विकरणों का समुदायीकरण संस्कृत के लगभग वैसे ही समुदायीकरण का स्मरण दिलाता है :

एक० वोइ : अस, कर्त० एन्; बहु० एमे : असु

इसी से लगभग पूर्णतः उत्पन्न होता है :

अयम् : अस्य, एन; बहु० इमे : एषाम् (अ- एक वचन में)

मध्यकालीन भारतीय भाषा में जीवित रहता है, प्राकृत इमेयारूवे (-रूप-), अप० इमेरिस (एरिस के अनुकरण पर) की भाँति व्युत्पत्तियों की रचना की दृष्टि से, विकरण इम् जो सिंहली में- और कश० यिम्, स्त्री० यिम बहु० चेतन (अचेतन यिह्) जो यिह् का है, और जो एक० विकृत० यिमिस्, ag. यिमि (प्रा० इमस्स, इमेण) में भी दृष्टिगोचर होता है; कश्मीरी में ही उसका उपर्युक्त बहु० तिम्, स्त्री० तिम के और संबंधवाचक यिम् स्त्री० यिम के साथ संबंध स्थापित हो जाता है।

प्रशुन में एक ही लिंग के आपस में मिल जाने से परिचित होना आवश्यक है सु : सु-मिसें; बहु० मू (अमुका : ?) : मिसिंन्।

यहाँ पर संकेतित विकरण अमु- कश्मीरी दूषित सर्वनाम में भी मिलता है, संप्र०

अमिस्, बहु० कर्त्ता० अम्, स्त्री० अम; विकृत० अमन्; तुल० सं० अमुष्य, बहु० अमी; केवल प्राकृत में एक ही विकरण के आधार पर निर्मित कर्त्ता० एक० का प्रयास किया गया है, किन्तु ऐसा बहुत कम मिलता है। तो भी, खोवार कर्म० एक० हमु, बहु० हमित् (कर्त्ता० एक० हैय); वैगेलि विकृत० बहु० अमी जो एक० ई से संबद्ध है; तोरवाली 'मे' जो केवल बहु० है, अंत में संभवतः कती अम्ना : अम्नी जो इना : इनी का बहु० है।

अत्यन्त प्रचलित अपरिवर्तनीय विकरण एक ओर तो हैं ए- और इ-, दूसरी ओर ओ- उ-, पहले से समीपत्व प्रकट होता है, दूसरे से दूरी (कश्मीरी में तीन श्रेणियाँ हैं : यिह्, हुह्, सुह्)।

(१) प्रथम समुदाय सं० एत-, प्रा० एअ- से निकलता है, जिसके विकृत० पर संभवतः विकरण कि- का प्रभाव पड़ा है, तुल० साथ ही संबंधवाचक (विकरण इ- संबंध० की नहीं थी : सं० अयम्, इदम् : अस्य)।

करण का पूर्ण सामान्यीकरण गु० में हो गया है ए, बहु० ए-ओ जिसमें ओ संबो० का एक प्राचीन चिन्ह है (श्री दवे के अनुसार, श्री टर्नर की व्यक्तिगत सूचना); बंगाली में एक० और बहु० ए; विकृत० एक० इहा, बहु० इहाँ। उसका संज्ञा-रूप होता है :

तोरवाली में	हे : एस्-, इस्-	बहु०	इय : इयँ
लहंदा में	ए(ह्), ई : इस्, इह् ईँ		ए(ह्)ई(ह्) : इन्ह्-
पंजाबी में	एह्, इह् : एस्, इस्, इह्		एह्, इह् : इन्ह्, एह्
ब्रज में	यह् : या, इस्		ये : इन्(ह्)
सिंधी में	ह्-ए, ह्-इ : हिन्[अ] ही[उ], ही[अ]		हे, ही, हिन्(अन्)[ए]

वही विकरण शिना ओ, स्त्री० एस् : विकृत० एक० एस्, बहु० एइ : एन् के साक्षात् एक० के अतिरिक्त निस्सन्देह अन्य रूपों में भी पाया जाता है। नेपाली यो : येस्, यस्; बहु० (इन्) : इन् में, एक० मुख्य कारक व्याप्तियुक्त रूप धारण कर लेता है, तुल० पशई यो (विकृत० मी-)।

सिंहली ए : बहु० एव्हु : एवुन्, संज्ञाओं की भाँति संज्ञा-रूप होता है। वैगेलि ई अव्यय है।

(२)	सिंहली	ऊ : उहु	बहु०	ओव्हु : ओव्
	लहंदा	ओ, ऊ(ह्) : उस्, उह्, ऊँ		ओह्, ऊ(ह्) : उन्ह्-

पंजाबी	ओह्, उह् : अस्, उस्, उँ	ओह् उह् : उन्ह्
ब्रज	वो, वुह्, वह : वा, वाहि, विस्	वै, व : विन्-उन्(ह्)-
सिंधी	हो, हु, हुआ : हुन्[अ]	हो, हू, होए : हुन(अन्)[ए]
नेपाली	उ : उस्	उन् : उन्-
बंगाली	ओ, उइ, ओहा	पु०बं० उहँ, उनि : ओँ

प्रशुन उऊ; कश० पु० एक० हुह्, बहु० हुम्, विकृत० हुमिस्, बहु० हुमन्; गर्वी वोइ (तुल० बंगाली में ज़ोर देने के लिये ओ-इ?), और विशेषत: यूरोपीय जिप्सी-भाषा ओव्, स्त्री० ओइ, बहु० ओ-ले भी दृष्टिगोचर होते हैं। इसी श्रेणी में अप० कर्त्ता० कर्म० बहु० ओइ, और नूरी उहु, स्त्री० इहि रखे जाने चाहिए, यह ज्ञात नहीं।

दोनों तालिकाओं की समानता की ओर संकेत किया जा सकता है (राजस्थानी में भी यही बात है, दे०, एल० एस० आई०, IX, II, पृ० ९); विविध प्रभावों की संभावना की झलक मिलती है और यह स्पष्ट हो जाता है कि द्वितीय की कुंजी उपलब्ध नहीं है। यह स्वीकार करने का प्रलोभन होता है कि भारतीय-ईरानी विकरण अव-, जिसका वैदिक भाषा में केवल एक विचित्र चिन्ह अवशिष्ट रह गया है, बना रहा है (इस बोली में ऐसा तो नहीं हुआ कि वह आर्वम् द्वारा निकाल दिया गया हो ?); शेष में उसका अमु- के साथ मिश्रण हो सकता है, अथवा स्वर-मध्यग म् प्रकट होकर लुप्त हो जाता है (विकरण अमु- के बने रहने के कारण, दे० पीछे)। यह भी बराबर संभव है कि ये सब रूप ईरानी से आये हों, पु० फ़ा० और अवेस्ती अव-, फ़ारसी ओं।

विकरण अ- जो संबंध० अस्स और करण० प्रा० एण, एहि, जैन अस्सिं में निहित ही था, कर्त्ता० में स्थित हो जाता है, किन्तु यकायक उसमें परिवर्तन उपस्थित हो जाता है : अथवा वह गु० आ की और लगभग पंजाबी आह्, निस्सन्देह तोरवाली आ [विचित्र रूप में कर्त्ता० एक० और बहु०, यह देखा जा सकता है दीर्घत्व निस्सन्देह ओ (अव), ए (एत-) के कारण है और अपभ्रंश आअ- द्वारा प्रमाणित है] की भाँति अव्यय है; अथवा उसकी व्याप्ति हो जाती है और एक ऐसा सर्वनाम उपलब्ध होता है जो संज्ञाओं की भाँति रूप धारण करता है : म० हा, ही, हें, विकृत० पु० एक० या, ह्यँ, बहु० याँ, ह्याँ; संभवत: ग्रीक जिप्सी-भाषा -अव्, स्त्री० -ऐ; अथवा अन्त में उसकी झलक कुछ अनियमित उदाहरणों में मिलती है : कलाश आसि, तुल० ईसि, अत, विकृत० तर (तुल० तद् : तर: ?) के विपरीत।

रूप को छोड़ कर, इस विकरण का अर्थ भली भाँति निश्चित नहीं हो पाया :

गुजराती में, पंजाबी में, जिप्सी-भाषा में उससे पास की वस्तु का द्योतन होता है; इसके विपरीत शिना में ओ, स्त्री० ए अनु की भाँति होना चाहिए।

क्या इस अंतिम में कोई दूसरा प्राचीन विकरण छिपा है? सच तो यह है कि विकरण अन- भारतीय-ईरानी में बहुत कम है, और भारतवर्ष में केवल मुश्किल से करण० में मिलता है, प्रा० अणेण; विकरण एन- जो वास्तव में भारतीय प्रतीत होता है संस्कृत में कर्त्ता कभी नहीं है; प्रत्ययांश होने के कारण, मध्यकालीन भारतीय भाषा में वह विशेषत: अन्त्य स्वर-विहीन है, कर्म० बहु० ने। प्राकृत में कर्त्ता० के अतिरिक्त अन्य कारकों में विकरण इण- है; क्या वही कती में इने (मौरगैन्सटिएर्न के अनुसार न्यि), ग्रामीण कश० में स्त्री० नोंह (पु० यिह), विकृत० नोमि(स्), बहु० नोम्, नोम, विकृत० नीमन्, और शिना में (अ)नु, स्त्री० (अ)ने, बहु० अनि(ह्) के रूप में होना चाहिए? यह एक और पुरानापन होगा।

अन्त में एक -ल्- युक्त विकरण है, जिसे भारोपीय माना जा सकता है, यद्यपि समुदायगत लै० इल्ले ओल्लुस, आयरलैंडिश अल्ल केवल इटैलो-केल्टिक में जीवित रहने चाहिए (ब्रग्मन, ग्रुंद्रिस, III[2], पृ० ३४०) : वैगेलि अलि, तीराही ला, पशई एल्[अ], प्रशुन एस्ले, कलाश बहु० एले (मध्यवर्ती -त्- का ल् की भाँति व्यवहार की संभावना के अन्तर्गत)। क्या यह वही है जो लै० ओलिम की दीर्घ श्रेणी सहित संस्कृत में आरात् आरे है, जिससे पाली आरका और सिंहली अर हैं। हर हालत में उसके साथ शिना रो, स्त्री० रि, जो बोली के रूप पेरो का संक्षिप्त रूप होना चाहिए, को संबद्ध करना उचित न होगा, तुल० पलोला अड़ो भी।

एक ध्यान देने की बात यह है कि उपर्युक्त सर्वनामों में से बहुतों में, और अन्य में भी, शब्द-व्युत्पत्ति-विचार-हीन महाप्राण पाया जाता है। जैसे हैं म० हा, ब्रोक्प हाहो; खोवार ह-इय, कर्म० हमु, बहु० हमित्; हस, कर्म० हते, हतोγओ, बहु० हतेत्, नूरी अह, उड़ु स्वराघात विहीन शब्दांश, अहक् अव्यय, ह निपात; सिंहली हे अथवा ए।

एक वैयाकरण ने अपभ्रंश में कर्त्ता० एक० पु० अहो की ओर संकेत किया है; जहाँ जितना यह रूप मिलता है, उसकी व्युत्पत्ति प्रा० अव्यय अह से होती है जिसमें पिशेल सं० अथ का प्रतिनिधित्व पाते हैं। इस प्रतिपादन से कम-से-कम आदि में और कश० सुह् की भाँति कर्त्ता० में ह्- का कार्य भली भाँति जाना जा सकता है। पं० एह् आदि अधिक परेशानी की चीजें हैं : सबसे अधिक सरल तो उसका सिंधी हे के साथ साम्य स्थापित करना है। अप० एहो भी है जो प्रा० एसो, सं० एष के तुल्य समझा जाता है; एक बार तो इससे स्वर-मध्यग स् के अनियमित व्यवहार की समस्या अधिक उप-

स्थित हो जाती है। यह सोचा जा सकता है कि एक '(अ)ह् ए-' जैसी रचना एह्, साथ ही हे, के समीप हो। वास्तव में इन सब रूपों की कुंजी अभिव्यंजक ह् में है : तुल० छत्तीस० ह-अर् आदि, दे० अन्यत्र।

सर्वनामों में भी निपात संबद्ध हो जाने की संभावना होना मामूली बात है। भारतवर्ष में यह 'ही' का अर्थ प्रकट करने वाला निपात है, तुल० हिं० ही, बं० -इ, म० -च्, सिन्धी -ज्। अश्कुन युॖअंक् में विकरण इ- क्- के साथ अथवा सर्वनाम 'की' के साथ सम्बद्ध है; तुल० सुॖअ अथवा सुॖअ कअं (वैगेलि स्कुॖअं)। सिंहली में व्याप्ति-युक्त -क- है, जो उसी प्रकार का होना चाहिए (यहाँ 'एक्' का मानना ठीक नहीं; विशेषतः जब बहु० भी है)।

सर्वनामजात विकरण का इकट्ठा हो जाना तो प्रायः काफ़ी मिलता है : खोवार में हस का बहु० हतेत् है जिसमें ते दो बार आया प्रतीत होता है; और बहु० हमि-त्, हैय का, में तो तीन विकरण होने चाहिए, अथवा कम-से-कम निपात से पूर्व दो; पशई ऊ-स्^{अ}, कश० तिम, गर्वी तेमे, प्रशुन सुमि आदि के साथ कती अस्का, बहु० अन्गि जो साक्षात् एक० 'का', बहु० *के, जिसके पूर्व विकृत० के और बहु-संख्यक जिप्सी-भाषाओं के रूप आते हैं, से बना प्रतीत होता है।

स्पष्ट रूपों की ओर फिर से आने पर, यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि कर्त्ता का विकरण और विकृत० (प्राचीन संबंध०) का विरोध सर्वनामों के सभी प्रकारों में आ गया मिलता है : यूरोपीय जिप्सी-भाषा पु० एक० योव्; लेस्; नूरी पन्जि : -स्, -अतुस्; प्रशुन सु : मिसें; कश० यॖह् : यिमिस्; खोवार हैय : हमु; पशई यो : मी; वैगेलि ई, विकृत बहु० अमी।

अन्त में पश्चिमी समुदाय में प्रत्ययांश-संबंधी विकृत० का बना रहना भी ध्यान देने योग्य है : कश० -स्, (ag. न्), बहु० ख् (एषाम् ? तुल० एक० खाह्, बहु० खोक्^{अ} : खशो, खशाः)! लहंदा -स्, बहु० -ने; सिंधी -स् (ag. -ईं), बहु० न्^{ए} (ag. -ऊ); गर्वी एक० -स्; अश्कुन (अ)स्, बहु० सोन्; नूरी -स्, बहु० सन्।

संबंधवाचक सर्वनाम

भारोपीय क्षेत्र में भारतवर्ष ही एक ऐसा स्थान है जहाँ प्राचीन संबंधवाचक, संस्कृत य- आज भी बना है। ईरानी में इज़ाफ़त में केवल उसका चिन्ह ही अधिक मिलता है और इज़ाफ़त का कार्य नितान्त भिन्न है; भारतवर्ष की आर्य भाषाओं के अतिरिक्त अन्य भाषाओं में संबंधवाचक के अभाव से यह बात और भी प्रमुख हो जाती है। इस सर्वनाम

की दृढ़ता निस्सन्देह बनी रही है क्योंकि वह उस कठोर प्रणाली में है जिसकी रचना सर्वनामजात विशेषणों और संबंधवाचक, नित्यसम्बन्धी, प्रश्नवाचक (और अनिश्चय-वाचक) क्रियाविशेषणों द्वारा होती है। उदाहरणार्थ, हिंदी में :

जो, सो, * को, तुल० कोइ; तुल० ब्रज जौन्; कौन्।
जैसा, तैसा, कैसा।
जित्ना, इत्ना, कित्ना।
जब्, तब्, कब् (कभी)।

केवल बाह्य समुदाय की भाषाओं में संबंधवाचक लुप्त हो गया है : कश्मीरी को छोड़कर, उत्तर-पश्चिम के समुदाय में उसके स्थान पर प्रश्नवाचक का प्रयोग होता है (ऐसा प्रतीत होता है कि प्रशुन के एक नवीन भेद में सहायता प्राप्त होती है : केस्; तेस् और गवर्बती के केन्ज़े; कर), अथवा फ़ारसी के 'कि' का जो निश्चित रूप से समुच्चयबोधक होना चाहिए अथवा अन्ततः केवल वाक्यांशों के सान्निध्य से संतुष्ट हो जाना चाहिए।

पशई में (एल० एस० आई०, VIII, II, पृ० ९४; किन्तु श्री ग्रियर्सन उसे दूसरे प्रकार से रखते हैं) निश्चयवाचक से काम चला लिया जाता है : स्$^{\text{अ}}$, तुल० ऊ-स्$^{\text{अ}}$ (किन्तु सिराजी और रम्बानी 'ज़ो', पोगुली यों)।

यूरोप की जिप्सी-भाषा में ग्रीक ओंपोउं की एक नक़ल का प्रयोग होता है और फ़िलिस्तीन के एक शब्द और एक सेमेटिक-रचना की नक़ल का।

सिंहली में संबंधवाचक पूर्वसर्ग के बदले में अनुकूल कृदन्त है : रचना जो बहुत दिनों से भारत से लुप्त हो गयी है; तो भी एक संबंधवाचक निपात यम् शेष है, जो सदैव प्रश्नवाचक निपात (द; व्युत्पत्ति ?) अथवा संभाव्य (नम्, सं० नाम) द्वारा पूर्ण होता है।

संबंधवाचकों की रूप-रचना, नित्यसंबंधी हिं० सो, राज० यो आदि के साथ-साथ, कुछ कठिन समस्याएँ प्रस्तुत करती है। केवल मराठी में वह पूर्ण है; शेष में वह नामजात रूप-रचना में मिल जाती है।

उसमें, और साथ ही सिंधी, पंजाबी और हिन्दी में कर्त्ता० एक० 'जो', बहु० 'जे', के रूप प्राचीन अप्रचलित प्रतीत होते हैं; किन्तु जब कि वे केवल पु० सं० यो, ये से निकलते हैं, उनके लिंग में मराठी के बाद, केवल सिंधी में, राजस्थान की विचित्र जैपुरी में (पु० जो, स्त्री० जा), अन्त में संभवतः सान्निध्य-प्राप्त कश्मीरी में, युस्$^{\text{उ}}$, स्त्री० योंस्स (तुल० सुह्, स्त्री० स), परिवर्तन होता है; मारवाड़ी में व्याप्ति-प्राप्त जिको, स्त्री०

जिका में परिवर्तित होता है, किन्तु 'जो', 'ज्यो' में परिवर्तित नहीं होता; और स्वयं परिवर्तन भी केवल एक० में होता है; बहु० में तो केवल मराठी में लिंग की दृष्टि से अस्थिर रूप हैं।

अवधी (किन्तु तुलसीदास और जायसी ने 'जो' का प्रयोग किया है), बंगाली, उड़िया और विशेषतः गुजराती जे (गुजराती और उड़िया में उपसर्ग या प्रत्ययों द्वारा बहु० में परिवर्तित) सुस्पष्ट नहीं है; नेपाल और कुमायूँ में 'जे' का प्रयोग निर्जीव वस्तुओं के लिये होता है, 'जो' चेतन, पु० और स्त्री० है। क्या यहाँ नपुं० के सामान्यीकरण हो जाने के कारण है कि मराठी में केवल ऐसा मिलता है : जें ? अथवा उसमें एक सम्बद्ध निपात है, जैसे हिं० 'हीं' है ?

राजस्थान में संबंधवाचक का निश्चयवाचक की भाँति प्रयोग देखिए, विशेषतः व्युत्पन्न क्रियाविशेषणों में : मारवाड़ी जिको, जिन् सू; जरि तरि की तरह (तुल० म० ज़री, जैपुरी जित्तै, जद्, जणँ, तुल० हिं० जभिँ)। क्या यह शुद्ध लुप्त-समुच्चय-बोधक में दुहरे वाक्यांश का आ जाना है ?

प्रश्नवाचक

ऐसे रूपों की अत्यधिक विविधता है जो लगभग सभी परंपरागत विकरण क-, कि-, क्रमशः फ़्रेंच "qui" और "quoi" में प्रकट होते हैं।

"qui"—साधारण रूप में बहुत कम मिलता है : सिंधी 'को', स्त्री० 'का'; शिना नेपाली 'को'; कती कू; कश० कु-स्ᵘ, को-ज़न ? 'को' के समीप 'कौ' यह प्रकट करता है कि यह व्याप्ति-प्राप्त रूपों से ऐसा होता है, अपेक्षाकृत सं० प्रा० 'को' से; तुल० संभवतः सिंहली कवद्। सं० कीदृश से निकलते हैं : सिंधी केहो, गु० कशो, शो, प्राचीन किसिउ और संभवतः यूरोपीय जिप्सी-भाषा 'सो' : संभवतः प्राकृत केरिस- से साम्य रखते हुए हैं : सिंधी केहरो, केर्, पं० केहरा।

अप० कवणु (पा० कोपन, किं पन, दे० ऐंडर्सन कृत 'पाली रीडर' की अनुक्रमणिका) से साम्य रखने वाला एक समुदाय है : राज० पं० कौण्-, हिं० अवधी कौन्, गु० म० कोण्, लहंदा काण्, ने० कुन्, बंगाली कोन् जो 'के' के समीप है, जिप्सी-भाषा कोन्; कलाश कूर ?

पशई वैंगेलि 'के', अश्कुन चूएंड, विकृत० को, दूसरी ओर मैथिली बंगाली 'के' समस्या प्रस्तुत करते हैं; तीराही 'काम' अफ़ग़ानी है।

"quoi"—सं० किम् प्रत्यक्षतः इनमें प्रतिबिंबित हुआ प्रतीत होता है—मैथिली

की, बंगाली उड़िया कि, पं० की, गर्वी तीराही कि, शिना जे-क्, सिंहली किम्-द; हिं० क्या (विकृत० काहे), पं० किआ (विकृत० कित्, कईं), सिंधी छा, कश० क्यह् (संप्र० कथ्), कलाश कीअ उसके व्याप्ति-प्राप्त रूप प्रतीत होते हैं।

विकरण क- भी बराबर काम आता है, निस्सन्देह विकृत कारकों पर आश्रित होकर: पु० हिं० कहा और वैगेलि कस् तो स्वयं विकृत हैं; अवधी में काव् है, छत्तीसगढ़ी में का; नपुं० बहु०, अप० काइँ, जैपुरी काँई, मराठी काय् (विकृत० कसा-, कासया), संभवत: कती कइ, लहंदा मेवाती के, नूरी 'के' में फिर मिलता है। अन्य रूप भी हैं, जो कम स्पष्ट हैं।

हिं० क्या, बं० कि आदि जो प्रश्नवाचक वाक्यांशों में काम आते हैं (ने० 'कि' उन्हीं का अनुसरण करता है), सुर को छोड़कर सामान्य वाक्यांशों में कोई विशेषता ग्रहण नहीं करते; उनसे फ़्रेंच "est-ce que" वाला काम निकलता है। बंगाली प्रकार 'न कि', हिं० कि नाहिँ पर—दे० अन्यत्र।

संस्कृत में च, चित् अथवा (अ)पि के बाद आने वाला अनिश्चित प्रश्नवाचक के रूप में आता है। उससे, उदाहरणार्थ, है पाली कोचि, नपुं० किंचि; अशोक० में इसी प्रकार केचि केच है, और इसके अतिरिक्त तालव्य घोष रूप केछ, किंछि है जिससे सं० कश्च का जीवित रहना प्रमाणित होता है। प्राकृत में 'कोवि' का प्रमाण मिलता है।

को(चि) अथवा कोवि से निकलते हैं हिं० पं० राज० हिं० कोई, उड़िया केइ और स्वर-संधि के फलस्वरूप गु० सिंधी शिना को, कती को, (न् कइ), पशई तीराही वैगेलि कि। समान रचना-क्रम से, किन्तु आधुनिक : म० कोण्ही, पु० हिं० कौंऊ, बिहारी केऊ, बंगाली केहो, केउ; नपुं० म० काँहिँ, गु० काँइ, मार० कीँ, सिंधी किँ।

किछि का बंगाली किछु, उड़िया किछि, हिं० कुछ्(उ) में दीर्घीकरण हो गया है; सिंहली किसि संदिग्ध है।

सर्वनामजात विशेषण

सामान्यत: संस्कृत के सर्वनामजात विशेषण, जो भारतीय-ईरानी में दृष्टिगोचर होते हैं, लुप्त हो गये हैं; उनके जो अत्यन्त दुर्लभ रूप अविशिष्ट रह गये हैं वे उनकी एक भी विशेषता प्रकट नहीं करते; संज्ञा-रूप विशेषणों का संज्ञा-रूप है : हिं० सब्, जैसा।

सर्वनामों से व्युत्पन्न समुदायों में एक साथ संबंधवाचक, निश्चयवाचक और प्रश्न-वाचक रूप मिलते हैं : जैसा, तैसा, कैसा।

सबसे अच्छा प्रतिनिधित्व उसका हुआ है जो परिमाण प्रकट करता है, जो संस्कृत कियन्त्-, पा० कित्तक-, प्रा० केत्तिअ- (जिसमें 'के' निश्चयवाचकों के ए- के अनुकरण से बने होने चाहिए, तुल० पा० ए-दिस-, एत्तक-) से निकला है। कती में केत्त् का अर्थ होता है "कौन, कौन"? किन्तु वैगेलि में प्राचीन अर्थ-सहित केति है; तीराही में कतेसि है, तुल० ले-तिक्, कतिसि; अश्कुन में चीत् है, गवर्बती में कत। विभिन्न पर-प्रत्ययों सहित तोरवाली कदक्, प्रशुन केरेग्, शिना कचोंक्, कतक्, मया कतुक्, कश० कूत्[उ], स्त्री० कीच्[उं], यूरोप की जिप्सी-भाषा केति, नूरी कित्र्अँ, सिंधी केतिरो, केट्लो, म० कित्का (पु० म० जेती), पं० हिं० कित्ना, बं० कत (सं० कति से प्रभावित? हर हालत में प्रा० तत्तक- के बारे में सोचा भी नहीं जायगा), उड़िया 'केते' मिलते हैं।

क्या कलाश किमोन् ने फ़ारसी से विशेषता प्रकट करने वाला पर-प्रत्यय -मान् उधार लिया है?

मराठी केव्ढा *कीयद्-वृद्ध- प्रकार पर, अथवा कहना चाहिए प्रमाणित हुए के-महालय्ंअ - के समान प्राकृत *के-वड्ढअ पर आधारित प्रतीत होता है।

सिंहली 'की' जो किय-द में व्याप्ति-युक्त हो जाता है कति पर आधारित प्रतीत होता है; कोच्चर अस्पष्ट है; 'को पमाण' सान्निध्य-प्राप्त विद्वत्तापूर्ण शब्द है।

'किस प्रकार का' प्रकट करने के लिये हिं० कैसा, म० कसा के समुदाय *कादृश-प्रकार प्रदर्शित करते हैं; तुल० वैदिक हॉपाक्स यादृश्- ब्राह्मण०, तादृश्-।

कीदृश- के व्युत्पन्न रूपों में, दे० पीछे, पु० बं० के-मन्त्, बं० के-मत्, के-मन् हाल की रचनाएँ हैं। अन्य भी हैं, जो कम स्पष्ट हैं।

निजवाचक

यद्यपि मूलतः यह केवल शब्दावली की बात है, तो भी संस्कृत आत्मन्- के जीवित रहने की ओर संकेत करना उचित होगा जो ऋग्वेद में भारतीय-ईरानी तनू के साथ-साथ मिलता है, और तुरन्त बाद ही उसका स्थान ग्रहण कर लेता है, स्वं और स्वयम् का उससे कोई संबंध नहीं रहता (सम्भवतः मध्यकालीन भारतीय भाषा में स और सोयम् के समीपवर्ती होने के कारण)।

मध्यकालीन भारतीय भाषा में आत्मन्- के व्युत्पन्न रूप दो प्रकार के हैं (दे० अन्यत्र) : अप्पा, अत्ता। पहले से निकलते हिं० पं० आप् (विकृत० आपस्), उड़िया आपे, पु० बं० आपा, बंगाली आपसेर् मध्ये, ने० आफु, विकृत० जिप्सी-भाषा पेस् और व्युत्पन्न गु० पोते, वैगेलि पेइ, गर्वी फुका, ब्रोक्प फो और पेरो। विकृत० के विकरण

से उपलब्ध होते हैं बं० आप्नि, सिंधी पानु, कश० पन, प्रशुन पने, नूरी पन्जि और विशेषण हिं० आप्ना, पं० आप्णा, गु० आप्णो ("हमारा" सहित) ने० आफ्नु।

दन्त्य वाले विकरण से आते हैं एक ओर सिंहली तमा (अथवा यह पा० तुम- है ?), दूसरी ओर तोरवाली तम्, पशाई तानिक् और विशेषण शिना तोमु, गर्वी, वैगेलि, अश्कुन तनु; खोवार तन् फ़ारसी से लिया गया होना चाहिए।

आदरसूचक सर्वनामों की भाँति इन शब्दों के प्रयोग के संबंध में दे० अन्यत्र।

सर्वनाम एक ऐसा व्याकरण-संबंधी समुदाय है जो मुख्यतः अर्थ-विचार और अभिव्यंजना-संबंधी तोड़-फोड़ से, फलतः पुनःसंस्कार से, प्रभावित है। इस प्रकार रूपों का बाहुल्य स्पष्ट हो जाता है। किन्तु व्युत्पत्ति द्वारा वे सब मूलतः संस्कृत प्रदर्शित होते हैं; और यदि कुछ उपयुक्त बना लिये गये रूप हैं, तो वे मूल उत्पत्ति के नहीं हैं, जैसा कि उदाहरणार्थ रोमन में देखा जाता है। प्रारंभिक विशेषताएँ : निश्चयवाचक स् अथवा त्-, संबंधवाचक ज्-, प्रश्नवाचक क्- बराबर बनी रहती हैं, और अर्थ द्वारा समुदाय में रखे गये शब्द रूप द्वारा स्पष्ट बनायी गयी प्रणाली में भी समुदायगत बने रहते हैं; जिसके कारण, जैसा कि देखा जाता है, दुरूह वाक्यांशों की स्पष्टता और साथ ही नियमबद्धता है।

रूप-रचना का प्राचीन अप्रचलित रूप बना रहता है : हिंदी-पंजाबी-लहंदा-नेपाली समुदाय में -स् युक्त विकृत०; और विशेषतः 'जो' प्रकार का कर्त्ता० जो उदाहरणार्थ हिन्दी के विशेष्य प्रकारों बाप् और घोड़ा के विरोध में है। अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नवीनता है लिंग का सामान्य अभाव, जो संभवतः पुरुषवाचक सर्वनामों के समानान्तर रखे जाने के कारण है।

तृतीय खण्ड

क्रिया

पुरुषवाची रूप

भारोपीय क्रिया में एक ओर तो पुरुष के, लिंग के नहीं, द्योतक प्रत्ययों से ग्रहण किये गये रूप हैं; दूसरी ओर ऐसे नामजात रूप हैं जो लिंग और साथ ही वचन का, पुरुष का नहीं, द्योतन करते हैं, और जिनकी विशेषता है ऐसे विकरणों से संबद्ध होना जो वास्तव में क्रियार्थक हैं, और जिनमें उसी प्रकार वर्गों और रचनाओं से प्रभावित होने की संभावना रहती है जिस प्रकार पुरुषवाची रूपों में। यहाँ केवल पुरुषवाची रूपों का प्रश्न है।

वैदिक स्थिति

वैदिक क्रिया अवेस्ती क्रिया के अधिक निकट है। उनमें विकरणों की रचना समान रूप से होती है (अकेली प्रेरणार्थक धातु में -प्- का प्रयोग वास्तव में भारतीय है); दुहरे रूपों का निर्माण भी समान है और उनमें रीतियाँ हैं (वर्तमान में स्वर उ : अ० सुस्रुर्से-, सं० शुश्रूष्; पूर्ण में उ और इ : अ० -उरूरओδअ, सं० रुरोध; अ० चिंकोइत्अंर्अंर्से, सं० चिकितुः ; आगम भी वैसा ही है, किन्तु वह अवेस्ता की भाँति न तो दुर्लभ है, न पु० फ़ारसी की भाँति निरंतर बना रहने वाला)। अन्त्य प्रत्ययों में समान विशेषताएँ हैं (आज्ञार्थ ३ एक० कर्तृ० -तु, मध्य० -आम् और -ताम्, २ एक० मध्य० -स्व; १ एक० सामान्य अतीत मध्य० विकरणयुक्त -इ, प्रारंभिक मध्य० रूपों के बहु० के अन्तर्गत मध्यम पुरुष के -ध्व्- का प्रयोग : त्रायध्वे, अ० चॅंरθवे; इसी प्रकार १ बहु० गौण मध्य० -महि के निकट, अ० मैδइ, आदि रूप सं० -महे, अ० -मैदे) ; जहाँ तक भिन्नताओं से संबंध है, वे कोई गंभीर नहीं हैं और परिवर्तन-विरोधी प्रवृत्ति पर आधारित हैं : १ द्वि० -वः जो अ० -वही से भिन्न है एक साधारण पुर्नविभाजन का परिणाम है; इसी पुर्नविभाजन का परिणाम है १ एक० -आ का संशयार्थसूचक क्रिया-रूप तक सीमित रहना (ब्रंवा अ० अङ्हा की भाँति; किन्तु अ० पॅर्अंर्अंसा से विपरीत केवल निश्चयार्थ क्रिया-रूप पृच्छामि अधिक मिलता है), उसके पूर्ण लुप्त हो जाने का पूर्वाभास (उसके केवल लगभग दस उदाहरण मिलते ही हैं)। २ एक० आज्ञार्थ गृहाण, बधान और वैदिक प्रत्ययों -त-न, -थ-न का वास्तव में भारतीय निपात संभवतः भारोपीय में दृष्टिगोचर होता है (हित्ती बहु० १. -वे-नि, २. -ते-नि ?) ; प्रत्येक स्थिति में तस्थौ,

पप्रौं, दीर्घ स्वर-संयुक्त धातुओं के पूर्ण० के एकवचन १-३ भारोपीय से आये हैं (मेइए, 'रेव्यू द एत० आर्मेनिएन', १९३०, पृ० १८३) और ईरानी की विशेषता उसे अलग करने में है; -अ (विर्द, चक्र) युक्त पूर्ण० के मध्यम० बहु० का प्रत्यय जिसका स्थान ईरानी में आदि प्रत्यय ग्रहण कर लेता है, निश्चित रूप से एक प्राचीन अप्रचलित प्रयोग है; इसी प्रकार आज्ञार्थ वित्तात् लैटिन और ग्रीक द्वारा प्रमाणित है; २ एक० मध्य० अंदिथाः, संभावक प्रकार जानीथाः के केल्टिक में प्रतिरूप मिलते हैं। उसके समीपी आशीर्वादात्मक का जन्म, द्वि० रूपों अथवा र् युक्त प्रत्ययों (अथर्व० वर्त० शेरे जो अ० सोइरे सरेरे) की भाँति है; पूर्ण० चक्रिरे जो चाख़्ररे की भाँति है, किंतु जगृभ्रिरें; अससृग्रम् जो वओज़्(अ)इर्अम् की भाँति है, किन्तु अचक्रिरन्, सामान्य अतीत अदृश्रन्, अपूर्ण० अशेरत, बहु० जैसा पूर्ण० अववृत्रन्त; आज्ञार्थ दुह्राम्, पूर्ण० तक आदरार्थ का विस्तार ऐसी नवीन बातें हैं जिनका आगे के लिये कोई महत्त्व नहीं है।

अन्त में जोड़िए, उन्हें जिनका संबंध प्रत्ययों के प्रयोग से है, जो अवेस्ता की गाथा की भाँति वेद में नपुं० बहु० के अंतर्गत कर्त्ता, एक० क्रिया-सहित के रूप में मिलता है। किन्तु यह प्रयोग, जो गाथा में नियमित रूप से मिलता है, ऋग्वेद में अपवाद-स्वरूप ही है।

विकरण

विकरण में बहुत विविधता है : व्युत्पत्ति से बने भाववाचक की दृष्टि से देशी वैयाकरण वर्तमान० के दस भेद स्वीकार करते हैं; इसके अतिरिक्त सामान्य अतीत, मूल और स-भविष्यत् हैं, और हर एक प्रकार के कई-कई भेद हैं; भविष्य० और पूर्ण०। कुछ विशेष भेदों का प्रकार-विषयक पर-प्रत्ययों द्वारा प्रकटीकरण हुआ है : सामान्यार्थ और आज्ञार्थ (शून्य), संशयार्थसूचक (गुण मूल तथा रूपमात्र -अ-), आदरार्थ पर-प्रत्यय -या- : -ई-; -ए- विकरणयुक्त में। अन्त में दो वाच्य हैं : कर्तृ और मध्य।

वर्तमानकालिक विकरण

इनकी संख्या बहुत है; कुछ (तीन) सामान्य अतीत के समान हैं; अधिकतर वर्तमान० में विशेष व्युत्पन्न रूपों से हैं। इसी से ऐसा है कि क्रिया को समस्त संभव विकरण प्राप्त होने पर भी उनका प्रयोग नहीं होता; बड़ी कठिनाई से ऋग्वेद की धातुओं के पाँचवें भाग से अधिक में वर्तमान मिलता है।

वर्तमानकालिक विकरण और शून्य पर-प्रत्यय-युक्त सामान्य अतीत

अविकरणयुक्त रूप :

इस रूप की रचना में न केवल पर-प्रत्यय का अभाव मिलता है, वरन् उसमें धातु का स्वर-संबंधी परिवर्तन-क्रम और स्वराघात का स्थानान्तरीकरण, कम-से-कम वर्तमान० में, मिलता है : एॅ-ति : य्-अॅन्ति, अ० अएइति : येइन्ति; ध्वनि-संबंधी अथवा अन्य परिस्थितियों के फलस्वरूप सामान्य अतीत परिवर्तन-क्रम कम स्पष्ट हैं उदाहरणार्थ, एक० १ अॅगम्, २-३ अॅगन्, बहु० १ अगन्म, ३ अग्मन्; एक० १ अभूॅवम्, ३ अभूत्, बहु० ३ अभूवन्।

भारोपीय में अन्य स्थलों की अपेक्षा वेद में यह वर्ग अधिक अच्छे रूप में मिलता है : उसमें लगभग ११० वर्तमान०, १०० सामान्य अतीत हैं (जिनमें से ८० ऋग्वेद में हैं), जब कि दोनों समुदायों में मिला कर अवेस्ता में मुश्किल से ८० धातुओं से अधिक हैं।

भारतवर्ष में कुछ विकरण द्वयक्षारात्मक हैं, उदाहरणार्थ वर्तमान० में : ब्रॅवी-ति : ब्रुव्-अॅन्ति; ये रूप बहुत कम मिलते हैं : अॅनिति, त्वीति, श्वसिति, अवनित्, आज्ञार्थ स्तनिहि। किन्तु यह प्रकार बना रहता है; स्वयं अथर्व० में मिलता है रोदिति जो लै० रूडो, रुडीअर के मुक़ाबले आश्चर्यजनक है; जहाँ तक स्वपिति से संबंध है, तुल० अथर्व० भविष्य० स्वपिष्यति- जो स्वॅप्न- के विपरीत है, ऋ० आज्ञार्थ २ एक० स्वप, मेइए, बी० एस० एल०, XXXII, पृ० १९८ के अनुसार लै० कैपिओ कैपिट प्रकार का अवशिष्ट रूप होना चाहिए।

सामान्य अतीत में, अग्रभम् : अग्रभीत् बनाया गया है अब्रवम् : अॅब्रवीत् की भाँति, किन्तु रूप अलग-अलग हो गये हैं, अॅग्रभीत् -इष्- युक्त सामान्य अतीत के साथ चला जाता है, दे० मेइए, बी० एस० एल०, XXXIV, पृ० १२८।

स्वराघात के संतुलन रहित, सामान्य विकरणयुक्त रूप

वर्तमान० यह बहुत मिलता है : प्रचलित रूप में गुण है : बोॅधति। सामान्य अतीत में, धातु शून्य श्रेणी में है : बुधॅन्त। एक ही धातु में दो विकरणों का सह-अस्तित्व और विरोध दोनों, जो ग्रीक में बहुत हैं, अवेस्ती की भाँति संस्कृत में भी बहुत कम मिलते हैं : उदाहरणार्थ, रोॅहति : अॅरुहत्; शोचतु : अशूचत्; वॅर्धति : अवृधत्, रुदन्ति : २. एक० रुदः; किन्तु अतनत् का तनोति से विरोध है, अविदत् का विन्दॅति से, और साथ ही अमुचत् का मुञ्चॅति से उस समय तक जब तक वर्तमान० होता है जिसका प्रथम० बहु० है मुचॅन्ति। इस समय, अपूर्ण० और सामान्य अतीत मिल गये हैं; इसी से अथर्ववेद में अनेक रचनाएँ मिलती हैं।

समस्त भारोपीय भाषाओं में, विकरणयुक्त क्रिया-रूप, जो परंपरा के आदि समय

में ही प्रचुर मात्रा में थे, अविकरणयुक्त रूपों को संबद्ध कर लेते हैं, जिनमें परिवर्तन-क्रम के कारण एक गंभीर दुरूहता उत्पन्न हो जाती है—न केवल स्वर-संबंधी चमत्कार द्वारा, किन्तु व्यंजनों के संपर्क में आने के कारण उत्पन्न ध्वनि-संबंधी परिणामों द्वारा भी, तुल० तष्टि : अतक्षम, प्रथम० एक० अघः आदि।

संस्कृत में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नवीन वर्ग तुदति प्रकार है, जो संभाव्यार्थसूचक और सामान्य अतीत के आदरार्थ पर आधारित है; इस मूल के कारण उनके निर्दिष्ट रूप की गणना की जाती है, चाहे स्वयं क्षणिक कार्य द्वारा क्रिया द्योतित हो (रुजति, सृजति, अ० हॅर्अ्र्ज़ैति), चाहे वह कुछ समय तक रहने वाले भाव के द्योतक रूप के विरोध में हो (तॅरति : तिरति)। प्राचीन काल में यह वर्ग प्रचुर मात्रा में पाया जाता है : लगभग ८५ क्रियाएँ वेद में, पचास अवेस्ता में।

इ और उ के द्वित्व वाले रूप से सामान्यतः कुछ सामान्य अतीत उपलब्ध होते हैं (अबू-बुधत्, सिश्वपत्) जो फिर प्रेरणार्थक धातु से सम्बद्ध हो जाते हैं (बोधयति, स्वापयति; तुल० अ० ज़ीँज़न्-, और ग्री० पेफ्निँन् प्रकार); एक भिन्न रूप में यह विरोध अविकरणयुक्त में मिलता है : अजीगः : जरते। वर्तमान० के मुकाबले, टिख्टो की समृद्ध ग्रीक माला और मिम्नो समुदाय आदि से भिन्न, ईरानी में मुश्किल से केवल आधे दर्जन दुहरे विकरणयुक्त रूप हैं, और कुछ अपवाद-स्वरूप रूपों को जैसे जिघ्नते, तुल० अ० जैγन्अ्न्ते, अथवा अस्पष्ट रूपों को छोड़ कर, स्वयं संस्कृत में, यदि वे प्राचीन हैं : पिबति, तुल० पु० आयर्लैंडिश इबिद; तिष्ठति, अ० हिसॅ्तैति और लै० सिस्टो से भिन्न रूप में निर्मित, दे० पीछे।

अन्य सब रूप मुख्य हैं, चाहे वे वर्तमान० में हों, अथवा सामान्य अतीत में।

द्वित्व-युक्त वर्तमान

अविकरणयुक्त :

यह क्रम, जिससे पहला क्रम निकला प्रतीत होता है, भारतीय-ईरानी में भली भाँति स्थापित हुआ मिलता है, यद्यपि भले ही उसकी संख्या बहुत न हो; वेद में ५० धातुओं से कुछ कम, अवेस्ता में २०। उनका एक काफ़ी निश्चित अर्थ है : इ को द्वित्व-युक्त करने वाले रूप विशेषतः णिजन्त हैं (इयर्ति, सिसर्ति) अथवा समर्मक हैं (सिषक्ति कर्म० सहित जो सॅचते करण० सहित, से भिन्न है; जो अ को द्वित्व-युक्त करने वाले रूप हैं वे विशेषतः अतिशयार्थक प्रतीत होते हैं (बभस्ति, ववर्ति); किन्तु ददाति, दॅधाति सकर्मक हैं और बिभर्ति का विरोध भरति से है, जो साथ ही स्वच्छन्द रूप में पूर्व-क्रिया के साथ आता है; जिघ्नते अ० जॅ न्अ्न्ते के अनुरूप है, तुल० ग्री० ऍप्एफ्नोन्

और इस बात के संकेत प्राप्त होते हैं कि *दिदन्ति ददाति के समीप रहा है। अन्तु. वेद में इन रूपों का मूल्य बहुत निश्चित नहीं है; उनका प्रधान प्रयोग सामान्य अतीत संबंधी धातुओं को वर्तमान० रूप प्रदान करता है, तुल० अ॑धात्, अ॑दात्।

कुछ की उत्पत्ति पूर्ण० के बाद हुई : बिभेति (ऋ० भयते : बिभाय, जागर्ति, जागार)।

अतिशयार्थक

यह भी द्वित्व-युक्त वाली माला में रहता है, किन्तु द्वित्व-युक्त धातु के स्वनंत को इस रूप में दुहराता है मानों वह एक हो, और यदि धातु में स्वनंत नहीं रहता तो वह दीर्घ रहता है, व॑र्वर्ति, बहु० व॑र्वृतति, जङ्घन्ति, चर्कर्मि, तर्तरीनि, चाकशीति, पापतीति।

यह वर्ग भारोपीय है; किन्तु केवल भारतीय-ईरानी में उसके स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं; तथा अकेले वेद में उसका विकसित प्रयोग पाया जाता है (अवेस्ता में १३ के मुक़ाबले ९० धातुएँ)। नये रूपों की उत्पत्ति न॑नमीति जो मध्य० न॑म्नते के विपरीत है, वरीवर्ति जो व॑र्वर्ति के निकट है, जैसे द्वयक्षरात्मक प्रकार के लयात्मक मूल के विस्तार में मिलती है। इसके अतिरिक्त वेद के समय से उसमें कुछ विकरणयुक्त कर्मवाच्य मिलते हैं, जैसे मर्मृज्य॑ते, रेरिह्य॑ते।

अनुनासिक मध्यवर्ती प्रत्यय-युक्त विकरण

स्पष्ट रूप में केवल भारतीय-ईरानी में, और प्रचुर मात्रा में केवल वैदिक में सुरक्षित अन्य महत्त्वपूर्ण वर्ग। उसके विविध प्रकार हैं :

एक धातु रिच्- का, ३ एक० रिण॑क्ति (अ० इरिनखति), बहु० रिञ्च्-अ॑न्ति;

एक द्वयक्षरात्मक धातु अर्थात् *ग्रेभ्अ॑ का : गृभ्णा॑ति (अ० ग्अ॑र्अ॑व्नाइति), बहु० गृभ्-ण्-अ॑न्ति;

एक व्याप्ति-युक्त उ युक्त धातु का : अर्थात् *वेलु- (तुल० लै० उओलुओ, ग्री० 'इलउ॑ओ), वृणो॑ति, तुल० अ० आज्ञार्थ व्अ॑र्अ॑नूइθइ।

किन्तु शीघ्र ही इस प्रकार की स्पष्टता लुप्त हो जाती है : पहला प्रकार यथेष्ट रूप में दुर्लभ है (वेद में ३० से कम, अवेस्ता में ८)। अन्तिम दो, जिनमें -ना- / -नी-, -नो- / -नु- का पर-प्रत्यय वाला रूप था, संस्कृत में विकसित होते हुए पाये जाते हैं; उनसे जानाति (जो भारतीय-ईरानी ही था), बध्ना॑ति जिनका ऋ० में बहुत कम प्रमाण मिलता है, बाद में विकसित होते हैं, मिना॑ति जो मिनोति के समीप है, अश्नोति, अथर्व० शक्नो॑ति; अनुनासिकतायुक्त धातुओं में पर-प्रत्यय -ओ-/-उ- जैसा प्रतीत होता है : सनो॑ति जो सामान्य अतीत से भिन्न है, वनोति जो वनति के समीप है, मनूते जो मन्यते

के समीप है, स्वयं जिससे कृणोति से निकले करोति सामान्य अतीत संशयार्थसूचक के साथ सम्बद्ध रहता हैं। इन विस्तारों के कारण ही, दोनों वर्गों के प्रमाण वेद की क्रमशः तीस और चालीस क्रियाओं में मिलते हैं (अवेस्ता में प्रत्येक की २५)। इन क्रियाओं का प्रयोग, जहाँ तक उन्हें निर्धारित किया जा सकता है, निश्चित है, और वह अन्य भाषाओं के प्रयोग से काफ़ी साम्य रखता है; यही कारण है कि भारोपीय के समय से उनका प्रयोग एक ही अर्थ में सामान्य अतीत के रूप में वर्तमान की तरह होता है, और उस समय वे अस्थायी मूल्य ग्रहण कर लेते हैं : छिनत्ति : छेद्म I वहु०; पृणाति : अप्रात्; जानाति, तुल० ज्ञेयः; कृणोमि : अकर्, स्तृणोति; अस्तर्; वर्तमान के लिये यह मनोनीत प्रकार ही है जिसमें विकरणयुक्त रूप नहीं होते।

अनुनासिकता-युक्त क्रियाओं ने भारतीय-ईरानी के समय से कुछ मध्यवर्ती प्रत्यय वाले विकरण रूप प्रदान किये हैं, जैसे सिञ्चति (अ० हिन्चैंति); विन्दति, अ० अपूर्ण० विन्दत् जो वर्तमान० वीनस्ति के समीप है; ऋ० में कुल मिला कर दस हैं, अवेस्ता में छः; अथर्व० में वस्तुतः लिम्प्- और कृन्त्- हैं। इसके अतिरिक्त -ना- से निकला पर-प्रत्यय -न- सहित : ऋ० पृणति जो पृणाति के समीप है, मृणसि जो मृणीहि से भिन्न है; अथर्व० गृणत ऋ० गृणीत के लिये और अथर्व० श्रृण ऋ० श्रृणीहि के लिये। यह अब भी केवल एक प्रलोभन है।

किन्तु यह हो सकता है कि विकरणीकरण अधिकाधिक, जैसा कि शुरू में ही सोचा जाता है, बोधति प्रकार के पूर्ण क्रम के विकास के लिये हो जो व्युत्पन्न वर्तमान के साथ सम्बद्ध हो जाता है और जिसका अब उल्लेख करना आवश्यक है।

व्युत्पन्न विकरण

पर-प्रत्यय -य-

सम्पूर्ण भारोपीय की भाँति इस पर-प्रत्यय का संस्कृत में बहुत अधिक विस्तार पाया जाता है। उससे मूल क्रियाएँ, कर्मवाच्य, संज्ञाओं और क्रियाओं के व्युत्पन्न रूप प्राप्त होते हैं।

संस्कृत (और भारतीय-ईरानी) की दृष्टि से जो मूल क्रियाएँ हैं उनके विभिन्न मूल हैं : ऐसे हैं पत्यते, पश्यति (गाथा स्पस्या), नश्यति (अ० नस्येइति) जो संज्ञाओं से निकलते हैं, तुल० लै० पोट्-(स्त्री० पत्नी), -स्पेक्म् (स्पट्), नेक्स्; मन्यते, हर्यति, कुप्यति पु० एक० मॅनितु, ओम्नी हेरिएस्ट, लै० कूपिओ, अकेला जिसमें पर-प्रत्यय का मूल की दृष्टि से एक विशेष अर्थ था; कर्मवाच्य इसी क्रम के साथ सम्बद्ध

किन्तु संस्कृत में जिस प्रकार अकर्मक क्रियाएँ हैं (पूयति, शुष्यति) उसी प्रकार कर्तृवाच्य क्रियाएँ भी (ईर्ष्यति)। साथ ही उनमें, अन्य कारणों से, कुछ वर्तमान० हैं जो सामान्य अतीत की भाँति आती हैं : द्रुह्यति; द्रुहत्, गृध्यति : अगृधत् आदि और उनमें केवल स्वराघात द्वारा अन्तर उपस्थित होता है, जो संस्कृत के लिये उचित है : तो भी सामान्य रूप मुच्यते के निकट मुच्यते मिलता है।

धातु सामान्यतः शून्य श्रेणी में है; इस दृष्टि से संस्कृत अवेस्ती की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है; अवेस्ती में ख़्रओस्येइति स्वीकृत है (तुल० मं० क्रोशति)। जब मूल स्वर अ है, तो यह अ सुरक्षित रखा गया है ताकि धातु को अभिव्यंजकत्व प्राप्त हो जाए (पश्यति, अस्यति, दह्यति, हर्यति, किन्तु म्रियते)। वायति, जैसी दीर्घ स्वर वाली क्रियाओं की गणना करना भी आवश्यक है, और सामान्य अतीत के एक [illegible] रूप पर आधारित गृभायति प्रकार की भी (कुल मिला कर [illegible])।

"जो एक ऐसे वर्ग से काम पड़ता है जिसका अर्थ स्पष्टतः [illegible] है, जिसमें पर-प्रत्यय अपने आप यांत्रिक ढंग से आ जाता है, और जो [illegible] है : शुरू से ही उसमें कुछ क्रियाएँ हैं, बिना गणना के ८० कर्मवाच्य (अन्त में [illegible] १००)।

उसमें कुछ नामधातु क्रियाएँ जोड़ लेना भी आवश्यक है, जो स्वयं संस्कृत के मध्य निर्मित हुई प्रतीत होती हैं, पर-प्रत्यय -य- सहित स्वराघात कभी-कभी प्रेरणार्थक की भाँति मूल पर रहता है : भिषज्-यति (अ० बएँष्ज़्यति), तुल० अविकरणयुक्त भिषक्ति, अ० संशयार्थसूचक बिसेंज़ाति और ऋ० अभिष्णक्; अपस्यति, तुरण्यति और वृषायति, कवीयति, जनीयति, पृतनायति। जब संज्ञा विकरणयुक्त होती है तो स्वर का प्रायः दीर्घीकरण हो जाता है : अमित्रयति, देवयति, मृगयते, ऋतयति, किन्तु ऋतायति, अश्वेभिः अभिमायति, यज्ञायति। क्या पृथक्करण की दृष्टि से, इस दीर्घीकरण (ऋग्वेद में पूर्ववर्ती स्वर प्रायः सदैव ह्रस्व होता है) का कोई लयात्मक कारण है? हर हालत में विभिन्न समुदाय यह प्रदर्शित करते हैं कि अपनी सजीवता के कारण इस रूप ने सादृश्यमूलक विस्तार स्वीकार किये हैं : अध्वरीयति, पुत्रीयति जो अध्वर-, पुत्र- से हैं, [illegible] से, [illegible] मानव- से, रथर्यति रथ- से। वास्तव में इन नामधातुओं का विकास संस्कृत की अपनी विशेषता है (अवेस्ता के २० के मुकाबले १००); [illegible] का बहुत बार प्रयोग हुआ है; केवल एक बार आने वालों की संख्या सदैव उदार [illegible] की नयी रचनाओं का प्रतीक है।

पर-प्रत्यय -अय- :

रूप [illegible] पर-प्रत्ययों के लगभग समीप पर-प्रत्यय-सहित [illegible] प्रेरणार्थक

-अ अन्यत्र अज्ञात; स्वरों के इस साम्य से परिवर्तन-क्रम को पूरा महत्त्व प्राप्त होता है : एक० १ चकर, ३ चकार (भारोपीय मूल का परिवर्तन-क्रम, कुरीलोविच, 'सिम्बोली ग्रैमै० रौज़ावदौस्की', पृ० १०३; किंतु यहाँ व्यंजन से पूर्व स्वनंत, १ और ३ विशेष; उपनिषदों तथा उनसे आगे प्रथम पुरुष के अनुकरण पर उत्तम पुरुष का वैकल्पिक सामान्यीकरण), बहु० २ चक्र।

एकवचन के प्रथम पुरुष में, पप्रा (और संभवतः जहा) के निकट, कुछ -आ- युक्त धातुएँ जिनमें अन्त्य स्वर स्वर-संधि के कारण है; पप्रौ प्रकार में, जो भारोपीय के संबंध में कहे गये के अनुसार है, रूप को विशेषता-संपन्न बनाने का लाभ था (इन धातुओं में उत्तम पुरुष के वैदिक उदाहरण नहीं मिलते)।

पूर्ण० की एक अन्तिम विशेषता है प्रथम० बहु० -उः, जो प्राचीन * ऋ से निकलता है : आसुः, अ० अंङहर्आ, का प्रत्यय।

मध्य० रचनाओं और क्रियार्थ-भेदों द्वारा यह प्रणाली पूर्ण हो जाती है : नवीनताएँ पुरानी ईरानी में ही बहुत कम हैं (आज्ञार्थ में विशेषतः नहीं हैं), जिसमें सामान्यतः वैदिक की अपेक्षा पूर्ण० कम प्रचलित प्रतीत होता है : ऋग्वेद के २४० के मुक़ाबले लगभग ५० : भले ही धातुओं की दो-तिहाई संख्या का प्रयोग हुआ हो। रूपों का यह विकास अर्थ की दुर्बलता से साम्य रखता है; अन्तिम रूप में वह एक नवीन अतीत काल के रूप में आता है जो क्रिया-रूप का निर्माण करते समय एक साथ अनुकलन की प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है।

क्रियार्थ-भेद

ऊपर उल्लिखित विकरणों के सभी वर्ग निश्चयार्थ कहे जाने वाले, जो सकारात्मकता प्रकट करते हैं, रूपों की भाँति मिलते हैं। उनमें आज्ञार्थ और जोड़े जा सकते हैं जो एक निश्चित क्रम प्रकट करते हैं और जिनके विकरण की कोई ख़ास विशेषता नहीं होती। इसके विपरीत, एक संभावना (अर्थ के विस्तार के लिये आगे देखिए) उन विशेष पर-प्रत्ययों के दो वर्गों द्वारा अभिव्यक्त की गयी है जो भारतीय-ईरानी से आये हैं :

इच्छार्थमूलक में, -अ- (१ एक० भराणि, जो 'भरा' की अपेक्षा अधिक आता है, में एक भारतीय-ईरानी निपात रहता है : गाथा ख़्सया : उफ़्यानी, किन्तु उसका प्रयोग संस्कृत में बहुत अधिक है);

आदरार्थ (संभावक) में, -या; -ई- अविकरणयुक्त क्रियाओं में, अन्य में -ए- बराबर विकरणयुक्त स्वर का स्थान ग्रहण कर लेता है :

अयत् (इ) : इयात्; पत पतेत् (१ एक० भरेयम्, जो अ० बरय्अम् से भिन्न

है, एक प्राचीन रूप हो सकता है; तुल० जाइए युक्त ग्रीक आदरार्थ जिसमें 'द' पुनरावृत्ति प्रकट करती है)।

वेद में संशयार्थ०, आदरार्थ (संभावक) की अपेक्षा, तिगुने या चौगुने बार आता है। किन्तु आन्तरिक दुर्बलता के रूप में यह देखा जा सकता है कि गौण रूप क्रियार्थ-भेद से संबंधित मूल्य वाले आदेशार्थ को प्रायः द्वित्व-युक्त कर देते हैं, तथा गौण रूपों का आदरार्थ की अपेक्षा निश्चयार्थ से भेद अधिक अस्पष्ट है। दूसरी ओर मध्य० स-भविष्यत् संबंधी सामान्य अतीत (२, ३, एक०) फिर कर्तृ० मूल सामान्य अतीत (३, एक०) में विधेयात्मक के कहे जाने वाले रूपों को संकलित कर आदरार्थ अपनी सजीवता का परिचय देता ही है (दे०, एम्० एस० एल०, XXIII, पृ० १२०)।

रूपों का प्रयोग

वाच्य

मध्य प्रत्यय कर्त्ता द्वारा किया गया कर्म प्रकट करते हैं, जैसे भारोपीय में। उनसे ऐसी क्रियाओं का अस्तित्व प्राप्त होता है जिनमें केवल मध्य वाच्य होता है जैसे आस्ते, ग्री० एँस्ताइ; २ एक० शेँषे, तुल० ग्री० केइटाइ; मरते, लै० मोरिअर। और जिन क्रियाओं में कर्तृवाच्य होता है मध्य का विशेष मूल्य साम्य रखता है : शिशीते वज्रम्, उपो नयस्व वृषणा। उसके विविध भेद उत्पन्न होते हैं : दोग्धि का अर्थ होता है 'वह गाय का दूध निकालता है' (मां मांम्...वि दोग्धाम्), दुहे का है "स्त्री अपना दूध देती है"। दूसरी ओर मध्य कर्तृवाच्य से विरोध अन्य स्थलों पर मिलता है, जहाँ कर्तृवाच्य मध्य द्विकर्मक धातु-संबंधी की भाँति प्रतीत होता है : वर्धति अथवा वर्धयति, वर्धते। उससे मूल क्रियाओं के मध्य का प्राचीन काल में कर्मवाच्य की भाँति अधिक प्रयोग मिलता है : स्तवसे। किन्तु ऋग्वेद में तो वैसे ही कर्मवाच्य को प्रकट करने के लिये -य- युक्त व्युत्पन्न विकरणों के मध्य का काफ़ी प्रयोग होता है : हन्यते का उदाहरणार्थ स्पष्ट विरोध हन्ति से है, सृज्यते का सृजति से, दुह्यते का दुहे से।

इन विरोधों से यह निष्कर्ष निकालना आवश्यक नहीं है कि वेद में एक मध्य क्रिया-रूप हो, जिसमें एक उपलब्ध विकरण के लिये प्रत्ययों के समुदाय कर्तृवाच्य के समुदायों से विरोध करें : उदाहरणार्थ जिघ्नते है जो हन्ति में मध्य का काम देता है। दोनों प्रकार के विकरण अपने को पूर्ण बनाते हैं, न कि साम्य रखते हैं : मध्य कर्तृवाच्य से सामान्य अतीत, भविष्य और कर्तृ० पूर्ण० का साम्य हो सकता है : भ्राजते : अभ्राट्; म्रियते : मरिष्यति, ममार। इसी प्रकार प्रत्ययों के लिये है : आज्ञार्थ में तपस्व तपतु

के विपरीत है, कर्तृवाच्य तपति की भाँति; भजस्व का अर्थ भजति की भाँति होना चाहिए, न कि भजते की भांति। सामान्यतः गौण वर्ग में मध्य प्रत्यय अधिक पसन्द किये [illegible] : शोचति : [illegible], शुशुचीत शोशुचन्त, अशोचि; मर्जयति : मर्जयन्त; जायते के विपरीत, जनिष्ट का भिन्न अर्थ है। पूर्ण० में, प्रथम० बहु० वावृधुः की रचना वावृधे की भाँति [illegible] रूप [illegible] ओते, जो प्राचीन है, के निकट है।

यहाँ तुरत इस बात की ओर संकेत कर देना चाहिए कि कृदन्त स्वच्छंद रूप में मध्य है : ददान- [illegible] ददाति का कृदन्त है; यजमान- का अर्थ यज्ञ कराने वाला, साथ ही विश्वासों [illegible]।

इन समस्त प्रयोगों की दृष्टि से, वैदिक भाषा भारोपीय और भारतीय-ईरानी से साम्य रखती है। यह कम सच नहीं है कि मध्य की प्रवृत्ति कर्तृवाच्य के विरोध के लिये अपना विस्तार करने की ओर है : उसका सबसे अधिक स्पष्ट प्रमाण पूर्ण० और असम्पन्न भूत के द्विविध प्रत्ययों की उत्पत्ति में है।

मूल और गौण प्रत्यय

जिन क्रियाओं में मूल के बाहर के दो विकरण हैं, उनमें वर्तमान और सामान्य अतीत का विरोध [illegible] प्रत्ययों के प्रयोग द्वारा व्यक्त होता है। निश्चयार्थ में अकेले वर्तमान में [illegible] के साथ-ही-साथ गौण प्रत्यय मिलते हैं। रूपों का यह विभाजन अर्थ के विभाजन से साम्य रखता है : वर्तमान प्रस्तुत क्षण में होने वाले कार्य का वर्णन करता है अथवा समयातीत कार्य का; उसका अतीत काल, अपूर्ण, अतीत से संबंध रखता है; सामान्य अतीत वर्णन करने का समय नहीं है, किन्तु प्रमाण प्रस्तुत करने के समय का है, और अतीत की बात को केवल उल्लिखित विषय से संबंधित हाल के अतीत की ओर संकेत करता है।

फलतः गौण प्रत्यय वाला रूप अपूर्ण या सामान्य अतीत से मुक्त हो जाता है, जिसके बाद वह प्राथमिक रूप का विरोध करता भी है, नहीं भी करता : अयजत्, जो यजति के समीप है, अपूर्ण है; अग्रभम् और अगृभम्, जो गृभ्णामि, अगृभ्णात् के अतिरिक्त अन्य विकरणों के आधार पर निर्मित सामान्य अतीत के हैं; गमन्ति संशयार्थसूचक सामान्य अतीत है जिसका गच्छान् वर्तमान है। क्योंकि सभी संभव रूप कभी नहीं मिल पाते, वे स्वभावानुकूल समुदायों में मिलते हैं; व्युत्पन्न वर्तमान रूपों से भिन्न मूल सामान्य अतीत : अचेत् : चिनोति, अगन्, : गच्छति, असरत् : सिसरति; गुण वाले वर्तमान से भिन्न विकरणयुक्त सामान्य अतीत : अवृधत् : वर्धते, अरुहत् (और अरुक्षत्) : रोहति।

किन्तु इस सिद्धान्त का आदर्श रूप केवल सांख्यिक प्रमाणों में ही मिलता है : प्रयोग से प्रकट होता है कि दभन्ति, दभ्नुवन्ति के बावजूद (तुल० अ० दब़ंब़ंनओता) दभति, तुल० अ० दव- का संबंध वर्तमान से अधिक है; बिर्भति और भ॑रति के समीप वर्तमान भ॑र्ति प्रागैतिहासिक काल से चला आ रहा एक प्रयोग है : तुल० फेरो, फर्ट्, दे० मेइए, बी० एस० एल०, XXXII, पृ० १९७। इसी प्रकार दर्त्, VI, २७.५ द॑र्दरीति (अ० द्वारा दर्अ॑दैर्यात् रूप में) सामान्य अतीत की अपेक्षा अपूर्ण अधिक है।

इसके अतिरिक्त, स्वयं वर्तमान में, गौण प्रत्ययों वाले रूप में, जब कि वह आगम द्वारा उपलब्ध नहीं होता, सदैव अतीत काल का अर्थ नहीं निलकता : ऋ०, ७. ३२, २१ में, उदाहरणार्थ, एक ही प्रयोग में वर्तमान और गौण रूप पास-पास मिलते हैं :

न॑ दुष्टुती म॑र्त्यो विन्दते व॑सु
न॑ स्रे॑धन्तम् रयि॑र् नशत्

इन गौण वर्तमान रूपों को अथवा मूल सामान्य अतीत को आदेशार्थ नाम दिया जाता है, जिनमें अतीत काल के भाव के निकट, वर्तमान निश्चयार्थ का भाव निहित है (ऐसे १/३, ८०० के लगभग उदाहरण ऋग्वेद में हैं); वे निपात हिं, नकारात्मक न॑ को ग्रहण कर सकते हैं; दूसरी ओर उनमें अनिश्चित क्रियार्थ-भेद का भाव और हो सकता है, आज्ञार्थ का भाव भी रह सकता है (निषेधात्मक नकारात्मक मा॑ : इस रूप का अकेला एक यही प्रयोग है जो संस्कृत में सुरक्षित रहा है). सामान्यतः अर्थ संदर्भ पर निर्भर रहता है। ये बातें, जो अवेस्ता द्वारा प्रमाणित हैं, एक प्राचीन स्थिति की अवशिष्ट मात्र है जब कि अर्थ और रूप का भेद अभी निश्चित नहीं हुआ था।

दूसरी ओर संशयार्थसूचक, आश्रयसूचक और विवेचनसूचक क्रियार्थ-भेद में प्राथमिक और गौण प्रत्यय स्वीकृत होते हैं, यह आदरार्थ के विपरीत है, जिसमें केवल गौण प्रत्यय रहते हैं : यही [illegible] अवेस्ता में है। ऐसा प्रतीत होता है कि अवेस्ता में मूल प्रत्ययों का कर्तृवाच्य [illegible] साधारण भविष्यत् के भाव से साम्य है [illegible] वर्तमान के अंतर्गत वाक्यांशों पर निर्भर संबंध० [illegible] वर्तमान के भाव में), गौणों का अनिश्चितता या इच्छा के भाव से। [illegible] में इसी प्रवृत्ति की झलक मिलती है, किन्तु अर्थ कम प्रधान रहता है : वर्तमान और विकरणयुक्त सामान्य अतीत में -ति बहुत अधिक मिलता है (-मः [illegible] वर्तमान -मसि की भाँति, और -आ के बल पर -आनि संशयार्थसूचक की भाँति) तथा इसके अतिरिक्त उसकी सामान्य [illegible] दृष्टिगोचर होती है। फलतः चीजें इस प्रकार सामने आती हैं मानों संशयार्थसूचक आदेशार्थ था—अस्तु, दुर्बल प्रत्यक्षीकरण वाला, एक अनिश्चित भाव वाला वर्तमान—जिसमे निर्धारित मूल

स्वर-पद्धति वाले तथा पर-प्रत्यय -अ- की विचित्र विशेषता-युक्त, कर्तृवाच्य और मध्य दो प्रकार के प्रत्ययों की संभावना रहती है; उसी के फलस्वरूप उसकी विकरणयुक्त वर्तमान के साथ गड़बड़ हो जाती है, और वास्तव में यदि पूर्ण वर्ग के नहीं तो उनमें से अनेक (करति, अगमत् प्रकार) के मूल में यही बात रही है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि हित्ती में संशयार्थसूचक और विकरणयुक्त वर्तमान बराबर नहीं हैं, और स्लाव तथा जर्मनिक में वर्तमान (स्लाव में पूर्ण पूर्णकारी) भविष्य का बोध कराता है, और कोई संशयार्थसूचक तुलनीय नहीं है, लै० एरिट, फेरेट से अथवा ग्री० एँदोमाइ बोध कराने के लिये नहीं है (मेइए, 'आर० ऐ स्लाव्,' XII, पृ० १५७)।

अस्तु, दो रीतियों में, अति प्राचीन पाठों में मूलतः अनिश्चित भाव के प्रति वर्तमान की झलक मिलती है; यह भाव क्लैसीकल भाषा में बना रहता है और आधुनिक वर्तमान तक चला आता है।

पूर्ण

सिद्धान्ततः पूर्ण का वर्तमान (अपने 'अपूर्ण' कहे जाने वाले अतीत काल सहित, और भविष्यत् सहित जहाँ वह जितने मात्रा में हो) और सामान्य अतीत से विरोध है; यह विरोध विकरण की स्वतंत्र रचना द्वारा (अ॑स्ति : आ॑स, अ॑स्यति : आ॑स, कृणो॑ति : चका॑र, भिन॑त्ति : बिभे॑द; ग॑च्छति : जगा॑म; आ॑ह, शा॑शदुः अलग हैं), उनके विशेष प्रत्ययों द्वारा (जिनमें सिद्धान्ततः वाच्य संभावित नहीं है; भयते, जुर्ष॑ध्वम् : बिभाय, जुजो॑ष), तथा उसके प्रयोग द्वारा होता है : क्योंकि पूर्ण प्रथमतः प्राप्त स्थिति अथवा वास्तविक फल का बोध कराता है; किन्तु विवरण या प्रमाण नहीं।

वास्तव में यह परिभाषा अपवाद-स्वरूप हो गये प्राचीन अप्रचलित प्रयोगों पर आधारित है, और जिसकी प्राचीनता अन्य भाषाओं के साथ तुलना में उभर आती है; फल को प्रकट करते हुए, पूर्ण ने उसी से पूर्व की घटनाओं की याद दिलायी; वास्तव में ऋग्वेद में पूर्ण का सामान्य प्रयोग अतीत काल का प्रयोग है जो उत्तम पुरुष में वैसे ही बहुत कम मिलता था, तत्पश्चात् व्यक्तिगत अनुभव का बोध विशेषतः सामान्य अतीत द्वारा हुआ, और जो दूसरी ओर अपूर्ण से भेद केवल एक अधिक गंभीर सूक्ष्म भेद द्वारा स्थापित करता है।

तब से पूर्ण अनेक रूपों में वर्तमान से भिन्न रूप में विकसित होने की प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है। वह अपने वर्तमान के वास्तविक अर्थ से पृथक् होते समय ऐसा करता है। कुछ अपूर्ण और द्वित्व-युक्त सामान्य अतीत पूर्ण से कुछ अतीत काल की भाँति प्रकट होते हैं; क्रियार्थ-भेद-रूप, जो संख्या में कम हैं, द्वित्व-युक्त वर्तमान के या अतिशयार्थ

(युयधत्) के क्रियार्थ-भेद-रूप के साथ जुड़ जाते हैं। विपर्यस्त रूप में बिभाय के आधार पर अबिभेत् (और कृदन्त बिभ्यत्) बनता है जिससे वर्तमान बिभेति निकलता है; वेद से, अवेदम्; चाकन से, २-३ एक० चाकन्; जागार से, २ एक० अजागर् (और कृदन्त जाग्रत्) जिससे फिर बहुत बाद को जागर्ति, जाग्रति।

किन्तु ये नवीन रचनाएँ, किसी अन्य रूप में अतीत कालों की रचना और साथ ही मध्य प्रत्ययों के, जो शुरू से ही बहुत मिलते हैं, ग्रहण करने की भाँति, पूर्ण की मौलिकता मिटा डालती हैं; वास्तव में यह देखा जाता है कि वह वैदिक भाषा में भी अपने मूल्य के एक अंश की रक्षा करते हुए, केवल क्लैसीकल संस्कृत में एक उदात्त रूप की भाँति व्यक्त होता है; प्राचीनतम मध्यकालीन भारतीय भाषाओं के समय से, यह प्रणाली निष्प्राण हो जाती है जिसके केवल एक या दो चिन्ह शेष रह जाते हैं।

अस्तु, वैदिक क्रिया में विभिन्न युगों के अंश विद्यमान मिलते हैं; इसके अतिरिक्त, उसमें रूप एक क्रम में नहीं हैं; केवल धातु है, न कि उसकी रूप-रचना, जिससे उपलब्ध क्रिया की एकता स्थापित होती है; और धातु के अर्थ पर एक महत्त्वपूर्ण दृष्टि से रूप-मात्रों का चुना जाना निर्भर रहता है, तत्पश्चात् धातु द्वारा स्वयं अपने से बोधित एक निरंतर या निर्दिष्ट कार्य का। एक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि वैदिक क्रिया जितनी व्याकरण के लिये सामग्री प्रस्तुत करती है उतनी ही कोश के लिये।

क्रिया का परवर्ती इतिहास उसकी दरिद्रता का अथवा एक प्रकार से भार-मुक्ति का, और रूपों के समानान्तर होने की प्रवृत्ति का, फलतः क्रिया-रूप की स्थापना का इतिहास है।

संस्कृत में परवर्ती विकास

परिस्थिति तो अथर्ववेद में ही बदल जाती है। १ एक० संशयार्थ० -आ का प्रत्यय निश्चित रूप से नहीं रह जाता और उसके स्थान पर -आनि का प्रयोग होने लगता है; निश्चयार्थ १ बहु० -मसि -मः के सामने, जिस पर वह ऋग्वेद में बहुत दिनों तक हावी रहा, पिछड़ जाता है। विपर्यस्त रूप में मध्य संशयार्थसूचक पूर्ण हो जाता है : -तै, जिसका ऋ० में केवल एक उदाहरण मिलता है, और -सै जो उसमें है ही नहीं, सामान्य हो जाते हैं। दूसरी ओर भविष्यत् का विस्तार हो जाता है।

आदेशार्थ रूपों में, दस में से नौ का क्रियार्थ-भेद-संबंधी भाव है, जो ऋग्वेद में आधे भी नहीं हैं; और नकारात्मक मा, रूपों के एक-तिहाई के साथ चलने के स्थान पर, ४।५ के साथ चलता है : यहाँ तक कहना पड़ता है, यदि कोई यह सोचे कि अथर्ववेद में बहुत-से अंश ऋग्वेद के हैं, तो क्रियार्थ-भेद-हीन आदेशार्थ लुप्त हुआ मिलता है।

पूर्ण बहुत कम मिलता है और गद्यात्मक मंत्रों में तो बिल्कुल नहीं है, सामान्य अतीत विरल हो जाता है; स-भविष्यत्-संबंधी सामान्य अतीत में अपूर्ण के प्रत्यय आ जाते हैं (एक० २ अरात्सीः राध्- से, अवात्सीः वस्- से, भैषीः भी- से, ३ अनैक्षीत् निज्- से)। यह वास्तव में वह अपूर्ण है जो भूतकाल की भाँति विकसित होता है, साथ ही रहस्यवादी ऋचाओं में विकसित होता है; तथा दूसरी ओर अपना विस्तार करते समय नामजात शैली -त- युक्त क्रियामूलक के अनुकूल पड़ती है।

अन्त में कुछ नवीन रूप प्रकट हो जाते हैं, जैसे 'करोति' जिसमें प्राचीन आदेशार्थ करति और कृणोति निहित हैं; और एक वर्ग प्रकट हो जाता है, प्रेरणार्थक का यौगिक पूर्ण : गमयाम् चकार।

ब्राह्मण ग्रन्थों में रूप-रचना को सरल बनाने की ओर गति और भी तीव्र हो जाती है। ऐतरेय में, पुरुषवाचक रूपों में आधे से अधिक वर्तमान निश्चयार्थ से प्राप्त होते हैं; भविष्यत् का विस्तार होता ही जाता है, और वह अस्थायी निर्धारण के समीप प्रयुक्त एक यौगिक रूप से बल प्राप्त करता है : शतपथ ब्रा० स्वर्ों'हर् भविता।

वर्तमानकालिक विकरणों में से, -यक्ष- ही एक उत्पादन-शक्ति-संपन्न है; अथर्ववेद के समय से इच्छार्थक भी बराबर गति को प्राप्त होते हैं; इसके विपरीत अतिशयार्थक कम होते जाते हैं और मध्य तक सीमित रह जाते हैं : अभिव्यंजक रूप में और उस रूप

में, जिसका मूल्य अपने को कृत्रिम व्याकरणीय कार्य में परिणत कर देता है, अन्तर देखा जा सकता है।

भूतकाल में से, अपूर्ण निश्चित रूप से प्रमुखता धारण कर लेता है : सामान्य अतीत साक्षात् उक्ति तक सीमित रह जाता है; जहाँ तक पूर्ण से संबंध है, जिसका प्राचीनतम ब्राह्मण-ग्रन्थों में कम प्रयोग होता था, ऐतरेय के दो भागों में और शतपथ में उसका फिर से प्रचुर मात्रा में प्रयोग होने लगता है, और वह परवर्ती साहित्य में बना रहता है : किन्तु अधिक प्राचीन पाठों से संबंधित प्रमाण और उसका अर्थ-विचार-संबंधी अभाव (वह अपूर्ण के अर्थ से अपनी विशेषता प्रकट नहीं करता) यही प्रकट करता है कि वह केवल साहित्यिक प्रयोग के रूप में ही अधिक रह गया था।

इसके अतिरिक्त वर्तमान में स्वयं अतीत को प्रकट करने की संभावना पायी जाती है, इस शर्त पर कि उसके साथ कुछ ऐसे निपात सम्बद्ध हों जिनमें अपने में कोई अस्थायी अर्थ न हो, अर्थात् ह, स्म : इसके अतिरिक्त वेद में अतीत के अर्थ में स्म पुरा का प्रयोग हुआ है।

क्रियार्थ-भेद-संबंधी अभिव्यंजना सामान्य अतीत में लगभग और पूर्ण में बिल्कुल नहीं है; वर्तमान में, संशयार्थसूचक बहुत कम मिलता है, किन्तु संभावक की स्पष्ट प्रगति होती है; उदाहरणार्थ, यदि, यत्र, यदा और यर्हि (जिसका वेद में अभाव मिलता है) द्वारा शुरू हुए वाक्यांशों में ऐसा मिलता है। अतीत के अर्थ में संभाव्य का विकास होता है।

मध्य का सामान्य प्रयोग होने लगता है। इससे आगे उससे केवल कर्त्ता से संबंधित कार्य प्रकट होता है। उसके कारण अर्थ-संबंधी विभाजन फिर सामने आता है : भजति, भजते; भुनक्ति, भुङ्क्ते; सृजति, सृजते; ह्वा- जो वेद में सामान्यतः मध्य में प्रयुक्त हुआ है, इस वाच्य में केवल यह निश्चित करने के लिये अधिक आता है कि ध्वनि कर्त्ता के लिये और उसकी तरफ़ है। पाणिनि ने यजति, जो बलि का कार्य प्रकट करता है, में और यजते, जिसका प्रयोग उसके लिये होता है जो बलि करता है, में भेद किया है। मध्य स्वयं (सर्वप्रथम उदाहरण अथर्ववेद में मिलते हैं) स्वेच्छा से प्रतिबिंबित भाव धारण करता है।

अभावपूर्ण और सामान्य होने के साथ ही, क्रियामूल वर्ग संज्ञाओं से बराबर अधिक स्वतंत्र हो गया प्रतीत होता है : नामधातु संख्या में कम हो जाते हैं। बाद में उनका अत्यधिक विस्तार हो जाता है, किंतु उस समय जब कि संस्कृत मृत भाषा हो चुकती है और जब कि धातुओं पर आधारित क्रियामूल रूपों की रचना असंभव हो जाती है।

महाकाव्यों के बाद क्रिया और भी क्षीण हो जाती है, इस बार रूपों के वास्तविक ह्रास द्वारा और उनके प्रयोग की अस्पष्टता द्वारा।

मध्य में, विकरणयुक्त रूप अधिक प्रमुख हो जाते हैं; भविष्यत् के मध्य प्रत्यय कर्तृवाच्यों में अधिक पसन्द नहीं किये जाते। इसके अतिरिक्त नवीन क्रियाएँ अधिक सामान्य रूप में कर्तृवाच्य में हैं।

सामान्य रीति से मध्य विशेषतः पद्य में मिलता है; यह एक प्रमुख रूप है : -स्व युक्त आज्ञार्थ अतिरिक्त और परिष्कृत रुचि का है। इसके अतिरिक्त कुछ छंद-संबंधी बातें बीच में आ जाती हैं : महा० १.७६.१४ :

रक्षते दानवांस् तत्र, न स रक्षत्य् अदानवान्;

किन्तु यह स्वयंसिद्ध है कि छंद-संबंधी विचार की प्रमुखता से व्याकरण-संबंधी दुर्बलता संकेतित होती है।

संशयार्थसूचक, जो सूत्र-ग्रन्थों में बहुत कम मिलता है, महाकाव्यों में मृत हो जाता है। उसमें केवल -आनि युक्त १ एक० का रूप बच रहता है, जो आज्ञार्थ में मिल जाता है, और आज्ञार्थ के कुछ स्फुट रूप बच रहते हैं जैसे ३ एक० नुदातु और महावस्तु में गच्छासि; मध्यकालीन भारतीय भाषा में, सारनाथ में अशोक० हुवाति, यदि यह संशयार्थसूचक है तो, निस्सन्देह अन्तिम है जो उद्धृत किया जा सकता है, अथवा यह 'होना' क्रिया है।

आज्ञार्थ से अलग, जो एक क्रियार्थ-भेद बच रहता है, वह आदरार्थ (संभावक) है। आशीर्वादात्मक, जो उससे निकलता है, अविकरणयुक्त आदरार्थ (संभावक) सामान्य अतीत के रूप के अन्तर्गत सामान्य रूप धारण कर लेता है (भूयात्, भूयासम् जो भवेत् से भिन्न है, भ्रियात् जो बिभृयात् से भिन्न है, पक्षीष्ट जो पचेत से भिन्न है); उसका प्रार्थना वाला विशेष अर्थ लुप्त हो जाता है और वह किसी भी संभावक के तुल्य हो जाता है; इसके अतिरिक्त आगे वह सर्वोत्तम साहित्य में सुरक्षित रहेगा। इसके विपरीत संभावक बना रहता है और केवल बाद में प्रचलित गद्य (वेताल) में लुप्त हो जाता है; उसके विविध अर्थ हो जाते हैं और अनुमान, इच्छा, क्रम, संभावना भी व्यक्त होती है, जिससे स्वयं उसका निश्चयार्थ के साथ परिवर्तन होने की संभावना हो जाती है। किन्तु महत्त्व की रक्षा करने में, उसकी विविधता मिट जाती है : वह केवल वर्तमान में मिलता है। जहाँ तक संभाव्य से संबंध है, वह महाभारत के बाद बहुत कम मिलता है।

इसी प्रकार काल भी परिणत हो जाते हैं, यद्यपि क्लैसीकल संस्कृत में अब भी

वर्तमान (अपूर्ण और भविष्यत् सहित) के निकट सामान्य अतीत और पूर्ण की प्रणाली ज्ञात थी।

पूर्ण का समस्त विशेष मूल्य लुप्त हो जाता है, और वैसा ही हो जाता है जैसा कोई अतीत काल हो, केवल एक बात यह है कि व्याकरण के नियम के व्यवहार द्वारा, जिसके अन्तर्गत सामान्य अतीत तक सीमित व्यक्तिगत अनुभव-संबंधी बातों से वह पृथक् हो जाता है, शैलीकार उसका कथोपकथन में प्रयोग नहीं करते। वह एक ऐसा उदात्त रूप है जो केवल परंपरा द्वारा सुरक्षित रहता है। वह केवल कर्तृवाच्य में अधिक जीवित रहता है; और जितने रूप में वह उसमें विद्यमान रहता है, उतना ही -आं चकार युक्त यौगिक रूपों, बाद को (पाणिनि ने उसकी ओर ध्यान ही नहीं दिया) आस, अन्ततः (महाकाव्यों से पृथक्) बभूव की प्रगति में क्षीणता उसका अनुमान करती है; मूल्य-सहित शब्द तो ज़रा कम महत्त्वपूर्ण हैं।

इसी प्रकार सामान्य अतीत का प्राचीन मूल्य केवल कुछ ग्रन्थकारों में मिलता है : ब्राह्मणों के गद्य में उसको निकट अतीत के स्वयं एक सूक्ष्म भेद की तरह बढ़ा दिया जाता है; काव्य में वह कथोपकथन में प्रयुक्त होता है। किन्तु उनमें कुछ क्रमिक रूप हैं और साधारण सामान्य अतीत निर्देश रहित अतीत व्यक्त करता है। इस शीर्षक का एक काफ़ी सम्पन्न वर्ग है, कम-से-कम वह जिसका संबंध स-भविष्यत् रूपों से है : (-इष्- से अधिक -स्-; इसके विपरीत -सिष्- शक्तिहीन है)। सूत्र-ग्रन्थों और महाकाव्यों में इन्हें ही विकास प्राप्त होता है; जटिल अथवा जिनमें भ्रम की संभावना थी उन मूल सामान्य अतीत के रूपों के स्थान पर वर्तमान रूपों का प्रयोग करते हुए, उनकी बढ़ती हुई संख्या सामान्य अतीत और वर्तमान के निरन्तर विरोध का प्रतीक है; वैयाकरणों ने -स्- युक्त सामान्य अतीत को सामान्य अतीत का साधारण रूप माना है।

दूसरी ओर अपूर्ण, व्याकरण के नियमों के रहते हुए भी, महाकाव्यों तक में प्रचलित अतीत काल का काम देता है; तत्पश्चात् उसका परिष्करण होता है, निस्संदेह ध्वनि-संबंधी दृष्टि से सामान्य अतीत की अपेक्षा, और शैलीगत मूल्य की दृष्टि से पूर्ण की अपेक्षा, कम विशेषता लिये हुए।

भविष्यत् रूप, जिसका विकास होता है, के लिये वर्तमान है; और इसके अतिरिक्त वर्तमान की उसके साथ प्रतिद्वन्द्विता रहती है, पहले उस समय जब कि निकट भविष्य की तरह व्यवहृत होता है, तत्पश्चात् अन्य प्रयोगों में।

यह वर्तमानकालिक प्रणाली है जिसका प्रभुत्व क्रिया पर छाया रहता है, और वह भी एक साथ रूपों और प्रयोगों द्वारा। अकेले वर्तमान में क्रियार्थ-भेद मिलते हैं : आज्ञार्थ और आदरार्थ (संभावक)। इसके अतिरिक्त व्युत्पन्न रूप भी वर्तमान से

संबंधित हैं; उसमें, जैसा कि देखा जा चुका है, भविष्यत् और विशेषतः कर्मवाच्य, जो एक व्युत्पन्न रूप का विशेषीकरण है, और जो बहुत व्यापकत्व ग्रहण कर लेता है, को उसके साथ जोड़ देना आवश्यक है : वह कर्तृवाच्य के सभी सकर्मक रूपों और साथ ही उनसे बाहर के रूपों (आस्यते प्रकार के अकर्तृक गम्यते और आज्ञार्थ गम्यताम्) के मुक़ाबले में उत्पन्न होता है। सामान्यतः क्रिया वर्तमान के अन्तर्गत रखी जाती है; व्याकरण-संबंधी अध्ययन के इतिहास के प्रारंभ में, धातु द्वारा विश्लेषण के युग से पूर्व, क्रिया वर्तमान के प्रथम पुरुष एक० द्वारा द्योतित होती है : यास्क ने लिखा है क्रुध्यति-कर्मणा, शवतिर् गतिकर्मा. . .भाष्यते, ह्रस्वो ह्रसतेः।

महाकाव्यों से अलग वर्तमान का एक नवीन प्रयोग होने लगता है और एक ओर वह हाल की बातों की अभिव्यक्ति, अथवा (वर्णन करते समय) स्वयं अतीत की अभि-व्यक्ति करता है, दूसरी ओर भविष्यत् की, केवल उसी समय नहीं जब कि उसका संबंध निकट की घटनाओं से होता है, किन्तु सामान्यतः संबंधवाचक वाक्यांशों में; वह प्रश्न में, उत्साहार्थ में, संशयार्थ में, अनिश्चितता, और निषेधार्थ प्रकट करने के लिये आदरार्थ (संभावक) में आ सकता है; अन्त में वे क्रियार्थ-भेद हैं जिनका 'यथा' और 'येन' के साथ अत्यधिक प्रचार होता है।

रूप की दृष्टि से भी वर्तमान क्रिया पर छाया हुआ मिलता है; सभी क्रियाएँ वर्तमान में आने की प्रवृत्ति प्रकट करती हैं, और ऐसा करने के लिये वे अन्य विकरणों से संबंध स्थापित करती हैं : प्राचीन काल में ही सामान्य अतीत के आधार पर अगमत्, करति और तुदति प्रकार की रचना हो गयी थी; वेद में ही पूर्ण से बराबर बिभेति, जागर्ति प्राप्त होते हैं; महा० जघनन्त् अपना द्वित्व पूर्ण रूप से ग्रहण करता है; उपनिषदों में वेदते और विदति का प्रयास किया गया मिलता है जिसे सफलता प्राप्त होती है। विपर्यस्त रूप में वर्तमान अन्य रूपों पर आधारित रहता है, जिससे महाकाव्यों में -सीदतुः, शंसुः हैं; वह आज्ञार्थ पर छा जाता है जब कि -थ, और कभी-कभी -मः-महे गौण प्रत्ययों का स्थान ग्रहण कर लेते हैं। संयोग से इनका कम प्रचार हुआ, किन्तु जो निस्सन्देह व्याकरण-संबंधी परंपरा से विहीन रहने के कारण अधिक फ़ायदे में रहे होंगे।

किन्तु जब वह प्राथमिक स्थान ग्रहण करता है, तो नियमबद्धता की दृष्टि से वर्तमान क्षीण हो जाता है।

वैदिक भाषा में वह विविध विकरणों के आधार पर निर्मित होता है। इनमें से अविकरणयुक्त का लुप्त होना प्रारंभ हो जाता है : मूल विकरण केवल परंपरा के कारण बने रहते हैं; अनिति के अनुकरण पर अनिमः अथवा कुर्मः के अनुकरण पर कुर्मि, इसी प्रकार ब्रूमि की भाँति कुछ आंशिक रूप में समानता रखने वाले सब रूप अस्थायी हैं;

नये रूपों में से अधिकतर, जिनकी उनके साथ प्रतिद्वन्द्विता है, विकरणयुक्त हैं; इस प्रकार महाभारत में हैं शास्ति से, अपूर्ण पुं० अशासत, आज्ञार्थ शासन्तु; अपूर्ण अहनम्, और अघन् के आधार पर बनते हैं अहनत् और अघ्नम्; उपनिषदों में स्तुते के लिये स्तुवते मिलता है, और प्राचीन रोदिति, और ब्राह्मण-ग्रन्थों के रुदति से भिन्न सूत्रों में रोदति है। अनुनासिक मध्यवर्ती प्रत्यय वाली क्रियाओं में, रुन्धति तो वैदिक ही है; उपनिषदों में भुञ्जति, युञ्जति, जानति, महाकाव्यों में गृह्णति, अबध्नन्त और मिलते हैं; किन्तु इस अन्तिम क्रिया का अत्यन्त सामान्य रूप है ब्राह्मण० प्रेरणार्थक वन्धयति, भविष्यत् भन्त्स्यति, महाकाव्य भविष्यत् वन्धिष्यति, क्रियार्थक संज्ञा बन्धितुम् और बन्द्धुम्; बौद्ध भाषा में भिन्दति, प्रीणति आदि और मिलते हैं। इसी प्रकार अतिशयार्थक में : ब्राह्मण० लेलायति, सूत्र० सासृजति, महाकाव्य० जाज्वलति, चंक्रमति तथा कुछ अन्य; किन्तु अतिशयार्थक का पूरा वर्ग क्षीणावस्था में मिलता है।

विकरणयुक्त में, -अ-, -य-, -अय- युक्त रचनाएँ निर्माण-शक्ति रखती हैं, किन्तु प्रयोग की दृष्टि से उनमें गड़बड़ दिखायी देती है : जैसे कारयति करोति के तुल्य है। जहाँ तक इच्छार्थक के वर्ग से संबंध है, सूत्रों के बाद उनमें क्षीणता आ जाती है, उन्हीं में उसके अनियमित रूप ह्रास के चिन्ह प्रकट करते हैं : जैसे इयक्ष्-येत, तुल० इयक्षते वैदिक (छां०उ० का विवत्-स्यामि शतपथ ब्राह्मण विवत्सामि के स्थान पर है ही); वास्तव में यह ऋग्वेद में अज्ञात इच्छति+क्रियार्थक संज्ञा समुदाय है जो प्राचीन इच्छार्थक का स्थान ग्रहण कर लेता है (इसी प्रकार पाली में धम्मं सोतुं इच्छामि आदि)।

इस प्रकार क्रिया सामान्यतः वर्तमान को मज़बूती से जकड़े हुए है जो स्वयं रूपों की विविधता खो बैठता है, वह चाहे विकरणों से संबंधित हो, चाहे क्रियार्थ-भेदों से। इसी प्रकार भविष्यत् का क्रिया-रूप वर्तमान काल की भाँति होता है; इससे प्राचीन व्यक्तिवाचक रूपों के निकट एक मिश्र योग प्रकट हो जाता है, हन्तास्मि प्रकार का; किन्तु न तो रूप की दृष्टि से और न प्रयोग की दृष्टि से ही यह प्रकार सामान्य प्रयोग बन जाने के लिये काफ़ी दृढ़तापूर्वक अपने को बद्धमूल कर पाता है। जहाँ तक अतीत काल, जिसकी प्रतिद्वन्द्विता उसके प्रचुर प्रयोग के रहने पर भी उसकी दुर्बलता की निशानी है, से संबंध है, वह अधिकाधिक वृद्धि को प्राप्त होता जाता है, चाहे ऐसा स्वयं स्म सहित वर्तमान द्वारा हो जो इसी बीच में इस निपात से अलग हो जाता है, चाहे -त- युक्त क्रियामूलक विशेषणों द्वारा हो जिनके साथ कभी-कभी क्रिया 'होना' अथवा उत्तम और मध्यम पुरुषों में पुरुषवाचक सर्वनाम रहता है; कृदन्त कर्त्ता से साम्य रखता है; जब उससे व्यक्त होता है, तो कायदे से कर्त्ता करण द्वारा प्रकट किया जाता है, क्योंकि कृदन्त तो नपुं० होता है। -तवन्त्- युक्त कृदन्त का क्रियामूलक प्रयोग अधिक संयमित है। उसमें

एक नवीन तिङ के अंश मिलते हैं जो बाद में, भविष्यत् की भाँति, -य- और -तव्य-युक्त बन्धनसूचक विशेषण के प्रयोग की दृष्टि से आदर्श का काम देता है।

निष्कर्ष स्वरूप ऐसा प्रतीत होता है कि हमें एक ऐसी प्रणाली मिलती है जिसमें वर्तमान अतीत काल का विरोध करता दिखायी पड़ता है; इससे परवर्ती स्थिति की पीठिका तैयार होती है जिसमें अतीत काल का स्थान ग्रहण करने वाले कृदन्तों का विरोध वर्तमान द्वारा होता है।

अन्य समुदाय भी हैं : प्रेरणार्थकों का वर्ग, व्युत्पन्न वर्तमान में से ये ही अकेले हैं जो बच रहते हैं, प्राचीन काल से द्वित्व-युक्त सामान्य अतीत अतीत काल में परिगणित किया जाता है। अन्त में -इ युक्त मध्य सामान्य अतीत की -यते युक्त वर्तमान के साथ निकटता से कर्मवाच्य के निर्माण का पृथक्त्व प्राप्त होता है, कर्मवाच्य जो वास्तव में -त- युक्त क्रियामूलक द्वारा तथा -तव्य-, -य- युक्त क्रियामूलक विशेष्य द्वारा पूर्ण होता है; किन्तु क्योंकि यह प्रणाली स्पष्ट नहीं होती, उसका ध्वनि-संबंधी विकास लगभग पूर्णतः अपरिवर्तनीय रह जाता है; इसी प्रकार क्लैसीकल ग्रन्थकारों का व्याकरण प्राचीन संप्रदायों से अधिक लाभान्वित होता है अपेक्षाकृत भाषा के संबंध में उनकी अपनी व्यक्तिगत भावनाओं से। ऐसा संस्कृत में नहीं है, यह मध्यकालीन भारतीय भाषाओं में और आधुनिक भारतीय भाषाओं में ही है कि एक नवीन प्रणाली का निर्माण देखा जाता है, अथवा, उचित रूप में, भारतीय-आर्य भाषा में बनी प्रथम प्रणाली के निर्माण का।

उच्च मध्यकालीन भारतीय भाषा

पाली में क्रियामूलक रचनाएँ बहुत बनी रहती हैं, और कुछ नवीन विकरण उत्पन्न हो जाते हैं : किन्तु यह वास्तव में पुनःसंगठन की प्रवृत्ति के कारण है। जहाँ तक उस समय की प्रणाली से संबंध है वह सरल हो जाती है : उसमें वर्तमान, भविष्यत् (अथवा संभाव्य) और अपूर्ण तथा अनिश्चित भूतकाल से संबद्ध अतीत काल है। क्रियार्थ-भेदों में, संशयार्थसूचक नहीं मिलता; उसके कुछ चिन्ह आज्ञार्थ और आदरार्थ के रूपों में मिलते हैं।

वर्तमान

वाच्यों की प्रणाली में केवल शेष, कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य, का विरोध प्रत्ययों में दृष्टिगोचर नहीं होता, वरन् विकरणों में होता है। फलतः कर्मवाच्यों में और -यति युक्त क्रियाओं में, जो स्वयं संस्कृत में स्वेच्छापूर्वक वास्तविक या भावना-संबंधी स्थिति भी प्रकट करती हैं, कोई अंतर नहीं है। फलतः पाली में हैं नच्चति (वै० नृत्यति), पस्सति (ऋ० पश्यति और अष्टक ९ में पश्यते), कुप्पति (महाकाव्य कुप्यति और कुप्यते) और साथ ही मञ्ञति (मन्यते), बुज्झति; दूसरी ओर वुच्चति (उच्यते), दीयति, पच्चति (पच्यते), लब्भति (लभ्यते), हञ्ञति (हन्यते), कयिरति (क्रियते के लिये *कार्यते)।

व्युत्पन्न क्रियाओं में पर-प्रत्यय का दीर्घ रूप प्रचलित मिलता है : दिस्सति (दृश्यते) के निकट प्रेरणार्थक दस्सेति (दर्शयति) का कर्मवाच्य में है दस्सियति; इसी प्रकार भाजियति (भाज्यते), मारियति, पूजियति; उसमें एक भारोपीय और वैदिक लयात्मक नियम मिलता है, जिसके प्रमाण विशेषतः नामजात पर-प्रत्यय के आधार पर मिलते हैं (मेइए, 'इन्ट्रोडक्शन', पृ० २४४; आर्नल्ड, 'वैदिक मीटर', पृ० ८५)।

किन्तु पर-प्रत्यय का यह रूप, जिसका लाभ मूल की स्पष्टता की रक्षा करने में है, व्युत्पन्न क्रियाओं में कोई विशेष बात नहीं है। वह साधारण क्रियाओं में पाया जाता है, और उसी नियम के अनुसार उसका विभाजन हो जाता है : एक ओर पुच्छियति (पृच्छ्यते), युञ्जियति, दूसरी ओर विज्जति, (विद्यते), युज्जति (युज्यते)। लयात्मक परिवर्तन-क्रम के कारण भी हीरति (ह्रियते) के निकट हरीयति के दीर्घ स्वर की गणना

की जाती है; अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तो सादृश्यमूलक पतीयति है, जो पतति से सम्बद्ध पातेति का कर्मवाच्य है; तुल० अशोक० वु(च्)चति, ह(ञ्)ञति के निकट, एक ओर खादियति, नील(क्)खियति और दूसरी ओर गनीयति। वैयाकरणों के आधार पर परीक्षा करने से दीर्घ स्वर वाला रूप सर्वत्र वैध हो जाता है।

विकरणयुक्त रूप के सामान्यीकरण से उत्पन्न एक प्रधान लाभ यह भी हुआ कि मूल निश्चित हो गया। विकरणयुक्त रूप का संस्कृत में सूत्रपात हो ही चुका था। सुत्तनिपात में प्रयोग हुआ है हन्ति का; किन्तु उसका आदरार्थ (संभावक) है हनेय्य, जो हनति के अनुकूल है। संहिताओं के पश्चात् प्राचीन संशयार्थसूचक वर्तमान हो जाता है; इसी प्रकार संस्कृत महाकाव्यों की भाँति पाली में पाया जाता है रोदति, रवति; आसति ब्राह्मण-ग्रन्थों के आसते (आस्ते) के अनुकूल है, लेहति महाकाव्य के लिहति (लेढि) के; पाली में सामान्य अतीत के आधार पर निर्मित घसति और मिलता है, और अन्य की अपेक्षा अच्छे रूप में मिलता है। द्वित्व-युक्त वाली क्रियाओं में, ददामि में ददाम निहित रहता है, जिससे आज्ञार्थ दद, आदरार्थ (ददे) जो दज्जा के निकट है; धा- से ऋग्वेद में अदधते निःसृत होता ही है, जिससे फिर महाकाव्य० दधति और पा० दहति जो दहाति से अधिक प्रचलित है, आदरार्थ विदहे, सद्दहेय्युं , अशोक० ३ बहु० उपदहेवु निकलते हैं; जहाँ तक जग्गति से संबंध है, वह सूत्रों के जाग्रति से साम्य रखता है। -नाति युक्त क्रियाओं में प्रायः -न युक्त आज्ञार्थ रहता है : पापुण, जिन, सुण; गण्हातु के निकट गण्हतु, अशोक० गहिनेवु मिलता है; स्वयं निश्चयार्थ में, जानाति से भिन्न जानति, बहु० जानरे मिलता है।

प्रेरणार्थक के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वर्ग (धातु के आधार पर निर्मित; छेदेति, स्रावयति, अथवा वर्तमान पर आधारित : नच्चेति, लग्गेति, बुज्झापेति) और साथ ही नामधातु के महत्त्वपूर्ण वर्ग में एक ही पर-प्रत्यय के दो ध्वनि-संबंधी रूप मिलते हैं : वादयति और वादेति और मूल स्वर की लयात्मक विविधता सहित : नमयन्ति, किन्तु पणामेति, और विपर्यस्त रूप में दापेति, किन्तु समादपेति। वे अशोक में भी बराबर मिलते हैं : गिरनार में हैं पूजयति, व(ड्)ढयति, आ(ञ्)ञपयामि; अन्य अभिलेखों में हैं, पूजेति, व(ड्)ढेति, अनपेमि। यह अन्तिम रूप ध्यान देने योग्य है, क्योंकि वह उत्तम पुरुष का अन्य (-अयसि, -अयति की भाँति व्यवहृत -अयामि) के साथ सारूप्य स्थापित होने का प्रमाण है जिसका प्रभाव होता है -ए- युक्त मूल का निर्धारित होना।

उसके द्वारा व्युत्पन्न रूप -ई- युक्त क्रियाओं के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं, जिनमें अन्य दृष्टिकोणों से परिवर्तन-क्रमों को दबाकर प्राचीन अविकरणयुक्त उनमें अपने मूल जोड़ देते हैं : ऐति, एन्ति, ऐहि; सेति (शेते), सेन्ति; उनका नेति, नेमि, (नयति) का

एक छोटा-सा वर्ग बन जाता है, जो एमि, एहि से वल प्राप्त करते हुए देहि के अनुकरण पर बने देमि को अपनी ओर आकृष्ट करता है; जेमि (जो जिनाति के निकट है), आदरार्थ जेय्यं (जयेय्यं)।

इन -ए- युक्त क्रियाओं के सदृश कुछ -ओ- युक्त क्रियाएँ हैं और प्रथमतः होति, होन्ति, होमि जो भव, भवेय्यं और भवि० हेस्सति, हेहिति, जिससे सामान्य अतीत अहेसुं है, के निकट हैं; तत्पश्चात् करोमि : करोन्ति तथा -नु- युक्त प्राचीन क्रियाएँ : सुणोमि, सुणोम, आज्ञार्थ सुणोहि; सक्कोमि, सक्कोति : सक्कोम, सक्कोन्ति (उसका सक्कति कर्मवाच्य है, सं० शक्यते); पप्पोमि, पप्पोन्ति, अशोक० आदरार्थ पापोवा (पा० पप्पुय्य), क्रियार्थक संज्ञा पापोतवे।

यह सामान्यीकरण मध्यवर्ती-प्रत्यय-युक्त शब्दांश का समर्थन करता है : -ना- युक्त वर्ग इस प्रकार स्थापित करता है जानामि : जानाम, जानाहि, वह कुछ -नो- युक्त प्राचीन क्रियाओं को आत्मसात् कर लेता है : सुणामि, धुनाम, पापुणाति जिसका प्रयोग अशोक ने किया है, पहिणति, और उसमें नवीन रूप मिला लेता है : मा- से मिनाति, मन्- से मुनाति, वायति के समीप विनाति, क्रियार्थक संज्ञा वेतुं, जेति के निकट जिनाति, संभोति से भिन्न संभुणाति।

क्रिया 'होना' सब रूपों में मूल स्वर को बनाये रहती है : अत्थि : अह्म, आदरार्थ एक० १ अस्सं जो सियं के निकट है, २ और ३ अस्स जो ३ सिय आदि के निकट है।

अन्ततः ध्यान दीजिए दम्मि, कुम्मि की ओर जो सं० महाकाव्य दद्मि, कुर्मि द्वारा प्रमाणित होते है जिनमें एकवचन, सामान्य प्रणाली के विपरीत, वहु० के अनुकरण पर पुनर्निर्मित होता है।

इन सब सुधारों का परिणाम एक निश्चित प्राचीन विकरणयुक्त की अपेक्षा अधिक निश्चित वाली क्रियाओं का अत्यधिक मात्रा में हो जाना है।

भविष्यत्

कुछ ऐसी क्रियाएँ रह जाती हैं जिनमें पर-प्रत्यय धातु से संबद्ध होता है और जिसका अन्त तालव्य में होता है : मोक्खति (मोक्ष्यति), वक्खति (वक्ष्यति), भोक्खं (भोक्ष्यामि); कण्ठ्य में होता है : सक्खति (शक्ष्यति), अथवा दन्त्य में होता है : छेच्छति (छेत्स्यति), वच्छति (वत्स्यति)। इन रूपों ने उन क्रियाओं के लिये आदर्श का काम दिया प्रतीत होता है जिनमें धातु के कारण कठिनाई उत्पन्न होती है: अशोक० कर्- से कच्छति, पा० हङ्खामि, हन्- से हञ्छति। किन्तु वे स्पष्ट नहीं थे : दक्खति और दक्खिति, जो सं० द्रक्ष्यति का प्रतिनिधित्व करते हैं, कुछ वर्तमान रूपों की अपने अतीत

काल के प्रति विपरीतता की भाँति, सामान्य अतीत अदक्खि (अद्राक्षीत्) के मुक़ाबले में आते हैं; और वास्तव में वे वर्तमान का भाव ग्रहण कर लेते हैं; स्पष्ट पर-प्रत्यय सहित भविष्यत् के कारण बताये जाते हैं, दक्खिस्सति, औंर इसी प्रकार सक्खिस्सति; फलतः संबंध गच्छति : गच्छिस्सति के तुल्य है।

स्वर के बाद पर-प्रत्यय स्पष्ट रहता है : दा- से दस्सति, पा- से पास्सति और पिस्सति (पिविस्सति के साथ मिश्रण द्वारा), श्रु- से सोस्सति, इ- से एस्सति, जि- से जेस्सति, हेस्सति सीधा भविष्यति से आया हुआ है; किंतु वर्तमान के आधार पर पुनर्निर्मित होता है अनुभोस्सति, अशोक० होस्सति। इसी प्रकार -ए- युक्त क्रियाओं में, सं० -अय- : कथेस्सति जो संस्कृत कथयिष्यति से निकलता है, पाली की दृष्टि से कथेति और विशेषतः अतीत काल कथेसि का सामान्य भविष्यत् है (इस अन्तिम काल के साथ अधिक विशेष सम्बन्ध इनमें भली भाँति दृष्टिगोचर होता है गहेस्सति, अग्गहेसि जो वर्तमान गण्हाति, सं० गृह्णाति, के विपरीत है)।

व्यंजनों के बाद अत्यधिक प्रचलित रचना-धातु (गमिस्सति) और विशेषतः वर्तमानकालिक विकरण से सम्बद्ध -इस्सति है : पस्सिस्सति, पुच्छिस्सति, गण्हिस्सति; चङ्कमिस्सति, प्रेरणार्थक बन्धयिस्सति; यह सामान्य भविष्यत् है जो भाष्यों में ओरों को प्रतिपादित करने का काम करता है : जैसे जिनिस्ससि, भुञ्जिस्सामि प्रतिपादित करते हैं जेस्ससि, भोक्खं।

यहाँ, मध्यकालीन भारतीय भाषा में उनके बने रहने और आधुनिक भाषाओं में उनके साम्य मिलने के अन्य कारणों में, किन्तु जिनकी व्याख्या नहीं की जा सकती, दीर्घ मूल की क्रियाओं में पर-प्रत्यय द्वारा विशेष रूप ग्रहण किये जाने की ओर संकेत किया जा सकता है (पीछे दे०): अशोक० होहन्ति जो होसन्ति के निकट है, दाहन्ति, धौलि० एहथ, जो J. (?) एसथ के निकट है, पाली काहसि (जिसमें दीर्घ क्या सामान्य अतीत से आया है?), हाहसि; इसके अतिरिक्त स्वयं इन क्रियाओं में विकरणयुक्त स्वर प्रायः -इ- हो जाता है, पा० पदाहिसि, विहाहिसि, हाहिति; एहिसि, एहिति, होहित; काहिसि, काहिति, उसी से स्वयं करिहिति; इसी प्रकार दक्खिसि, -ति, -न्ति; अशोक ने रूपनाथ और मैसूर में व(ड्)ढिसिति का प्रयोग किया है, और कालसी में वधियिसति का। यहाँ सामान्य अतीत के प्रभाव की झलक मिलती है।

संस्कृत की भाँति, भविष्यत् के आधार पर बना है अयथार्थ : अभविस्स, ३ बहु० अभविस्सांसु।

अतीत काल

सामान्य अतीत और अपूर्ण पर एक साथ आधारित केवल एक अतीत है। उसमें वैदिक की अपेक्षा आगम अधिक आवश्यक नहीं है। कर्तृवाच्य में वह बना रहता है: १ अगमं २-३ अगमा, बहु० अगमाम -अम्ह, अगमथ -त्थ, अगमुं; एक० १ अदं, २ अदो, अदा, ३ अदा; बहु० १ अदम्ह, २ अदत्थ, २. अद्दू, अदुं (दे० अन्यत्र)। मध्य रूप एक प्रकार से अपूर्ण के हैं : बहु० १ अकरम्हसे, २ अमञ्ञत्थ, ३ एक० ३ जायेथ, अभासथ, अमञ्ञरुं, अवोचं और अवचं। अप्रचलित प्राचीन रूप : अद्दाँ (अद्राक्), जिससे अद्दं जो जातक ३. ३८०[६] में उसी छन्द में मिलता है जिसमें अद्दसं, अका जो अकर के निकट है, और अकासि।

अधिक सामान्य विशेषता सामान्य अतीत की इ है, उसके पहले शिन्-ध्वनि हो या न हो : एक० ३ अस्सोसि, अशोक० नि(क्)खमि, जिससे अगमि, १ अस्सोस्सिं, अगमिं (जैसा ऋ० में वधीम् है ही, तै० सं० अग्रभीम्), बहु० ३ अस्सोस्सुं, अगमिसुं, अगमिसु। स्पर्श में अन्त हुई मूल वाली कुछ क्रियाओं में, सामान्य अतीत भविष्यत् के निकट पहुँच जाता है :अछेच्छि (अछैत्सीत्); अद्दक्खि (अद्राक्षीत्), जिससे असक्खि (शक्-), अक्कोछि (क्रुश्-), पावेक्खि (विश्-); अधिगच्छिस्सं और अगच्छिसं के बीच उत्तम० एक० में बन्धन संकोचमय दृष्टिगोचर होता है। किन्तु अतीत कालों का अधिकांश भाग वर्तमान के आधार पर निर्मित हुआ है :

एक० १ अगच्छिसं, अपुच्छिसं, परिलेहिसं, अमञ्जिस्सं, भुञ्जि, असुणिं, ३ आनयि और आनेसि, इच्छि, अपिवि, हनि; बहु० ३ नच्चिसु, अथवा अनच्चुं, अशोक० इच्छिसु, अलोचयिसु, हुसु।

मध्य में, एक० २ पुच्छित्थो, ३ पुच्छित्थ, अशोक० नि(क्)खमि(त्)था, बहु० १ अकरम्हसे में सामान्य अतीत के विकरण हैं; एक० २ अमञ्ञथ, ३ जायथ, अशोक० हुथा (पा० अहोसि), बहु० ३ आमञ्ञरुं, अबज्झरे का संबंध अपूर्ण से है।

जहाँ तक पूर्ण से संबंध है उसमें केवल कुछ भग्नावशेष रह जाते हैं : ३ एक० आह, बहु० आहु तथा इस अंतिम के समीप आहंसु बना भी लिया है (साथ ही महावस्तु); दूसरी ओर विदु (⏑́) है जो वेदि (अवेदीत्) में बहुवचन का काम देता है।

निश्चयार्थ के प्रत्यय : मध्य, भविष्यत्

जैसा कि देखा जा चुका है, पाली में कुछ मध्य प्रत्यय बने रहते हैं। ये उन प्रत्ययों के बचे हुए रूप हैं, जो प्रधानतः पद्य-बद्ध पाठों में आते हैं; यह अधिकांशतः एक ऐसी लेखन-संबंधी प्रणाली द्वारा होता है जो आगे दीर्घ स्वर का व्यवहार करने वाली थी;

अथवा इस सुर का कोई भाषा-विज्ञान-संबंधी महत्त्व नहीं है, क्योंकि साहित्यिक मध्य-कालीन-भारतीय भाषा में सभी अन्त्य स्वरों में दो मात्रा-काल हो सकते हैं, जो कहना चाहिए वास्तव में सब ह्रस्व थे। तो इससे आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि मध्य प्रत्ययों का कोई विशेष महत्त्व न हो। कुछ उदाहरणों में जैसे एक० २ पुच्छित्थो (जो कहना चाहिए ठीक-ठीक रूप में आधा कर्तृवाच्य है : -थाः+-अः> —*थः), ३ पुच्छित्थों, उनमें सदृश रूपों में अन्तर मिलता है; इसके विपरीत २-३ (अ)पुच्छि, (अ)पुच्छसि अस्पष्ट हैं।

किन्तु ऐसा प्रतीत होता है जैसे मध्य के महत्त्व का पूर्ण लोप हाल की चीज़ हो: गिरनार में अशोक ने लिखा है दुकरं करोति, किन्तु मंगलं करोते (स्पष्टतः अपनी वास्तविक रुचि के अनुकूल) : क्या यह वैपरीत्य केवल किसी संयोग के कारण है? इसी प्रकार गिरनार में वहाँ म(ञ्)ञे है जहाँ अन्य संस्करणों में म(ञ्)ञति है; किन्तु उसमें मूल निश्चयार्थ के कुछ ही रूप हैं : म(ञ्)ञे का संशयार्थसूचक है म(ञ्)ञा; तथा कर्मवाच्य में, आर(ब्)भरे, भविष्यत् आर(व्)भिसरे, से भिन्न, सामान्य अतीत आर(व्)भिसु है।

इससे उच्च मध्यकालीन भारतीय भाषा के -र- युक्त प्रत्ययों के समुदाय के विषय में एक प्रश्न उठता है। यह मध्य रूपों का है, क्योंकि सं० -उः में भारतीय दृष्टिकोण से *-ऋ नहीं रहता; अथवा -रे संस्कृत में वहुत कम और पाली में बहुत प्रचलित है; वर्तमान में लभरे, खादरे (खादन्ति द्वारा स्पष्ट किया गया), जीयरे जो जीयन्ति और जीरन्ति के निकट हैं, हञ्ञरे जो हञ्ञन्ते के निकट है, मिय्यरे जो मरन्ति के निकट है; अशोक में अर(ब्)भिसरे है जो भविष्यत् अधिक है। अपवाद रूप में यह रूप अतीत काल अवज्झरे में मिलता है; और दूसरी ओर है अमञ्ञरुं; यहाँ, एक प्रकार से जो वैदिक -रन् का अवशिष्ट रूप है, जैसी कि गाइगर की इच्छा है, क्या -रे अन्त्य ३ बहु० सामान्य गौण के अनुकूल नहीं हो जाता?

३ एक० और २ बहु० के मध्य प्रत्ययों, सं० -त, पा० -थ (अभासथ, अमञ्ञथ) एक जटिल समस्या प्रस्तुत करते हैं और महत्त्वपूर्ण भी क्योंकि उनका सम्बन्ध अत्यधिक व्यवहृत प्रत्ययों से है।

जिनका संबंध मध्यम० बहु० से है, उनके लिये यह अनुमान करना आवश्यक है कि प्राथमिक प्रत्ययों का प्राचीन -थ कर्तृवाच्य के गौण प्रत्ययों की ओर झुक गया है, संभवतः आज्ञार्थ लभथ की मध्यस्थता के कारण, और फिर आदरार्थ लभेथ (अशोक० वर्तमान पापुनाथ, आदरार्थ पटिवेदेथ) के कारण; और उसके द्वारा मध्य में, प्रत्यय -ध्वं के कठिन होने के कारण (कभी-कभी उसका प्रतिनिधित्व -व्हो द्वारा होता है जिससे

*-धुव्-अः का अनुमान होता है)। अस्तु, संक्षेप में वह मध्य पर कर्तृवाच्य की प्रमुखता का एक विशिष्ट उदाहरण हो जाता है।

प्रथम पुरुष एक० तो और भी भली भाँति स्पष्ट नहीं होता : अभासथ, अशोक० आदरार्थ पटिपजेथ = पटिपजेय; निश्चयार्थ अशोक० हुथा, किन्तु ननघाट में हुता। २ बहुवचन के प्रत्यय का विशुद्ध यांत्रिक सादृश्य अपने में अपर्याप्त कारण प्रतीत होता है। संस्कृत में -थाः मध्यम पुरुष है, जिसका ठीक-ठीक पाली में -थो हो जाता है (मध्यवर्ती *-थः का सुर -अः के साथ मिलता है, तुल० अदो, आसदो)। २-३ एक० के गौण प्रत्ययों की प्रायः मिलने वाली निकटता को स्मरण करते हुए (पृथक्त्व है अस्सोसि : -ईः और -ईत्) क्या यह सोचना आवश्यक है कि *-थों, -थो द्वारा (आदरार्थ लभेथो सुत्त० जो लभिस्ससि द्वारा स्पष्ट होता है; अतीत काल अमञ्ञित्थो), स्थान-च्युत होने से पूर्व प्रथम पुरुष की ओर झुक गया है?

इसके अतिरिक्त अतीत काल में मध्यम० बहु० अस्सुत्थ, अगमित्थ है, जो सं० अश्रौष्ट, अबोधिष्ट से भिन्न है। तथा मध्य के प्रथम० में, पुच्छित्थ, सूयित्थ प्रकार प्रचुर रूप में प्रतिनिधित्व प्राप्त करता है। दन्त्य अप्रत्याशित है।

जिनका संबंध बहु० के मध्यम पुरुष से है उनमें फिर भी एक युक्ति-संगत सादृश्य मिलता है : -म्ह भली भाँति -स्म और -ष्म का बराबर प्रतिनिधित्व करता है; तबसे कुछ प्राथमिक रूपों का अस्तित्त्व प्राप्त हुआ है, विशेषतः क्रिया "होना" का भूतकालिक कृदन्तों के साथ संबद्ध होना पाया जाता है, उदाहरणार्थ, आगत्'अत्थ, *आगत्'अम्ह।

प्रथम० एक० में, मूर्द्धन्य, जिसकी आशा की जाती है, एक बार अशोक सोपरा में प्रमाणित होता है (निख्मिठ, पढ़ने में निखमिट्ठ?); अन्यत्र वढिथा आदि। शुतनुका के अभिलेख में कमयिथ है; फलतः यह अनुमान किया जा सकता है कि यहाँ स्थान-परिवर्तन इधर हाल का है। वह -थ प्रथम एक० की रचना पर निर्भर रहता है।

यदि -म्ह वर्तमान द्वारा स्पष्ट हो जाता है, तो यह और भी अधिक प्रमुख रूप में देखा जाता है कि किस प्रकार स्वयं वर्तमान में १ बहु० लभम्हे (दूसरी ओर मध्यम बहु० लभव्हे पर आधारित) निर्मित होता है; दोनों दुर्लभ प्रत्ययों को कहना ठीक होगा, लभामसे और लभाम्हसे, तुल० अस्मसे, अम्हसे, की भाँति ही।

अस्तु, ऐसा प्रतीत होता है कि मध्य पर कर्तृवाच्य-रूपों का प्रभाव रहा हो, और साथ ही गौण रूपों पर प्राथमिक रूपों का।

इस दूसरी बात के कारण भविष्यत् की कुछ विशेषताओं की गणना की जा सकती है : सोस्सामि और सुस्सं (श्रु-), वच्छामि और वच्छं (वस्-); अशोक गिरनार लिखापयिसं, अन्यत्र लेखापेसामि, शह० कषं (पा० कासं), कालसी कछामि। वाकरनागेल

ने यह बताया है कि अशोक० मा पलि(ब्)भ(स्)सयि(स्)सं जो भ्रंस् से है, भविष्यत् और आदेशार्थ है। यह देखा जा चुका है कि सामान्य अतीत -इस्सं और -इसम् में कितनी अनिश्चितता है।

विपर्यस्त रूप में उत्तम० बहु० का कर्तृवाच्य के साथ योग से बना प्रत्यय गौण रूप के विस्तार द्वारा अपने को स्पष्ट करता है; -मो, -मः के सूक्ष्म रूप में सामान्य परिणाम, आदरार्थ के लिये नवीन रचना, -मु प्राप्त करने के लिये; इसके विपरीत -म का मध्यम पुरुष के -थ के साथ सुर मिल गया था; इसके अतिरिक्त उसमें प्रथम बहु० के प्रत्ययों को छोड़कर अन्य सभी प्रत्ययों के साथ संक्षिप्ति द्वारा रखे जाने का लाभ था।

इस प्रकार उच्च मध्यकालीन भारतीय भाषा में, क्रिया के व्याकरण-संबंधी वर्गों की संख्या घटाने के प्रयास के कारण, विकरणों और प्रत्ययों की प्रचुरता मिलने लगती है। अपने प्रयोग के आधार पर समुदाय में वे सरल होने की प्रवृत्ति प्रकट तो करते हैं, किन्तु नयी-नयी रचनाओं की ओर भी, जिनका कारण कभी-कभी समझ में नहीं आता। यह भी पाया जाता है कि सरल किये जाने का प्रयास उन क्रियार्थ-भेदों के इतिहास में उपलब्ध दुरूहताओं की सीमा पर पहुँच जाता है जो मध्यकालीन भारतीय भाषा में शेष रह जाते हैं, अर्थात् आज्ञार्थ और आदरार्थ।

आज्ञार्थ

-थ के मध्यम० बहु० कर्तृवाच्य और २ बहु० मध्य -व्हो के संबंध में तो बताया ही जा चुका है। मध्यम० एक० में, अविकरणयुक्तों का प्रत्यय अपने को बनाये रखता है और विस्तृत करता है : ब्रूहि, देहि, अक्खाहि, किन्तु जीव के निकट जीवाहि भी, गण्ह के निकट उग्गण्हाहि, सुणाहि और सुण के निकट सुणोहि (वैदिक० श्रृणुहि, सं० श्रृणु), करोहि, तुस्साहि। इसके अतिरिक्त -स्सु बहुत प्रचलित है; यह संस्कृत में सामान्यतः मिलने वाले -स्व का स्थानापन्न है, व्यवहार चाहे तो ध्वनि-संबंधी रूप में विचारणीय हो सकता है, चाहे -तु, -न्तु युक्त प्रथम पुरुषों के प्रभाव के रूप में हो सकता है; पुच्छस्सु, मुच्चस्सु, जहस्सु; साथ ही मिलता है १ बहु० पप्पो, जो पापुणेय्याम द्वारा विवेचित है। आदरार्थ के स्वयं अन्त्य के लिये, इसके बाद देखिए।

आदरार्थ

अन्य गौण रचनाओं की भाँति, मध्यम० और प्रथम० एक० के प्रत्ययों में अन्त्य व्यंजनों के लोप के बाद गड़बड़ हो जाती है : दज्जा, जो प्रथम पुरुष से सम्बद्ध रहा आता है, मध्यम० में भी व्यवहृत हुआ है। उससे प्राचीन संशयार्थसूचक के साथ योग होता है (जिसके कुछ स्फुट उदाहरण बच रहे हैं, जैसे गरहासि, भवाथ वास्तव में मध्यम

पुरुष में है) जिससे फिर एक० के लिये एक तिङ प्राप्त होता है १ दज्जं, १ दज्जासि, ३ दज्जा। इसी प्रकार विकरणयुक्तों में २-३ लभे, जो लभेयं, लभेयु. (अशोक० में प्राप्त, रूपों का प्रकार) के प्रभावान्तर्गत लभेयाँ में व्याप्ति को प्राप्त होता है, तत्पश्चात् पाली में [संभवतः दज्जं, दज्जु का (दो दीर्घ शब्दांशों का) छांदिक चरण प्राप्त करने के लिये] *लभेय्याँ रूप के अन्तर्गत दृढ़ हो जाता है, अंत में जो २. लभेय्यासि प्रदान करता है जिससे हैं १ लभेय्यामि और लभेय्याति; और इसी प्रकार बहु० में १ लभेय्याम, २ लभेय्याथ जो लभेथ के निकट है और जिसे -एति युक्ति क्रियाओं के, विशेषतः प्रेरणार्थक के, वर्तमान रूपों के साथ सुर मिलाने में असुविधा हुई।

यह प्रणाली सामान्यीकरण के एक वर्ग से निकलती है; किन्तु अशोक की कृपा से यह ज्ञात हो जाता है कि इतिहास अधिक दुरूह रहा है और उनमें अपरिपक्व प्रायौगिक रूप दृष्टिगोचर होते हैं; उसमें कुछ रूप थे १ एक० -एहं जो -ए(अ)हं है; पाली में कुछ रूप लभेय्याहं प्रकार हैं जो उसी सिद्धान्त पर निर्मित होते हैं; बहु० में लभेय्याँ म्ह; इसी प्रकार मध्य में वरेय्याहे। प्रथम० बहु० में अशोक में आलधयेवु है, जो -येयु का ध्वनि-संबंधी रूपान्तर है, और साथ ही नीखमावु है जो अब भी संशयार्थसूचक के साथ मिश्रण का प्रभाव है। गिरनार में और भी मध्य हैं : सुसुंसेर जो प्राचीन है और स्रुणारु जो संशयार्थसूचक है अथवा आज्ञार्थ।

पाली क्रिया परस्पर- विरोधी बातों का प्रमाण है : एक तो प्रणाली के सरलीकरण की ओर, और जो परंपरागत दुरूहताओं का अंत प्राप्त नहीं कर पाती, विशेषतः सामान्यीकरण के लिये प्रयास से कुछ नवीन रूप आ जाते हैं; दूसरी, साहित्यिक मूल है, जो प्राचीनता-प्रिय है; तथा यह कह देना आवश्यक है कि हम यह बता सकने में असमर्थ हैं कि अनेक रूप, जो स्वयं नवीन हैं, कहाँ तक संस्कृत व्याकरण के अनुकूल नहीं हैं।

प्राकृत

प्राकृतों की विशेषता अतीत काल का ह्रास है। जैन प्राकृत से बाहर केवल आसि मिलता है; जैन प्राकृत में आसि, अव्वावी, अभू और होत्था तथा कुछ अन्य रूप मिलते हैं जैसे (अ)कासि, वयासि बहु० में कुछ संज्ञाओं के साथ प्रयुक्त होते हैं; विपर्यस्त रूप में पाये जाते हैं, उदाहरणार्थ, प्रथम० में और साथ ही एकवचन के उत्तम० में करिंसु; आहु ३ एक० तथा बहु० के निकट मिलते हैं जैसे पाली में आहंसु जो १ और ३ एक० में समान है। -इत्थाँ युक्त प्रत्यय (प्रेरणार्थक में -एत्थ) मध्यम और प्रथम पुरुष में मिलते हैं। इसी प्रकार पिशेल का कथन है कि अच्छे, अब्भे (-छिद् और -भिद् से) का प्रयोग आदरार्थ की भाँति हुआ है।

तो अब केवल वर्तमान (आज्ञार्थ और आदरार्थ सहित) और भविष्यत् का संबंध और शेष रह जाता है; इसमें यह प्रणाली पाली की प्रणाली के निकट बनी रहती है।

वर्तमान के विकरणों की रचना एकाधिक है; किन्तु क्योंकि उसके क्रियार्थ-भेद महत्त्वपूर्ण नहीं रहे, इसलिए, उन्हें छोड़कर जिनका संबंध प्रेरणार्थक और कर्मवाच्य से रहा, उनके संबंध में रुकना निरर्थक है।

प्रेरणार्थक का निर्माण -ए (सं०-अय) से युक्त होता है : हासेइ; किन्तु विशेषत: -वे- से युक्त (सं० -पय-) और यह, निस्संदेह धातुओं से निकलता है : ठावेइ (स्थापयति) की भाँति हसावेइ, जाणावेइ (वर्तमान के विकरण पर निर्मित) और साथ ही जाणवेइ, ठवेइ।

कर्मवाच्य का सामान्य साक्षी है, -ईय, हो सकता है -इज्ज- -इ(य्)य- से निकला हो, वर्तमान के विकरणों के साथ उदारतापूर्वक जोड़े गये हैं : धरिज्जै, सुणिज्जै (श्रु), पुच्छिज्जै (पृछ्-) और इसी प्रकार दिज्जै (दीयते), पिज्जै। कुछ सबल रूप हैं : दिस्सै, दीसै (दृश्यते), मुच्चै (मुच्यते), गम्मै (गम्यते); इस बात का भेद करना कठिन है कि कौन से सामान्य थे और किन्हें ग्रन्थकारों ने संस्कृत के अनुकरण पर बना लिया था।

वर्तमान की रूप-रचना में कुछ ध्वनि-संबंधी नवीनताएँ हैं : २ बहु० उट्ठह; १ एक० वट्टेमि जो वट्टामि (वैयाकरणों को ज्ञात, क्लैसीकल प्राकृत के लिये, न कि पाठों में) के निकट है। किन्तु इसके अतिरिक्त बहुवचन के उत्तम० में, विशेषत: पद्य में, -म जैसे पाली में (और निय में : प्रेषिशाम), और -म्ह पाया जाता है (और साथ ही एक०

में -म्हि। तुल० क्रिया "होना" १ एक० म्हि १ बहु० म्ह, म्हो; और जैन में मि, मो) : किन्तु प्रचलित रूप है मो अथवा -मु, जिसका सूक्ष्म रूप है, तथा स्वभावतः वास्तविकता के अधिक निकट है। इसके अतिरिक्त विकरणयुक्त स्वर का प्रायः स्थान ग्रहण कर लिया जाता है -इ द्वारा : जाणिमो, वन्दिमो, हसिमो, लिहिमो; इसी प्रकार एकवचन में, किन्तु कभी-कभी, जानिमि; यह सन्देहात्मक है कि द्वयक्षरात्मक धातुओं के संस्कृत क्रिया-रूपों में से एक शेष रहा हो, ब्रवीमि तो पाली से है जिसका स्थान ब्रूमि ने ग्रहण कर लिया है; यह दृष्टिगोचर नहीं होता कि किस प्रकार -इ युक्त सामान्य अतीत अथवा -इति युक्त भविष्यत् रूप हुए; इस बात को स्पष्ट करने के लिये कि यह बात प्रथम पुरुष तक ही सीमित रखी जाय, तो ध्वनि-संबंधी क्रम की व्याख्या आवश्यक होगी।

जहाँ तक मध्य प्रत्ययों से संबंध है, वे हैं (प्रथम० बहु० -न्ते और -इरे में); किन्तु स्वयं वैयाकरणों में ही तिङ पूर्ण नहीं है; और जो कुछ निश्चित रूप से ज्ञात है वह यह है कि ये कुछ भाषा-विज्ञान-संबंधी महत्त्व से हीन रूप हैं।

आज्ञार्थ २ एक० में तीन प्रत्यय हैं जो पाली के प्रत्ययों से साम्य रखते हैं : रक्ख, भनाहि, रक्खसु। जिसका संबंध अन्तिम से है, वह क्या वर्तमान (रक्खसि) के लय के अनुकूल बनाया गया पाली -स्सु है? अथवा इसके विपरीत क्या वह यहाँ मूल प्रत्यय नहीं है : एक ओर -तु के अनुकरण पर -सु, तथा दूसरी ओर -सि, -ति? यहाँ यह पूछने का लोभ हो सकता है कि यह कहीं पाली-स्सु -सु के पुनःसंस्कृतीकरण के प्रयास के रूप में तो नहीं है।

आदरार्थ में कभी-कभी यह प्रत्यय मिल जाता है : करेज्जॉसु जो करेज्जामि आदि के साथ चलने वाले करेंजॉसि के निकट है। प्राकृत वास्तव में एक ओर तो कुप्पे आदि का प्रयोग छोड़ देती है, दूसरी ओर सिया, सक्का, कुज्जा (कुर्यात्) और उसके अनुकरण पर देज्जा, होज्जा; जिससे योग द्वारा, जीवेज्जा, कुप्पेज्जा आदि।

किन्तु यह ध्यान देने की बात है कि उत्तम० का अनुनासिक प्रायः नहीं मिलता, जिससे कि एक० के उत्तम और प्रथम पुरुष समान हैं; इसके अतिरिक्त इस विचित्र रूप में प्रथम बहु० का भाव है; भवेयुः के लिये भवे, आगच्छेयुः के लिये आगच्छेज्जा। यहाँ तक कि आदरार्थ वास्तव में बहुत क्रिया-रूप ग्रहण नहीं करता।

इसके विपरीत भविष्यत् के रूप प्रचुर और अत्यन्त विविध हैं। वे सब-के-सब वही रहे आते हैं जो पाली के हैं; -इहिसि, -इहि(द्)इ, जिससे -इहीँ है, प्रकार के विस्तार का उल्लेख करना यथेष्ट होगा : फलतः मिलते हैं गमिस्सं (विशेषतः क्लैसीकल), गमिस्सामि (जैन : दुर्लभ), गच्छं (जैन) और गच्छिहिमि। वैयाकरण गच्छिहित्था प्रकार के २ बहु० रूप का जो सामान्य अतीत से आया प्रतीत

होता है, और १ बहु० गच्छिहिस्सा, अस्पष्ट और अप्रचलित, का उल्लेख करते हैं।

अस्तु, प्राकृत की वर्तमान और भविष्यत् की तालिका पाली से मूलतः भिन्न नहीं है, विशेषतः यदि यह बात ध्यान में रखी जाय कि रूपों की वृद्धि साहित्य की अवधि और विविधता के कारण होनी ही चाहिए, और निस्सन्देह ग्रन्थकारों और वैयाकरणों की रचनात्मक कल्पना द्वारा भी। इसके विपरीत प्रमुख बात जीवित रहने योग्य अतीत काल का अभाव है। विकास की यही स्थिति है जिसमें भूत अपने को कृदन्त द्वारा प्रकट करता है, स्वच्छन्दतापूर्वक और अन्य रूपों का स्थान ग्रहण कर नहीं, वरन् सामान्य और विशिष्ट रूप में।

क्रिया-रूप, रूप-विचार, जिसमें वह भली भाँति प्रदर्शित होता है, का एक अंग है, तो साहित्यिक मध्यकालीन भारतीय भाषा भारतीय आर्य- समुदाय के केवल एक अंश का प्रतिनिधित्व करती है; एक सामान्य अनुपात में खास भारत की भाषाओं में मिलने वाले अस्पष्ट रूपों से अलग, दर्द समुदाय के कुछ तथ्य यह प्रकट करते हैं कि सामान्य अनुरूपता स्वतंत्र विकासों को असंभव नहीं मानती। जहाँ तक ज्ञात है, उसके व्याकरण की सामान्य बातें वही हैं जो अन्यत्र मिलती हैं, और ऐसा प्रतीत होता है कि अधिकांश भेद स्थानीय उच्चारण के कारण अथवा शब्दावली (सहायक -स्त्) के कारण हैं, अथवा, यदि फ़ारसी या अफ़ग़ानी (-ऑन् युक्त वर्तमानकालिक कृदन्त ?) से उधार लिये गये शब्दों के कारण नहीं, तो ईरानी बोलियों के समीपवर्ती भाषा-रेखाओं के अस्तित्व के कारण (-इक् युक्त क्रियार्थक संज्ञाओं; संबंधवाचक सर्वनामों का प्रयोग) हैं। किन्तु रूप-रचना में कुछ विशेष प्राचीन अप्रचलित रूप बने रहते हैं और जिन्हें साहित्यिक मध्यकालीन भारतीय भाषा पूर्ण उपेक्षा की दृष्टि से देखती है : सबसे अधिक निश्चित तो है उत्तम० बहु० वैदिक -आमसि के दीर्घ प्रत्यय का जीवित रहना (स् का तालव्य-भाव देखा जा सकता है) :

कती असॅअमिसें, अश्कुन सेमिसें, प्रशुन एसेम्सें-ओ, पशई बोली इनमस् "हम हैं", कलाश दक्षिणी करिमिसें।

वैदिक २ बहु० -अथन के कती -एँर्, प्रशुन -एन्-ओ, वैगेलि -एँ में बने रहने का अनुमान किया जाता है; तथा उच्च मध्यकालीन भारतीय भाषा से बहिष्कृत सं० दद्धि का खोवार देत् में बने रहने का भी अनुमान किया जाता है, किन्तु यहाँ सं० तावत् और तथा की भाँति सम्बद्ध निपातों की संभावना रखना आवश्यक है, तुल० पु० कश० ता, तो, आधु० तव्, हिं० तो, जिप्सी-भाषा त।

सबसे अधिक आश्चर्यजनक प्राचीन अप्रचलित प्रयोग, यदि वह प्रमाणित हो जाय, तो कलाश और खोवार में अतीत काल के आगम का अस्तित्व है : खोवार सैंर्, कलाश सिंउका विरोध : खोवार ओसोंइ, कलाश असिंस् और खोवार बोम् का : ओबेतम्, कलाश पिम् : अपीस् वास्तव में ध्यान आकृष्ट करने वाला है : किन्तु इन भाषाओं के प्रत्ययों की तुलना से यह प्रकट होता है कि वे प्रायः सहायक क्रियाओं द्वारा निर्मित हैं,

निस्सन्देह क्रियामूलक विशेष्य अथवा कृदन्तों से निःसृत; तो ऐसा गौण रचनाओं के संबंध में हो सकता है, न कि संस्कृत के आगम वाले रूपों के जारी रहने के संबंध में। अशोक में क्रिया "होना" में ये रूप केवल मुश्किल से मिलते हैं; पाली में आगम का प्रयोग अपेक्षाकृत संक्षिप्त रूपों में ही हुआ (अगा, अगमा), किन्तु अ-धार्मिक साहित्य में से वह लुप्त हो जाता है; आधुनिक भारतीय भाषाओं में, अकेली आसि सहायक-क्रिया चिन्ह के रूप में रह जाती है।

नव्य-भारतीय प्रणाली रूपों के दो समुदायों के विरोध पर आधारित है : एक तो वास्तव में क्रियामूलक समुदाय है, जो वर्तमान निश्चयार्थ को जारी रखता है, और कुछ हद तक प्राकृत भविष्यत् और आज्ञार्थ को; एक समुदाय में नामजात रूप मिलते हैं जो न्यूनाधिक आदि रूपों के साथ संबद्ध हो जाते हैं या उनमें मिल जाते हैं : ये रूप कर्तृ-वाची संज्ञा के हैं, उदाह० सिंहली में; किन्तु प्रधानतः वर्तमानकालिक कृदन्तों, भविष्यत् भूत के। इन भूतकालिक कृदन्तों के विकरण निश्चयार्थ के वर्तमान के साथ समान हैं या नहीं, इसके आधार पर ही क्रियाओं के एक या दो विकरण होते हैं; वर्तमान की रचना सिद्धान्ततः कर्तृवाच्य होने के कारण, और भूतकालिक कृदन्त की कर्मवाच्य होने के कारण, पृथक् होने की दृष्टि से क्रिया का दुहरा कार्य है, वैसा ही जब कि दोनों रूपों के लिये विकरण विचित्र होते हैं।

विकरण

स-भविष्यत्, जहाँ कहीं भी यह मिलता है, और आज्ञार्थ के वर्तमान के विकरण के आधार पर निर्मित होने के कारण, की रचना पर विचार करना यथेष्ट होगा।

नव्य-भारतीय की दृष्टि से, मूल विकरण विचित्र प्रकार के हैं; यह जैसे शब्द-व्युत्पत्ति का विशुद्ध कार्य है वैसे ही उन वर्गों के भेद करने का जिनसे उदाहरणार्थ निकलते हैं हिं० जा- (याति), खा-(खादति), हो-(भवति), सो-(स्वपिति), कूद-(कुर्दति), पूछ्- (पृछति), कर्-(करोति), उठ्-(उत्तिष्ठति), गण्-(गणयति), पी-(पिबति), जाग्-(जागर्ति), छिन्-(छिनत्ति), जान्-(जानाति), सुन्-(श्रृणोति), नाच्-(नृत्यति), उपज्- (उत्पद्यते), सक्-(शक्यते) आदि, हाल की नामधातुओं की गणना किये बिना।

कुछ भाषाओं द्वारा भूतकालिक कृदन्तों से लिये गये एसे विकरणों की ओर संकेत करना सुविधाजनक होगा, जिनकी संस्कृत में संज्ञाओं की भाँति गणना की जा सकती है; जिनसे दो रचनाओं की तुल्यता है, न केवल कुछ सकर्मक में जैसे हिं० बैस्- और बैठ् (उपविशति, उपविष्ट-), किन्तु नूरी के संबंध में बग्-, वेल्श जिप्सी-भाषा फग्-, गु० भाग्-(भग्न-) जो ग्रीक जिप्सी-भाषा फनग्, गु० भान्ग्- से भिन्न है; प्रा० मुक्क-, मुच्-

कृदन्त से निकलते हैं पं० मुक्क्-, संभवतः कती, वैगेलि मुक्- (अश्कुन मुचें- के निकट, मुच्यते से), किन्तु गु० जिप्सी-भाषा मुक्-, म० मुक्-(सिंधी मुञ्ज्-, सं० मुञ्च- से, के निकट) भी। इसी प्रकार पं० लद्ध्- से भिन्न गु० लाध्-, लाव्-, वेल्श जिप्सी-भाषा क्लत् "पाना" का अर्थ प्रकट होता है; अर्थ का विरोध अन्त में वैसा ही है जैसा कि लभ्यते कर्मवाच्य से निकले म० लाभ्- और नामधातु गु० लाभ्- में है। तो भी कृदन्तों के कुछ विकरण, कर्मवाच्य के विकरणों से पृथक् नहीं देखे जाते : उदाहरणार्थ, प्रा० लग्गै, लग्ग- सं० लग्यते, लग्न- से निकले हैं।

विकरणों के स्वर से नियमित परिवर्तन-क्रम उपलब्ध होते हैं; यह उस समय जब कि प्राचीन सामान्य वर्तमान के निकट कर्मवाच्य के विकरणों अथवा प्रेरणार्थक के विकरणों का सह-अस्तित्व रहता है। व्यंजनों के, विशेषतः प्रेरणार्थक में, परिवर्तन-क्रम के भी उदाहरण उसमें देखे जा सकते हैं। किन्तु ये परिवर्तन-क्रम सामान्य नहीं हैं और कर्मवाच्य और हेतुक बनाने के लिये अधिक अनुकूल और अधिक प्रयुक्त पर-प्रत्यय हैं।

कर्मवाच्य

एक ही क्रिया से सीधे दो विकरण निकल सकते हैं, एक वर्तमान सामान्य कर्तृवाच्य या प्रेरणार्थक को, दूसरे कर्मवाच्य को बताते हुए।

उदाहरणार्थ सिंधी में हैं :

खाज्-(खाद्यते)	:	खा-(खादति)
छिज्ज्-(छिद्यते)	:	छिन्-(प्रा० छिन्दै)
बुझ्-(बध्यते)	:	बन्ध्-(प्रा० बन्धै)
रझ्-(रध्यते)	:	रन्ध्-(रन्धति)
लभ्-(लभ्यते)	:	लह्-(लभते)
टुट्-(त्रुट्यते)	:	टोड़्-(त्रोटयति)

अन्यत्र भी ये ही युग्म मिलते हैं, उदाहरणार्थ लहंदा बज्झ्- बन्न्ह्-, शिना राज्- : रण्-। अन्य हैं, उदाहरणार्थ शिना दज़्- : दॅय्-(दह्-); नेपाली लाग्- : लाउ-(लग्-); लहंदा, गु० तप्- : ल० ता-; गु० हिं० ताप्- : ताव्- (तप्-); लहंदा दिस्स्- : दस्स्- जो दृश्-य- : दर्श- के प्राचीन परिवर्तन-क्रम पर आधारित है।

इन सादृश्यमूलक युग्मों से, जो सिन्धी में काफ़ी पाये जाते हैं (उदाह० डुह् से डुभ्-), अलग इन परिवर्तन-क्रमों ने गौण समुदायों के लिये, जिनमें गुण-रहित मूल अकर्मक और फलतः कर्मवाच्य प्रकट करता है, आदर्श का काम दिया है :

हिं० लद्ना, लाद्ना (लर्दयति) के अनुकरण पर।
दिख्ना, देख्ना (प्रा० देक्खै) के अनुकरण पर।
फट्ना, फाड़्ना (स्फाटयति) के अनुकरण पर।
बन्ध्ना, बान्ध्ना के अनुकरण पर।

क्रियाओं के युग्म नियमित क्रम-माला से नहीं बनते और किसी भी भाषा में उनका परिवर्तन-क्रम निरन्तर नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त उनका कोई स्पष्ट अर्थ-विचार-संबंधी मूल्य नहीं है।

कुछ भाषाओं में कर्मवाच्य के रूपमात्रों के प्रयोग द्वारा सामान्य परिवर्तन-क्रम मिलते हैं, प्रा० -इज्जै अथवा -ईऍ मूल, जिसके बिना संस्कृत का स्वर-संबंधी विकार बना रह सकता है, के साथ जुड़ कर : मारवाड़ी करीज्-, खवीज्-; सिंधी दीज्-, मारिज्-, मार- से जो मर् का प्रेरणार्थक है, जिससे अकर्तृक में हलिज्-, और साथ ही, कृदन्त के आधार पर निर्मित, थिज्-; शिना चरिज़्ॅ-, तपिज़्ॅ- (कर्मवाच्य के मूल तप्प्- के आधार पर); लहंदा पढ़ीए, मरीसा; नेपाली गरीए, चहीँ-दैन; पु० म० करिजे, सेविजे; वेइजे, जाइजे; पु० गु० कहीयै, दीजै; तुलसीदास पूजिअत् अ, पूजिअहि, करिअ और करीजै, पु० बं० करिऐ, करिज्जै और किज्जै। उसके कुछ प्राचीन अप्रचलित प्रयोग रह जाते हैं जैसे म० पाहिजे, म० बंगाली पाइए, आज्ञार्थ करिऊ, जाइऊ, पं० कि जानिये, गु० जोइये। इन रूपों का सरलतापूर्वक बन्धनसूचक भाव है : तुलसीदास सुनिअ कथा। उससे हैं नम्र आज्ञार्थ हिन्दी के (देखिये), उत्तरी बंगाली के (रावेक्), कश्मीरी के गुपिज़ि जो केवल कर्मवाच्य में वर्तमान हैं जैसे, चाहिये; तुल० वीरभूमि की बंगाली में बचाव की भावना भी : आगुने हात् दिये न।

प्रेरणार्थक के कर्मवाच्य, सं० -प्यते, से भी कुछ रचनाएँ उपलब्ध होती हैं : पं० कि जापे, कि जानिये (किं जानाप्यते) प्राचीन है; किन्तु पं० सीप्-, जो सी-(सिव्-) से है, सादृश्यमूलक है, और इसी प्रकार सिंधी घे-प्-, जा-प्-[जा(प्)यते] जो जण्- से भिन्न है, पु० म० घे-प्- जो घे-इज्- के निकट है, हारप्-। इन रचनाओं के आधार पर और प्रचलित घेपिज्-, हारपिज्- प्रकार का अनुसरण करते हुए पुनर्निर्माण किया गया है (दोदेरे, बी० एस० ओ० एस०, IV पृ० ५९)।

अंत में एक दीर्घ स्वर वाला प्रकार है। गुजराती में नियमित रूप से व्यंजन के बाद -आ- है : लखा-, और स्वर के बाद -वा- : गवा-, जोवा-; तुल० अप० आवइ (आयते); तुलसीदास कहावउ; इसी प्रकार बंगाली में हैं बोला-, बुजा- (गु० बुझा-) (किन्तु हिं० बुझ्-)। यह अन्तिम क्रिया पाली में विज्झायति के रूप में है (जिसका प्रेरणार्थक रूप है विज्झापेति), किन्तु इससे कुछ ज्ञात नहीं होता, क्योंकि पाली क्रिया का संस्कृत पूर्वरूप

नहीं मिलता; तथा दूसरी ओर -आयति युक्त संस्कृत व्युत्पन्नों का कोई विशेष मूल्य नहीं है। प्रेरणार्थक रूपों के साथ अनुरूपता ध्यान आकृष्ट करती है, विशेषतः यदि कोई कर्मवाच्य की भाँति निर्मित "शक्तिशाली" मराठी के निकट जाय : तुकाराम : आह्मिँ . . . कैसेँ कर्-अव्-एल् । इन रचनाओं की कुंजी प्रेरणार्थक और श्रेणीसूचक की तुल्यता होनी चाहिए; जहाँ तक रूप से संबंध है, सादृश्यों का पृथक्त्व, यदि कोई हो तो, मध्यकालीन भारतीय भाषा में प्रदर्शित होना चाहिए।

पर-प्रत्ययों में भाषाएँ सामान्यतः उन परिवर्तन-क्रमों को चुनती हैं जो प्रेरणार्थक के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं, अथवा पड़्-, खा-, जा- सहित निर्मित अभिव्यंजनाओं में निहित मुहावरे के साथ : पहली अभिव्यंजना द्रविड़ की याद दिलाती है, अन्य दो ईरानी की।

प्रेरणार्थक

अत्यधिक सामान्य गौण रचनाएँ प्रेरणार्थक की हैं।

संस्कृत में दो प्रकार के प्रेरणार्थक (और नामधातु) थे :

(१) परिवर्तनीय मूल वाला, प्रेरणार्थक का मूल स्वर गुण से निकला हुआ होने से, अर्थात् संस्कृत स्वर-प्रणाली की दृष्टि से एक अतिरिक्त अ होता है; इसके अतिरिक्त कुछ विविधताएँ होती हैं : पर-प्रत्यय -अय-।

(२) -आ- युक्त धातुओं में, पर-प्रत्यय -प्- का योग : दा-पयति, मा-पयति; इस पर-प्रत्यय का विस्तार अन्य धातुओं तक हो जाता है, सूत्र० के समय से : अश्-आपयति।

मध्यकालीन भारतीय भाषा में दोनों रूप साथ-साथ जीवित रहते हैं; किन्तु दूसरा अधिकाधिक विस्तार ग्रहण करता है, यहाँ तक कि प्रथम को द्विगुण कर देता है (अशोक सावापयामि) और स्वयं अपने को द्विगुण कर लेता है : अशोक० कृदन्त लिखापापिता जो लिखापिता और लेखापिता के निकट है।

१

पहला नव्य-भारतीय भाषाओं में बना रहता है, किन्तु निश्चित रचनाओं में और एक सीमित, यद्यपि बड़े, क्षेत्र में, सिंहली, काफ़िर, शिना में उसका अभाव प्रतीत होता है; जिप्सी-भाषा के निस्सन्देह विचित्र परिवर्तन-क्रम मेर्-(मर्) : मर्-(मारय-) का कोई अर्थ नहीं है, क्योंकि मर्- का अर्थ 'मार डालना' नहीं है, किन्तु "पीटना" है; "मार डालना" होगा मेर-। तोरवाली में कम-से-कम मैय्- सुरक्षित है : मोव्- "मार डालना"; और सादृश्यों के प्राचीन जाल के शेष, चुज् : चूज् का विरोध बना रहता है।

[खोवार में एक ए- युक्त पर-प्रत्यय है (बिना मूल परिवर्तन-क्रम के) जिसके संबंध में यह नहीं कहा जा सकता कि वह प्रा० -ए- का प्रतिनिधित्व करता है अथवा काफ़िर में सामान्य -आ- पर-प्रत्यय के ध्वनि-संबंधी रूपान्तर का : γअर्-, γअरे-, चिच्-: चिचे]।

"प्राकृत" भाषाओं में एक परिवर्तनीय क्रियाओं का समुदाय है जिसमें व्यंजन रुचि की दृष्टि से अंतस्थ (द्रव वर्ण) है (उसमें रहता है -ड्- जो सं० -टति का प्रतिनिधित्व करता है और -ट्यते से निकले -ट्- का विरोध करता है) और जिसके शब्द हैं, एक, प्राचीन कर्मवाच्य पर आधारित अकर्मक, दो, कर्तृवाच्य के अर्थ में प्रेरणार्थक। उसके विरोधी रूप हैं :

गु०	वळ्-	:	वाळ्-
म०	पड्-	:	पाड्-
	मर्-	:	मार्-
	चर्	:	चार्-
	तर्-	:	तार्-
	तुट्-	:	तोड्-
और भी	दब्-	:	दाब्-
सिंधी	सड़्-	:	साड़्-, बार्-
	पढ़्-	:	पाढ़्- (और पढ़ा-)
	चिड़्-	:	चेड़्- (और चेड़ा-)
	भुर्-	:	भोर्-

कश्मीरी के कुछ उदाहरण :

लग्-	:	लाग्- (जिसमें -ग्- ध्वनि-संबंधी नहीं हो सकता)।
डल्-, तर्-	:	डाल्-, तार्-
मर्-	:	मार्-

हिन्दी में रचना सशक्त है :

मर्-	:	मार्-
छुट्-	:	छोड़्-
दब्-	:	दाब्-
खुल्	:	खोल्-

कुछ नयी रचनाएँ हैं : कत्- में, त् -त्य- से नहीं आ सकता, वह कात्- (कर्त्-) से

रचनाएँ हैं; विपर्यस्त रूप में प्रेरणार्थक रेत्- का त् रित्- से आता है जो हिन्दी रीता (रिक्त) के आधार पर बना है; इसी प्रकार मेट्- का ट् मिट्- (मृष्ट) से आया है; देख्- के अनुकरण पर दीख्- दिस्स्- (दृश्यते) का स्थान ग्रहण कर लेता है।

लय अ : आ परिवर्तन-क्रम इ पर प्रमुखता धारण किये हुए है : ए अथवा उ; ओ, कुछ परिवर्तन-क्रम इ हैं : ई, उ : ओ; पीस्- के अनुकरण पर जैसे पिस्-, विपर्यस्त रूप में लुट्- के अनुकरण पर लूट्-।

बंगाली में कुछ युग्म रह जाते हैं, किन्तु कभी-कभी अर्थ से विहीन : पड़्- : पाड़्-, गल्- : गाल्-, किन्तु चल-, चाल्-; सर्-, सार्-; छुट्- : छोड़्-।

रूप-रचना वैसी ही है जैसी साधारण क्रियाओं में।

२

इसके विपरीत सं०-आपयति, प्रा०-आवेइ प्रकार बहुत-सा प्रतिनिधित्व प्राप्त करता है और जीवित रहता है : मराठी (स्थान के कारण ह्रस्व स्वर सहित) करवि- (रूपांतर करिवि- जो निस्सन्देह एक दूसरे प्रेरणार्थक करे के प्रभावान्तर्गत है), गुजराती लखाव्-, मारवाड़ी उडाव्-, सिंधी तरा-, मवा-, तुलसीदास सुभाव्-, मैथिलि लगब्-, बोली लगव्-, पु० बंगाली बन्धावए (आव्- बाद को पंजाबी, हिन्दी, बंगाली में -आ- का रूप धारण कर लेता है); उड़िया देखाएँ, किन्तु खुआइ, खा- से; नेपाली गराउ-, कश० ख्य्-आव्- जो कश्तवारी के ख्यावनाव्- के निकट है; इसी प्रकार सिंहली में (कव-, यव-), यूरोपीय जिप्सो-भाषा में पेड़्-, पेड़व्-; नूरी जन्- : जनौ- (दुरूहताएँ, दे० मैकालिस्टर, §१०८), अन्ततः दर्द में : कती पिल्त्-ए और अत्ल्-आ-, पर्सि-ए; अश्कुन आज्ञार्थ उषव- में उषा- उष्- से था; कलाश नार्से- : नर्से-।

यह रचना उन ईरानी बोलियों पर लद गयी जो भारत की सीमा पर हैं : अफ़गानी, वक्सी, यिद्घा, दे० गाइगेर, 'ग्रुंड्रिस' II, पृ० २२२, ३२९ (फ़ारसी प्रेरणार्थक -आन्- है, पहलवी और बलोची -ēन्-)।

तो भी खास भारत में उसे अन्य पर-प्रत्ययों की प्रतिद्वन्द्विता झेलनी पड़ती है : प्रथमतः -आर्- : सिंधी उथार- और दुहरे पर-प्रत्यय सहित खा-रा- (जैसा कि पर-प्रत्यय और मध्यवर्ती परिवर्तन-क्रम के योग द्वारा प्राप्त होता है फिर्- से भिन्न फेरा- जो फ़ेर्- के समीप है; और तीनों एक साथ सेखार् में मिलते हैं); कश० ज़्य्- : ज़्रेव्^{अ}र्- (सामान्य रूप प्राचीन प्रेरणार्थक पर-प्रत्यय की कार्यवाची संज्ञा के साथ सम्बद्ध हो जाने की अनुमति प्रदान करता है : करनाव्-); शिना परुज़्ें- : परुज़्ेर-; सो-; सर्-; उथि- : उथर्-! -अर्- युक्त, ग्रीक प्रकार कल्-अर्-, को और जिप्सी-भाषाओं के नामधातुओं को एक

दूसरे के समीप लाने का प्रलोभन होता है, जो, जब वे कृदन्त के आधार पर बनते हैं जैसे तत्-अर्-, मर्द-अर्- में, तो प्रेरणार्थक रूप प्रस्तुत करते हैं। यह सादृश्य -कर्-सहित रचना के अनुमान की ओर ले जाता है।

यह एक नामजात पर-प्रत्यय ही है जिसे गुजराती देख्-आड्- में देखने का प्रलोभन होता है (प्राकृत के लिये हेमचन्द्र द्वारा संकेतित : भमाडै), तो भी वह संकलन की प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है : धव्-अड्-आव्-; पं० के सिखाल्- और, सिखाउ- के निकट, सिख्लाउ-, बिठाल्- जो बिठाउ- के निकट है, के -ल्- में, नेपाली (असाधारण) बस्-आल्-; हिन्दी इस पर-प्रत्यय का प्रयोग कुछ स्वर-संबंधी धातुओं के अनुकरण पर करती है : दिला-, दे- से; सुला, सो- से आदि।

प्रेरणार्थक और नामधातुओं के रूपों की तुल्यता वास्तव में संस्कृत के समय से निरन्तर रहती है। किन्तु पर-प्रत्ययों का वास्तविक इतिहास नहीं मिलता।

जो महत्त्वपूर्ण बात है, वह यह देखना है कि साधारण प्रेरणार्थक विकरणों का विरोध, जो कर्मवाच्य में साधारण विकरणों के विरोध से पूर्ण हो जाता है, अन्तिम रूप में अकर्मक विकरण और सकर्मक विकरण का विरोध है (असाधारण रूप में एक भिन्न रूप-रचना द्वारा पूर्ण, दे० अन्यत्र)।

हिन्दी के वास्तविक दृष्टिकोण से उदाहरणार्थ, निम्नलिखित में, संबंध एक ही है, प्रत्येक समुदाय का मूल चाहे जो रहा हो :

मर्-(पा० मरति)	मार्-(पा० मारेति)
लद्-	लाद्-(सं० लर्दयति)
मिट्-	मेट्-अथवा मिटा-
पिस्-	पीस्-

और इनमें

पढ़्-(पा० पठति)	पढ़ा-
जाग्-(पा० जग्गति)	जगा-
सुन्-(पा० सुणति)	सुना-
सुख्-(पा० सुक्ख-, सं० शुष्क-)	सुखा-
पक्-(पा० पक्क-, सं० पक्व-)	पका-
बूझ्-(पा० बुज्झति, सं० बुध्यते)	बुझा-
बन्-(वर्ण्यते)	बना-
बाज्-(वाद्यते)	बजा-

जिन पर-प्रत्ययों की परीक्षा की गयी है उनके अतिरिक्त, काफ़िर में कुछ विभिन्न रचनाएँ देखने में आती हैं, उदाहरणार्थ -न्- में (अनुनासिकता-युक्त प्राचीन रूप से निकला हुआ, अथवा स्थानीय कृदन्त से, तुल० कश्मीरी प्रेरणार्थक ?) और साथ ही -म्- में (कृदन्त -मान् से आवृत या उससे निकला हुआ ? दे० गवर्बती, एल० एस० आई०, VIII, II, पृ० ८४)।

कुछ अपवाद जो बहुत कम भी मिलते हैं, पूरे समुदाय की एकता को और भी अधिक स्पष्ट कर देते हैं।

रूप-रचना

निश्चयार्थ की अकेली सामान्य रूप-रचना वह है जो प्राचीन अविकरणयुक्त वर्तमान से और कर्तृवाच्य भविष्यत् से निकलती है। वह प्राकृत में दो रूपों में दृष्टि-गोचर होती है, ३ एक० -अइ और -एइ, जो संस्कृत के मूल विकरणों और प्रेरणार्थक नामधातु से निकलते हैं। नव्य-भारतीय भाषाओं में दूसरा प्रायः नहीं ही मिलता, कभी-कभी, ऐसा प्रतीत होता है, वह पहले के साथ मिल जाता है, अंत में दो भाषाओं, मराठी और सिंधी, में स्पष्ट अर्थ-विचार-संबंधी मूल्यवालों के साथ उसका विरोध होता है।

मराठी में हैं :

एक०	१	हसें	मारिँ
	२	हससीँ, हसेस्, हसस्	मारीस्
	३	हसे	मारी
बहु०	१	हसो, हसूँ	(मारूँ)
	२	हसा, हसाँ	माराँ
	३	हसती, हसत्	मारितीँ, मारीत्

और, सिंधी में :

एक०	१	हलाँ	मार्याँ
	२	हलेँ, हलिँ	मार्येँ, मारे, मारी
	३	हले	मारे
बहु०	१	हलूँ	मार्यूँ
	२	हलो	मार्यो
	३	हलन्[ए]	मारीँन्[ए]

अन्यत्र कुछ मिश्रण हैं; अपभ्रंश में, करेइ का प्रयोग उसी मूल्य के साथ होता है जिस मूल्य के साथ करइ का; यह संदेह किया जा सकता है कि १ एक० बं० उड़िया चलि, मैथिली मगही चली, २ एक० मध्य बं० चलिसि जो चलसि के निकट है, आधुनिक बं० चलिस् जो पूर्वी बंगाली चलस् से भिन्न है, प्रथम बहु० मध्य बं० चलेन्त जो चलन्त के निकट है, प्रेरणार्थक से निकलते हैं; प्रमाण नहीं मिलता, क्योंकि इस लिंग के रूप केवल वहीं मिलते हैं जहाँ प्राचीन प्रत्यय में अन्त्य -इ है; विकरण के पूर्वी समुदाय में देखत्- के निकट देखित्- वर्तमानकालिक कृदन्त के सह-अस्तित्व से भी अंतिम निर्णय नहीं होता। अंत में यह बता देना आवश्यक है कि कुछ स्फुट रूप हैं जैसे कश० २ बहु० चलिन्, तुल० ३ बहु० चलन्।

स्वयं उनका संबंध साधारण विकरणयुक्त की रूप-रचना से है। ऐसी भाषाएं बहुत कम हैं जिनमें संस्कृत या क्लैसीकल प्राकृत के प्रत्यय स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। ये विशेषतः विलक्षण भाषाएँ हैं :

सर्वप्रथम तो वे हैं जिनमें क्लैसीकल संस्कृत के अज्ञात प्रत्यय सुरक्षित मिलते हैं ; उदा०

अश्कुन—	वैगेलि—
सेम्	वेसम्
सेस्	वेससॅं
सेइ	वेस्अॅंइ
सेमिसॅं	वेसमिसॅं
(सेग्)	वेसव्
सेन्	वेसत्

अथवा जिनका क्लैसीकल मध्यकालीन भारतीय भाषा (प्रथम० एक०) में क्षय हो जाता है :

यूरोपीय जिप्सी-भाषा—	नूरी—
कमव्	ननम्
कमेस्	ननय्- (ननेक्)
कमेल्	ननर्
कमस्	ननन्
कमेन्	ननस्
कमेन्	ननन्द्

तुल० खोवार सैंर् (शेते); कलाश एक० ३ दलि जो १ देम्, ३ देस् से भिन्न है।

मध्यकालीन भारतीय भाषा के अन्य सामान्य प्रकार के साथ भी सम्बन्ध मिलते हैं। उनके बिना हमें इन भाषाओं में एकरूपता नहीं मिलती।

मध्यम० एक० का -स्- और प्रथम० बहु० का -न्त- (ध्वनि-संबंधी रूपान्तरों सहित), पीछे देखी गयी मराठी की गणना किये बिना, कुछ भाषाओं में सुरक्षित हैं, उदाहरणार्थ :

पोगुलि (कश्मीर के दक्षिण)	नेपाली	पु० मैथिली	बंगाली
"मैं पीटूँगा"	'मैं बनाऊँगा'	"मैं देखता हूँ"	"मैं जाता हूँ"
फार	गरुँ	देखों (आधु० देखी)	चलि, चलिस्
फारुस्	गरेस् (गर्)	देखसि (देख्)	चलइ
फैरि	गरे	देखही (देखे)	चलों
फारम्	गरउँ	देखों (देखी)	चल
फारुथ्	गर	देखों	चलन्त् (इ)
फारुन्	गरुन्	देखथ् इ	चलन्ति चलेन्

किन्तु उड़िया में, जो ३ बहु० देखन्ति को सुरक्षित रखती है, २ एक० देखु मिलता है। कश्मीरी में एक अस्पष्ट २ एक० है जिसके संबंध में यह ज्ञात नहीं कि क्या वह २ बहु० अश्कुन -ग्, -क्, १ बहु० गवर्बती-कलाश (आंशिक) -क् (नूरी २ एक० -क स्थानीय प्रतीत होता है) के निकट होना चाहिए। शेष में वह लगभग पूर्णतः पोगुली के साथ-साथ चलता है : एक० १ गुप, ३ गुपि; बहु० १ गुपव्, २ गुपिव् (क्या उत्तम पुरुष से संघर्ष बचाने के लिये प्रेरणार्थक के स्वर का आश्रय ?), ३ गुपन्।

एक० के मध्यम पुरुष की रूप-रचना की एक दुर्बलता प्रतीत होती है। अपभ्रंश में वह निस्संदेह आज्ञार्थ से आता है; निश्चयार्थ और आज्ञार्थ की निकटता वास्तव में अपभ्रंश में मध्यम० बहु० करहुं द्वारा स्वीकृत है, जो केवल प्रथम पुरुष, एक० करउ, बहु० करन्तु से आ सकता है, तो भी १ बहु० *करमु अथवा करहू, निश्चयार्थ, जो स्वभावतः आज्ञार्थ के अनुकूल हो गया है, द्वारा समर्थित। किन्तु श्लेष-पद ने, जिसे तथ्य बहुवचन में समर्थित प्रदर्शित करते हैं, ऐसा प्रतीत होता है, एकवचन में अधिक कठिनाई पैदा कर दी है जिसमें २ करसि समर्थित था १ करमि और ३ करति द्वारा; कर असंभव, करेहि अस्पष्ट लय वाला, निश्चयार्थ में इन दोनों का स्थान करहि ने ले लिया है, जो भली भाँति एकवचन की प्रणाली में समाहित हो जाता है और जो स्पष्टतः बहु० करहु के विपरीत है; इस नवीनता में भविष्यत् में -स्- सुरक्षित रखने का अधिक लाभ था।

एक और कठिनाई भी थी जो एकवचन और बहुवचन के उत्तम पुरुष की ध्वनि-संबंधी बातों के मिल जाने के कारण है, कम-से-कम अपभ्रंश तथा उससे सम्बद्ध भाषाओं में : वास्तव में ऐसा प्रतीत होता है कि इस समुदाय में सर्वनाम १ एकवचन हउँ ने उच्चतम मध्यकालीन भारतीय भाषा के समय से प्रमाणित एक नवीन प्रत्यय को सामान्य बनाया हो : जातक अनुसासहं, आदि। अपभ्रंश में फिर ह् दृष्टिगोचर नहीं होता, उस समय जो वह मिलता है वह बहु० में इधर का है, निस्सन्देह -हु युक्त मध्यम पुरुष के, तथा संभवत: प्राकृत अम्हो "हम हैं" तथा "हम" के महाप्राणत्व के प्रभावान्तर्गत।

फलत: हैं :

१	एक० करउँ	बहु० करहुँ (भव० करहँ)
२	करहि	करहु
३	करइ	

यह पश्चिमी समुदाय का मूल आदर्श है : सिंधी में, जिसका एक तिङ अन्यत्र दिया जा चुका है, और भी जोड़े जा सकते हैं :

लहंदा	मारँ	चमेआलि	माराँ
	मारे		मारे
			मारे
बहु०	माराँह्	बहु०	माराँ
	मारो		मारा
	मारेन्		मारन्

तुल० गढ़वाली में एक० १ मारुँ २ मारी ३ मार्, कुमायूँनी में १ हिटुँ २ हिटइ ३ हिट् भी।

पंजाबी लहंदा के साथ-साथ चलती है, केवल -इए युक्त उत्तम० बहु० को छोड़कर जो मध्यकालीन भारतीय भाषा के कर्मवाच्य एक० से निकला प्रतीत होता है, और जो गुजराती में, मैथिली में और मध्यकालीन बंगाली में मिलता है।

अन्त में मध्यवर्ती भाषाओं की एक अन्तिम नवीनता है, जिसका प्रमाण अपभ्रंश में मिलता है; उसका संबंध प्रथम पुरुष बहु० अ० करहिँ से है, जो, आज्ञार्थ ३ बहु० करन्तु, वर्तमानकालिक कृदन्त एक० पु० करन्तु, स्त्री० करन्ति के प्रकाश में देखते हुए, ध्वनि-संबंधी नहीं है। यह देखा जाता है कि प्रथम पुरुष एक० करइ, बहु० करहिँ का संबंध उत्तम पुरुष एक० करउँ, बहु० करहुँ के संबंध से साम्य रखता है; जो सामान्य परिणाम उपलब्ध होता है वह है दो ह्रस्वों द्वारा निर्मित प्रत्यय, लय जिसे -अन्ति ने नष्ट कर दिया।

इस बात का सन्देह रह जाता है कि -अहिँ का प्रमाण उत्तरज्झयण प्राकृत में ही मिलता है : किन्तु यह स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है कि एक ग्रामीण प्रयोग जिसे बाद को अपभ्रंश ने सामान्य रूप में स्वीकार कर लिया जैन धर्म-नियम में प्रचलित हो गया हो।

अपभ्रंश प्रकार गुजराती और राजस्थानी में मिलता है :

		गुज०	पु० गुजराती	जैपुरी
एक०	१	चालूँ	नाचौँ	चाळूँ
	२	चाले		चळै
	३	चाले	नाचै	चळै
बहु०	१	(चालिए, किन्तु भविष्यत् चालिशूं)		चळाँ
	२	चालो		चळो
	३	चाले	नाचैँ	चळै

तथा अवधी (लखीमपुरी) में :

एक०	चलउँ	बहु०	(चली)
	चलइ		चलउ
	चलइ		चलइँ

इस समुदाय में, हिन्दी और ब्रज में एक और विशेषता मिलती है, जिसकी व्याख्या नहीं की जा सकती, और वह यह है कि उत्तम० बहु० का प्रत्यय प्रथम० के प्रत्यय के सदृश है :

		ब्रज	हिन्दी, बुन्देली
एक०	१	चलउँ, चलुँ	चलूँ
	२	चलै	चले
	३	चलै	चले
बहु०	१	चलैं	चलें
	२	चलौ	चलो
	३	चलैँ	चलेँ

तो भाषाओं का एक स्वतंत्र विकास होता है, वही जिसका संबंध अपभ्रंश को मामूली बातों से अधिक है। उसका एक और प्रमाण छत्तीसगढ़ी में मिलता है जिसमें

मध्यम० और प्रथम० बहु० के नवीन रूप मिलते हैं, किन्तु मध्यम० एक० का प्राचीन रूप सुरक्षित रहा आता है :

एक० घुचउँ	बहु० घुचन्
घुचस्	घुचउ
घुचइ	घुचइँ

(भोजपुरी में एक साथ 'बारस' और 'बड़े' है, 'बड़े' साथ ही हो सकता है "वह है"; निस्सन्देह हिन्दी का प्रभाव है)।

सिंहली की, स्वतंत्र, रूप-रचना सामान्य योजना पर आधारित है : एक० १ कम्(इ) (खादामि ?), २ कहि, ३ कयि, का; बहु० १ कम्(ह्)उ (क्रिया 'होना' का प्रवेश ?), २ कहु, ३ कत्(इ)।

आज्ञार्थ

इसमें विशेषतासूचक रूप प्रथम पुरुष के हैं : सं० एक० -अतु, बहु० -अन्तु; जिससे एक० म० -ओ, उड़िया -उ, बं० -उक्, बहु० म० -ओत्, उड़िया -अन्तु, -उन्तु, बंगाली -उन्। देखिए, खोवार एक० दियार्, जो प्रत्यक्षतः ददातु का प्रतिनिधित्व करता है।

मध्यम० एक० सामान्य रूप शुद्ध मूल है, क्योंकि सं० प्रा० -अ लुप्त हो जाता है। साहित्यिक प्राकृत में प्रायः दीर्घ प्रत्यय मिलते हैं : करसु, करेसु जिसका प्रत्यय ३ एक० -तु के अनुकूल बना लिया गया सं० -स्व है; करेहि प्रेरणार्थक विकरण के साथ प्राचीन अविकरणयुक्त प्रत्यय सं० -(द्)हि के प्रयोग से बनता है; जैन कराहि में वह उसी लय सहित मिलता है; अप० करहि, जो उससे जन्म लेता है, को, जैसा कि देखा जा चुका है, निश्चयार्थ में भी काम आना चाहिए। करेहि प्रकार ब्रज में सुरक्षित है, और उससे उपलब्ध होते हैं पु० राज० कर, सेवि, साँगॅ, करिँ।

सिंधी में अकर्मक वेह्^उ और कर्तृवाच्य मार्^ए में भेद है।

विशेषतासूचक उ स्वर के प्रभावान्तर्गत, मराठी में १ एक० -ऊँ से युक्त है जो बहु० जैसा है।

भविष्यत्

स-भविष्यत्, जो वर्तमान की भाँति हो जाता है, केवल एक सीमित रूप में बना रहता है। अपभ्रंश में सामान्य होते हुए भी, प्राचीन बंगाली में उसके बहुत कम और सन्देहास्पद चिन्ह शेष रह जाते हैं, पंजाबी, सिंधी और इसी प्रकार मराठी और सिंहली के प्राचीन पाठों में उसका अस्तित्व नहीं मिलता। पूर्वी हिन्दी और बिहारी में, वह

कृदन्ती रूपों में मिल जाता है। जैपुरी (पर-प्रत्यय -स्- है) में, मारवाड़ी में, और बुन्देली (पर-प्रत्यय -ह्-) में उसे समास-रूपों की प्रतिद्वन्द्विता का सामना करना पड़ता है। उचित रूप में तो वह केवल गुजराती और लहंदा में, और भारतवर्ष से बाहर, नूरी में, अधिक दृष्टिगोचर होता है; कश्मीरी में वह भूत-संभाव्य का अर्थ ग्रहण कर लेता है।

		गुजराती	लहंदा
एक०	१	मारीश्	मरेसाँ
	२	मार्शे	मरेसें
	३	मार्शे	मरेसी
बहु०	१	मारीशूं	मर्साहीं
	२	मार्शो	मरेसो
	३	मार्शे	मरेसिउ

		नूरी	कश्मीरी
एक०	१		गुपह
	२		गुपहख्
	३	मन्यरि	गुपिहे
बहु०	१	जन्यनि	गुपहव्
	२		गपिहिव्
	३		गुपहन

नामजात रूप

१. संस्कृत

भारतीय-ईरानी और भारोपीय की भाँति संस्कृत में क्रिया के पुरुषवाचक रूपों में कुछ नामजात रूप जुड़ जाते हैं : एक तो कुछ विशेष्य हैं जो कुछ कारकों के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं और वे प्रभाव (reaction) के योग्य होते हैं; दूसरे कुछ विशेषण हैं जो वाच्य और काल का अनुसरण करते हुए पृथक् हो सकते हैं।

कार्यवाची संज्ञाएँ। क्रियार्थक संज्ञा, पूर्वकालिक कृदन्त

भारोपीय में, एक संज्ञा, जिसका अर्थ एक क्रियामूलक धातु के निकट पहुँच जाता है, स्वयं क्रिया की भाँति प्रभाव की प्रवृत्ति प्रकट करता है; इस दृष्टि से वैदिक भाषा में प्रागैतिहासिक प्रयोग मिलता है।

कार्यवाची संज्ञाओं की रचना दो रीतियों से हो सकती है : एक ओर तो नामजात रचना है : सोमस्य भृथे; दूसरी ओर क्रियामूलक रचना याजथाय देवान्; और उसी शब्द के सहित गोत्रस्य दावने, अथवा क्रियामूलक महि दावने। कुछ संज्ञाओं के विकृत कारकों में क्रियामूलक का प्रयोग सामान्य है, और वास्तव में यहाँ हमारी क्रियार्थक संज्ञाओं के तुल्य है : जज्ञनुश् च राजसे, पारम् एतवे पंथाः। स्वभावतः वे वाच्य के प्रति उदासीन हैं : स्तुषे सा वाम् रातिः, न. . .अस्ति तत् अतिष्कदे; उसका केवल पूरक भाव प्रदर्शित करता है : नान्येन स्तोमो अन्वेतवे।

वेद में कुछ ऐसे शब्दों का भी प्रयोग हुआ है जो ध्येय प्रकट करने की प्रवृत्ति वाले कारक में होते हैं : कर्म० और विशेषतः संप्रदान० (अतिरिक्त रूप में कुछ प्रत्यक्षतः अधिकरण०, शून्य श्रेणी के प्रत्यय वाले प्राचीन संप्रदान०, दे० मेइए, बी० एस० एल०, XXXII, पृ० १९१); और साथ ही, उपसर्गात्मक अव्यय और क्रियाओं के, जिन्हें उसकी आवश्यकता होती है, बाद अपादान; संबंध० विचित्र रूप में ईश्- के बाद और उसकी यह सामान्य रचना है।

जहाँ तक विकरणों से संबंध है, वे निर्मित होते हैं :

१. शुद्ध धातु द्वारा : दृशे; ऋ० ८, ४८, १० : इन्द्रम् प्रतिरम् एम्य् आयुः;

२. धातु के साधित शब्दों द्वारा, कभी-कभी -मन्- और -वन्- युक्त : विद्मने, दावने; विशेषतः चेतन संज्ञाओं द्वारा : -इ- बहुत दुर्लभ है (दृशये, -ति- दुर्लभ), इसका साम्य इस तथ्य से है कि भारोपीय की भाँति वैदिक भाषा में -ति- युक्त संज्ञाएँ रचना में केवल बड़ी मुश्किल से मिलती हैं; -त्या केवल इत्यै में, प्रायः -तु- बहुत मिलता है [द्रष्टुं, गन्तवे, पातवै (*पातवे वै), गन्तोः]; अन्त में,

३. क्रियामूलक विकरणों के साधित शब्दों द्वारा : पुष्यसे (पुष्- धातु), ऋञ्जसे (ऋज्-) और विशेषतः -(अ)ध्यै : इयध्यै, नाशयध्यै प्रेरणा०।

ये अन्तिम रचनाएँ, जो अनेक पहली की भाँति ईरान में साम्य रखती हैं, क्रिया के साथ संबद्ध हो जाने के श्रीगणेश की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। और वास्तव में ऐसा प्रतीत होता है कि क्रियार्थक संज्ञा का एक वर्ग संस्कृत में निर्मित होता है; संप्रदान० के रूप, प्रारंभ में अन्य की अपेक्षा सतगुने, लुप्त हो जाते हैं; और -तुम् जो शुरू के पाठों में बहुत कम है, यहाँ तक लाभ प्राप्त करता है कि क्लैसीकल भाषा में उसका एकाधिपत्य स्थापित हो जाता है। किन्तु साहित्यिक मध्यकालीन भारतीय भाषा संप्रदान० को बनाये रखती है : अशोक० खमितवे, पा० दातवे (पा० एतसे विचित्र और संदिग्ध है) और स्वयं संप्रदान० की प्रणाली में भाषा नवीन रूप रचती है, जैसे पा० हेतुये जो अशोक० भेतवे, पा० दक्खिताये (दीर्घत्व निश्चित नहीं है), प्रा० जैन -(इ)त्तए जो -(इ)उं के निकट है। इसके अतिरिक्त उसमें -अन- युक्त संज्ञाएँ दृष्टिगोचर होती हैं जो अन्त में उसे हटा देंगीं, किन्तु आधुनिक युग में। तो संस्कृत प्रणाली दृढ़ नहीं है।

-ति- और -तु- युक्त कार्यवाची संज्ञाएँ (और कुछ उनके व्युत्पन्न रूप), जिनका प्रयोग करण० में हुआ है, मुख्य क्रिया द्वारा व्यक्त कार्य की पूर्व स्थिति प्रकट करने योग्य हो जाती हैं : यह वह है जिसे पूर्वकालिक कृदन्त कहते हैं, दे० अन्यत्र।

कर्तृवाची संज्ञा। कृदन्त

क्रियामूलक धातुओं से सीधे निकले कुछ विशेषण और कर्तृवाची संज्ञाएँ स्वच्छन्द रूप में क्रियामूलक प्रभाव की रक्षा करती हैं : ऋ० कामो... अस्य पीतिम्, ददिर् गाः, तै० सं० कामुका एनं स्त्रियो भवन्ति। पतंजलि ने ओदनं भोजको गच्छति का उल्लेख किया है जिसमें विशेषण एक भविष्यत् कृदन्त का भाव ग्रहण करता है। यह उसी अर्थ में है जो -तर्- युक्त कर्तृवाची संज्ञा का विकास करेगा : ऋग्वेद में, संबंध० के अनेक संबंधों के निकट, वह कर्म० पर शासन रखने की क्षमता रखता हुआ पाया जाता है : हन्ता यो वृत्रं सनितोत वाजम्, दाता मघानि...

किन्तु भविष्यत् के अर्थ का जन्म होते हुए देखा जाता है, १०, ११९,९, जिसमें

हन्ताहम् पृथिवीम् आगे के पद्य के संशयार्थसूचक द्वारा स्पष्ट हो जाता है : ओषम् इत् पृथिवीम् अहं जङ्घनानि। यह संज्ञा ही अपरिवर्तनशील होती हुई अस- क्रिया के उत्तम और मध्यम पुरुषों में काफ़ी जल्दी बद्धमूल हो जाता है (प्रथम पुरुष में नामजात वाक्यांश के नियम काम आते रहते हैं); उससे भविष्यत् की एक रचना क्रिया-रूपों में शामिल हो जाती है : दातास्मि, दातासि, दाता आदि; मध्य में *दातासे, २ एक० दातासे के निकट असंभव, का स्थान नामजात समुदाय दाताहम्, दातासे आदि के आदर्श पर निर्मित दाताहे ग्रहण कर लेता है। पाणिनि के अनुसार भाव एक परित्यक्त भविष्यत् का है; वास्तव में पाठों में नियम का स्पष्ट रूप से पालन नहीं हुआ; वह प्राचीन समय में एक यथेष्ट दुर्लभ रहने वाले रूप के कारण होता है, और जो मध्यकालीन भारतीय भाषा तक नहीं आता।

कुछ विशेषण, भारोपीय के समय से, न केवल धातुओं के साथ, किन्तु क्रियामूलक विकरणों के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं। वे संस्कृत में हैं :

१. धातु के आधार पर निर्मित, -त-, -न- युक्त विशेषणों और उनके साधित शब्दों से परिणाम दृष्टिगोचर होता है; जो -य- युक्त हैं उनसे ध्येय प्रकट होता है; व्युत्पन्न और जुड़े हुए-एक या दूसरे के साथ।

२. विकरणों के आधार पर नियमित रूप में विभाजित और प्रभाव के प्रति प्रवृत्ति रखने वाले, उचित रूप में कृदन्त।

अस्थायी कृदन्त

वे हैं जो भारोपीय रचनाओं पर आधारित रहते हैं, किन्तु उनसे साम्य नहीं रखते। कर्तृवाच्य में हैं :

१. -अन्त्- पर-प्रत्यय, -अत्- के साथ परिवर्तनीय, वाले कृदन्त। अविकरणयुक्त : पु० एक० कर्म० सन्तम्, संबंध० सतः का साम्य है अ० हअन्त्अम्, हतो से। विकरण-युक्त में भारतीय भाषा में वही परिवर्तन-क्रम है; भवन्तम्, संबंध० भवतः; किन्तु अवेस्ती में सर्वत्र अनुनासिक है : फ़्सुयन्त्अम्, फ़्सुयन्तो। द्वित्वयुक्त अविकरणयुक्त क्रियाओं में संस्कृत नियमित रूप से -अत्- का प्रयोग करती है : ददतम् ददतः; यह एक भारतीय विशेषता है, संभवतः प्राचीन अप्रचलित विशेषता।

२. -वांस्- वाले पूर्ण कृदन्त : -उष्-, कुछ रूपों में जिसका स्थान -वत्- ग्रहण कर लेता है, जो भारोपीय है; किन्तु विभाजन किसी अंश में समान नहीं है, और -वत्- ईरानी में नही है।

मध्य में, दो रूप हैं जिनका विभाजन काल का अनुसरण करते हुए नहीं, किन्तु

विकरणों का अनुसरण करते हुए होता है। अविकरणयुक्त के साथ, -आन-, जो भारतीय-ईरानी है; विकरणयुक्त के साथ -(आ)मान- जो वास्तव में भारतीय है और पहले के साथ -*म्न- भारतीय-ईरानी के सामंजस्य से उत्पन्न होता है (दे० बाँवनिस्त, बी० एस० एल०, XXXIV, पृ० ५)। जहाँ तक अशोक० पूर्व और अयरंगमुत्त के -मीन-रूप से संबंध है, क्या यह प्राचीन *-म्$^{\text{ओ}}$नो- है, जिससे -मान- की लय से सारूप्य-प्राप्त *-मिन- निकलता है? सं० आसीन-, आस्ते से, और मेलै से प्रा० मेलीण- की भी गणना करना आवश्यक है, जो स्फुट हैं।

कृदन्तों में वाच्यों का पुर्नविभाजन केवल गौण रूप से निश्चित है; वेद में, -(म्)आन- युक्त कृदन्त तेज़ी से कर्तृवाच्य पुरुषवाचक रूपों से साम्य रखते हैं; विपर्यस्त रूप स्पष्टतः अधिक दुर्लभ है। वास्तव में -मान-, जो अकेला निरंतर रूप में है, बौद्ध और जैन धार्मिक नियमों में उपलब्ध कर्तृवाच्य क्रियाओं के वर्तमान के विकरणों तक प्रसारित होता है (पा० अशोक० समान-, अत्थि का प्रा० समाण- आदि)।

क्रियामूलक विशेषण

१

ईरानी और भारोपीय की भाँति संस्कृत में -त-(-अय- युक्त व्युत्पन्न रूपों में -इत-) युक्त विशेषणों से, धातु द्वारा द्योतित प्रक्रिया का परिणाम प्रकट होता है: भूत- (भू-), अ० बूत-; मृत-(मर्), अ० म्अ॑र्अ॑त-, मअ॑र्स-; युक्त-(युज्-), अ० यूख़्त-; पृष्ट-(पृच्छ्-), अ० पर्स॑त-, जात-, अ० ज़ात- [जन्(इ) से], आश्रित- (श्रि-), अ० स्रित-; श्रुत-(श्रु-), अ० स्रुत-। यह देखा जाता है कि क्रिया के साथ संबंध अर्थ-विचार की दृष्टि से निश्चित नहीं है; तो भी वह काफ़ी सीमित है जिससे कि जहाँ तक वह कर्मवाच्य में आता है, यह विशेषण उससे भूतकालिक कृदन्त हो जाता है; रचना अत्यन्त नियमित है। दा- धातु में छोड़ कर, जिसमें त्वा-दात- और दत्त का पुनर्निर्माण दित- से संघर्ष बचाने के लिये किया गया है, धातु की शून्य श्रेणी निरन्तर रूप से मिलती है, उस समय जब कि वह अवेस्ती में नहीं है।

संस्कृत ने -न- युक्त विशेषण को वही कार्य सौंपने में नवीनता का प्रवर्तन किया है, जो वास्तव में, उसके मूलों द्वारा था, उसकी रचना और उसका अर्थ पहले के सदृश था; भारतीय-ईरानी ने उससे काम लिया: अ० फ़्रीनास्प-, ग्री० "फ़िल्-इप्पोस्", तुल० पीणयति और दूसरी ओर वैदिक प्रीत- जिसका व्यवहार घोड़ों के लिये हुआ, तुल० ह्वा-फ़्रित-; ऊर्न-, अ० ऊर्न- "अपूर्ण" एक धातु के साथ सम्बद्ध हो जाता है जिसका अ० उयम्न- मध्य वर्तमानकालिक कृदन्त है; किन्तु स्वयं क्रिया नहीं मिलती। जहाँ कहीं वह है,

रचनाओं का अनिवार्यतः पुनरुद्धार नहीं होता : सं० पूर्ण - से भिन्न, अवेस्ती में प्अर्अन- है।

यह संस्कृत की मौलिकता है कि उसमें यह विशेषण एक नियमित कृदन्त बन गया है, जो प्रधानतः अन्तस्थ (द्रव वर्ण) वाली द्वयक्षरात्मक धातुओं में पाया जाता है : पूर्ण-(पूर्त-) का एक विशेष अर्थ हो गया है, स्तीर्ण-; कुछ धातुएँ दीर्घ स्वर वाली होती हैं : हीन- जो हा- (हित- कृदन्त है धा- से), जहित- के निकट है, दा- से (अन्य धातुओं में दा- के कृदन्त हैं दित-, दत्त-) दिन; अंत में, दन्त्य में अन्त होने वाली धातुएँ : भिन्न- जो भिद् से है, स्कन्न जो स्कन्द्- से है।

तो भी क्रिया के साथ सम्बद्धता घनिष्ठ नहीं है और रचना असाधारण रूप में रहती है : मै० सं० पत्युः क्रीता सती, त० सं० अस्य प्रीतानि। वाच्य निश्चित नहीं है : गतो . . . अध्वा "गया हुआ मार्ग", किन्तु गत- का साधारण अर्थ होता है "जो गया है"। स्वयं काल अनिवार्यतः भूत नहीं है; पूर्ण की भाँति, इस विशेषण के विविध भाव हैं। वह ऋ०, १, ११०, १ में प्रवेशसूचक वर्तमान के विरोध द्वारा भूत का अर्थ द्योतित करता है : ततम् मे अपस तद् उ तायते पुनः। भगवद्गीता, २, २७ में है : जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्; ध्रुवां जन्म मृतस्य च। किन्तु इससे पहले के छन्द में है : अथ चैनं नित्यजातम् नित्यं वा मन्यसे मृतम् (अनु० सनात)।

यही भाव है जिससे इस बात का पता चलता है कि किस सरलता के साथ ये विशेषण विशेष्य हो जाते हैं : जातः, जातम्, जीवितानि, युद्धानि, अशितम्, तुल० पा० गतं, सन्गामे मतं। अशित- से, अथर्ववेद में, अन्य सभी विशेष्य की भाँति और उसी संधि सहित (अश्वावन्त्-) संबंधवाची एक विशेषण मिलता है : ९, ६, ३८ (गद्य में ऋचा) अशितावत्य् अतिथाव अश्नीयात्। प्रथम अंश का क्रियामूलक भाव जितना शक्तिशाली होता है, उतना ही इस विशेषण में कर्तृवाच्य पूर्ण० कृदन्त के तुल्य होने की प्रवृत्ति रहती है, जो स्वयं प्रयोग द्वारा प्रकट होती है। कृदन्तों का प्रयोग केवल पूर्ण० क्रियाओं के भाव सहित होने की संभावना प्रकट करते हुए, पतंजलि ने एक ही चरण में रखा है : क्व यूयम् उषिताः, किं यूयं तीर्णाः? तथा दूसरी ओर किं यूयं कृतवन्तः?, किं यूयं पक्वन्तः? (पक्व-, तुल० प्रा० पक्क-, पच्- वाले कृदन्त का नाम देता है)। सच तो यह है कि -तवन्त्- युक्त नवीन कृदन्त का विकास, जैसा कि देखा जाता है, केवल अस्थायी रहा है।

२

जब कि -त- युक्त विशेषण भूतकाल का भाव प्रकट करने की दृष्टि से अपने को क्रिया-रूप के साथ सम्बद्ध करने वाले होते हैं, अन्य विकरण, जो भारोपीय के समय से

संभावना या लक्ष्य प्रकट करते हैं, भविष्यत् की नामजात अभिव्यंजना को संभव बनाते हैं।

दोनों जीवित नहीं रहे : -त्(उ)व- (हंन्त्व-, अ० जँअθव) ऋग्वेद के एक दर्जन शब्दों में केवल मुश्किल से मिलता है; -अत- और दुर्लभ है जिसका रूप, कहना चाहिए, कम विशेषतासूचक था : यजतं-, अ० यज्रत-; दर्शतं, तुल० अ० सुरुन्वत-।

इसके विपरीत -(इ)य- प्रायः मिलता है : दंर्श्(इ)य-, अ० दर्अस्य-; एक अन्य स्वर-प्रणाली में दृंश्(इ)य- : भंव्य- और भाव्य-, देंय-। वेद के समय से ही यह पर-प्रत्यय व्युत्पन्न विकरणों तक तथा विभिन्न मूलों तक प्रसारित हो जाता है : उससे श्रवांय्य- जो प्रेरणार्थक के आधार पर निर्मित है, स्तुर्षेय्य- जो क्रियार्थक संज्ञा स्तुर्षे के अनुकरण पर निर्मित हुआ है; दिदृक्षेंय-, इच्छार्थक विकरण के आधार पर निर्मित हुआ है; वंरेण्(इ)य- जिसकी व्याख्या नहीं हो सकती, किन्तु जो प्रायः मिलता है और गौण विकरणों के अनुकूल है : दिदृक्षेंण्य-, वावृंवेन्य- ; अन्ततः और विशेषतः, क्रियामूलक संज्ञाओं के अनुकरण पर, श्रुंत्य-, अनानुकृत्यं-, चरकृंत्य-। अथर्ववेद में दो और नये प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं : एक तो विशेष्यों से निकला है, प्रारंभ में केवल समास-युक्त विशेष्यों से : आमन्त्रणीय- (आमन्त्रणम्; -अन-, -अना युक्त संज्ञाओं के क्रियार्थक संज्ञा के निकट भाव की ओर पीछे संकेत किया जा चुका है) ; अंत में,दूसरे, -तव्य-, जो प्रागैतिहासिक प्रतीत होता है (ग्री० -तॅओस्), -तु- युक्त विकरणों के साथ हर परिस्थिति में सम्बद्ध हो जाता है और अप्रत्यक्ष रूप में -त्(उ)व- युक्त विशेषणों से संबंधित हो जाता है; किन्तु वह -त- युक्त क्रियामूलक के समीप भी रहता है और फलतः -तवन्त् युक्त नवीन कृदन्त के, और यहीं से उसके विकास का सूत्रपात होता है।

कृदन्तों में वाक्यांश में विविध रूप में आने वाली संज्ञाओं के साथ स्थान पाने की प्रवृत्ति पायी जाती है : ऋ० ४, १८, १२ : शयुंं कंस् त्वांम् अजिघांसच् चंरन्तम्। इसके लिये वे अपनी क्रियामूलक प्रभाव की शक्ति का लोप नहीं कर देते : ४, १८, ११ : अंथाब्रवीद् वृत्रंम इंन्द्रो हनिष्यंन्; १, ४५, ४ : अहूषत रांजन्तम् अध्वरांणाम् अग्निम्; १, १४८, २ : जुर्षन्त विंश्वान्य् अस्य कंर्मोंपस्तुतिम् भंरमाणस्य कारोंः। सच तो यह है कि स्थान-प्राप्त कृदन्त मुख्य कारकों में स्वेच्छापूर्वक आता है, और प्रायः परिपूरक बिना रहता है। और ऐसा प्रतीत होता है कि उसका प्रयोग जारी रहता है : जातक ५, २९० : बोधिसत्तं पि किलन्तिन्द्रियं वीथियं गच्छन्तं अञ्ञतरा इत्थी दिस्वा।

वर्तमानकालिक कृदन्त को बहुत कम वाक्य-विन्यास-संबंधी स्वतंत्रता है। वह स्वच्छन्द रूप में कुछ ऐसी क्रियाओं के साथ आता है जो किसी परिस्थिति या क्रियाशीलता का द्योतन करती हैं : विंश्वम् अन्यों अभिचंक्षाण एति; किन्तु नामजात वाक्यांश को

इतनी स्वतंत्रता नहीं है कि वह क्रिया का स्थान ग्रहण कर ले : इस प्रकार के जो कुछ उदाहरण मिलते हैं १, १७१, ४; ३, ३९, २ केवल संभावित हैं। उसके संबंध में वही बात नहीं है जो क्रियामूलक विशेषणों के संबंध में है। -त- युक्त क्रियामूलक ऋ० १, ८१, ५ न त्वा॑वाङ् इन्द्र कश्चन॑ न॑ जातो॑ न॑ जनिष्यते में पुरुषवाचक रूप के प्रतिकूल पड़ता है। यही बात भविष्यत् कृदन्तों के लिये है : रिप॑वो ह॑न्त्वासः ; य॑ ए॑क ईद् ध॑व्यश्: चरषणीना॑म।

प्रथम पुरुष का प्रयोग होने पर उसका प्रयोग अधिकाधिक हो जाता है। जब यह प्रयोग अन्य पुरुषों में हो जाता है, अथवा वर्तमान की अपेक्षा अन्य कालों में हो जाता है, तो या तो कुछ सर्वनाम आते हैं, या अस- और भू-; अथवा बाद को आस्ते, वर्तते आदि; ऋ० युक्ता॑स ते अस्तु द॑क्षिणः ; महा० केनास्य् अभिहतः. . . किमर्थम् अभिहतः।

इस प्रकार प्रयुक्त होने पर, -त-युक्त क्रियामूलक उसे पूर्ण करता है, और फिर पूर्ण में उसके प्राचीन प्रयोग का स्थान ग्रहण कर लेता है। यही कारण है कि स्वच्छन्द रूप से उसका प्रथम पुरुष में प्रयोग पाया जाता है : 'अग्निर् उपसमाहितो भवति' कहे जाने योग्य है 'अग्नि अपने को जली हुई पाती है', न कि 'जलायी गयी है'। किन्तु काल की दृष्टि से यह प्रयोग सीमित रहता है।

कर्मवाच्य अर्थ वाला क्रियामूलक करण० के पूरक होने की प्रवृत्ति प्रकट करता है, और अर्थानुकूल (न्यायोचित) कार्य के कर्त्ता को प्रकट करता है। उदाहरणार्थ, ऋ० ८, ७६, ४ : अयं॑ ह येन वा॑ इदं॑ स्व॑र् मरु॑त्वता जित॑म्।

यह रचना, जो निस्सन्देह शुरू में उन संबंधवाची वाक्यांशों में अधिक आती है जो पुरुषवाचक क्रियाओं के अधिक सरलतापूर्वक प्राप्त होते हैं, प्रधान तक प्रसारित हो जाती है। यह एक प्रधान में ही है कि बन्धनसूचक का कृदन्त पाया जाता है, किन्तु बिना करण० की संज्ञा के, अथर्व० ५, १८, ६ : न॑ ब्राह्मणो॑ हिं॑सितव्यो॑ 'ग्निः प्रिय॑तनोर् इव।

इसी प्रकार गिरनार पर अशोक० में पढ़ने को मिलता है : इयं धंमलिपी. . . . रा(ञ्)ञा लेखापिता। इध न किंचि जीवं आरभित्पा प्रजूहितव्यं न च समाजो क(त्)तव्यो।

रूपनाथ-माला में सुमि(हकं) संघं उपगते (उपेते) की और मया(मे) संघे उपयति (उपयिँते) की तुल्यता दृष्टिगोचर होती है।

एक विशेष कारक वह है जिसमें नपुं० कर्त्ता० का क्रियामूलक सामान्य कर्मवाच्य अकर्तृक की क्रिया के तुल्य है : जैसा कि बताया जा सकता है (किन्तु शायद ही कभी प्राचीनकालीन में) श० ब्रा० तप्यते, मै० सं० ऋध्य॑ते, स॑म् अमते, ऋ० में भी श्रद्धितं ते बराबर मिलता है। यह क्रियामूलक विशेषण अन्ततोगत्वा अर्थानुकूल (न्यायोचित)

कर्त्ता के करण० के साथ सम्बद्ध हो सकता है : तै० सं० तस्मात् समानत्र तिष्ठता होतव्यम्, मै० सं० अग्निहोत्रिणा नाशितव्यम्।

फिर संस्कृत में एक नवीन अतीत काल है, किन्तु नपुं० अथवा कर्मवाच्य अर्थ का; सदृश कर्तृवाच्य के भाव के साथ न रहने वाला -तवन्त्- युक्त व्युत्पन्न का विशुद्ध क्लैसीकल प्रयोग (मनु में सर्वप्रथम उदाहरण मिलता है) उसी से है।

दूसरी ओर वेद में ज्ञात छः बन्धनसूचक कृदन्तों में से, जो -य- युक्त और -तव्य- युक्त हैं (जो अथर्ववेद में दृष्टिगोचर होते हैं), वे हैं जो धीरे-धीरे संभावना के भविष्यत् का कार्य करने लगते हैं; किन्तु यह बाद का विकास है, जो अकर्तृक कर्मवाच्य के विकास के साथ-साथ चलता है।

२. नव्य-भारतीय भाषाएँ

कृदन्त

ऊपर जिन भूतकालिक रूपों पर विचार किया गया है, उनमें से केवल वर्तमान-कालिक कृदन्त, और भूतकालिक और भविष्यत्कालीन क्रियामूलक विशेषण आधुनिक काल तक आते हैं। पाली में तो वैसे ही भविष्यत् कृदन्त नहीं मिलता (ग्री० हॉपाक्स् मरिस्सं कर्म०, तुल० सतीमं जो सतिमा का कर्म० है)। प्राचीन पूर्ण० कृदन्त केवल क्रिया-रूप के स्फुट रूपों में अधिक मिलता है : विद्वा; नये प्रकार विदु, विद्दु वास्तव में विशेषणों के हैं; -तवन्त्- युक्त विशेषणों के समीप -ताविन्- युक्त तुल्य रूप हैं, जिनसे यह प्रकट होता है कि वे कृदन्तों की अपेक्षा विशेषणों की भाँति अधिक हैं : भुत्तवन्त्- और भुत्ताविन्-, तुल० ऋ० मायावन्त्- और मायाविन्-। किन्तु दोनों रूप बहुत कम मिलते हैं : साथ ही भूत को प्रकट करने के लिये -त- युक्त क्रिया से एक सरल और लचीली प्रणाली प्राप्त होती है; और इस भूत० के -त- के साथ अशोक० -तव्व-, पा० -तब्ब- भविष्यत् में आकर इकट्ठे हो जाते हैं। किन्तु इसका एक गंभीर परिणाम निकलता है : सामान्य क्रिया में वर्तमान० सकर्मक है या अकर्मक; किन्तु भूत० और भविष्य० कृदन्त अनिवार्यतः अकर्मक या कर्मवाच्य होते हैं; तब से, वर्तमान सकर्मक के मुक़ाबले में, भूत० और भविष्य० अनिवार्यतः कर्मवाच्य रचना के होते हैं। यह द्वित्व आधुनिक क्रिया के मूल में है।

इसके अतिरिक्त भूत० और भविष्य० "कृदन्तों" का महत्त्व वर्तमान के आधार पर अंकुरित होता है, और वर्तमान० कृदन्त, जो प्राचीन भाषा में तथा साथ ही मध्य-कालीन भारतीय भाषा में कभी पुरुषवाचक क्रिया का स्थान ग्रहण नहीं करता, तुल्य होकर समाप्त हो जाता है।

वर्तमान० कृदन्त

रूप :

वर्तमान० कर्तृवाच्य कृदन्त, जो पाली में प्राचीन रूप-रचना को सुरक्षित रखता ही है (पु० एक० कर्त्ता० तिट्ठं, कर्म० तिट्ठन्तं बहु० संबंध० तिट्ठतं) पूर्णतः विकरण-युक्त संज्ञा-रूप में चला जाता है (प्रा० पु० एक० जाणन्तो, बहु० जाणन्ता) और यही नवीन रूप है जो इस महाद्वीप की आधुनिक भाषाओं तक चला आता है, चाहे साक्षात् रूप में : पु० असत्, दें̐त्, करीत्, करिजत्; तुलसीदास सुनत्[अ] पूजिअत्[अ]; बुन्देली जात्, देत्; ब्रज पु० मारतु, स्त्री० मारति, आदि; चाहे (और यही रूप है जिसने सामान्यतः पहले का स्थान ग्रहण किया है) व्याप्ति-युक्त सहित : हिं० पु० एक० कर्ता, पु० राज० करतौ, कीजतौ, (तुल० प्रा० किज्जइ, सं० क्रियते), पुरानी गुजराती पठतौ, पठीतौ, उड़िय। देखन्ता; -न्त्- के पश्चिमी प्रयोग सहित : पं० मारेन्दा, मारन्दा, मारूदा, सिंधी हलन्दो, मारीन्दो। मैयाँ में अव्यय वर्तमान है कुटान्त् "मैं पीटता हूँ, तू पीटता है, हम पीटते हैं, आदि", दिंत् (*देन्तो) "वह देता है", जो निस्सन्देह उसी कृदन्त पर आधारित है; इसके विपरीत कश्मीरी में कोई समान रूप नहीं है, और महानय-प्रकाश (ग्रियर्सन, § २४३, तुल० § २४०) में संकेतित -अन्द युक्त कृदन्तों के कर्त्ता० बहु० संभवतः, इसके विपरीत, क्रियामूलक प्रथम पुरुष हैं जो उनके रहित नहीं मिलते।

मध्य कृदन्त, जो साहित्यिक मध्यकालीन भारतीय भाषा में प्रचलित थे ही, कुछ आधुनिक रूपों में फिर मिलने लगते हैं। इसलिए गवर्बती मिमान्, सं० म्रियमाण-से (टर्नर, 'पोज़ीशन ऑव रोमनि,' पृ० ३३), कलाश इँमन्, तीमन्। तो भी यह स्वीकार करना चाहिए कि इस कारक में कृदन्त गवर्बती में एक पुरुषवाचक क्रिया-रूप प्रदान करता है : क्योंकि θलीमन् कृदन्त है θलीमेम्, θलीमेस् का, और फलतः वर्तमान θली-म्-का एक विकरण है जो θली-म्- भूतकालिक विकरण θली-त्- के प्रतिकूल है, जिसका जो -त्- संस्कृत -त- को बनाये नहीं रखता, जिसे मी (मृत-) से जाना जा सकता है, अथवा जो ब्लिए (भ्रातृ-) के प्रतिकूल है। क्या यह याद दिलाना आवश्यक है कि ईरानी परचें्इ में एक -अमान् युक्त पूर्वकालिक कृदन्त (ख़रमान्) है, जो यद्यपि अस्पष्ट है?

अविकरणयुक्त रूप, सं० -आन-, साहित्यिक मध्यकालीन भारतीय भाषा में बहुत कम मिलता है। इसलिए यह जानकर आश्चर्य होता है कि उसमें एक भविष्य का भाव प्रकट हो जाता है, वह चाहे ख़ास भारतवर्ष के कर्मवाच्य कृदन्तों में (भूत के अर्थ में) हो, चाहे दर्द और सिंहली (कन, कपन) में कर्तृवाच्य कृदन्तों में हो : पहले की दृष्टि से, यह स्वच्छन्दतापूर्वक स्वीकार किया जाता है कि -अमान- के प्राथमिक अनुनासिक का

असामयिक लोप हो जाता है, किन्तु उस युग में उसका कोई प्रमाण नहीं मिलता जब कि प्रेरणार्थक का, उदाहरणार्थ -व्- सुरक्षित रहता है; दूसरे की दृष्टि से, पाली में, प्रयुक्त, -अन- युक्त संज्ञाओं में बराबर सोचा जाता है, विशेषतः समासों के प्रथम अंशों की भाँति : द्वीहि पादेहि विचरण-मक्कटं, हेट्ठां वसनक- नागराजा; किन्तु आधुनिक रूपों का विश्लेषण निश्चित नहीं है और दर्द का दीर्घ मात्रा-काल तो कठिन रहता ही है।

कती अचूमन्, विनागन् (क्रियार्थक संज्ञा से निकले) प्रकार में तो उन्हें पहिचानने में और भी संकोच होता है जो अवेल् और अत्ते (जो -अन्त्- युक्त कृदन्त में भली भाँति प्रदर्शित होता है) के साथ सह-अस्तित्त्व प्राप्त करते हैं। अश्कुन वर्तमान अनुनासिक विकरण पर आधारित रहता है, जो जैसा कर्तृवाच्य कृदन्त में वैसा ही अन्य में भली भाँति व्यक्त हो सकता है, तुल० कोन् (-न्ति)। कश्मीरी में एक कर्तृवाची संज्ञा गुप-वन्^{उ} है, स्त्री० वुञ्^{उ}, पु० कश० वसवाने, स्त्री० वाञि, जो क्रियार्थक संज्ञा क्रियामूलक संज्ञा गुपुनु के निकट है, विकृत रूप गुपोन्^{इ}, सं० गोपन- : यह इन रूपों का अव्यय गुपान् के साथ संबंध है जो वर्तमान का निर्माण करने के काम आता है : बोंह् छुस् गुपान् ? यह कहा जा सकता है कि पहलवी -आन् अब भी मध्य रूप में सुरक्षित है; यहाँ यह एक संयोग की बात है, जिसका मूल चाहे प्राचीन हो, चाहे उधार लिये जाने के कारण : यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि इसी क्षेत्र में, ईरानी प्रकार के, -इक् युक्त प्रकार प्रचलित हैं।

पु० राज० -आणौ, उत्तर की गुजराती और दक्षिण की सिंधी -आणो की कर्मवाच्य कृदन्तों (भराणो, मराणो) से उत्पत्ति स्पष्ट प्रतीत होती है यदि इन भाषाओं में -आ- युक्त कर्मवाच्य का रूपमात्र न होता, यदि भविष्यत् के द्योतक समान रूप न होते (सिंधी मारिणो कर्तृवाच्य विकरण से, भीली पड्वानो), यदि अन्त में समान स्थिति से निकलीं स्पष्ट संज्ञाएँ दृष्टिगोचर न होतीं : कबीर की रचनाओं में बिकानो है, किन्तु साथ ही गरबानो भी। इसी प्रकार बंगाली के कर्मवाच्य कृदन्तों को, जो प्रत्यक्षतः -आ- युक्त प्रेरणार्थकों (उधार लिये गये ? इस समुदाय की अन्य भाषाओं में ऐसा नहीं मिलता : उलटे असामी करओंता, खुवाओंता का बंगाली से साम्य नहीं है) से निकले प्रतीत होते हैं, चला, करा प्रकार के नपुं० अर्थ वाले कृदन्तों से निकला हुआ माना जा सकता है :-बंगाली सुखान, हरान; किन्तु साथ ही करान, तथा एक संज्ञा से उत्पन्न : ठेन्- गान।

प्रयोग

यह देखा जा चुका है कि भारोपीय की भाँति संस्कृत में, वर्तमानकालिक कृदन्त वाक्यांश के किसी भी विशेष्य से सम्बद्ध हो जाता है, शब्द चाहे, कम-से-कम सिद्धान्त में,

किसी कारक या किसी वचन में हो। यह स्वतंत्रता संपूर्ण मध्यकालीन भारतीय भाषा-काल से लेकर आधुनिक भाषाओं के प्रारंभ तक बनी रहती है।

अपभ्रंश के उदाहरण :

ध्वन्यालोक, नवम् स० (पिशेल, 'मैटीरिअलेन', पृ० ४५)

महु महु त्ति भणन्त-अहो वज्जइ कालु जणस्सु।

सरस्वती कंठाभरण, दशम स० (वही, पृ० ४९) :

दिट्ठि पिअ पइँ सम्मुह जन्ती।
पिअ पन्थहिँ जन्तउँ पेक्खमि।

भविसत्तकह, एकादश स० :

२१.१ नाहु विरच्चमानु पेक्खन्ती परिचिन्तइ मणि खेइज्जन्ती।

५७.८ पेक्खइ ताम समुद्दि वहन्तइँ. . .जलहन्तइँ।

१५६.३ दिहयइँ तीस् गथइँ चिन्तन्तिए अनुदिणु पुत्तागमणु सरन्तिए।

इस वाक्यांश में यह देखा जाता है कि कृदन्त में एक परिपूरक है।

किन्तु ज्योंही किसी आधुनिक भाषा से काम पड़ता है, कृदन्त केवल मुख्य कारक में मिलता है, अन्त में कर्मकारक के भाव सहित :

दे० बंगाली (कण्ह) :

मूढ अच्छन्ते लोअ न पेक्खइ।
दूध माझेँ लड अच्छन्ते न देखइ।

तुलसीदास :

तब् सखी मन्गल-गान करत्।
आवत् जानि भानु कुलकेतु।
चरन् परत् नृप राम् निहारे।

पु० गुज०

शिष्य शास्त्र पठतौ } हउँ साँभलउँ
शिष्यिई शास्त्र पठीतौ }

जिसके निकट विकृत कारक केवल पूर्ण रचना में हस्तक्षेप करता है :

गोपालिई गाए दोहितिए चैत्तु आविउ (गोपालेन गवि दुह्यमानायाम्)।

यूरोप की जिप्सी-भाषा में कर्त्ता० एक० पु० परोक्ष प्रयोग में बद्ध हो जाता है : हंगेरियन रोविन्डो (ग्रीक और बोहीमियन में कर्त्ता० के -स् द्वारा व्याप्ति : रोविन्डोस्, ज़ोर देने वाली -i द्वारा रूमानियन और जर्मन में : रोविन्डोइ)।

किन्तु जिस समय से कृदन्त किसी भी शब्द के साथ सम्बद्ध होने की प्रवृति नहीं

रखने लगता, उसका कार्य बदल जाता है। ऐसा उदाहरणार्थ मराठी के व्याप्ति-युक्त रूप में देखा जाता है, जिसमें केवल विशेषण अधिक होता है : म० वाहातें पाणी, पु० म० पधियन्ताँ ठायीँ, वाढतें झाड; तथा इसी प्रकार असामी जीयत् माछ् के अव्याप्ति-युक्त रूप में। वह असामी रखोँता, करोँता, गुजराती जता आवता नो जेवो में विशेष्य हो जाता है। प्राचीन भाव प्रदान करने के लिये उसे सहायक क्रिया, विशेषतः 'होना', के कृदन्त के साथ सम्बद्ध करना आवश्यक है; पु० राज० जागतौ हूँतौ, देक्खतौ करतौ; हिन्दी : जरासन्ध् भी यों कहता हुआ उन्के पीछे दौड़ा।

वास्तव में प्राचीन कृदन्त के इसके बाद केवल दो प्रधान कार्य अधिक रह जाते हैं; कर्तृकारक में वह पुरुषवाचक रूपों का स्थान ग्रहण कर लेता है; विकृत कारक में, उससे पूर्ण रचनाएँ उपलब्ध होती हैं।

१

नामजात वाक्यांश के सिद्धान्त की दृष्टि से यह निश्चित है कि वर्तमानकालिक कृदन्त स्वयं अपनी वर्तमानकालिक क्रिया का भाव रखे। वास्तव में, यह केवल बाद को होता है और संभवतः भूतकालिक कृदन्त के साथ सादृश्य के कारण। पुरानी मराठी में मिलता है :

उदक तें आखण्ड असत।
तेथ तिन्ही लोक डल्मलीत।
तेथ समुद्रजल्[अ] उसलत्[अ] कैलासवरी।

और व्यप्ति-युक्त रूपों के साथ : मी कर्ता (पु०), ती होती, ते मर्ते।

तुलसीदास की रचनाओं में :

राउ अवधपुर चहत सिधाए।
सिराति न राति।

इसी प्रकार सिन्धी कविता में है।

दर्द (दे० ऊपर) और पंजाबी (डोग्रा, आउँ मार्दा) को छोड़ कर यह प्रयोग आज दुर्लभ है; यह देखा गया है कि वास्तविक वर्तमान का भाव एक सहायक के जुड़ जाने से प्राप्त होता है। इसके विपरीत कुछ भाव अनिश्चितता के अर्थ से निकलते हैं, अर्थात् अनद्यतन भूत० और भविष्यत्।

भविष्यत् का भाव सिन्धी में देखा जाता है : हलन्दो, हलन्दी; हलन्दा, हरलन्दिउँ। उत्तम और मध्यम पुरुषों में पर-प्रत्ययों द्वारा गुण निर्धारित होने के संबंध में, दे० आगे।

हिमालय में, जौनसारी पु० मार्दा, स्त्री० मार्दी भविष्यत् के सभी मध्यम और

प्रथम पुरुषों में काम आते हैं। किउँथली में इस रूप का विशेष्य वाला भाव है और वह नकारात्मकता सहित संभावना का भाव ग्रहण कर लेता है :

माह्रे निँह् दन्दो।
तेरे निँह् डेउन्दो आन्थि।

यहाँ मैथिली-मगही समुदाय के प्रथम पुरुष की, और पूर्वी बंगाली में भविष्यत् के मूल की गणना करना आवश्यक है : से देखत्।

दूसरी ओर अपभ्रंश द्वारा अनद्यतन भूत का भाव प्रमाणित है; उदाहरणार्थ पिशेल कृत 'मेटीरिअलेन' का छन्द X देखिए, जो एक वर्णन है, अथवा भविसत्तकह् का यह वाक्यांश जिसमें दो प्रकार के भूत० परस्पर विरोधी रूप में आते हैं, २९४, ५ :

जो चिरु अग्गिमित्तु दिउ होन्तओ, सो एउ तिलयदीउ संपत्तओ

इसी प्रकार पुरानी राज० में :

भरथ नै दिनंप्रति ओलम्भौ देती।

उसी से गुजराती प्रवृत्ति भूत० (चल्तो) और हिन्दी अपूर्ण (चल्ता) हैं।

किन्तु प्राकृत और अपभ्रंश में एक भाव मिलता है, जो अनिश्चित और भूतकाल के योग का परिणाम है : यह अवास्तविक संभाव्य है। अपभ्रंश के लिये, दे० भविस०, पृ० ४१* तथा पिशेल, 'मेटीरिअलेन', पृ० ११, छन्द ३५१।

पु० राज० :

जै राग द्वेष न हुत, तौ कौँण जीव दुःख पामत।

तुलसीदास :

जौँ पै जिअ न होति कुटिलाई।
होत जनम न भरत को।

गुजराती :

जो तये आन्धला होत्, तो तम्ने पाप् न होत्।

पंजाबी :

जो मैँ घल्ल्दा।

हिन्दी :

जदि मैँ जान्ता, तो कभी नहेँ जाता।

मराठी में प्रत्ययों के कुछ अंश से वर्तमान के संभाव्य का भेद किया जाता है : पु० म० लरि मी न म्हणता जरि न देखता; यह वर्तमान से भिन्न है : करितो (विस्तार के लिये देखिए अंत में दोदेरे, बी० एस० ओ० एस०, पृ० ५६५)।

मैथिली में भी बराबर क्रियारूप-युक्त संभाव्य मिलता है : पु० मै० देखितहुँ,

करैतन्हि; वास्तव में, जब कि प्रत्यय प्रथम० एक० पु० -अत्, स्त्री० -अत्[इ] वर्तमान को निश्चित कर देता है, तो -ऐत्, स्त्री० -ऐत[इ] युक्त संभाव्य को निश्चित कर देता है। बंगाली में (मध्यकालीन बंगाली से आगे) एक तुलनीय रूप मिलता है :

डुबिआँ मरितोँ जबे ना थाकित कान्हे।

इसी प्रकार उड़िया में है, और असामी के निश्चित कृदन्त हँते-न् में उनका चिन्ह विद्यमान है, जो उसे भूत० से सम्बद्ध करते समय क्रिया को संभाव्य का भाव प्रदान करता है।

२

सस्कृत और मध्यकालीन भारतीय भाषा में स्वच्छन्दतापूर्वक, अनुकूल कृदन्त से युक्त, गौण कारक में विशेष्य का प्रयोग होता है, जिसमें अप्रत्यक्ष पूर्व सर्ग का भाव निहित रहता है (लुप्त समुच्चयबोधक के फल-स्वरूप प्राप्त पूर्ण कर्त्ता० दुर्लभ है)। जो कारक वेद में आया है वह अस्थायी भाव वाला अधिकरण है : प्रयत्य् अध्वरेँ, उछँन्त्याम् उर्षसि, सूर्ये उदिते। ब्राह्मण ग्रन्थों में कुछ मनोवैज्ञानिक भाव प्रकट होते दिखायी देते हैं : वर्षति, रात्र्यां भूतायाम्। इसी प्रकार पूर्ण संबंध०, जो इन्हीं पाठों में दृष्टिगोचर होता है, बाद को 'अनादरे' भाव ग्रहण कर लेता है : रुदतः प्राव्राजीत्; किन्तु यह एक गौण विकास है। पाली में नियमित रूप से अत्थं गते सुरिये, गच्छन्तेसु सकटेसु।

आधुनिक भाषाओं में यह प्रणाली सुरक्षित बनी रहती है कि विचित्र विकृत रूप स्वभावतः प्राचीन अधिकरण का स्थान ग्रहण कर लेता है। ऐसा प्रायः विकृत रूप पु० एक० से होता है :

पु० राज० :

मेघि वरसतइ, मोरा नाचइँ।
गोपालिइँ गाए दोहितीए चैत्तु आविउ।

तुलसीदास :

देखत् तुम्ही नगर जेहि जारा।

उड़िया :

चलन्ते मेदिनी कम्पैँ।

प्रधान पूर्वसर्ग के कर्त्ता, वास्तविक या अर्थानुकूल (न्यायानुकूल), में व्यवहार द्वारा कृदन्त का लोप हो जाता है, किन्तु बिना उसके साथ साम्य रखते हुए; तो फिर पूर्ण रचना तक ही अपने को सीमित रखना पड़ता है :

मुहम्मद जायसी :

जो भूले आवतहि।

पु० बंगाली :

चलितेँ चलितेँ तोर रुणुझुणु बाजे ।

बंगाली :

से नाचिते नाचिते आसे ।

हिन्दी :

हम गाते गाते सीती हैं ।

इसी प्रकार नेपाली जान्दा (विकृत०), जाँदै (अधि०), उड़िया देखन्ते, आसामी चाइ थाखोँते।

इस प्रकार कृदन्त सचमुच क्रियामूलक संज्ञा हो जाता है, जो एक उपासर्गात्मक अव्यय द्वारा निर्धारित होने की संभावना रखता है : मार० आव्ता नै (तुल० बाप् नै); नेपाली ती छोरा घेरै फ़रकै छाँदा-मा तेस्को बबुले देखि; एक विशेषण द्वारा निर्धारित होने की संभावना रखते हुए भी : लखीमपुरी हमारे खात्[इ] मा दुन्दु न मचाओ; लहंदा मेरे आँदेआँ मोएअ।

यह रचना उस भूतकालिक कृदन्त के सदृश है जो प्राचीन काल से विशेष्य रूप धारण करने की क्षमता रखती है। इससे बंगाली क्रियार्थक संज्ञा की व्याख्या की जा सकती है : जाइते छि; से ताहाके मारिते लागिल; से पड़िते बसिया छे (वस्तुतः 'पढ़ते हुए'; तुल० आशयसूचक भाव के लिये किउँठली सीव्लेउन्दे); से चलिते पारे; जाइते दओ तथा फलतः ताहाके जाइते देखिलाम्, जिसमें जाइते का ताहाके के साथ एकान्वय मानने की आवश्यकता नहीं है, उदाहरणार्थ हिन्दी में मैंने लड़के को चल्ते हुए देखा की भाँति।

मराठी, गुजराती और राजस्थानी में बहु० विकृत० के समान प्रयोग मिलते हैं :

मराठी :

तो चल्ताँ चल्ताँ खाली पड्ला ।

त्याला खेल्ताँ म्याँ पाहिलेँ; ।

कर्त्ता भिन्न-भिन्न रहने पर, कृदन्त का क्रिया 'होना' के कृदन्त के विकृत रूप के साथ प्रयोग स्वच्छन्द रूप में होता है :

आयी खेलत् अस्ताँ, तो आला ।

मी काम् करीत् अस्ताँ, आपण् काँहीँ करीत् नाही; ।

परसर्ग सहित :

म्या जेविताँ ना तुझी चिठी वाचून् टाकिली ; ।

तुला हेँ काम् कर्ताँ ना येत् नव्हेत्; ।

गुजराती (अधिक संदिग्ध, क्योंकि बहु० के कर्त्ता० और विकृत रूप समान हैं) :

वधाँ छोक्राँ वात् कर्ताँ जाय् ने खाताँ जाय्;

मारवाड़ी :

माह्रो माल् मगाव्ताँ घड़ी न कर्सी जेज्।

सान्निध्य के रूप

ऊपर उल्लिखित, कर्त्ता० में कृदन्त की पुरुषवाचक रूप के साथ तुल्यता आधुनिक भाषाओं के विशेषतः प्राचीन काल में प्रमाणित है। समय के साथ-साथ उनमें से कुछ में ये कृदन्त क्रिया-रूपों में मिल जाते हैं अथवा क्रियामूलक प्रत्ययों के आवरण में आते हैं।

इस प्रकार कुछ प्रभावपूर्ण वर्तमान उत्पन्न होते हैं जो उस प्राचीन वर्तमान का स्थान ग्रहण कर लेते हैं जिसने अनिश्चित का भाव ग्रहण कर लिया था। पृथक्त्व पा० अच्छति (सं० आस्ते का उत्तराधिकारी) के वर्तमानकालिक कृदन्त के साथ सान्निध्य में पाया जाता है, और बाद को ऐसी अभिव्यंजनाओं में जैसे अप० जा अच्छइ पेच्छन्तु। उदाहरणार्थ, पु० मराठी में हैं : म्हणत् आहासि, म्हणत् असे, तो असे बोलत (अपवाद स्वरूप क्रम), गलती आहे, कारितें (बहु० नपुं०) आहाति।

तुलसीदास : जानत अहौं, जानति हौं, जानते हौ।

इसी प्रकार हिन्दी होते हैं, नैपाली भन्द छन; सिंधी मारिन्दो आहिआँ, लहंदा मारेन्दा हाँ, पं० मार्दा (मार्ना) आँ; नूरी जान्दो मि। क्रिया हो- सहित विशेष अर्थ : पं० जान्दा होवाँ (किन्तु, जान्दा हुन्दा, है), सिंधी मारीन्दो हुआँ, गु० हुँ उत्रतो होवुँ (वही उतरुँ जैसा भाव) जो उतरुँ छुँ से भिन्न है।

इन सूत्रों की स्थिरता के कारण कुछ अंश आपस में जुड़ गये हैं : पु० म० देखतासि, देखताति, लहंदा मारेनाँ जो मारेन्दा आँ के निकट है। सिंधी भविष्यत् में. क्योंकि अनुकूल पड़ता है, प्रथम पुरुष में कुछ विशुद्ध नामजात रूप हैं : हलन्दो, हलन्दी, हलन्दा, हलन्दियू; किन्तु (स्त्री० बहु० को छोड़ कर) मध्यम पुरुष में स्वर-संधि के फलस्वरूप क्रियामूलक प्रत्यय हैं : हलन्दें, हलन्दिएँ, (हलन्दो, -दी आँहें से), हलन्दो (हलन्दा आह्यो); और यहाँ सं० अस्मि, स्मः से निकली क्रिया 'होना' को छोड़ कर,

ऐसा ही उत्तम पुरुष में पाया जाता है : एक० पु० हलन्दु-स्^ए, स्त्री० हलन्दि-अस्^ए; तुल० आन्दुस् जो *आन्द्-आहो-स् से है; बहु० हलन्दा सूँ अथवा सी (ई के प्रभावान्तर्गत, यह दूसरा रूप, जो मूलतः स्त्री० कृदन्त था, सभी क्रियाओं में प्रसारित हो जाता है); शिना में भी इसी प्रकार का विभाजन मिलता है : १ एक० हनु-स्, हनि-स् (*भवन्तो-स्मि,

*भवन्ती-स्मि), बहु० हने-स्; २ एक० हनो, हन्ये, बहु० हनेत्(स्थ); ३ एक० हनु, हनि, बहु० हने।

पूर्वी समुदाय में, जिसमें विकृत रूप कृदन्त ने नामजात या क्रियार्थक संज्ञा का भाव धारण कर लिया है, क्रिया 'होना' के साथ विन्यस्त होने की प्रवृत्ति प्रकट होती है : बंगाली चलिते छे "वह चल रहा है, वह चलने को है, वह चलता है"; कहने को वास्तव में तुलनात्मक दृष्टि से बंगाली में वह हाल की रचना है, किन्तु १५ वीं शताब्दी में असामी-लेखकों की रचनाओं में उसके प्रमाण मिलते हैं।

इसी प्रकार संभवतः प्राचीन मैथिली में :

गोड़् लगैत छी पईयाँ परैत छी। आधुनिक मैथिली में, मगही में, भोजपुरी में अत्यन्त विकसित "क्रिया-भाव" सहित।

लखीमपुरी में भी, कम-से-कम एकवचन में, यही सूत्र मिलता है : देखत् इ हउँ; तु, वा देखत् इ हइ, लिंग से मुक्त; किन्तु बहुवचन में स्त्री० मध्यम और प्रथम पुरुषों में देखा जाता है : देखेती हउ, हइँ, (तुल० अपूर्ण में देखती रहउ, रहइँ), भविष्यत् में देखेती होइहउ, होइहइँ, संभाव्य में देखेती होतीउ, होतिँ। "भूत० संभाव्य" में कुछ योगात्मक रूप पाये जाते हैं : देख्तेउँ, देखते(ह्)उ।

केवल भारत के मैदानी हिस्सों में, गुजराती और राजपूती बोलियों में कृदन्त के आधार पर निर्मित वर्तमान का अभाव मिलता है; किन्तु प्राचीन पाठों में वह समुदायगत मिलता है : वाद करितौ छै, नास्ता छैँ।

जिप्सी-भाषा ही एक ऐसा महत्त्वपूर्ण समुदाय है जिसमें वर्तमान० कृदन्त क्रिया-रूप से अलग हो जाता है। तो भी फ़िलिस्तीन की जिप्सी-भाषा में क्या विधेयात्मक पर-प्रत्यय एक० -एक्, बहु० -ऍन् (ईरानी से उधार : फ़िलि० -आक्, ओसेट, -ॲक्, -ॲग्) है, जो कृदन्त और क्रिया का एक साथ काम देता है :

जन्द्-एक् "वह जानता है" (तुल० अम जन्दो-मि "मैं जानता हूँ")।

पन्जी आतेक् लहेर्दोस् मे ओ।

ज़रो कुर्सेतोत्-एक् "लड़का छोटा है" (कुर्सेतोत् ज़रो "छोटा लड़का")।

लचिं कुर्सेतोंत्-एक् "लड़की छोटी है"।

भूतकालिक कृदन्त

रूप :

सीधे धातु से निकलने के कारण, संस्कृत में इसके अत्यधिक विविध रूप हुए जिनका वर्तमान० विकरणों से कोई संबंध नहीं था : भूत-(भवति), पतित-(पतति), जात-

(जायते, जानयति), ज्ञात-(जानाति), कान्त-(कामयति), पीत-(पिवति-), भृत-(भरति), भक्त- (भजति), पृष्ठ- (पृछति), इष्ट- (इच्छति तथा यजति), मित-(मिनोति), नद्ध- (नह्यति), भिन्न- (भिद्यते, भिनत्ति) आदि। केवल सावित क्रिया का -इत- युक्त (चोदित- : चोदयति) निरंतर मिलने वाला रूप है जो किन्तु कुछ सामान्य या मौलिक क्रियाओं तक प्रसारित हो ही जाता है (चरित : चरति आदि)।

सामान्यतः परिवर्तन-क्रम का परित्याग तथा स्पष्ट रूपों की खोज, और अधिक विशेष रूप से क्रिया में वर्तमान० विकरण की प्रमुखता और कृदन्तों वाले क्रियामूलक विशेषणों का सामंजस्य, इन सब बातों का परिणाम हुआ मध्यकालीन भारतीय भाषा में रूपों का पुरोगामी सामान्यीकरण : -इत- का प्रचार पाली में हो जाता है और प्राकृत में उससे -इद-, -इअ- मिलते हैं : पा० पुच्छित- जो प्राकृत पुच्छि(द्)अ, द्वारा जारी रहता है, पुट्ठ- के निकट दृष्टिगोचर होता है जो जैन धर्म-नियम में भी सुरक्षित है (पृष्ट-); प्रा० जाणिअ- सं० ज्ञात- का स्थान ग्रहण कर लेता है, आदि।

तो भी प्राकृत में "विशेष" कृदन्तों की कुछ संख्या बनी रहती है, जिनमें कुछ नये रूप और जुड़ जाते हैं जैसे पक्क-(पक्व-), मुक्क-(*मुक्न ? मुक्त- अन्य कृदन्तों से सान्निध्य-प्राप्त कश० -मोत्[उ] में फिर मिलता है), दिण्ण- (पा० दिन्न-) जो दत्त- के लिये है (एक लुप्त वर्तमान *दिदति के अनुकरण पर ?)। आधुनिक भाषाओं वे फिर मिलते हैं, और साथ ही उनमें कुछ वृद्धि हो जाती है : ये कृदन्त सिंधी में बहुत हैं, लहंदा और पंजाबी में कुछ कम; कुछ गुजराती में हैं; 'लिंग्विस्टिक सर्वे' की संबंधित जिल्दों में उनकी सूची मिलेगी। कश्मीरी में हैं गौव्, गव् (क्रियार्थक संज्ञा गछुन; सं० गत-, गच्छति) आव् (आव्) (आगत्-), मोंयोंव् (मृत-), दोद्[उ], तुल० शिना दोदुॅ (दग्ध-), ब्यूठ्[उ], तुल० शिना बेटु (उपविष्ट-), ड्यूठ्[उ] (दृष्ट-), मोठ्[उ] (मृष्ट-), मुतु, तुल० शिना मुतु- (मुक्त-); अश्कुन में हैं ग्ऍ (गत-), चे (कृत-), प्रौत्अँ, [कती प्त, वैगेलि प्रत "उसने दिया" (प्राप्त-), निर्सिन (निषिण्ण-)]। जिप्सी-भाषा में : नूरी गर, यूरो० गिलो (गत-), नूरी सित, यूरो० सुतो (सुप्त-); सिंहली : कल् (कृत-, पा० कत-), मल् (मृत-), दुट्ठु (दृष्ट-, पा० दिट्ठ-), गिय (गत-) दुन् (पा० दिन्न-)। मराठी में ये कृदन्त -ला, क्षीण कृदन्त का पर-प्रत्यय द्वारा व्याप्ति-युक्त हो जाते हैं : गे-ला, मे-ला, जा-ला, पात्-ला; हिन्दी में भी बराबर है गया (गत-), एक संस्कृत अनुनासिक धातु से, तथा -ऋ- की धातुओं से, किया (कृत-), मूआ (मृत-); कुछ प्राचीन कृदन्तों ने क्रियाओं के विकरणों का काम दिया है, मराठी लाध्- (लब्ध-), मुक्- (प्रा० मुक्क-), हिं० बैठ्-

(उपविष्ट-) आदि। उससे नामजात वर्ग से बाहर समुदायों और पुनर्निर्मित रूपों का निर्माण हुआ है : जैसे पु० हिं० दीन्ह (प्रा० दिण्ण-) ने, तुल० म० दिन्हला, कीन्ह, लीन्ह, पान्ह के आदर्श के रूप में काम दिया है; किन्तु दीध और कीध का निर्माण लीध- के, लीन्ह- और पा० प्रा० लद्ध- सहित पं० लद्धा, सिंधी लधो द्वारा प्रमाणित, अनुकरण पर होना चाहिए।

वहीं जहाँ ये दृष्टिगोचर होते हैं, इन प्राचीन कृदन्तों की प्रतिद्वन्द्विता में सामान्यतः सामान्य रूप आते दिखायी देते हैं। जिनका निर्माण वर्तमान० विकरण से होता है वे संस्कृत -त-, -इत के प्रतिनिधियों का अनुसरण करते हैं; पु० राज० कहिउ (कथित-), थिउ (स्थित-) के निकट थयउ; सिंधी मार्‌यो, पं० मार्‌या, ब्रज मार्‌यौ, हिं० मारा; कश० गुप्‌उं, गुप्‌योव्, छु (*अच्छ- "होना" से); इसी प्रकार शिना और काफ़िर में है (अश्कुन मुचूँओं); नूरी में पर-प्रत्यय -र्- रूप के अन्तर्गत, -ल्-, जिसकी आगे उल्लिखित पर-प्रत्यय के साथ गड़बड़ हो गयी है, के अन्तर्गत यूरो० जिप्सी-भाषा में : जिससे है नूरी क़ेर, यूरो० खलो (खादित-)।

प्राकृत में स्वच्छन्द रूप में पर-प्रत्यय -इल्ल- का प्रयोग हुआ है (-वन्त्- के तुल्य सं० -इल- का रूप, पाणिनि ५.२.९६-९७; -अल-, -इल- संभवतः अभिव्यंजक, वही, ९८-९९) और जैन प्राकृत विशेषतः इस पर-प्रत्यय को कृदन्तों का व्याप्ति-युक्त रूप प्रदान करती है : आगएल्लिया; उसके आधुनिक रूप मराठी में निरन्तर मिलते हैं (देखिला, गेला), बहुत कम गुजराती में (-एल्, -एलो रूप के अंतर्गत), नियमित रूप से बिहारी (मैथिली देखल्, पीउल्, भेल्, मरल् अथवा मुइल्), बंगाली (देक्खिल, गेल), और उड़िया में (देखिला), निस्सन्देह शिना में (बुलु जो बूँउ, सं० भूत- के निकट है, टर्नर, बी० एस० ओ० एस०, पृ० ५३४), यूरोप की जिप्सी-भाषा में (अचिलो, सुतिलो बंगाली सुतिल् की भाँति, दीनिलो जो दिनो "दिया गया, मारा गया" के निकट है), पुरानी हिन्दी में (कबीर पुच्छल, बाधला), ग्रामीण हिन्दी में (गयला, बेच्‌ला)। लहंदा में यह पर-प्रत्यय क्रियार्थक संज्ञा के आधार पर निर्मित कर्तृवाची संज्ञा के लिये सुरक्षित है; मार्‌णाला, मारणेआला, तुल० हिन्दी गैल्।

प्रसंगवश यूरोप की जिप्सी-भाषा की व्याप्ति -दो, अश्कुन -द, का भी उल्लेख करना आवश्यक है, जिसकी व्युत्पत्ति अनिश्चित है; द- कृदन्त सहित सान्निध्य, जिसकी ओर संकेत किया जा चुका है, इस भाव को लेकर चलता है : हिं० निकाल देना जो निकाल्‌ना के समीप है; किन्तु कुछ कठिनाइयाँ हैं। प्रत्येक परिस्थिति में रूप प्राचीन है, क्योंकि उधार लिये गये शब्दों में यूरोप में ग्रीक से लिया गया एक विशेष कृदन्त है : बलन्सिमेन। शिना में -दु-युक्त भूत० की एक श्रृंखला है; पसौंदु, चरीदु, बिलादु (बिलिझें-, सं० विली-

यते); यह निश्चित नहीं किया जा सकता कि यहाँ ऐसा बदु, ददु (बद्ध-, दग्ध-) के विशेष प्रकार का प्रसार हो गया है।

प्रयोग

आधुनिक भाषाओं का सूत्रपात होने के समय, भूत० की पुरुषवाचक अभिव्यंजना नहीं थी; -(इ)त- युक्त संस्कृत विशेषण से निकले क्रियामूलक विशेषण ने उसका स्थान ग्रहण कर लिया था। यह देखा जाता है कि फल के रूप में क्रिया के अकर्मक या सकर्मक होने से शकल बदल जाती है; दूसरे कारक में पूरक कर्त्ता हो जाता है, और न्यायानुकूल कर्त्ता का प्रचार होना चाहिए गौण कारक द्वारा, करण० द्वारा, यदि वह हो तो। अपभ्रंश (सनत्कु० ६७२) के इस दोहे में दोनों रचनाएँ मिल जाती हैं :

तुहुँ कहिँ गइय चइउ ममं ति भणन्तु।
दिट्ठिउ विण्हुस्सिरिजुइण निवइण कह वि भमन्तु।

पु० मराठी :

हे कीर्ति. . .आली तुज।
म्याँ अभिवन्दिला श्रीगुरु।

पु० राज० :

हउँ बोलिउ (दो पु० कर्त्ता०)।
राजकन्या मैं दिठी (मया दृष्टा)।

तुलसीदास :

सो फलु हम पावा।
मैं गुरु सन सुनी कथा।

भाषाओं के कुछ प्राचीन पाठों में भी ऐसी ही रचनाएँ मिलती हैं। ऐसे पाठ अब नष्ट हो गये हैं :

पु० मैथिली :

शङ्करे गोरी करि घरी आनली।

पु० बंगाली :

'शुणिली काहिणी'।

जहाँ सकर्मक क्रिया का पूरक व्यक्त नहीं होता, वहाँ क्रिया नपुं० में रहती है :

सं० महा० : कुरुष्व यथा कृतम् उपाध्यायेन।
प्रा० मृच्छ० : सुट्ठु तुए जाणिदां;
पु० म० : अर्जुनें म्हणितलें।

जिन भाषाओं में नपुं० नहीं है, पु० ने उसका स्थान ग्रहण कर लिया है : हिं० गोपाल् ने जाना कि......

इस प्रकार की रचना को क्रिया के कृदन्त के अधिकाधिक निकट पहुँचने का लाभ है, और इस रूप में उसकी नामजात एकरूपता विलीन हो जाती है। राजस्थानी में वह अकर्मक क्रिया में मिलने लगता है :

मारवाड़ी : मैनकिऐ डव्रै गयो।

मालवी : छोटा लड़काएँ चल्यो गयो।

दूसरी ओर, व्यक्त पूरकयुक्त सकर्मक क्रियाओं में उसका प्रयोग होता है। यही बात फिर पूरक की विशेषता बताने वाला प्रत्यय ग्रहण कर लेता है :

पु० राज० :

श्रवकिइँ देव पूजिउँ (श्रावकेन देवाय पूजितम्, न कि : देव : पूजितः)।

और अभी हाल तक, निर्धारित संज्ञाओं की साक्षात् रचना-सहित : पंजाबी :

उन्हाँ नै कुड़ी नू मारिआ।

राजा ने इस बात् को बताया "राजा द्वारा यह बात बतायी गयी, राजा ने यह बात बतायी" (राजा ने यें बात् बतायी, के निकट)।

मर्द्ने सैंरों को मार् डाला।

मराठी (इधर का और विद्वत्तापूर्ण; केवल चेतन होने की संज्ञा सहित) :

त्या नें रामास् मारिलें (राम मारिला के निकट) "उसने राम को मारा है।"

अंत में दोनों रचनाएँ परस्पर मिल जाती हैं और कृदन्त कर्तृवाची के रूप में व्यक्त कर्त्ता के साथ साम्य रखता है। गुजराती में ऐसा निरंतर होता है, मराठी में अक्सर, राजस्थानी में कभी-कभी। उदाहरण :

गु० तेणे ए राजाए पकड्यो।

तेणे राणी ने नसादी मुकी।

पु० राजस्थानी में है ही :

सुन्दरी नै भरतै रखी।

म० त्याणे आप्ल्या मुल्गास् शालें॑त् पाठविला।

यह दुरूह रूप अन्यत्र प्रमाणित नहीं होता; परंपरागत रचनाओं की शक्ति बताने की दृष्टि से वह रोचक है, क्योंकि उदासीन कृदन्त-युक्त वाक्यांश प्रकार में साम्य फिर स्थान प्राप्त करता है।

इस रीति की प्रधान अपूर्णता पुरुष का अनिर्धारण है।

आधुनिक भाषाओं में, और कुछ में एक साथ ही, उन दो रीतियों का आश्रय ग्रहण

किया गया है जिनका प्रयोग संस्कृत में न्यायानुकूल कर्त्ता या व्याकरणीय कर्त्ता प्रकट करने के लिये हुआ था।

१. भाषाओं में जहाँ प्रत्ययांश रूप हैं वहाँ सर्वनाम काम आता है। इस प्रकार क्रिया "होना" के लिए नूरी में है एक० १ असँतोम्, २ असँतूर जिनमें कृदन्त असँतो (स्थित- ?) है जिसके पश्चात् -म् और -र् है। संभवतः यह मुख्यकारक है (अम, अतु से पूर्ण रूप), यद्यपि -म् और -र् का सामान्य प्रयोग कर्मकारक का होना चाहिए।

सिंधी में मुँमारिओ (मारी) "मैंने उसे मारा है" का प्रयोग होता है। किन्तु साथ ही जब उसमें कहा जाता है पिउ-म्ए, देखिए चिओ-माँ-स्ए "यह कहा गया है —मुझसे— उसको", तो विकृत रूप सर्वनाम सीधे कृदन्त में हो जाता है: मारिउ-म्ए "मैंने उसे मारा है", मारिआ म्ए "मैंने उसे मारा है (स्त्री०)"।

यही प्रणाली लहंदा और कश्मीरी में है (जिसमें क्रियाओं-सहित केवल प्रत्ययांश-युक्त सर्वनाम हैं) :

म वुछ्योव अथवा वुछ्योम्।
में वुछ्येयें अथवा वुछ्येयेंम्।

गुपुम् गुप्उँम् "मैंने उसे छिपा दिया है", गुपिम् गुपेंम् "मैंने उन्हें छिपा दिया है", गुपुथ् गुप्उंथ् "तूने उसे छिपा दिया है" आदि।

यही प्रणाली, कम-से-कम आंशिक रूप में, चितराल की दमेली में भी है: एक० १ कुरु-म्, २ कुरो-प् (-प् सं० -त्वा से) जो प्राचीन वर्तमान १ कुरिम् २ कुर्दृ से भिन्न हैं।

बंगाली में भी एक सर्वनाम (प्राचीन एक० हउँ अथवा बहु० आमि) उत्तम पुरुष में पाया जाता है : पु० बंगाली पड़िलहों, आधुनिक पड़िलाम्। रूपों की कठिनाइयों के अतिरिक्त, इस अनुमान के अंतर्गत उलटे सामान्य प्रयोग में प्रत्ययांश-युक्त सर्वनामों का अभाव मिलता है।

२. अत्यन्त सामान्य सूत्र है कृदन्त में सहायक क्रियाओं की अनुबंधता, जिससे सामासिक रूपों की रचना पर इकट्ठे आगे विचार किया गया है। सहायकों में क्रिया अस्- ने, जिसका आदि विशेषतः स्वर-संधि या स्वर-वर्ण-लोप की प्रवृत्ति रखता था, शीघ्र ही कृदन्तों के साथ योग स्थापित करना शुरू कर दिया। पाली में आगतो'म्हि, गतासि, वुत्थ्'अम्ह का प्रयोग हुआ है; और कर्मवाच्य में मुत्त्'अम्हि; दन्त्'अम्ह; और साथ ही सकर्मक भाव सहित : पत्तो'सि निब्बाणं। किन्तु ये वाक्य-विस्तार

व्याकरण की प्रणाली में प्रवेश नहीं कर पाते; वे कृदन्तों से अथवा साथ के क्रियामूलक विशेष्य से बने हुए अन्य रूपों के साथ आते हैं, तिट्ठति, चरति, वत्तति ; हर कारक में वे अतीत के ह्रास-सहित पाली में बराबर-बराबर चलते हैं। किन्तु प्राकृत में परिस्थिति बदल जाती है। मृच्छकटिक में, क्रियाविहीन प्रथम पुरुष में मिलता है :

पपलीणु
अलंकारओ तस्स हत्थे णिखित्तो ।

किन्तु मध्यम पुरुष में :

गहिदो सि।
नामं से पुछिदासि।
तुल० तुमं मए सह. . .उज्जाणं गदा आसि।

तथा उत्तम पुरुष के स्त्री० में :

अज्जाए गदम्हिं (पूर्ववर्ती वाक्यांश की गति के अनुरूप) ।
सन्देसेन पेसिदम्हि ।
अलंकिदम्हि रोदेहि अक्खरेहिं।

इसी प्रकार मराठी में मिलता है घातले आहाति, किन्तु म्याँ देख्लासि, तू पुजिलासि भारतें। उत्तर-पश्चिम में यह बात काफ़ी मिलती प्रतीत होती है :

अश्कुन एक० प्रथम०, पु० ग्वो, स्त्री० ग्अ़ई "वह चला गया, वह चली गई", किंतु ग्वोम् (गतो'स्मि) "मैं चला गया हूँ", 'तो ऐ लउम्' "तेरे द्वारा मैं पीटा गया हूँ।"

कश्मीरी, केवल अकर्मक में :

वुपुस्, स्त्री० वुप्उंस् "मैं विक्षुब्ध हो गया (गयी) हूँ" (वुप "मैं विक्षुब्ध होता हूँ")।

छुस्, स्त्री छेंस् "मैं हूँ" (प्राकृत से निकले अच्छ- कृदन्त के आधार पर निर्मित)।

ओंसुस्, स्त्री० औंस्उंस् "मैं था, थी" (अस्- का अपूर्ण, प्राकृत आसीं से निकले कृदन्त के आधार पर निर्मित) ।

(बहु० के उत्तम पुरुष प्रथम की भाँति नामजात रहते हैं) ।

सिंधी, पु० बिठुस्ए "मैं आरा से हूँ", हलिस्ए, स्त्री० हलुस्ए "मैं गया, गयी"; लहंदा पु० आहुस्, स्त्री० आहिस् "मैं था, थी"।

क्रिया "होना" के साथ इस योग का परिणाम पुरुषवाचक क्रिया के कृदन्त के साथ निकटता के रूप में दृष्टिगोचर होता है।

कश्मीरी में मध्यम पुरुष प्रत्यय द्वारा सामान्य क्रियाओं से भेद उपस्थित नहीं

करता : एक० पु० वुपुख्, स्त्री० वुपुँख् सीधे वर्तमान वुपख्, जो अस्पष्ट भी है, की याद दिलाता है; बहु० पु० वुपिव, स्त्री० वुपेँव वर्तमान वुपिव् के साथ-साथ चलता है।

पु० मराठी में, देखिलासि, पुजिलासि के निकट उत्तम पुरुष में मीँ कवलिलोँ मोहेँ मिलता है जिसमें कृदन्त और क्रियामूलक प्रत्यय के बीच में कोई मध्यवर्ती धातु नहीं है। इसलिए अकर्मक क्रिया में है :

मी पड्लोँ, पड्ल्येँ।

तूँ पड्लास्, पड्लीस्, नपुं० पड्लेँस् ।

यह रूप-रचना, कर्तृव्याच्य क्रियाओं में भी पायी जाती है :

तूँ काम् (नपुं०) केलेँस् (न कि, त्वाँ काम् केलेँ) ।

तुम्ही काम् केलेँत् ।

तूँ पोथी (स्त्री०) लिहिलीस ।

तूँ पोथ्या लिहिल्यास् ।

यहाँ कर्तृवाच्य प्रत्यय कृदन्त में, जो साम्य की प्रवृत्ति रखता है, जुड़ जाता है; भूत० रूप-रचना के वर्तमान० वाले में पूर्णतः मिल जाने में केवल थोड़ा-सा ही अन्तर रह जाता है, और मराठी बहुत बड़ी संख्या में क्रियाओं का अतिक्रमण कर गयी है : पु० म० मुकुट लेइलासि ।

मिँ पाणी (नपुं०) प्यालोँ ('प्याल्येँ' यदि 'म्या पाणी प्यालेँ' के तुल्य कर्त्ता स्त्री० है) ।

मीँ तुझी गोष्ट् (स्त्री०) विसार्लोँ ।

प्रथम पुरुष में केवल कृदन्त ही रहता है, किन्तु जिसका कर्त्ता० के साथ साम्य होता है और जो फलतः कर्तृवाच्य कृदन्त हो जाता है :

ती असेँ म्हणली।

तो संस्कृत् शिक्ला।

इसी लिंग की नेपाली में रचना है, अन्तर केवल इतना है कि कर्त्ता (कर्तृवाची कारक) में रहता है; निस्सन्देह ऐसा तिब्बती आधार के प्रभावान्तर्गत होता है :

बेस्या-ले भनी (स्त्री०) ।

तिनिहरु-ले आनन्द माने (पु० बहु०) ।

क्रिया 'होना' के साथ आने वाले कृदन्त को कर्तृवाच्य का भाव प्रदान करने की प्रवृत्ति प्राचीन होनी चाहिए; निय के प्रमाण प्राप्त होते हैं कदम्हि, पेसिदम्हि, प्रहिदेसि, असिवन्ति की भाँति। इससे पु० सिंहली दुन्मो (*दिन्नाः-स्मः), कल्म्ह और आधुनिक

रूप-रचना क्अंपिमि (*कल्पितो'स्मि) क्अंपुवेमि (*कल्पितको'स्मि) आदि, जिससे प्रथम पुरुष नामजात एक० क्अंपुवे, बहु० क्अंपुवो से भिन्न है, की घोषणा होती है।

बिहारी में ऐसा ही है : मैथिली १ एक० पु० देखलेहुँ, स्त्री० देखलि, २ एक० देखलेँ; २ बहु० देखलहु; प्रथम पुरुष में उसमें कुछ व्याप्तियुक्त नामजात रूप हैं : एक० देखलक्, बहु० देखलन्हि; स्त्री० मरली।

बंगाली में, जिसमें लिंग नहीं है (दे० पीछे), देखिल प्रथम पुरुष का विचित्र रूप है; शेष तिङ वर्तमान से साम्य रखता है : १ देखिलाम्, ३ देखिला(हा), ३ देखिलेन्।

जिप्सी-भाषा अकर्मक और कर्तृवाच्य के भेद के प्रति उदासीन हो गयी है, किन्तु लिंग की दृष्टि से उसमें साम्य है : यूरोपीय बेसृंतो "वह बैठा", खलो "उसने खाया", फेन्दि "उसने (स्त्री०) कहा", दीने "उन्होंने दिया"; नूरी नन्द, नन्दि "वह लाया, लायी है", बीर, बीरि "उसे डर है (स्त्री० पु०)"।

इस प्रकार विभिन्न रीतियों के कारण, और असमान सफलता के साथ, भारतीय-आर्य भाषा ने उस समस्या को हल करने की चेष्टा की है जो कृदन्त के प्रयोग द्वारा उत्पन्न हुई है : भूत० के कारण वर्तमान और भविष्यत् के क्रियामूलक रूपों और नामजात रूपों का विरोध प्रस्तुत करने का परिणाम कर्त्ता के साथ साम्य में हुआ; किन्तु क्रिया के अकर्मक या सकर्मक होने के अनुसार, यह कर्त्ता० न्यायानुकूल कर्त्ता होता था या नहीं होता था। उससे कुछ ऐसी दुरूहताएँ उत्पन्न हुईं जिनसे प्रत्येक भाषा ने बचने की चेष्टा की, कभी-कभी वे और भी अवांछनीय दुरूहताओं में फँस गयीं; इन प्रायौगिकों का भी जो निस्सन्देह अपनी सीमा पर नहीं पहुँच पाये, इतिहास अज्ञात है; उनका प्रेरक सिद्धान्त स्पष्ट है।

विकृत कारक में कृदन्त

अधिकरण में साम्य रखने वाली संज्ञा और कृदन्त का समुदाय, जिससे पूर्वत्व और अवसर पर आनुषंगिक अवस्था प्रकट होती है, बड़ी कठिनाई से आधुनिक काल तक कुछ-कुछ बच पाता है; कृदन्त का क्रियामूलक भाव यहाँ तक प्रमुख हो गया प्रतीत होता है कि उसका कर्त्ता कर्त्ताकारक में प्रस्तुत करता हुआ मिलेगा :

पु० राज० में :

जाइँ पाप जस लीधै नामि, जो एक प्राचीन रचना प्रदान करता है, के निकट मिलता है :

जनम्यइँ देस्यूं नाम वर्धमानकुमार।

उससे हिन्दी में :

क्युँ इत्नी रात् (स्त्री०) गये (विकृत पु०) तुम् आये ?
तीन् बजे (एक०)।

पूर्ण कृदन्त बिना कठिनाई के प्रधान कर्त्ता से संबंधित हो जाता है और कर्तृवाच्य रूप में वास्तविक क्रियामूलक विशेष्य हो जाता है; तुल० लैटिन ओमीना पोलीसीटो (सैल्यूस्टे) "सब कुछ का वायदा"।

पु० राज० :

मद्य पीवाइ गहिलाई करौ।

हिं० पग्ड़ी बाँधे आया (विकृत० एक० बाँधे स्त्री० पग्ड़ी के साथ, जिससे वह संबंधित रहता है, साम्य नहीं रखता, न कि पु० एक० आया के कर्त्ता के साथ)।

इससे हिन्दी में एक विविधता-संपन्न शब्द-प्रयोग-पद्धति मिलती है :

चल्ते हुए बेगम् ने कहा, "चलते हुए"-(विकृत० पु० एक०)।
मैं समझे हुए था कि।

उससे 'लिये' की भाँति व्याकरण-संबंधी साधन हैं।

यही रूप, क्रिया "होना" के साथ सान्निध्य प्राप्त करने पर, अवधी में अतीत के कुछ रूप प्रदान करता है।

तुलसीदास :

अनुचित बचन कहेउँ (कर्ता० पु० परशुराम)।
देखिउँ (कर्ता स्त्री० शूर्पणखा)।

और आज लखीमपुरी में देखेउँ, देखे हउँ से,(देखे विकृत),देखिस्[इ], *देखे(आ)सी। विकृत बहु० भी मिलता है :

पु० राज० : आगि समीपि रह्याँ, रहिज्यो बैत्घाँ; मारवाड़ी लियाँ; गु० मार्याँ; गुज० मारवाड़ी बोल्याँ कवुँ।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या उसमें बोल्या कवुँ "बोलना करना" ठीक-ठीक, हिन्दी 'बोला करना' की अनुकूलता है; अथवा क्या इसके विपरीत ये अन्तिम रूप विकृत रूप के स्थान पर हैं। पहला अधिक संभव है, क्योंकि हिन्दी का विकृत रूप बहु० -आँ युक्त बहुत नहीं है, वरन् -ओं में है। यहाँ पर कृदन्त का प्रयोग विशेष्य के भाव की भाँति होगा।

यह प्रयोग प्राचीन है :

सं० तस्य गतं सविलासम्।

इदम् एषाम् आसितम्।

किं पृष्टेन ?

पा० किं ते अञ्जत्थ गतेन ?

प्रा० इच्छामि पव्वाविअं, मुण्डाविअं, (प्रव्राजितम्, मुण्डापितम्)।

इसी प्रकार आधुनिक बंगाली बिनि जाँचिलें, हिं० तुम क्यों ऐसा किया करते हो, कहे से, शिना षिदीते ज़ौं मुर्तुस्।

नेपाली में यह कृदन्त विशेष्य, संबंध के माध्यम द्वारा संज्ञा के साथ सम्बद्ध हो सकता है, जिससे एक नवीन कृदन्त उपलब्ध होता है :

मार्या अथवा मरे को थियो "वह मौत का था (नपुं०; न कि "मौत से"), मरा"।

बाबु का घर बसे को।

येक् जोगी रुख् मा झुण्डीये को (वर्तमानकालिक कृदन्त का भी ऐसा ही प्रयोग होगा : झुण्डे को "लटका हुआ")।

बंगाली में पर-प्रत्यय -ल्- रहित कृदन्त भी प्रयोग में आता है : मार होइ, आमा के देक्का होइ, कि कारा होइ ("क्या किया आपने" का अनिश्चित विनम्र रूप), खाया गेले। यह कर्तृवाच्य कृदन्त राखा, आना करान् जैसी अभिव्यंजनाओं में 'कारन्' पर निर्भर रहता है; रचना वैसी ही है जैसी गान् करान् में। यह पूछा जा सकता है कि एक ही रूप जैसे क्रियामूलक विशेष्य के प्रयोग में निश्चित बन्धन कौन-सा है : पाया देइ "(कभी मिला) यदि वह पाता है, वह खाता है"; आमि आसिया देखिताम् "आ जाने पर, मैंने देखा है"; यह स्वीकार किया जा सकता है कि द्वितीय उदाहरण में एक कर्तृकारक है (इसी प्रकार मारा जाय् अथवा पड़े, दखा पड़ि "मैं गिरता हूँ, देखा है, कोई मुझे देखता है") तथा पहले में कृदन्त कर्तृवाच्य भाव धारण कर लेता है। यह तथ्य कि यह रूप अपरिवर्तनीय है उस विशेष्य-प्रयोग के विस्तार की ओर संकेत करता है जिसके क्रियार्थ-भेद रह जाते हैं, अथवा यहाँ भी प्राचीन विकृत रूप बहु० में प्रत्यक्षतः अनुनासिकता-विहीन हुए (अ तो विकल्प से अनुनासिक है, दे० पीछे) रूप की स्थानापन्नता है।

यहाँ कृदन्त के नामजात भाव का यह तकाज़ा है कि उसका न्यायानुकूल कर्त्ता निर्भरता के साथ प्रस्तुत हो, फिर संवंधवाची विशेषण के साथ हो जाय, अथवा यदि सर्वनाम हो, तो अधिकारसूचक विशेषण के रूप के अन्तर्गत :

गुज० सिकन्दर् ना मुआ पाछि, हिं० सिकन्दर् के मुए के पीछे।

बंगाली आमार् न दिले "अस्माकम् न दत्ते"।

पु० म० (तुकाराम) मज् आल्या विणा।

किन्तु यह हो सकता है कि क्रिया की सामान्य रचना के अन्तर्गत, न्यायानुकूल कर्त्ता कर्त्ता कारक में हो। नैपाली में मिलते हैं (श्री टर्नर द्वारा सूचित उदाहरण) :

मै-ले गर्दा दुनिया सवै भाग् गयो।

'मै-ले गर्-छु' की भाँति; किन्तु नपुं० क्रिया में, उसी प्रकार जैसा लोग कहते हैं, म अउँ छु, कहा जायगा :

मा आउँदै मा (अहम् आगतस्य मध्ये)।

बंगाली में, आमार न दिले के निकट बड़ी अच्छी तरह कहा जायगा, आमि दिले; आधुनिक बंगाली, तुमि जनमिला होते। आधुनिक मराठी में इस विन्यास ने काफ़ी विस्तार ग्रहण कर लिया है, निस्सन्देह द्रविड़ आधार के प्रभावान्तर्गत : मी तेथे गेल्या ने, पाव्साला सर्ल्या-वर् (वरसाः सृतस्य उपरि)।

यह एक द्रविड़ आधार ही है जिससे ग्रामीण सिंहली में कर्त्ता० में अपने न्यायानुकूल कर्त्ता के साथ आये हुए अव्ययी विशेषण स्पष्ट होते हैं : ममन्की दे "अहं कथित-कार्यम्" "काम जो मैंने कहा है"; उड़िया में ऐसा ही विन्यास, प्राचीन भविष्यत् कृदन्त के आधार पर निर्मित क्रियार्थक संज्ञा, दृष्टिगोचर होता है : मु देबा धान "अहम् दातव्य-धान्यम्" "धान जो मैंने दिये हैं।"

यह ध्यान देने की बात है कि ये समस्त प्रयोग कृदन्त को उसके मूल से, जो विशेषण है, दूर हटा देते हैं, जिससे संस्कृत में कुछ ऐसे विशेषण दृष्टिगोचर होते हैं जो क्रिया से अलग हो जाते हैं जैसे प्रीत॑-, शीत-, दृध॑-। आधुनिक भाषाओं में विशेषण का प्रयोग अज्ञात नहीं है : साथ ही सिद्धान्ततः स्थान विशेषण और क्रिया में भेद उपस्थित कर देता है : उड़िया, पडिला गछ् "गिरा हुआ पेड़", गछ् पडिला "पेड़ गिर गया है"। तो भी विशेषण-भाव साधितों या वाक्य-विस्तार द्वारा सुविधानुसार बनता है :

साधित : गु० करेलुँ काम् "किया गया काम" (काम् कर्युँ "काम किया गया है"); म० पाठविलेलें आज्ञापत्र "भेजा हुआ आज्ञापत्र" (और साथ ही, हें आज्ञापत्र लिहितेलें असून् "यह आज्ञापत्र जो भेजा जा रहा है"); नौका बाँध्लेले आहे "नौका बँधी है", मारवाड़ी मारियोड़ो "पिटा हुआ" (मारियो) "पिटा था", कुमायूँनी हिटियो "अलग किया हुआ" (हिटो "वह अलग हो गया है"); तुल० शिना ज़मीतु "पिटा हुआ, पीटे जाने की बात", जो संभवतः एक पूर्वकालिक कृदन्त और *स्थित- का सान्निध्य-प्राप्त रूप है, हर कारक में ज़में "पीट लेने पर" और ज़मेगस् "मैंने पीटा है" के विपरीत है।

वाक्य-विस्तार : इसकी रचना भू- के कृदन्त सहित होती है। संस्कृत में तो भूत- का प्रयोग समासों की पार्श्व स्थिति और द्वितीय शब्द के रूप में, किन्तु चाहे जिन संज्ञाओं

के साथ, हुआ ही है : अग्लान-भूत "अथक"; पाली में केवल कुछ अगारिक-भूत-, गिहिभुँत- प्रकार मिलते हैं। ऐसा ही सिंहली में है, सुदुवू अश्वयेक "सफ़ेद घोड़ा" (शुद्ध-भूत)। किन्तु कुछ आधुनिक भाषाओं में प्रथम शब्द संज्ञा-रूप धारण करता है : हिन्दी में "खड़ा आद्मी" को "खड़ा हुआ आद्मी" (न कि, खड़ा आद्मी) द्वारा प्रकट किया जाता है; कृदन्त में इस सूत्र का प्रयोग करते हुए कहा जाता है इनाम् पाया हुआ लड़का, नीचे नाम् दी हुई पुस्तकें; इसी प्रकार मारवाड़ी मारियो हुवो, मारियोड़ो के तुल्य है; मैथिली सूतल् भेल्, देखल् भेल्। हिन्दी में 'पूरा' 'पूर्ना' का कृदन्त है; किन्तु ऐसा पाया जाता है कि इस क्रिया का बहुत प्रयोग हुआ है, और सुविधानुसार उसे 'पूरा कर्ना' कहा जाता है; यहाँ कृदन्त का विशेषण की भाँति प्रयोग होने पर उसने क्रिया को निकाल बाहर किया है।

भविष्यत्० कृदन्त

बन्धनसूचक विशेषण की रचना करने वाले विविध पर-प्रत्ययों में से जो -य- युक्त था और जो प्रारंभ में बहुत प्रचलित था, वह भी शीघ्र ही निकाल बाहर किया जाता है, क्योंकि उस काल से हटते ही जब व्यंजनों के समुदायों का परस्पर सामंजस्य होता है, रचना की स्पष्टता नष्ट हो जाती है। स्वयं सं० पूजनीय, पा० पूजनेय्य- (अथर्ववेद शपथेय्य प्रकार के साथ योग द्वारा), प्रा० पूअणीअ-, पूयणिज्ज- (पूजनम्) प्रकार जीवित नहीं रह सके—वह भी उनका विशेष्य रूप के साथ, जिससे क्रियार्थक संज्ञाएँ प्राप्त होने वाली थीं, संबंध रहने पर भी। वह रूप जो उसे हटा देता है -(इ)तव्य- है जिसे -त- युक्त विशेषण के मुक़ाबले में आने का सौभाग्य प्राप्त था, यद्यपि मूल की अन्य स्वर-संबंधी श्रेणी के साथ : पाली में पत्तब्ब- सुरक्षित है जो पत्त-(प्राप्त-) के साथ चलता है और पापुणाति आदि से अलग हो जाता है; उसमें दातब्ब- (दातव्य-), नेतब्ब- (नेतव्य-), जो क्रियार्थक संज्ञाओं दातवे, नेतवे के साथ चलते हैं और वर्तमान नेति (नयति) के साथ भी।

वर्तमान पचति, पुच्छति, पूजेति, गहेति के आधार पर ही पचितब्ब-, पुच्छितब्ब-, पूजेतब्ब-, गहेतब्ब-(तुल० प्रा० गण्हिदव्व-, गेण्हइ से) निर्मित होते हैं, जो सं० पक्तव्य-, प्रष्टव्य-, पूज्य-, वैदिक गृ॑ह्य-, महाभारत गृहीतव्य- के विपरीत हैं।

प्राचीन रूपों में से केवल कुछ स्फुट संज्ञाएँ रह जाती हैं जैसे हिं० काज् (कार्य-, प्रा० कज्ज-; किन्तु सिंधी कतबु, सं० कर्त्तव्य -), अनाज् (सं० अन्नाद्य-) सिंधी पेज़ु॒अ, हिं० पेज् (सं० पेय-, पा० पेय्य-, प्रा० पेज्ज-) ; तुल० संस्कृत में ही पानीयाम्, हिं० पानी।

भारतीय-आर्य भाषा में यह रचना लगभग सर्वत्र पायी जाती है; पीछे -न्- युक्त कृदन्त, और विशेषतः सिंधी मारिणो, लहंदा मार्ना प्रकार, देखे ही जा चुके हैं।

किन्तु जीवित रहते हुए उसका प्रयोग प्रायः बदल जाता है। प्राचीन प्रयोग केवल गुजराती और मराठी में रह गये हैं :

अप० (भव०)	उत्तरु देव्वउ
	उज्जवणु करिव्वउ
पु० राज०	हिंसा न करावी (स्त्री०)
गुज०	तेने आ चोप्डी वाञ्च्वी (स्त्री०)
पु० म०	अह्मी काय् करावें (नपुं०) ?
म०	आँ पाऊस् पातडावा (पु०)

सिंधी में 'मारिबो' प्रकार वर्तमान में प्रभावित हुआ है; वह सान्निध्य में मारिबो आँहियाँ (मार्यमाणो'स्मि), मारिबो होस्[ए] "किसी ने मुझे पीटा", आदि की भाँति प्रवेश पाता है। कृदन्त के प्रथम पुरुष क्रिया का भाव ग्रहण करने पर भविष्यत् का अर्थ फिर आ जाता है : मारिबो "वह पीटा जायगा"; मारिबी "वह पीटी जायगी", मारिबा "वे पीटे जाएँगे", मारिबिऊँ "वे पीटी जाएँगी" (किन्तु साथ ही, मध्यम० वहु० के सर्वनाम में "तुम पीटी जाओगी")। इस रूप के चारों और एक क्रियामूलक तिङ की, अन्य कृदन्तों की भाँति, रचना हुई है : मारिबुस्[ए] "मैं पीटा जाऊँगा", मारिबिअस[ए] "मैं पीटी जाऊँगी" आदि।

इसी प्रकार मराठी में, बन्धनसूचक कृदन्त, जिसका संज्ञा-रूप था ही, मध्यम० एक० में -स् जोड़ लेता है, बहु० के प्रथम ० और मध्यम० में -त् : तू ग्रन्थ् लिहावास्, पोथी वाचवीस् आणी दूसरें काम कार्वेंस्। इसके अतिरिक्त वह सबल क्रिया-रूप का मूलाधार प्रतीत होता है : हे सरिता न तरवे जीवाँ, आह्मिँ कैसें करवेल् ? (-ल्- पर-प्रत्यय भविष्यत् का तुल० दे० आगे)।

पूर्वी भाषाओं में इसी कृदन्त से कर्तृवाच्य अर्थ में एक क्रियामूलक आधार उपलब्ध होता है, -ल्- युक्त भूतकालिक कृदन्त की भाँति; किंतु भविष्यत् इस प्रकार केवल बंगाली में पूर्ण है : एक० १ देखिब, २ देखिबि और उड़िया में है : एक० देखिबि २ देखिबु आदि। प्राचीन अवधी में -ह्- युक्त स-भविष्यत् पूर्ण रूप में -अव्, स्त्री० -अवि, सभी पुरुषों में प्रयुक्त, कृदन्त के साथ मिलता है; आज, फ़ैज़ाबाद में मिलता है १ देख्[अ]बू, २ देख्[अ]बे और देख्[अ]बेस्, किन्तु ३ देखिहै, और इसी प्रकार बहुवचन में; लखीमपुर

में स-भविष्यत् केवल बहुवचन के उत्तम० में शुरू होता है (देखिबा); छत्तीसगढ़ी में है 'देखिहौं' न कि 'देखब्' तथा इसके विपरीत २ देख् अ बे और देखिहौ; तीनों पुरुषों में प्राचीन भविष्यत् को छोड़कर कुछ नहीं : एक० देखिहै, बहु० देखिहैं। अस्तु, प्रथम पुरुषों में ही -ब्- रूप नहीं मिलता और बिहारी में भी ऐसा ही है; यह जान लेना कि ऐसा नामजात मूल के रूप से होता है, एक महत्त्वपूर्ण बात है। निस्सन्देह स्वयं रूप के विशेष्य के भाव से प्रतिद्वन्द्विता ही इस प्रतिरोध में कुछ चीज़ है।

वास्तव में संस्कृत के काल से ही उदासीन कृदन्त भाववाचक विशेष्य का मूल्य ग्रहण करने की प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है : कार्यम्, रक्षितव्यम्, अप० भणियव्व-जाणय।

भाव क्रियार्थक संज्ञा के बिल्कुल निकट है : मया गन्तव्यम्, पंच० नायं वक्तव्यस्य कालः। यह भाव आधुनिक भाषाओं में, विकृत कारक में विकसित होता है, साथ ही वह क्रियार्थक संज्ञा के अनुकूल पड़ता है :

अप० (भव०) अवसरु न हुउं पुच्छिव्वइ; भण्डारिउ पालेव्वइ निउत्तु;

पु० राज० खाइवा नी वाँछा; जीपवा वाँछै; पाइसिवा न पाँमैं; चिन्तविवा लागौ; जिम्वा बैठौ;

मारवाड़ी चराबा मेल्यो।

गुजराती में कवुँ सामान्य क्रियार्थक संज्ञा है; उसमें से संबंधवाची विशेषण के साथ-साथ बन्धनसूचक भावनात्मक विशेषण निकलता है : करवा-नो (पु० एक०)। इसी प्रकार करावयाचा (विशेषण), करावयास्, करून् (प्राचीन *करवौनि)। ऐसा ही राज० चळ्बो, चळ्ब्रो, ब्रज० चलिबौं, पू० हिंदी चलब्, अंत में बंगाली, उड़िया चलिबा।

अस्तु, यह रूप हिन्दी और पंजाबी को छोड़कर समस्त मध्य और पूर्वी भारत में मिलता है। उड़िया के संबंधवाचक कृदन्त के लिये, दे० थोड़ा पीछे।

अस्तु, संस्कृत के कृदन्तों और क्रियामूलक विशेषणों का एक समुदाय है और उनका प्रत्यक्षतः समानान्तर विकास हुआ है। यह ध्यान देने की बात है कि इस विकास की सीमा वह नहीं है जिसमें समुदाय संस्कृत में, कृदन्तों की प्रणाली के रूप में, हो गया था; कृदन्त फिर नहीं मिलते, अर्थात् क्रियामूलक विकरणों से साधित विशेषण के कृदन्त; कृदन्ती भाव केवल उन सहायक क्रियाओं के संबंध में अधिक मिलता है जो प्रायः मिश्रण की सीमा तक, तत्पश्चात् रूप के पूर्ण ह्रास तक पहुँच जाती हैं। किसी अन्य रूप में प्राचीन कृदन्त, अपना विशेषण वाला कार्य खोते हुए, कुछ क्रियाओं के तुल्य हो जाते हैं अथवा कुछ क्रियार्थक संज्ञाओं या पूर्वकालिक कृदन्तों के निकट पहुँच जाते हैं।

क्रियार्थक संज्ञा

इसमें हमें अधिक देर न लगेगी। सच तो यह है कि संस्कृत का विकास एक सच्ची क्रियार्थक संज्ञा की रचना की ओर झुका हुआ प्रतीत होता है, अर्थात् संज्ञा-रूप की एक पृथक् रचना की ओर (अत्यन्त स्पष्ट मूल होने पर भी) और एक साथ किसी संज्ञा या क्रिया पर आधारित रहना और संज्ञा पर शासन करने की क्षमता रखता हुआ प्रतीत होता है। किन्तु संस्कृत क्रियार्थक संज्ञा की तुलना उन भाषाओं की क्रियार्थक संज्ञाओं से करना यथेष्ट होगा जिनमें यह वर्ग वास्तव में यह प्रदर्शित करता है कि उसका कार्य कहाँ तक कम हो गया है : उसमें मुश्किल से केवल अतिम भाव मिलता है, अथवा उसका प्रयोग 'इच्छा होना, प्रयत्न करना, जाना, सकना' भावों के द्योतक शब्दों के साथ होता है; इन्हीं मूल्यों के साथ वह मध्यकालीन भारतीय भाषा में दृष्टिगोचर होता है, उदाहरणार्थ अशोक के अभिलेखों में। किन्तु कर्त्ता० का भाव नहीं मिलता; क्रियार्थक संज्ञा वाले पूर्व सर्ग का, जिसकी कुछ-कुछ रूपरेखा देखी जा चुकी है, निर्माण नहीं होता। अंत में, केवल एक रूप है, जो अस्थायी विकरणों से पृथक् और कर्तृवाच्य तथा कर्मवाच्य के लिये एक साथ बराबर हो गया है।

संभवतः मराठी को छोड़कर, आधुनिक भाषाओं में से संस्कृत क्रियार्थक संज्ञाएँ लुप्त हो गयी हैं : तो तें करूँ इच्छितो। यह स्मरण करना ठीक होगा कि यहीं पर रचना क्रियामूलक विशेष्य वाली हो सकती है : अथवा मध्यकालीन भारतीय भाषा में -इउं युक्त क्रियामूलक विशेष्य था, दे० थोड़ा आगे।

सीमान्तवर्ती छोटे-से समुदाय से अलग (प्रशुन और गवर्बती -क्-, खोवार और पशई -इक्, शिना -ओइकि), ईरानी से उधार लिये गये (वखी -अक्, ओर्मुंरी -एक्) सर्वत्र नामजात रूप मिलते हैं।

बहुत अधिक प्रयुक्त होने वालों में एक -अनम् युक्त संस्कृत कार्यवाची संज्ञा से निकला है : एक ओर मूल (सामान्य) रूप हैं : सिंहली -णु, कश्० -उन्, लहंदा -उण् (विकृत० -अण्), सिंधी -अण्^{उ}, बुन्देली -अन्, जिनके साथ, अन्य के अतिरिक्त, बंगाली का 'तत्सम' जोड़ देना आवश्यक है; दूसरी ओर व्याप्ति-युक्त हैं : म० -णें, ब्रज -नौं, पं० -णा (-ना मूर्द्धन्य के बाद), राज० -णो -नू, नेपाली -नु (विकृत -न)। मध्यकालीन भारतीय भाषा में ये ही प्रयोग पहले से ज्ञात थे : एसो अयलो मम घर' आगमणे निवारेयव्वो (मम घरं आगन्तुं, के तुल्य) : तुल० मारणे छिद्दं (जाकोबी, 'एर्ज़ाहलुंगेन', ग्रैम० ११६, १०१)।

अन्य किसी रूप में बन्धनसूचक कृदन्त (गुज० -वुँ, राज० -बो, ब्रज -इबौ,

बंगाली -इब, उड़िया -इबा; और म० -नया- केवल विकृत० में), और वर्तमान० तथा भूत० कृदन्त मिलते हैं जिनका उल्लेख पीछे किया गया है।

इन संज्ञाओं का वास्तविक भाव अर्थपूर्ण रहता है और उनका प्रयोग रूप-रचना के साधारण भाव-सहित हर कारक में होता है। इसके विपरीत उन्हें थोड़े-बहुत व्याकरण-संबंधी मूल्य वाले वाक्य-विस्तारों में बहुत कम स्थान मिल पाया है और यह प्रश्न आगे उठेगा। अस्तु, यह कहा जा सकता है कि मध्यकालीन भारतीय भाषा को क्रियार्थक संज्ञा की रचना में सफलता प्राप्त नहीं हो सकी।

शेष, क्रियार्थक संज्ञाओं के कार्य का एक भाग पूर्वकालिक कृदन्त द्वारा अथवा उनके आगामी रूपों द्वारा पूर्ण होता है।

पूर्वकालिक कृदन्त

ईरानी में इस संज्ञा के अन्तर्गत, परिस्थिति के द्योतक, नाम-धातुओं अथवा -ति-युक्त संज्ञाओं के, सामान्यतः समास रूप में, कुछ क्रिया-विशेषणमूलक कर्म० रखे जाते हैं : अ० पैति सङ्हर्अम् "खंडन करने में", ऐवि नप्तीम् "गीला करने में"। वेद में कर्म० के तुलनीय रूपों में क्रियार्थक संज्ञा का भाव है, दे० पीछे; किंतु श्री रनू को अवेस्ती रूपों की तुल्यता वेद के परवर्ती रूपों में मिली है, और इन सूत्रों तक सीमित रहती है, इत्थं-कारम् से, अ-विवेकम्।

इसके विपरीत संस्कृत में निश्चित रूप से "पूर्वकालिक कृदन्त" अथवा क्रियामूलक विशेष्य के एक वर्ग की उत्पत्ति दृष्टिगोचर होती है जिससे सिद्धान्ततः पूर्ववर्ती अथवा समकालीन परिस्थिति का द्योतन होता है; उसकी अभिव्यक्ति करण० (और अधिकरण ?) में वद्ध कुछ रूपों द्वारा होती है जिनका कर्त्ता, कम-से-कम मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कर्त्ता, वही होना चाहिए जो प्रधान वाक्यांश का होता है : पिबा निषद्य, स्त्रियं दृष्ट्वाय कितवं ततापा।

विकरणों का संबंध -तु-, -इ-, -ति- युक्त क्रियार्थक संज्ञा में काम आने वाले विकरणों से है; वैदिक प्रत्ययों -त्वी, -त्वा, -त्वाय का मूल क्रियाओं में व्यवहार होता है, -यॉ और -त्यॉ का साधितों और समासों में।

इन तुल्य रूपों की समृद्धि क्लैसीकल संस्कृत में कम हो जाती है, जो भाषा की इस स्थिति के अनुकूल ही है; किन्तु पूर्वकालिक कृदन्त की सजीवता रूपों के विस्तार और पुनःसंस्कार द्वारा प्रकट होती है : पहले क्रम में, वैदिक भाषा में त्वाय और पाणिनि के अनुसार -त्वीनम् (इष्ट्वीनम्), का संकलन मिलता ही है; पाली में -त्वा (जिससे प्राकृत शौर० -दुअ) के निकट, -त्वान (जैन -त्ताणं) का प्रयोग हुआ है; अशोक० में गिर०

-त्वा, शह० -ति- (पढ़ने में निस्सन्देह -त्ती)- सुरक्षित मिलते हैं, साथ ही -तु (तुल० निय विंत्रवेतु "जिस भाँति गणना की जाय", एफ़० डब्ल्यू० टॉमस, 'ऐक्टा ऑरिएंट', XII, पृ० ४९), और एक बार -तूनं भी, प्रथम बहुत कम मिलता है, द्वितीय पाली में बहुत कम है, किन्तु प्रा० माह० -ऊण में वह बराबर मिलता है।

जो -ई- युक्त विकरण हैं उनकी दृष्टि से, पाली में सामान्य -य में (जो प्रा० -इअ में सुरक्षित है) काव्यात्मक व्याप्ति -यान (उदा०, उत्तरियान, उत्तरित्वा द्वारा विवेचित) जुड़ जाता है; इसी क्रम में जैन आयाए (आदाय) प्रकार भी सम्बद्ध हो जाता है जो सामान्य विकृत० स्त्री० (तुल० पा० अत्थाय जो एक साथ आस्थाय और अर्थाय से साम्य रखता है) के सदृश है; जिससे निस्सन्देह अशोक० में उद्देश्यमूचक संप्रदान अ(ट्)थाए आदि (तुल० पीछे दे०) हैं। -(इ)उं का न केवल क्रियार्थक संज्ञा की भाँति प्रयोग का, किन्तु पूर्वकालिक कृदन्त की भाँति प्रयोग का भी उल्लेख करना आवश्यक है; अशोक० में मिलता ही है 'तथा करं', रूप जिसकी व्याख्या करना कठिन है (-अं युक्त पूर्वकालिक कृदन्त के प्रत्यय का विकरण करो- में प्रयोग ?)।

अपभ्रंश का खास अपना रूप है -इ : चलि, करि; -एप्पि और -एप्पिणु भी है जो सं०-त्वी, त्वीनम् और -वि -विणु (*तुवीनम् का शेषांश ?) की याद दिलाते हैं। जो -इ है उसके लिये, अनेक प्रतिपादन संभव हैं; उनमें से कोई स्थापित नहीं होता; इसके अतिरिक्त राजस्थान के वीर-ग्रन्थों की दीर्घ लेखन-प्रणाली के कारण भी दुरूहता उत्पन्न हो जाती है, उदा० करी, जिसके कारण टेसिटरी को भूत० कृदन्त का अधिकरण, करियौ, खोजना पड़ा था। गुजराती, पहाड़ी (विविध व्याप्ति-युक्त रूपों सहित), पुरानी हिन्दी, मैथिली और हिन्दूकुश की अनेक बोलियों (प्रशुन, कलाश, गवर्‌बती, खोवार) में यही रूप -ई बना रहता है; शिना में भी -ए अथवा -इ हैं जो क्रिया-रूप का अनुगमन करते हैं। आधुनिक हिन्दी में, प्रत्यय लुप्त हो गया है, और क्रियामूलक विशेष्य क्रियाजात मूल के रूप में आता है; संभवतः उसी कारण, तथा साथ ही आज्ञार्थ एक० से उसके साम्य के कारण, वह केवल संहिति में मुश्किल से ही आता है : कह्‌-कर्, कर्-के प्राचीन करि-कै (द्वितीय शब्द यहाँ अधिकरण अथवा भूत० कृदन्त के विकृत० में अधिक है)।

अन्य आधुनिक भाषाओं में, अकेली काफ़िर में कुछ प्राचीन अप्रचलित रूप हैं : कती, अश्कुन, वैगेलि -हि सं० -त्वी का भली भाँति प्रतिनिधित्व करते हैं, और जिनके प्रमाण उत्तर-पश्चिम के अशोक के अभिलेखों में मिलते हैं। कश० -थ्, प्राचीन -त्[इ] में अथवा -त्वाय में (तुल० सं० त्वया की क्रियाओं में -थ् विकृत सर्वनाम), वही है, अथवा वह कुछ और ही है ? वैगे० -वि क्या भूय से सम्वद्ध है ? सिंहली -कोट, पु० सिंहली -कोटु "द्वारा"

अशोक० धौ० क(ट्)टु से आया प्रतीत होता है; किन्तु सामान्य रूप -य अथवा -आय पर आधारित प्रतीत होता है।

अन्यत्र ये रूप बिल्कुल ही नहीं मिलते; यह देखा जा चुका है कि उनका कार्य कृदन्ती रूपों द्वारा संपन्न होने लगता है। जो महत्त्वपूर्ण बात है वह है कार्य की निरंतरता; पूर्वकालिक कृदन्त केवल अफ़गान प्रदेश की सीमा पर (पशई, तीराही और कोहिस्तानी समुदाय) और जिप्सी-भाषा में नहीं मिलता।

इसके अतिरिक्त, पीछे दी गयी सिद्धान्त की परिभाषा की अपेक्षा कार्य अधिक विविधता-संपन्न है; वास्तव में, पूर्ण अधिकरण, जो उसमें सिद्धान्ततः आनुषंगिक परिस्थिति प्रकट करता है, के साथ, पूर्वकालिक कृदन्त संस्कृत में वाक्यांशों के संबंध के अनेक प्रधान साधनों में से एक प्रधान साधन प्रस्तुत करता है; कृदन्त या लैटिन क्रिया-मूलक विशेष्य की भाँति वह मुख्य क्रिया की तुल्यता वहन करता है। ऐ० ब्रा० अपक्रम्य प्रतिवादतो'तिष्ठन् "वे हठपूर्वक प्रतिवाद करते हुए जाते हैं. . ." (अनुवाद "वे जाते हैं, किन्तु रुक जाते हैं. . ." से अर्थ भ्रष्ट हो जायगा)।

एक संबंध, और वह भी लचीला है, के कारण अनेक वाक्य-विस्तारों की उत्पत्ति होती है जिनमें मुख्य क्रिया में केवल सहायक भाव होता है : ऐ० ब्रा० इन्द्रम्. . . आरम्भ यन्ति; यहाँ क्रियामूलक विशेष्य का वही रूप है जो ऋ० विभंजन् एति में उपलब्ध कृदन्त का है, और वास्तव में, इस रूप में प्रयुक्त वर्तमान० कृदन्त की वह कमी पूरी करता है। श० ब्रा० तं हिंसित्वेव मेने में, पूर्ण० कृदन्त की तुल्यता होगी, वह भी लुप्त हो जाने को थी, तुल० ऋ० सोमम् मन्यते पपिवान्। 'होना, रहना" क्रियाओं का भी प्रयोग किया जाता है : वे जो केवल क्रियामूलक प्रत्यय के वहन करने का कार्य करती हैं : दश० सर्वपौरान् अतीत्य वर्तते, इसी प्रकार कृदन्त के साथ : रामा० धर्मम् आश्रित्य तिष्ठता, जिससे एक ऐसा सूक्ष्म भेद उपलब्ध होता है जो न तो आश्रयमाण-, एक प्रकार से प्रारंभिक क्रिया, को व्यक्त करता है, न आश्रित-को जिसमें भूत० की भावना निहित ही है।

आधुनिक भाषाओं में अब भी ये वाक्य-विस्तार मिलते हैं, और उनसे शब्दावली में विशेषता उत्पन्न होती है।

इसी प्रकार क्रिया "सकना" का प्रयोग होता है, प्रारंभ में संभवतः शब्द-व्युत्पत्ति-शास्त्र के अनुरूप कर्मवाच्य-भाव-सहित (किंतु सं० शक्यते का क्रियार्थक संज्ञा से निर्माण हुआ है)। अप० (भव०) केणवि गणिवि न सक्कियइँ, पु० राज० बोली न सकै, हि० बोल् सक्ता नाँहिं। 'देना' और 'लेना' क्रियाओं का भी ऐसा ही प्रयोग है : हिं० यें ख़त् पढ़ लो, दो "पढ़ यह पत्र लो, दो; जान लो, यह पत्र मुझे पढ़ दो"; सिंधी चै डिअणु,

हिं० कह् देना (यहाँ गुजराती में क्रियार्थक संज्ञा का प्रयोग होता है जो प्राचीन भविष्यत्० कृदन्त है : तेमे हिआँ रेहेवा दचो।

कुछ क्रियामूलक विशेष्य, प्रयोग द्वारा अपने वास्तविक अर्थ के एक अंश से रिक्त, मध्यकालीन भारतीय भाषा में परसर्गों का काम करते हैं, दे० पीछे। आधुनिक भाषाओं में उनका प्रतिनिधित्व मुश्किल से मिलता है। पीछे दिये गये उदाहरणों में, हमें (एच० स्मिथ के अनुसार) सिंहली सिट "का, से" (स्थीत्वा), मुत्, मिन "बजाय" (मुक्त्वा, मुञ्चिय), करणकोट (करणं कृत्वा) "के कारण से" और जोड़ लेने चाहिए। किन्तु विकृत कृदन्तों, जो उनका कार्य करने लगते हैं, से सर्वत्र एक काफ़ी लंबी सूची मिलती है, उदाहरणार्थ, हिं०, नेपाली, बिहारी, पु० बंगाली लागि, नेपाली लाइ "लिये", सिंधी लागे "दृष्टि में", हिं० लिये, म० होऊन् और वह पूरी परंपरा जिसका पूर्वज सं० कृते, कृतेन है : ब्रज कै, पं० हिं० बि० के, तुल० ब्रज करि, पं० हिं० कर्, राज० अर्।

नवीन क्रियामूलक रूप

प्रणाली का ह्रास हो जाने पर भी, मध्यकालीन भारतीय क्रिया में कई कालों और कई क्रियार्थ-भेदों का अन्तर मिलता ही है। आधुनिक भाषाओं में प्राचीन क्रियार्थ-भेदों का कोई खास चिह्न नहीं रह गया, जब तक कोई आज्ञार्थ को, जिसका साधारणतः एक० मध्यम पुरुष की अपेक्षा कोई अन्य रूप नहीं है, मूल क्रिया के समान न गिने; इसके अतिरिक्त स्वयं आज्ञार्थ चाहे क्रियार्थक संज्ञा (विशेष भाव-रहित) द्वारा अथवा कर्मवाच्य वर्तमान (भिन्न अथवा आदरपूर्ण भेद) द्वारा अपना स्थान लिये जाने की प्रवृत्ति प्रकट करता है।

स्वयं निश्चयार्थ में, अतीत लुप्त हो जाते हैं; स-भविष्यत् केवल कुछ भाषाओं में रह जाता है; केवल वर्तमान निरंतर रूप में बना रहता है, और ऐसे अर्थ प्रकट करने की क्षमता रखता है जिनकी अभिव्यंजना बहुत उचित नहीं होती; संस्कृत में ही वह आश्रित पूर्वसर्ग में संशयार्थसूचक रूप का स्थान ग्रहण कर लेता है। वर्णन करते समय वह सुविधानुसार निश्चयार्थ के अन्य कालों में मिश्रित हो जाता है : मध्यकालीन भारतीय भाषा में खारवेल का अभिलेख, वस्तुतः ऐतिहासिक, पूरा-का-पूरा वर्तमान में है केवल भूमिका को छोड़कर जिसमें राजा के बचपन वाला संबंधवाचक अतीत -त- युक्त कृदन्तों द्वारा व्यक्त किया गया है, और अंत में, हस्ताक्षरों में है जो केवल सामान्य वाक्यांशों से बना है : निस्सन्देह ऐसा दो शैलियों के संघर्ष की अपेक्षा अर्थ के सूक्ष्म भेद में कम होता है। भविष्यत् के अर्थ वाला वर्तमान बहुत कम मिलता है।

आधुनिक साहित्यों तथा साथ ही ग्रामीण बोलियों में, जो प्राचीन हैं, प्राचीन

वर्तमान में साधारणतः वास्तविक अर्थ सुरक्षित रहता है, साथ ही सूत्र या कहावत-संबंधी वर्तमान का, जो निरन्तर रहता है। ऐतिहासिक वर्तमान वर्णन में अधिक मिलता है; मराठी तो और आगे जाती है : उसमें प्राचीन वर्तमान भूत० में पुनरावृत्त हुए कार्य को नियमित रूप से द्योतित करता है। दूसरी ओर मराठी में वह संभावना, अनिश्चितता व्यक्त करने का काम देता है; उसमें उसका वह भाव है जो हिंदी में, पंजाबी में, कश्मीरी में [गुपि "वह छिपेगा, वह छिप सकता है, (यदि) वह छिपे"] प्रचलित है; उसमें भविष्यत् का भाव निहित रहता है, शिना में सामान्य (हरम् "मैं ले जाऊँगा") तथा अन्य दर्द-बोलियों में (दमेली, तोरवाली, प्रथम० एक० के विचित्र रूप-सहित), मैथिली में (संभाव्य अर्थ भी)। वास्तव में केवल नूरी में उससे आश्रित पूर्वसर्ग का संशयार्थसूचक बनता है, और निश्चयार्थ भाव प्रकट करने के लिये उसमें एक निपात जुड़ जाता है : ननम् "मैं जो लाता हूँ", ननमि "मैं लाता हूँ"; इसी प्रकार यूरोप में कमाव् एक प्रकार से संशयार्थसूचक है, कमाव वास्तविक भविष्य है : "मैं प्यार करूँगा।"

विपर्यस्त रूप में क्रियार्थ-भेद-संबंधी सूक्ष्म भेद वर्तमान से सम्बद्ध निपात द्वारा उपलब्ध हो सकता है। यह सिंहली वा है, और क्षेत्र की दूसरी सीमा पर, कती, अश्कुन, वैगेलि बा (गवर्बती -अ ?) : ऐसा निस्सन्देह, कम-से-कम अन्तिम समुदाय में, संस्कृत भू- धातु के रूप, संभवतः आदरार्थ, से हो जाता है; इसके अतिरिक्त ब- से काफ़िर में "सकना" क्रिया उपलब्ध होती है। यही शब्द यूरोप की जिप्सी-भाषा (रूमानियन, हंगेरियन, वेल्श) के आज्ञार्थ में सामान्य प्रत्यय हो जाता है। तीराही में भविष्यत् बताने वाला उपसर्ग ब- का और अफ़गानी से उधार लिये गये का भेद करना आवश्यक है।

लहंदा में काफ़िर के "आदरार्थ" के सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए अयथार्थ की रचना होती है : माराँ-हा, मारेन्-हा। इसी प्रकार कश्मीरी में हैं, निपात के बाद आने वाले प्रत्ययों को छोड़कर, : गुप-हख्, गुपि-हिव्।

किन्तु सामान्यतः अयथार्थ, जिससे भूत० अनिश्चितता का द्योतन होता है, अपूर्ण के साथ सम्बद्ध हो जाता है; उदाहरणार्थ हिं० कर्ता।

दूसरी ओर यह देखा जा चुका है कि कर्मवाच्य वर्तमान, अपने सूत्र या कहावत-संबंधी भाव के नाम में, प्रायः बन्धन का भाव ग्रहण कर लेता है, और नम्र आज्ञा देने के काम आता है। म० पाहिजे, हिं० चाहिये, अव० देखज्; हिं० दीजे, दीजिये; पु० कश० पेजे "उसे गिरना चाहिए", खेजे "उसे खाना चाहिए", कश० आधु० गुपिज़ि, हिं० दीजियो आदि; -इयो युक्त बंगाली का आशीर्वादात्मक (हिन्दी से उधार लिया गया ?) संभवतः प्राकृत शौर० दिज्जदु के आज्ञार्थ प्रकार वाले इन रूपों का अनुकूल रूप है।

क्रियार्थ-भेद-संबंधी सूक्ष्म भेद, अतः, अस्थायी सूक्ष्म भेद विविध रूप में आते हैं।

मुख्य कालों में, वर्तमान में प्राचीन वर्तमान की संभव अभिव्यंजना थी; संस्कृत -(इ)त- से निकला कृदन्त सामान्यतः अतीत का प्रतिनिधित्व करता है। अकेला भविष्यत्, वहाँ जहाँ स्-भविष्यत् रूप नहीं है, उचित अभिव्यजना-रहित रहता है। ऐसे कारक देखे जा चुके हैं जिनमें वह बन्धन के कृदन्त द्वारा आती है, सं० -(इ)तव्य-।

अन्य रीतियाँ भी हैं, जिनके तत्त्व आधुनिक हैं।

प्रथमतः सामान्य वाक्य-विस्तारों की रीति : म० बोल्णार आहे, गु० चाल्वानो छुं, सिंहली कपन्ने-मि (प्राचीन काल में सतततासूचक वर्तमान और वर्णनात्मक भूत० के रूप में) ; क्रियार्थक संज्ञा के साथ, नेपाली में गर्ने छ बनता है; पशई वर्तमान प्रत्यक्षतः संहिति पर आधारित है : हनीक्-अम "मैं मारता हूँ, मैंने मारा"।

एक दूसरी रीति वर्तमान से सम्बद्ध निपातों की है; यह देखा जा चुका है कि यूरोपीय जिप्सी-भाषा में यह कारक है (ग्रीक थ्अ के अनुकरण पर कम- "इच्छा होना" के बालकानी प्रयोग को छोड़ कर) ; गवर्बती में -आ और -ओं क्रिया-रूप मूल के साथ सम्बद्ध हो गया प्रतीत होता है (सामान्य वर्तमान म् पर-प्रत्यय के साथ है) : θलेम्-ओ "मैं पीटूँगा", θलेस्-आ, तुल० बोएम्, बोएस् (स्वयं एक कृदन्त और क्रियामूलक रूप-रचना का सान्निध्य रूप) ; शिना में द्ॲष् अनिश्चित को थोड़े-से भविष्यत् का भाव प्रदान करता है।

प्रायः प्रयुक्त निपात नामजात मूल का रहता है, और ठीक-ठीक रूप में कहा जाय तो कृदन्त। एक विशेष रूप से स्पष्ट कारक हिन्दी में मिलता है :

एक०	१	पु० चलूँ(ङ)गा	स्त्री० चलूँ(ङ)गी
	२-३	चलेगा	चलेगी
बहु०	१-३	चलें(ङ)गे	चलें(ङ)गी
	२	चलोगे	चलोगी

हिन्दी तथा आसपास की सभी बोलियों में यह प्रकार ज्यों-का-त्यों मिलता है : मैथिली (आंशिक), पंजाबी, मेवाती। किन्तु राजस्थान के दक्षिण में, मारवाड़ी और मालवी गा, भीली गो पु० एक० के रूप में स्थित हैं। पंजाब की उत्तरी जातियों की बोलियों और पड़ौसी हिमालय-निवासियों की बोलियों में, पर-प्रत्यय ग अथवा घा है, तथा इसके अतिरिक्त मुख्य क्रिया के प्रत्यय दृष्टिगोचर नहीं होते। उदाहरण, डोगरा (पंजाबी) :

१	एक०	मारङ	बहु० पु०	मारन् मार्गे
			स्त्री०	मार्गिआँ
२	पु०	मार्ग	पु०	मार्गिओ, मार्गे
	स्त्री०	मर्गी	स्त्री०	मार्गिअँ
३		मारग्		मारन्गे, -गन्, मार्गन्, मार्गुअँ

तुल० पु० में, काँगड़ा बोली में :

एक० १ मराँग् (ह्)आ, १.२.३ मार्ग् (ह्)आ; बहु० १.२.३ मार्ग् (ह्)ए।

कुछ रूप इस सामान्य अनुमान को प्रश्रय देते हैं कि प्रथम शब्द क्रिया-रूप-युक्त रूपों का अवशिष्ट अंश है; यह भी संभव है कि क्रियामूलक विशेष्य बीच में आ टपका हो, जैसा शिना के भूत० में है : ज़मेगु, ज़मेगि "उसने (पु०), उसने (स्त्री०) पीटा है"।

द्वितीय अंश स्पष्टतः नामजात और स्वतंत्र है; इस अवसर पर हिन्दी उन्हें पृथक् कर देती है : हो ही गा। क्रिया "जाना", सं० गत- के भूत० कृदन्त के अ-व्याप्ति-युक्त रूप को पहचानना सरल है; पु० प्रा० गओ, ब्रज गौ, हि० गा [व्यप्ति-युक्त रूप प्रा० ग (य्)अओ, ब्रज गयौ, हिं० गया]। यह कृदन्त, जो शिना में भूत० अर्थ-युक्त वाक्य-विस्तारों की रचना करता है (हरीगु, हरीगि "वह ले गया, ले गयी है") और फलतः स्वाभाविक रूप में, अश्कुन में, अयथार्थ भाव में (दिअले-गोम् "मैं जाऊँगा", तुल० तुल० दिअलेम् "मैं जाऊँगा"), यहाँ पूर्ण होने का भाव ग्रहण कर लेता है : इसलिए अर्थ होगा : मैं गया हूँ (गयी हूँ) ताकि मैं पीटूँ" आदि। तुल० वेल्श जिप्सी-भाषा की अभिव्यंजना : मे जाँव ते ख़अँ "मैं जाता हूँ कि मैं खाऊँ, मैं खाने के लिये जाता हूँ", और भूत० कृदन्त के साथ : नूरी गर जारि "गया कि वह जा सके, वह जाना चाहता है"।

अन्यत्र द्वितीय अंश ल् अकेले या व्याप्ति द्वारा निर्मित होता है। मराठी में, अत्यन्त प्राचीन पाठों के काल से -ल् अकेला है : पडैल्, पडेल्, करील्। भीली में और मारवाड़ी में पर-प्रत्यय, अव्यय -लो, -ला है। किन्तु जैपुरी में -लो संज्ञा-रूप प्राप्त करता है, और साथ ही हिमालय के समुदाय में : कुमायूँनी -लो, नेपाली -ला :

१ गरुँ ला (अव्यक्त भविष्यत् में गर्ने छ, दे० पीछे) "मैं बनाऊँगा, मैं बनाना चाहता हूँ"।

२ गरे-ला-स्।

३ गरे-ला।

(प्राचीन रूपों के साथ योग, उदाहरणार्थ, पूँच की लहँदा, कुल्लू की बोली, में)।

समीपवर्ती बोलियों में मार्ला प्रकार की प्रतिद्वन्द्विता मारूँला से है जैसा कि उसी क्षेत्र में देखा जाता है कि मार्-गा की प्रतिद्वन्द्विता माराँ-गा से है।

अपरिवर्तनीय मूल की उत्पत्ति यहाँ इतनी कम स्पष्ट है कि कुछ बोलियों में द्वितीय अंश के क्रियामूलक प्रत्यय प्रभावित हो गये हैं : जैसे काफ़िर में, अश्कुन वलेइ, कती बेलोम्-, अश्कुन कलिम्, कती कुलुम् "मैं जाऊँगा"; तुल० अश्कुन सेम्, कती सुअंम् "मैं हूँ"।

मध्य० बंगाली में स-भविष्यत् के उत्तम० एक० के विकरण में, जो क्षीण हो चुका था, -लि जुड़ जाता है : करिहलि, दिहलि।

प्रणालियों के व्यवधान और भिन्नता रहने पर भी, भोजपुरी वर्तमान-भविष्यत् की गणना करने के लिये भी यह उपयुक्त स्थल है : पु० देखले, स्त्री० देखलिसि; देखे-ले, देखे-लन्, देख-लिन् (तुल० देखन् "यदि वे देखते हैं", देखिन् "यदि वे देखती हैं")। ऐसा यहाँ प्रतीत होता ही है, यद्यपि हमारे सामने चाहे भूत० कृदन्त हों अथवा क्रियामूलक विशेष्य; कोंकणी वर्तमान० कृदन्त से अपना काम चला लेती है : निद्तो-लों "मैं सोऊँगा"।

अस्तु, इन रूपों का इतिहास जटिल है; किन्तु ग्- युक्त रूप के साथ समानता द्वितीय शब्द में कृदन्त देखने के लिये बाध्य करती है, कृदन्त जो निस्सन्देह सं० ला- से है, जो वस्तुतः मध्यकालीन भारतीय भाषा-काल से ले-(दे- के अनुकरण पर निर्मित) द्वारा सामान्यतः स्थान-च्युत कर दिया गया है; रूसी जिप्सी-भाषा ल- "लेना" के प्रयोग के साथ संसरण ध्यान देने योग्य है।

भविष्यत् से बाहर, ऐसे उदाहरण बहुत कम हैं जिनमें सहायक एक कृदन्त हो। सिंधी में निश्चयार्थ वर्तमान अऊँ हलाँ थो (स्त्री० थी) अथवा थो(थी)हलाँ "मैं जाता हूँ" संस्कृत स्था- धातु के कृदन्त-सहित है; 'पिओ चारे' जिसमें कृदन्त संस्कृत पतित- से निकला है।

इसी प्रकार की रचना, किन्तु क्रियामूलक सहायक के साथ (तुल० जिप्सी-भाषा का भविष्यत् जिसका पीछे उल्लेख किया गया है) गुजराती-राजस्थानी-ब्रज समुदाय में यथार्थ वर्तमान निर्मित करने का कार्य करती है : गु० चलूँ छूं, ब्रज मारौं हौं।

क्रियामूलक सहायक, जो प्रधान भाव को द्योतित करने वाले कृदन्त कर्त्ता या विकृत रूप के साथ आते हैं, अस्थायी और क्रियार्थ-भेद-संबंधी सूक्ष्म भेद की साधारण-से-साधारण अभिव्यंजना के साधन बनते हैं और जिनके अब तक देखे गये रूप अनुवाद के अयोग्य हैं : सतत, संबंध काल, आदि। इस अवसर पर व्याकरण और शब्दावली के बीच कोई निश्चित सीमा नहीं है, यद्यपि क्रिया-रूप भाषाओं के अधिक परिष्करण और उनकी

गंभीरता के अनुरूप ही समृद्ध प्रतीत होते हैं उनका यहाँ उल्लेख करना उतना ही अनावश्यक है जितना संज्ञा का आकृति-मूलक वर्णन करते समय समस्त प्रयुक्त परसर्गों की सूची का। यहाँ 'होना' क्रिया के साथ योग के ऐसे कुछ उदाहरण देना यथेष्ट होगा जो अत्यन्त स्पष्ट उदाहरणों में से छाँटे गये हैं (सभी अव्ययी रूप पु० में प्रकट होते हैं) :

मराठी :

क्रिया "होना" के रूप :

चालत् आहें
चाल्तो आहें
चाल्लों आहें
चाल्णार् आहें
चालत् असें
चालत् अस्तों
चालत् अस्लों
चाल्लों अस्तों
चाल्लों अस्लों
चाल्णार् अस्तों
चाल्णार् अस्लो
चालत् असेन्
चाल्लों असेन्
चाल्णार् असेन्
चालत् होतों
चाल्लों होतों
चाल्ता झालो
चाल्ता होइन्

कृदन्ती रूप से क्रिया "होना" :

चालत् असावा
चाल्लों असावा
चाल्णार असावा
म्याँ चालत् असावे
म्याँ चालावा होतें

सिन्धी (सामान्य या परसर्गात्मक विकृत सर्वनामों की रचना किये बिना) :

क्रिया "होना" का रूप :

हलदो आँहियाँ
हल्यो आँहियाँ
हलन्दो हुआँ
हलन्दो हो-स्[ए]
हलन्दो हून्दु-स्[ए]

क्रिया "होना" कृदन्त :

हलाँ थो, थो हलाँ

तुल० हलिउस्[ए] थे (विकृत कृदन्त), जो वास्तव में है हलिउस्[ए]

मारवाड़ी :

मार्तो हुऊँ "मैं पीट सकता हूँ" (निश्चयार्थ वर्तमान के लिये द्विगुण अनिश्चित : मारूँ हूँ)।
मार्तो हुऊँला
मार्तो हो (तथा भूत० कृदन्त के अधिकरण सहित : मारै हो)
मार्तो होतो

हिन्दी :

क्रिया "होना" के रूप :

गिर्ता (-ती) हूँ
गिरा (-ई) हूँ
गिर्ता होऊँ
गिरा होऊँ
गिर्ता हूङगा
गिरा हूङगा

क्रिया "होना" कृदन्त में :

गिर्ता होता
गिरा होता
गिर्ता था
गिरा था

मैथिली :

देखइ छी, देखइत (देखइत् ^इ^) छी।

देखल् अथवा देख्^अ^लहुँ अछि (अथवा अहि)।

देखलें छि।

देखइ अथवा देखइत् (-त्^इ^) चलह्^ऊँ^ (अछ्- का क्रिया-रूप कृदन्त)।

देखलें चलह्^उँ^।

आधु० बंगाली : करिते छि, करिते छिलाम्।
करिया छि, करिया छिलाम्।

म० बंगाली : करि छि, करि छिलो।

नूरी :

नन्-ओ-चम् (क्रियामूलक विशेष्य+*हो+*अच्छामि) "मैं लाना चाहता हूँ", "मैं लाता हूँ, ला रहा हूँ"।

क्रिया "होना" कर्मवाच्य बनाने के भी काम आती है :

सिंधी : मारिबो आहियाँ, तुल० मारिबु-स्^ए^; विपर्यस्त रूप में "होना" का कृदन्त प्राचीन कर्मवाच्य से सम्बद्ध पाया जाता है : मारिजाँ थो "मैं पीटा जा रहा हूँ"।

मारवाड़ी : मारियो है, हो; और फलतः म्हैं मारियो है, हो; म्हैं मारियो हुवै; यह केवल कर्मवाच्य है, प्रयोग कर्तृवाच्य का पूरक है।

बंगाली : खवा होइ, मारा होबे, धरा होइआ छे; ए बोइ आमार् पड़ा आछे।

पशई (समुदाय में, ऐसा प्रतीत होता है केवल यही) : हनिन् लियिम्, बीकीम् "मैं पीटा जाता हूँ, तुम पीटे जाते हो", हनिन् बिगाकुम् "हम पीटे जाते हैं।"

जिप्सी-भाषा में भी -ओव्- (प्रा० हो-) से कर्मवाच्य बराबर बनता है : चिंन्दोवव "मैं गिरा हूँ"; यह बरिओवव "मैं बड़ा हो गया हूँ" प्रकार का विस्तार है। नूरी में ऐसा कुछ भी नहीं है।

इन समस्त अभिव्यंजनाओं का महत्त्व भली भाँति समझने के लिये (जिनमें प्राचीन-कालीन श्रेणियाँ नहीं ढूँढ़नी पड़तीं अथवा प्रयोग की आवृत्ति नहीं ढूँढ़नी पड़ती), न केवल कृदन्तों के संबंध में संकेतित यौगिक सान्निध्य की और पीछे संकेतित भविष्यत्० की ओर ही ध्यान जाना आवश्यक है, वरन् दूसरी ओर उन समुदायों की आवृत्ति की ओर भी जो "होना" के अतिरिक्त अन्य क्रियाओं के साथ सादृश्य रखती हैं।

अत्यधिक विशेषता-सूचक अभिव्यंजनाओं में से उन अभिव्यंजनाओं का उल्लेख किया जा सकता है जो "जाना" से बनती हैं; पीछे यह देखा जा चुका है कि शिना में भविष्यत्० और भूत० में यह क्रिया कृदन्त रूप में है। व्यक्तिवाचक रूपों में प्रयुक्त होने पर, उससे कर्मवाच्य बनाये जा सकते हैं।

कश्मीरी में यह क्रिया विकृत क्रियार्थक संज्ञा से निर्मित होती है : गुपन यिम "मैं ढूँढ़ने जाऊँगा, मैंने ढूँढ़ लिया होता", बंगाली में प्रत्यक्षतः कर्तृ क्रियार्थक संज्ञा (प्राचीन कृदन्त) से : देखा जाय् अथवा होइ।

"जाना" कर्त्ता से साम्य रखने वाला कर्मवाच्य कृदन्त के साथ भी मिलता है, और ऐसा विशेषतः हिन्दी, पंजाबी, मराठी और उड़िया में है : वोँ मारा गया, मैं मारा जाता हूँ।

यह रचना कुछ कम स्पष्ट है; क्या अलग-अलग होने के समय जन्- धातु के संस्कृत जात- से निकले प्रा० जाअ- (कर्पूर० छूरिओ जाओ म्हि) और प्राकृत जा-, सं० या-"जाना" जिसका निरन्तरता का भाव एक प्रकार से सहायक का था, के बीच गड़बड़ है [तुल० हिं० वोँ कह्ता गया अथवा रह्ता; मेरा गला बैठ्ता (बैठा) जाता है] ? क्या यह ईरानी प्रभाव है ? फ़ारसी और अफ़गानी वास्तव में इसी रीति से शुदन् का प्रयोग करती हैं, जिसका प्राचीन अर्थ है "जाना"। इस संबंध में उर्दू मध्यम मार्ग और अन्य भाषाओं के लिये आदर्श होगी। हर हालत में यह रचना केवल हाल की ही प्रतीत होती है, और संभवतः उस पर अँगरेज़ी का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

क्या ऐसा ही "होना" क्रिया की रचना में है ? प्रत्येक परिस्थिति में प्राचीन देशी प्रणाली से, कर्मवाच्य के स्थान पर, प्रेरणार्थक कर्तृवाच्य विकरण के विपरीत नपुं० कर्मवाच्य विकरण उपलब्ध होता है, दे० पीछे; स्थानीय स्वरूपों की गणना किये बिना, उदाहरणार्थ, कती विनगन् उन्ग-, पु० सिंहली गसनु लबमि (रूप जो अप्रत्यक्ष रूप से बुद्धघोष की पाली में मिलता ही है, दे० "क्रिटि० पाली डिक्श०", s.w. अन्तरकरण-), सिंहली आधु० गसण्ट येदेनवा, हिं० देख्ने में आना, दिखाई देना; जहाँ तक मार् खाना, सुनाई पड़्ना "सुनाई में गिरना, सुन पड़ना" प्रकारों से संबंध है, इस बात की ओर संकेत किया ही जा चुका है कि उनके कुछ सदृश रूप हैं, पहला ईरानी में, दूसरा द्रविड़ में। बंगाली में, आमि देखा पड़ि "मैं पड़ता हूँ देखा" के निकट आमाके देखन् जाय् अथवा होय् "मेरी ओर देखा जाता है, होता है", जो बराबर है "मैं देखा जाता हूँ" के।

यहाँ यह देखा जाता है कि व्याकरण का बहुत काम नहीं है। ऐसा अति सामान्य प्रयोग के स्वरूपों के विशेष प्रयोग द्वारा हो जाता है, और जो भारतीय शब्दावली की

विशेषता है। उदाहरणार्थ, बंगाली में "गिरना" के प्रयोग की ओर ध्यान देना यथेष्ट होगा : से गाँछे उठिया पँड़िल, से गाँछे उँठिया पड़िल जिनमें अतिशयता के बल-स्थल का अनुगमन करते हुए, उस प्रणाली का समुदाय है अथवा नहीं जिससे दो विरोधी अर्थ उपलब्ध होते हैं : "पेड़ पर चढ़ा हुआ, वह गिर पड़ा है; वह पेड़ पर चढ़ने को हो गया है" (ऐंडर्सन, 'मैनुअल आव दि बेंग्० लैंग्०', पृ० ३५)। "लेना", "देना", "फेंकना" के लिये क्रियाओं से प्रमुखतः अतिशयता का भाव प्राप्त होता है : बंगाली डाकिया देइ; "छोड़ देना" दो भाषाओं में, जो व्याप्ति-युक्त भी हैं, आता है जिससे गुजराती और कश्मीरी अपने भूत० कृदन्त को सशक्त बनाती हैं : गु० तेने राणी ने नसाड़ी-मुकी (उसके द्वारा रानी का पीछा किया गया); कश्० छुह गुप्[उ]-मोत्[उ] "वह छिपा हुआ है"। अस्तु, रूप, जो प्रचुर हैं और वर्णनात्मक व्याकरणों में कठिनाइयाँ उपस्थित करते हैं, वास्तविक सच्चे क्रिया-रूपों के निर्माण के प्रमाण नहीं हैं।

कर्त्ता के साथ क्रिया के संबंध

वाच्य

प्राचीन संस्कृत में अकर्तृक क्रिया नहीं थी : मै० सं० यद् वैं पुरुषन्यर्नयति. तै० सं० प्रजाभ्यो'कल्पत, ऋ०, अवर्षीत्, श० ब्रा० वर्षिष्यति; किन्तु वर्ष- द्वारा एक कर्त्ता व्यक्त होता है; तथा श० ब्रा० में उग्रो वाति वास्तव में सामान्य सूत्र की भाँति आता है, यदा बलवद् वाति, एक पु० कर्त्ता निहित है। वास्तव में संस्कृत में कर्मवाच्य के रूप में केवल अकर्तृक का ही विकास हो सका; यह एक वास्तविकता है कि न्यायानुकूल कर्त्ता यहाँ करण० द्वारा प्रकट होता है, और समानता से भी जिसे कर्मवाच्य पुरुषवाचक रूप -तव्य तथा -त- युक्त क्रियामूलक विशेषण के सहित प्रस्तुत करते हैं। आधुनिक भाषाएँ सुविधा के अनुसार कर्त्ता प्रकट करती हैं : हिन्दी मेंह् या पानी पड़ता है, बादल गरज्ती (?) है, बिजली चमकती है, सिर् में दर्द् है, कतीं सैं तिन्; नूरी को पृथक् रखना आवश्यक है जिसमें वर्स्र्' एद् दिन्य एक अरबी प्रभाव है, जिसके निकट उसमें वर्सरि "बरसता है" भी है। यह समझा जाता है कि कर्त्ता, संभवतः एक उपसर्गात्मक अव्यय, बाद में "कि" लगा कर अपना परिचय देता है, जैसे संस्कृत यत् और बाद को फ़ारसी से लिया गया कि : हिं० बिह्तर् होगा कि।

जहाँ तक कर्त्ता के पुरुषवाचक क्रिया से संबंध की बात है, वह संस्कृत में दो प्रकार के प्रत्ययों द्वारा प्रकट होता है :

कर्तृवाच्य और मध्य। दूसरे में, क्लैसीकल संस्कृत में केवल कर्मवाच्यों का निश्चित भाव सुरक्षित रहा है, साथ ही उनमें एक विशेष पर-प्रत्यय का प्रयोग होता है। जैसा कि देखा जा चुका है, मध्यकालीन भारतीय भाषा में यह वर्ग बना रहता है, किन्तु उसके विशेषता-सूचक प्रत्यय लुप्त हो जाते हैं। नव्य-भारतीय भाषाओं में यह वर्ग सीमित रूप में मिलता है, अनेक स्थलों पर कर्मवाच्य अपने प्रागैतिहासिक तुल्य रूपों द्वारा व्यक्त होता है; किन्तु कर्मवाच्य का ह्रास अपूर्ण रह जाता है। जहाँ तक पीछे उल्लिखित हाल के रूपों से संबंध है, उनका मूल साहित्यिक है, और अधिकांशतः वे यूरोपीय प्रभाव के कारण हैं।

हर हालत में, अकर्तृक के अभाव की भाँति, सामान्य कर्मवाच्य का इतिहास इस

बात का प्रमाण है कि चीज़ों को कर्तृवाच्य रूप के अन्तर्गत देखने की आवश्यकता है; कुछ समय के लिये कर्मवाच्य रूपों के वर्तमान भविष्यत् में कर्मवाच्यों के जीवित रहने के कारण, जब कि भूत० की अनिवार्यतः कर्मवाच्य वाली अभिव्यंजना थी, इस बात की आशा की जा सकती है कि एक पूर्णतः कर्मवाच्य क्रिया की रचना हो। वास्तव में कई भाषाओं में कर्त्ता कारक में ऐसे कुछ रूपों का प्रयोग होता है जिनके विकृत रूप होने का सन्देह किया जा सकता है; विशेषतः सर्वनामों में यह स्पष्ट है, और वह भी न केवल शिना में, जिसमें तिब्बती का प्रभाव माना जाता है (एल० एस० आई०, पृ० ३५०), किन्तु, उदाहरणार्थ, हिन्दी में भी : मैं। लेकिन, वास्तविक भाषा-विज्ञान की भावना के अनुसार, ये सदैव कर्त्ता० से होते हैं; तथा स्वयं भाषा-विज्ञान की भावना, व्याकरण-संबंधी सूचनाओं के प्रकाश में देखने पर, उस रचना का कर्तृवाच्य की भाँति विश्लेषण करती है जिसका पूर्ण साम्य कर्मवाच्य प्रकार के साथ होता है . मैं ने यें किताब् पढ़ी।

लिंग

पुरुषवाचक शब्द-रूप क्रिया-रूप में एक बहुत ही न्यूनत्व-पूर्ण स्थान ग्रहण कर लेते हैं——यदि उनकी तुलना अन्य क्रियाओं के साथ आने या न आने वाले कृदन्ती रूपों के साथ की जाय। तो फिर यह कहा जा सकता है कि लिंग की अभिव्यक्ति उन भाषाओं में महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर लेती है जिनमें विशेषण उसे स्वीकार कर लेते हैं : हि० मैं बोल्ता या बोल्ती, मैं बोला या बोली; म० मिँ उठों या उठ्तोँ, मिँ उठ्लों अथवा उठ्लें, आदि।

हिन्दी जैसी भाषाओं में भूत० के लिये कर्मवाच्य अभिव्यंजना मिलती है (औरत् ने घोड़ा मारा, घोड़ी मारी, जिसका ठीक-ठीक रूप होगा "औरत द्वारा घोड़ा मारा गया, घोड़ी मारी गयी"), लिंग पूर्णतः पुरुष पर छाया हुआ है। अकर्तृक रूप "औरत ने घोड़े (घोड़ी) को मारा" "औरत द्वारा घोड़े को (घोड़ी को) उसे कुछ आघात दिये गये हैं" लिंग के महत्त्व को, बिना पुरुष को उसके अधिकार दिये बिना, दबा देते हैं; इसी प्रकार नेपाली आदरसूचक हैं।

लिंग की अभिव्यक्ति केवल वहीं नहीं मिलती जहाँ वह विशेषण में नहीं है : सिंहली में, काफ़िर में (उसमें गवर्बती भी शामिल कर लीजिए जिसमें विशेषण का आंशिक साम्य स्थापित होता है), कलाश में, पशई और खोवार में, अंत में पूर्वी समुदाय में; स्वयं भोजपुरी में, उसके क्रिया-रूप में गणना की जाती है : २ एक० पु० देखस्, स्त्री० देखिस्, जब कि विशेषण का साम्य केवल संबंधवाची काव्य-रूप 'मोरी' में अधिक प्रमाणित होता है।

पुरुष तथा वचन

यह देखा जा चुका है कि पुरुष की अभिव्यक्ति किस प्रकार कृदन्ती रूपों में प्रकट होती है जो सिद्धान्ततः उसे स्वीकार नहीं करते; इसके अतिरिक्त सर्वनाम, विशेषतः उत्तम और मध्यम पुरुषों में, साधारणतः उनमें अभिव्यक्त होते हैं—जब तक कि उनके बिना आना सर्वनामों के लिए अनिवार्य न हो।

भारतवर्ष में अत्यधिक विकसित सामाजिक ऊँच-नीच के कारण पुरुषों का प्राचीन प्रयोग कुछ जटिल हो गया है। प्राचीन संस्कृत में तो नहीं, जिसमें अधिक-से-अधिक पद के अनुसार लोगों को संबोधित करने में भेद था (उदा० ब्राह्मणों के लिये भोः); किन्तु बाद को एक और रूप भवन्त्- निकल पड़ा जो एक सम्मानित व्यक्ति को संबोधित करने के काम आता था; पाली और संस्कृत में, विशेषतः शिष्ट और नम्रताशील साहित्य में, सर्वनामों के बहुवचन भी मिलते हैं।

शिष्ट भाषाओं में वह एक नियम बन जाता है। यद्यपि जिप्सी-भाषा में सर्वत्र 'तू-तेरा' प्रचलित है, गंगा-सिंधु घाटियों की भाषाओं में उसमें घनिष्ठता, स्नेहशीलता अथवा घृणा निहित रहती है। हिन्दी में बहु० का मध्यम पुरुष छोटों के साथ सामान्य संबंध में काम आता है; शिष्ट रूप प्रथम० बहुवचन का होगा, जिसके साथ या मान लिया गया एक प्रथम० एक० का कर्त्ता होगा, किन्तु जो सम्मानसूचक होगा : आप्, वास्तव में "स्वयं", तुल० दे० पीछे, महाराज्, हुज़ूर्, साहेब्, आदि : क्योंकि प्रथम० एक० में आदरसूचक कर्त्ता हर हालत में क्रिया को बहु० में परिणत कर देगा : राजा फ़र्माते हैं। फलस्वरूप, एक० उत्तम० को व्यक्त करने के लिये, 'मैं' का प्रयोग किया जा सकता है, और विनम्रता के सूक्ष्म भेद के साथ, 'बन्दा' प्रकार के शब्दों का प्रथम० एक० में; किन्तु 'हम्' बिना किसी विशेष मूल्य के सामान्य है : हम नहिँ करेन्गे "मैं (उसे) नहीं करूँगा"। मराठी और गुजराती में, सदृश नियम हैं, किन्तु तीन लिंगों के अस्तित्व के कारण यह दुरूहता है कि स्त्री० का आदरसूचक रूप नपुं० है; म० बाई-साहेब् आलिँ अस्तिँ, गु० तेम्नी साथे राणी पण् अव्याँ छे (क्या इसमें और हिन्दी प्रकार के स्त्री० बहु० के बीच का संबंध प्राचीन नपुं० प्रतीत होता है, दे० पीछे)। सिंहली में बहु० उम्ॅब अथवा नु(म्ॅ)ब, प्रथम० उन्-द्आँ की भाँति, बराबर वाले अथवा उस छोटे का, जिसके साथ विनम्रतापूर्ण व्यवहार किया जाता है (जिससे नवीन बहु० उम्ॅब-ला की उत्पत्ति), द्योतन होता है; आदर तमु-से (अर्थात् स्पष्टतः आत्मनां छाया) अथवा नुब वहन्से "आपकी बुराइयों की छाया (?)" द्वारा प्रकट किया जाता है; इसी प्रकार पु० प्रथम० में उन्न्अँहे, उन्- वहन्से का 'ऊ' "उसे" (क्योंकि स्त्री० अँ के आदरसूचक रूप नहीं होते) के स्थान पर प्रयोग होता है; तुल० गुरुन्नान्से "स्वामी"।

बहु० सर्वनामों के प्रयोग के कुछ आकृतिमूलक परिणाम दृष्टिगोचर होते हैं। बंगाली में 'मुइ' के प्रतिकूल : आमि "मुझे : हमें", तुइ; तुमि "तू : तुम" में विपरीतता मिलती है :

मुइ, तुइ "मैं, तू"
मोरा, तोरा "हम, तुम" } निम्न

आमि, तुमि "मैं, तुम"
आम्‌रा, तोम्‌रा "हम, तुम" } सामान्य

अस्तु, मध्यम पुरुष में मिलेंगे :

तुइ करिस् (घनिष्ठतासूचक)
तुमि कर (एक व्यक्ति)
तोम्‌रा कर (बहुत-से व्यक्ति)

स्वभावतः बिना गणना किये :

आप्‌नि (आप्‌नारा) करेन्

और आज्ञार्थ में प्रथम० बहु० का रूप वैसा ही होगा जैसा मध्यम० के लिये :

आप्‌नार् अभिप्राय् व्यक्त करुन् ।

और प्रथम पुरुष में, न केवल मिलते हैं :

से करे, तहारा करेन्, किन्तु, यह मान कर कि शुरू में बहु० सर्वनाम तिनि, एक० में व्यवहृत होता है, एक ऐसा क्रियामूलक रूप मिलता है जो प्राचीन रूप में बहु० होते हुए भी दो भावों के साथ प्रयुक्त होता है :

तिनि करेन्, तहारा अथवा ताँहारा करेन् ।

मैथिली में चीज़ें और भी दूर चली जाती हैं; एक ओर तो बंगाली की भाँति सर्वनाम बन्धनमुक्त होते हैं : हम्, तोँह् (प्राचीन बहुवचन), हम् सभ् "सब बहुत-से मैं" अथवा कहना चाहिए "हम सब", अस्तु "हम", तोँह् सभ्; किन्तु क्रिया किसी भी तरह उसका वचन प्रकट नहीं करती। एक दुरूह प्रणाली में आदर की भावना ने वचन का स्थान पूर्णतः ग्रहण कर लिया है—ऐसी दुरूह प्रणाली में जिसमें नवीन भावनाओं के मूल में स्वभावतः ऐसे रूपों की झलक मिलती है जो प्राचीन की भावना प्रकट करते हैं : "तू देखता है" की तीन साधारण अभिव्यंजनाएँ मिलती हैं : देख्, देखह्[उ] प्राचीन बहुवचन, इसी प्रकार एक अव्यय निपात-सहित देख्[अ] हु-क्; इसके अतिरिक्त "तुझे", "तुम्हें" के साथ देखइछह्[उ] का प्रयोग किया जाता है, यदि पूरक, साक्षात् हो अथवा नहीं,

वस्तु, पशु अथवा नगण्य व्यक्ति है, तथा देखइ छह्न्ह् इ (बहु० विकृत सर्वनाम को संबद्ध करता है) यदि वह सम्मानित व्यक्ति के संबंध में होता है; दूसरी ओर यदि कर्त्ता "तुम" एक या अनेक सम्मानित व्यक्तियों का द्योतन करता है, तो देखइछिअइ और देखइछिअन्ह् इ से पूरक के सम्मान के पद का अनुसरण करते हुए काम लिया जाता है।

यहाँ यह देखा जाता है कि पूरक की प्रकृति प्रत्यय के आधार पर होती है; यह परिणाम स्वयं निकलता है कि प्रत्यय के होने पर, पूरक का पुरुष अपने को प्रदर्शित करता है :

मुर्ता नेना कें म्र्अॅरल् अ कै।

मुर्ता तोग् अ रा कें म्र्अॅरल् अ कौ।

प्रत्यय मध्यम० बहु० अहु का प्राचीन प्रत्यय है, अस्तु, यहाँ क्रिया का पूरक के साथ साम्य है।

यह निष्कर्ष हो सकता है कि नम्रता के कारण अप्रत्यक्ष अभिव्यंजना पुरुष को हटा देती है। पहले ऐसा कुछ अकर्तृक कर्मवाच्य द्वारा व्यक्त नम्रता या आदरसूचक आज्ञार्थ में होता है, जैसे हिं० देखिये, अथवा केवल क्रियार्थक संज्ञा द्वारा (जो नम्रतासूचक है), अथवा कुछ 'चाहिये' सहित अभिव्यंजनाओं द्वारा। नेपाली में तिव्वती के अनुकरण पर एक अकर्तृक आदरसूचक क्रिया-रूप निर्मित हो गया है :

तेस् ले गर्नु भो

और वह परसर्ग के लोप-सहित निर्मित हुआ है जिसके कारण रचना स्पष्ट रहती है : तपाइँ सुन्नु हुन्छ; दूसरा, पुरुषवाचक आदरसूचक क्रिया-रूप है जो बराबर क्रियार्थक संज्ञा पर आधारित है, त्यो गर्ने भयो, प्रसन्न-गराउने भये-का छादा।

ूोप की जिप्सी-भाषा में २ बहु० -थ ध्वनि की दृष्टि से -*एल् के निकट आ जाता है, जो प्रथम० एक० -अति से निकले -एल् सहित दृष्टिगोचर होता है; निस्सन्देह ऐसा प्रथम० द्वारा सामान्यतः मध्यम० का स्थान ग्रहण करने के कारण होता है (जिसका संबंध क्रिया से है, न कि सर्वनाम से)। इसके अतिरिक्त केवल क्रिया "होना" में, यह मध्यम० बहु० अस्पष्ट परिस्थितियों के अंतर्गत एक० का भाव ग्रहण कर लेता है, किन्तु जो ध्वनि-संबंधी संयोग के कारण भी हो जाता है, क्योंकि जिप्सी-भाषा में 'तु' का 'तुमे' से नियमित रूप से भेद मिलता है।

चतुर्थ खण्ड

वाक्यांश

१. क्रिया "होना" और नामजात वाक्यांश

भारतीय-ईरानी से संस्कृत में एक अस्तित्वसूचक क्रिया, अस्-, आयी है, जो प्रधानतः क्रिया भू- द्वारा भविष्यत् और सामान्य अतीत में मिलती है; इसके अतिरिक्त, द्वितीय क्रिया का वर्तमान, विकरणयुक्त होने के कारण, धीरे-धीरे "होना" का अर्थ भी ग्रहण कर लेता है। भारोपीय और भारतीय-ईरानी परंपरा के अनुसार क्रिया 'वना रहना, होना' साधारण युग्म का काम दे सकती है : "होना"; किन्तु इस प्रकार के प्रयोग में वह सामान्यतः प्रथम पुरुष में नहीं होती और जव सर्वनाम व्यक्त होता है तो अन्य पुरुषों में भी नहीं रह जाती :

RN. क्वेदानीं सूर्यः, क्व ऋतम् पूर्व्यं गतम्, न देवासः कवत्नवे; त्वं वरुण उत मित्रो अग्ने; किन्तु त्वं हि रत्नधा असि।

वैदिक गद्य में यह परंपरा सुरक्षित बनी रहती है और कुछ नयी-नयी वातें विकसित हो जाती हैं, उदाहरणार्थ, तुल्यता का मंत्र ऐ० ब्रा० पासवो वा एते पद आपः। महाभारत में, आवृत्तिमूलक सहित सर्वनाम द्वारा प्रवर्तित वाक्यांशों का, प्रश्नसूचक वाक्यांशों का, और विशेषतः उनका प्रयोग हुआ है जिनमें विधेय या तो फल का [(-त-), -तवन्त-] अथवा भविष्यत् का (-य-, -तव्य-) क्रियामूलक विशेषण होता है; जिसके साथ पु० एक० में संबद्ध कर्तृवाची संज्ञा द्वारा उपलब्ध वाक्य-विस्तार से निर्मित नुद्वर भविष्यत् को भी जोड़ देना आवश्यक है : श० ब्रा० अद्य वर्षिष्यति. . . .श्वो व्रष्टा: इसके अतिरिक्त यह वाक्य-विस्तार भविष्य-रहित था।

संक्षेप में क्रिया "होना" केवल कठिनाई से प्रथम दो पुरुषों में मिलती है, जिनमें वह सर्वनामों के तुल्य होती है।

अशोक ने "मैं कुशल हूँ" को कभी 'सुमि उपासके' (गवीमठ), 'कभी 'उपासके सुमि' (सहसराम) अथवा कभी 'हकं उपासके' (सिद्दपुर, वैराट) द्वारा व्यक्त किया है। क्रिया "होना" एक ऐसे वाक्यांश में आती है जिसमें एक क्रिया, कर्त्ता के साथ सम्बद्ध होने की प्रवृत्ति रखती है : महा० एषो 'स्मि हन्मि संकल्पम्, पा० संविग्गो म्हि तदा आसिं; उससेअ भिलेखों वाली सिंहली Epig. Zeyl. III, २५८, १३२ तथा २६९ n. ४): दळना-मि मे बत् दिन्मि-यि, सी-मि मम-द्. . .बतक् दिन्मि-यि "(यह) मैं दळना हूँ मैंने भोज दिया है; मैं सी हूँ. . ."; तथा बहुवचन में : देनमो. . .दुन्मो "हम लोग

(*जन-स्‌मः) हमने दिया है (*दिन्न-स्मः)"। और भी अच्छे रूप में प्रथम पुरुष में अस्ति "अथवा तब" का साधारण अर्थ-सहित वर्णन प्रवर्तित करता है।

इसके अतिरिक्त अस्तित्त्व प्रकट करने वाला शब्द विविध प्रकार का रहा है।

केवल उत्तर-पश्चिम सीमा पर अस्‌ का स्वतंत्र रूप में प्रयोग सुरक्षित है, साथ ही वहाँ वह विकरणयुक्त में परिवर्तित हो जाता है : कती तुसे नम्‌ कै अज़े "तुम्हार नाम क्या है" (इसके अतिरिक्त आस्‌-, संस्कृत आस्ते, पा० आसति के जीवित रहने को भी ध्यान में रखना आवश्यक है, कम-से-कम कश्मीरी में)। बोलियों के अनेक समुदायों में प्राचीन अतीत का भी प्रयोग हुआ, सं० आसीत्‌, पा० प्रा० आसि, और यह प्रयोग भूत-काल की रचना के लिये हुआ है : तुलसीदास रचेसि, लखीमपुरी २, ३ एक० देखिस्[इ]; यूरोप की जिप्सी-भाषा के अतीत ग्री० केर्ड्‌-अस्‌ "उसने बनाया है", केरेल्‌-अस्‌ "उसने किया", तथा उत्तर-पश्चिम के : मैयाँ कुट्‌-अस्‌ "मैंने पीटा", कुटेल्‌-अस्‌ "मैंने पीटा था"; और कृदन्त सहित, शिना ज़मॅसु "वह पीटता है", पं० जान्दा-सा, गिआ-सा।

अन्य किसी तरह से प्राचीन क्रिया में से केवल बड़ी मुश्किल से वर्तमान का प्रथम पुरुष एक० बच पाता है, पा० प्रा० अत्थि, और नकारात्मकता सहित, पा० प्रा० नत्थि "है, नहीं है" के अर्थ में; मराठी आथि, नाथि, सिंहली अँति, नॲंति आदि।

संस्कृत के समय से, जैसा कि देखा जा चुका है, वर्तमान में भवति, बहु० स्मः, स्थ, द्वि० स्तः की अपेक्षा अधिक अच्छे ध्वनि-संबंधी रूप प्रदान करता है, तुल० मारूज़ो, 'मेल० द'आँदिअनिज़्म एस० लेवी', पृ० १५३; सामान्यतः सभी प्रथम पुरुष उससे उपलब्ध होते हैं। क्रियामूलक विशेषणों को सहायक के रूप में शीघ्र ही कार्य करते हुए पाया जाता है : पतंजलि के 'भाषितो भवति' पर निरुक्त की टीका है ११.२ शवतिः...भाष्यते "क्रिया शव्‌- भाषा में है।"

संस्कृत के समय से ही अन्य ऐसी क्रियाएँ भी मिलती हैं जिनसे विशेषतः सतत स्थिति का द्योतन होता है : आस्‌- और स्था- के अतिरिक्त हमें इ- (वैदिक), या-(हिं० जा- आदि), चर- मिलते हैं जिनका कृदन्तों के साथ प्रयोग होता है, विद्यते, वर्तते (यह अंतिम पूर्वी समुदाय में, आंशिक रूप में काफ़िर में, सहायक की भाँति मिलता है); मध्यकालीन भारतीय भाषा में मिलता है अच्छ्‌-, बहुत बाद को रह्‌- आह्‌-। ये सब ऐसे शब्द हैं जिनकी व्युत्पत्ति देना कठिन है; सिंहली में इन्॑द्‌-(सं० सद्‌-) वास्तव में "बैठा हुआ", तुल० हिं० बैठ्‌ना। इन शब्दों से एक साथ कुछ साधारण संयोजक और कृदन्तों से थोड़े-बहुत सम्बद्ध सान्निध्य-प्राप्त शब्द उपलब्ध होते हैं।

किन्तु संयोजक का रहना आवश्यक नहीं है; आधुनिक भाषाओं में नामजात वाक्यांश हैं—ये भाषाएँ क्रियामूलक और कृदन्ती प्रयोगों से मुक्त हैं ही। तो भी उसके

स्थायी होने में अभी देर थी; वह कभी-कभी प्राचीन अप्रचलित रूप में इन भाषाओं में दृष्टिगोचर हो जाता है : काव्य, वर्णनात्मक साहित्य, वाक्य; सिंधी ऊन्हो खूहु उथें; पु० गु० पान्ख् पीला ने पग् पाण्डुरा; पु० कश० गन्गि ह्युहुँ न तीरय् कँह् "गंगा के बराबर कोई तीर्थ नहीं है"; उड़िया (गीत) कोइलि, ठण जे पुसुन्दर वेनि पोए; हिं० जैसी बोनी वैसी भर्नी, चोरी का गुड़् मीठा।

बंगाली में यही वाक्य-विन्यास अधिक स्वतंत्रता के प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है : स्पष्ट कथा-इ भाल; ए सुटि बड़ मिष्टि; से एक्जन् विदेसी लोक; एटा मोरग् ना मुर्गी ? किन्तु अधिकतर भाषाओं में क्रिया "होना" ही व्यक्त करना पसन्द किया गया है: द्विभाषिक वार्तालाप की पुस्तक में, जिससे ये अन्तिम उदाहरण लिये गये हैं (एन० सी० चैटर्जी, 'ए मैनुअल ऑव कोलोक्विअल हिन्दी ऐन्ड बेंगाली', १९१४), हिन्दी के संबंध में मिलता है : साफ़् साफ़् बोल्ना बहुत् ही अच्छी बात् है, यें राग् बहुत् अच्छा है, वों पर्देसी है, यें मुर्गा है या मुर्गी ? क्या यह विकसित सभ्यता का चिन्ह नहीं है : अश्कुन तोअ नाम् का सेइ, अप्अँइ गोड़अँ चीत्-व्येली सेइ "घोड़ा कितना बुड्ढा है", जो मुली दो रुपै या किरान् "उसका दाम दो रुपए और आधा है"; शिना में स्वयं क्रिया का इस प्रकार के वाक्यांशों में से तीसरे में प्रयोग होता है : अनिसेइ गाच् दु डबले ग अँष् आन (२ रु० ८ आ०) हनि।

सिंहली अधिक प्राचीनता-प्रिय प्रतीत होती है : महात्मया मे रतु मिरिस्; मोकद करेन्ने "किं कर्त्तव्यम्", मेन्न एक; उसमें संस्कृत 'इति' का प्रतिनिधित्व करने वाला, संयोजक -यि की तुल्यता में प्राय: प्रयोग होता है : ऊ होर-यि, इड मदि-यि "स्थान अयथेष्ट है", मे सोप् तदे वंडि-यि "यह शोरवा बहुत गरम है", तुल० बोहोम होन्‍ंद। इसी तरह के प्रयोग में नूरी अ-क्रिया-मूलक पर-प्रत्यय का व्यवहार करती है, एक० -एक् (ईरानी ? तुल० दे० पीछे), बहु० -नि।

यह ध्यान देने की बात है कि संयोजक के कार्य से, जो सामान्य होता हुआ प्रतीत होता है, अस्तित्व के प्राचीन अर्थ को आघात नहीं पहुँचता, तथा जिसके स्थायित्व के प्रतिरोध में क्रिया 'to have' का पूर्ण अभाव मिलता है।

२. अंशों का क्रम

संस्कृत में भारोपीय रूप-रचना-संबंधी समृद्धि के साथ-साथ, सुविधानुसार वाक्यांश के अंशों को यथास्थान सजाने की संभावना, जो उसी पर निर्भर है, सुरक्षित है। इसके अतिरिक्त, इस शक्ति का प्रयोग साहित्यिक प्रभाव के लिये किया गया है;

उसमें एक स्वाभाविक क्रम है जो भारोपीय से उत्तराधिकार में मिला और मध्यकालीन भारतीय भाषा तक आया।

वह इस प्रकार रूप धारण करता है : (१) उद्देश्य (अथवा उसका मनोवैज्ञानिक तुल्यार्थक) आदि में; (२) विधेय का समुदाय : क्रिया, अथवा उसके तुल्यार्थक, अंत में, वर्णन में प्रवर्तित आज्ञार्थ और निश्चयार्थ को छोड़ कर, जो आदि में सामान्य रहते हैं; क्रिया से पहले उनके पूरक आते हैं, अप्रत्यक्ष पूरक सिद्धान्ततः मुख्य कर्मकारक से पहले : तो भी लक्ष्य द्योतित करने वाले पूरक क्रियार्थक संज्ञा, विशेष्य या संप्रदान कम-से-कम ब्राह्मण-ग्रंथों में सुविधानुसार क्रिया के बाद अस्वीकृत हो जाते हैं : यह एक ऐसा प्रयोग है जो भारतीय-ईरानी से आता है (तुल० मेइए-बाँवनिस्त, 'ग्रै० दु व्यू पर्स पुरानी फ़ारसी का व्याकरण, पृ० २४०) और फिर बना रहता है : अशोक के अभिलेखों में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं।

सिद्धान्ततः शब्दों के समुदायों का संगठन इन्हीं प्रधान प्रवृत्तियों का अनुसरण करता है : निर्धारित : संबंधकारक, विशेषणजात उपाधि, निर्धारक से पहले आते हैं; नाम-जात सामासिक शब्दों के मध्य में भी यही क्रम रहता है। पूर्व-क्रियाएँ, प्रारंभ में स्वतंत्र, जिस क्रिया के अर्थ को सीमा-बद्ध करती हैं उसके बाद अपनी शक्ति का लोप कर देती हैं, तत्पश्चात् वे उसके प्रतिकूल स्थान प्राप्त करती हैं : उपसर्गात्मक अव्ययों की भाँति प्रयुक्त होने के कारण (इसके अतिरिक्त प्रयोग धीरे-धीरे विरल हो जाता है), वे संज्ञा के बाद आने की प्रवृत्ति प्रकट करती हैं—उस संज्ञा के जो क्रिया से पहले ही बद्ध हो जाने की अपनी प्रवृत्ति के साथ साम्य रखती है—और फिर अपने को क्रिया-विशेषणों के रूप में तथा नामजात रूपों अथवा पूर्वकालिक कृदन्त के रूप में, जो अधिकाधिक उपसर्गात्मक अव्यय का स्थान ग्रहण करते हैं, रख कर विलीन हो जाती हैं।

यह देखा जा चुका है कि कर्त्ता और कर्मकारक का विरोध, जो संस्कृत में एक साथ विकरण के रूप और प्रत्यय द्वारा प्रकट होता है, क्षीण हो जाता है और अंत में लुप्त हो जाता है, तत्पश्चात् लगभग सभी आधुनिक भाषाओं में दो प्रकार का कार्य करने वाले विशेष्य का केवल एक रूप रहता है। यह गड़बड़ एक ऐसे क्रम के बद्ध हो जाने से साम्य रखने के कारण है जो प्रारंभ में केवल स्वभावगत था। विशेषणबोधक शब्दों की भाँति प्रयुक्त कृदन्तों और विधेयों की भाँति प्रयुक्त कृदन्तों में भेद उपस्थित करने की आवश्यकता के कारण भी इस प्रवृत्ति का समर्थन हुआ; जैसे उड़िया पडिला गछ "गिरा हुआ पेड़", गछ पडिला "पेड़ गिर गया है।"

सामान्य आधुनिक क्रम इस प्रकार है : यथार्थ अथवा न्यायानुकूल कर्त्ता, अप्रत्यक्ष तथा प्रत्यक्ष पूरक, क्रियाविशेषण, क्रिया :

हिन्दी : मैं तुम्-को ये किताब् देता हूँ, गुरुपत्नी ने हमें तुम्हें इन्धन् लेने भेजा।

छत्तीसगढ़ी : सीकारी-हर् मँचान्-ऊपर्-ले वन्दुक्-माँ भालू-ला गोली मारिस्।

बंगाली : आमि तोमाके एक टाका दिबो।

किन्तु यह :

आमि एइ आम्-गुलो नूतन्-बज़ार्-थेके एनेछि "मैं नये बाज़ार से तुम्हें ये आम लाया हूँ।"

इससे भिन्न है :

आमि नूतन् बजार् थेके एइ आम्-गुलो एनेछि "यह नये बाज़ार से है कि मैं तुम्हें ये आम लाया हूँ।"

सिंहली : गुरुन्नान्से मट इस्कोलेडि सिंहल अकुरु इगेन्नुवा "गुरु ने मुझे स्कूल में सिंहली अक्षर सिखाये हैं।"

ऐसा ही दर्द में मिलता है—केवल विचित्र क़श्मीरी को छोड़ कर जिसमें क्रिया पूरक और विधेय से पहले आ सकती है :

यिम् पोंसें म चटुख् "ये फूल मत चुनो।"

किन्तु :

खस् (खोतु) यिमिस् गुरिस् "इस घोड़े पर चढ़ता है (वह चढ़ा)।"

हातिम के क़िस्सों में यह पढ़ने को मिलता है :

दुन्याहस् मन्ज़् गछ्हव् "हम दुनिया में आते हैं।"

किन्तु :

तिछ छँन पातसेंओहि मन्ज़् "ऐसी (स्त्रियाँ) राज्य में नहीं हैं।"

तिम् अननय् खेंन् चम्रुव्^{उ} कर "वे तेरे लिये लाते हैं खाने (को) कुछ खालकी मटर।"

इसी प्रकार निम्नलिखित उल्लेखों में अन्त्य कर्त्ता मिलता है :

अमिस् मा आसिम् सैंह्मारसोन्द्^{उ} ज़हर् "...ज़हर वड़े साँप का।"

तथ्-क्युत्^{उ} द्युत्^{उ} नस् सैंसैंत्रुव्^{उ} पन्ज "उसके लिये दिया गया उसके द्वारा उसे एक लोहे का काँटा।"

किन्तु आश्रित वाक्य में क्रिया निरन्तर अन्त में बनी रहती है :

में द्युतुथ् न ज़ाह् चहान्ति-छिर येमि, स्उंतिन् पनन्यौ-मि त्रौसान् वोंत्सव् हरहौं "...मैं सकता बना।"

रचना की इस उलट-फेर का मूल कारण ज्ञात नहीं है; बुरुशस्की और तिब्बती, बोलियाँ जो कश्मीर की सीमा पर हैं, भारतीय क्रम का अनुसरण करती हैं।

जिप्सी-भाषा में यह क्रम बराबर पसन्द किया गया मिलता है : कर्त्ता, पूरक या विधेय क्रिया (और वर्णनों में क्रिया, कर्त्ता) : रूमानियन बोली वृ्अ ल'अस लेस पल इ कोर् "वह उसे अपने हृदय में धारण करती है", वेल्श बोली ई तर्नी ज़ुँवेल् पिरदस् खेस्तिअर "जवान लड़की अलमारी खोलती है"; किन्तु यही बिना किसी कठोर नियम के : रूमानियन लोग जिप्सी-भाषाओं को 'मर् मन् दे "हाथ मुझे दे" कहते हैं। यहाँ पर यूरोपीय प्रभाव देखा जा सकता है; वास्तव में, फ़ारसी का मुख्य भाग भारतीय क्रम है; जहाँ तक आरमीनियन से संबंध है, उसमें प्राचीन स्वतंत्रता अब तक बनी हुई है। दूसरी ओर नूरी सुविधानुसार वाक्यांश के आगे, बिना अरब प्रभाव के, क्रिया को अस्वीकार करती है।

भारतीय-ईरानी नकारात्मकता या तो वाक्यांश के आदि में आती है या क्रिया से पूर्व; दूसरे प्रकार की रचना, जिसका साम्य क्रिया-विशेषणों और पूर्व-क्रियाओं से है, अधिक प्रचलित हो जाती है; उससे सं० न शक्नोमि, नास्ति, पा० प्रा० नत्थि (जिससे म० नाथि, सिंहली नॅंति, आरमीनियन जिप्सी-भाषा नथ् आदि) और इधर हाल में म० न-ये, शिना नुसें, जो संज्ञा-रूप धारण नहीं करता, की भाँति सामान्य समुदाय हैं। किन्तु नकारात्मकता सुविधानुसार कश्मीरी में, नेपाली में (नकारात्मक क्रिया-रूप जहाँ नकारात्मकता पहले या बाद में आती है), बंगाली में, मराठी में (विकरण और प्रत्यय के बीच में स्थान प्राप्त करने की दृष्टि से नकारात्मकता क्रिया के बाद स्थित होती है : न करी अथवा करी ना); करीस् ना तथा करी-ना-स्; करी-ना-त्; जिससे कोंकणी का नकारात्मक क्रिया-रूप : निद्‌ना, निद्‌नान्त्।

इस बाद में आयी हुई नकारात्मकता को प्रश्नसूचक अन्त्य नकारात्मकता से अलग करने की आवश्यकता है "is it not ?" "ऐसा नहीं है क्या" या "है न ?" जो उदाहरणार्थ हिन्दी में प्रचलित है। वास्तव में यह एक शब्द है जो पूरे वाक्यांश की आवृत्ति करता है। उसी से विकल्प बताने वाली नकारात्मकता का मूल भी है : कती अओघान् स्पाहि लेस्त् ऐ न बिलिअन् लेस्त् ऐ "सिपाही अफ़ग़ानी है (वह) क्या अच्छा, (यदि) नहीं, चितराली है (वह) क्या अच्छा ?"

लगभग सर्वत्र यह निरोध आज्ञार्थ या उसके उत्तराधिकारियों सहित 'न' द्वारा प्रकट होता है; सं० मा, भारोपीय मूल का, केवल जिप्सी-भाषा (मा), सिन्धी, कश्मीरी (म, म-त ; मा संदेह भी प्रकट करता है) तथा हिन्दी मत्, बोली मति (शब्द-व्युत्पत्ति ? -बहु-त् से कल्पित किया जाता है; किन्तु यह संबंध आवश्यक नहीं है) में मिलता है।

प्रश्नसूचक वाक्यांश, स्वीकारात्मक प्रतीत हो सकता है तथा केवल ध्वनि द्वारा उस समय भिन्न हो सकता है जब उसका प्रारंभ प्रश्नवाचक सर्वनामों अथवा क्रिया-विशेषणों से नहीं होता। किन्तु—भारतीय-ईरानी के अनुकरण पर—एक शब्द जोड़ देना पसन्द किया जाता है जिसका भाव होता है "क्या quoi? what ? जो "is-it-that" "est-ce-que" के तुल्य होता है : गाथा कत्, का, अ० चिंम्; वैदिक० कंत्, सं० किम्; पा० किं; सिंधी, नेपाली कि, गु० शूँ, कश० क्याह, हिंदी क्या, म० काय्। नकारात्मकता का ही काम देता है हिं० छत्तीस० ना, बंगाली किना। सिंहली -द केवल ज्ञात है जो वाक्यांशों को समाप्त कर देता है, जो प्रारंभ में 'भी' का द्योतन भी करता था, और जो प्रश्नवाचक से अपने को संबद्ध कर लेता है : कव्-द "qui, who कौन" ? न ही कती, अश्कुन, खोवार, शिना 'अ' बाद में आया हुआ, जो आश्चर्यजनक रूप में द्रविड़ भाषा की याद दिलाता है; यह कहा जा सकता है कि वैकल्पिक रूप में शिना कती की भाँति नकारात्मकता से काम लेती है :

त्शै कुयै सुम् मिष्टु हृहनु अ खचु हनु "ज़मीन तुम्हारे गाँव की क्या है वह अच्छी अथवा क्या है वह बुरी ?"

३. वाक्यांशों का संयोजन

स्वतंत्र वाक्यांशों का संयोजन

संस्कृत में भारतीय-ईरानी से प्राप्त कुछ ऐसे निपात हैं जिनसे वाक्यांशों का संयोजन या विरोध ज्ञात होता है; एक तो प्रथम शब्द के बाद रखे जाते है : च, ईद, नुं, हिं, वा आदि, दूसरे वाक्यांश का प्रारंभ कर सकते हैं : अंपि, अंथ, आंद् आदि; प्रारंभ में वे, अन्य रीतियों के अतिरिक्त अनेक निपातों का सान्निध्य कर, संख्या में वृद्धि कर लेते हैं, जैसे अंथो, चेंद्, कुविद् आदि; निपात सुविधानुसार प्राचीन गद्य में भी संकलित हो जाते हैं, किन्तु उसमें निश्चित नवीन, सान्निध्य-प्राप्त सं० 'अथवा', पा० इंघ (सद्दनीति में व्याख्या, पृ० ८९८, n. २) की भाँति, कम मिलते हैं। वास्तव में ज्यों-ज्यों निपातों की संख्या कम होती जाती है वे, प्रचलित रहने पर भी, अपनी शक्ति खोते जाते हैं; महाकाव्यों में वे प्रायः पूरक रूप में आते हैं।

संयोजन, जो सिद्धान्ततः सामान्य है, का अभाव एक शैलीगत भाव ग्रहण कर लेता है : वह विरोधी बातों को तीव्रता प्रदान करता और गद्य-पद्धति को विशेषता-संपन्न बनाता है। इसी प्रकार विरोध प्रकट करने के लिये ही अशोक की भाषा में एक नवीन शब्द उत्पन्न हो गया है चु (च+तु)। अशोक की घोषणाओं का अवलोकन करते समय यह देखा जाता है कि शायद ही कभी वाक्यांश संपर्क-रहित है। यह बात,

उदाहरणार्थ, गिरनार की पाँचवीं घोषणा के प्रारंभ में है : क(ल्)लाणं दु(क्)करं; यो आदिकरो क(ल्)लाणस सो दु(क्)करं करोति; वाक्यगत शैली के कारण ऐसा होते हुए देखा जाता है; तथा बाद में सर्वनाममूलक निपात के अनुकूल है (रूप की दृष्टि से वैदिक तद् अथवा ताद् के तुल्य) जिसका अनुवाद करना कठिन है—यदि इस वाक्यांश पर जो आगे है विचार किया जाय : त मया बहु क(ल्)लाणं कतं त मम पु(त्)ता च पो(त्)ता च. .य् मे अप(च्)चं. . .अनुव(त्)तिसरे तथा सो सुकतं का(स्)सति; सेनर्त ने अनुवाद किया है "अथवा (त) मैंने, स्वयं, किये हैं बहुत अच्छे काम। इसी प्रकार (त) वे मेरे पुत्र. . .जो अनुसरण करते हैं इस प्रकार मेरे उदाहरण का वे भली भाँति करेंगे।"

निपात के अर्थ की अनिश्चितता इस बात का संकेत करती है कि उसका प्रधान कार्य एक वाक्यांश के अंश को दूसरे के अंश से अलग करना था।

जैसा कि उल्लिखित अंतिम उदाहरण में है, उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वाक्यांशों के बीच का संपर्क एक सर्वनाममूलक अंश द्वारा संकेतित हो। यह संभवतः वास्तव में सर्वनाम कहा जाने वाला हो, जिसका संबंध पूर्ववर्ती वाक्यांश की संज्ञा या संबंधवाचक सर्वनाम से हो; यह आवृत्ति मूलक स (त-) है; उसका प्रयोग प्रायः प्राचीन गद्य को नीरसता प्रदान करता है। यह सर्वनाम भी दुर्बल पड़ जाता है : नित्यसंबंधी की भाँति वह वैदिक गद्य में सामान्य हो जाता है और तब काव्य में उसका सरलतापूर्वक अभाव मिलने लगता है; इस प्रकार उसका अर्थ लुप्त हो जाता है और उसमें विचित्र रूप में वाक्यांश का उच्चारण दृष्टिगोचर होने लगता है, और जो अधिक-से-अधिक उसे क्रमागत सूक्ष्म भेद प्रदान करता है; सं० स यदि, स यद्, पा सचे, पा० सेय्यथा अथवा तंयथ, अशोक० स, से, सो, पा० से में कर्त्ता० पु० एक० स पूर्णतः पूरक हो जाता है; यह अवसर इस बात के स्मरण करने का है कि महाकाव्यों की भाषा में वह एक मुख्य उपपद प्रदान करने वाला हो जाता है—प्रवृत्ति किन्तु, जैसा कि देखा जा चुका, जिसका अंत नहीं हुआ है।

आधुनिक भाषाओं में आवृत्तिमूलक सर्वनामों द्वारा लुप्त समुच्चयबोधक और संयोजन अब भी प्रमुख स्थान ग्रहण किये हुए हैं। निपात वाला कोष बहुत क्षीण है। सिंहली -च, -त् ही संभवतः च का अकेला उत्तराधिकारी है, क्योंकि वैसे वह म० च्(इ), छत्तीस० च् जो प्रा० च्चेअ से है, तुल० मारवाड़ी -ईज्, गु० सिंधी ज्, जो प्रा० ज्जेव से है, की भाँति आग्रहसूचक निपात से नहीं होता। कुछ नवीन मन्द समुच्चयबोधक उत्पन्न हो जाते हैं, जिनका आशय होता है "और भी अन्य बातें" : पु० हिं० अवर, हिं० और, नेपाली अरु, असामी आरु (अपरम्), म० आणी, -न्, गु० अने, नेपाली अनि, सिंधी

अञा (अन्यत्); इसी प्रकार हिं० सिं० पर् (सं० परम्); जिप्सी-भाषा ते, कश० त, नेपाली त (संभवतः तथा से संबंधित), सिंहली हा (सह), शिना ग् (?) की उत्पत्ति कम स्पष्ट है। विरोधवाची क्रियाविशेषण, जो उत्तर-वैदिककालीन है तथा जो स्पष्ट नहीं किया जा सकता, पुनः मध्यकालीन भारतीय भाषा के काल में दीर्घ हो जाता है (पा० पन; पुन 'नये' के अर्थ में बना रहता है) : सिंधी उड़िया पुणि, गु० म० पण्, नेपाली पनि, पु० हिं० पुनि (सिंहली पन, पुन एक प्रकार से "फिर से" का अर्थ प्रकट करते हैं; यह पाली का प्रभाव हो सकता है); आदि में आने वाले को वह ज्यों-का-त्यों बनाये रखती है, जो शुरू के प्रयोग का चिन्ह है। 'या' को प्रकट करने का ढंग अत्यन्त विशेषता-संपन्न है : सर्वनाममूलक विकरण से काम चला लिया जाता है, हिं० बं० नेपाली कि, सिंधी पं० गु० के (अन्यत्र संस्कृत अथवा अरबी से उधार लिये गये द्वारा स्थानापन्न); अन्य शब्दों में समुच्चयबोधक नहीं मिलते, प्रश्नवाचक वाक्यांश अलग से बनाना पड़ता है।

आश्रित वाक्य-योजना

प्राचीन संस्कृत में आश्रित वाक्य-योजना प्रकट करने की दो रीतियाँ मिलती हैं :

(१) संशयार्थसूचक (लेट्-लकार) का प्रयोग, जिसमें इस परिस्थिति के अंतर्गत किसी क्रियार्थ-भेद का भाव नहीं होता, और जो व्याकरण का एक साधन मात्र हो जाता है; वह संबंधवाचियों द्वारा अथवा संबंधवाची क्रिया-विशेषणों द्वारा, अथवा नकारात्मक नेॆद् द्वारा, जो मुख्य पूर्वसर्ग में निश्चयार्थ के साथ आता है, प्रवर्तित होता है :

ऋ० १०, ८५, २५-२६ :

प्रे॑तो॑ मुञ्चा॑मि ना॑मु॑तः सुबद्धा॑ं अमुत॑स् करम्

. . . .

य॑थेय॑म् . . ., इन्द्र मीढ्वः, सुपुत्रा॑ सुभ॑गा॑सति ।

गृहा॑न् गच्छ गृ॑हपत्नी य॑था॑सः . . . ।

१०, ५१, ४ :

. . .आयम्

नेॆद् एव॑ मा युन॑जन् अ॑त्र देवाः ।

(२) क्रिया का स्वरित होना। उपर्युक्त उदाहरणों में "यदि" संभाव्य के अर्थ में च का विशेष प्रयोग जोड़ा जा सकता है :

२. ४१, ११ :

इ॑न्द्रश् च मृळ॑याति नः

न॑ नः प॑श्चाद् अघ॑ नश॑त् ।

इसी प्रकार कुविद "यदि" (प्रश्नवाचक) है, जो असाक्षात् प्रश्न संकेतित करता है, और साथ ही हिं (क्यों) है जो स्वभावतः स्वीकारात्मक है जो निश्चयार्थ के साथ जाता है :

३.५३, १८ :

बलं धेहि तनूषु नः. . .त्वं हिं बलदा असि।

स्वराघात मनोवैज्ञानिक आश्रित वाक्य-योजना प्रकट करने के काम आता है जो इसके सिवाय और कुछ प्रकट नहीं करता (दे० मेइए, बी० एस० एल०, XXXIV, पृ० १२२) : मै० सं० तस्माद बधिरों वाचा वदति न श्रृणोति; ऋ० तूयम् आ गहि कण्वेषु सु सचा पिब; तै० सं० उतावर्षिष्यन् वर्षत्य एवं।

दोनों रीतियों का संबंध केवल प्राचीन भाषा से है। संशयार्थसूचक (लेट्-लकार) से जहाँ तक संबंध है, ब्राह्मण ग्रन्थों में उसका प्रयोग काफ़ी कम हो गया था, अशोक० में केवल कुछ शेष रहते हैं; जहाँ तक स्वराघात से संबंध है, न केवल पाणिनि ने उसे नवीन आश्रित वाक्य-योजना-युक्त में (पुरा सहित) देखा है, किन्तु वे मुख्य पूर्वसर्ग के अनेक रूपों में उसे स्वीकार करते हैं, उदाहरणार्थ, किम् सहित या रहित प्रश्नवाचक में : यहाँ तक कि उस युग के अंत में, जब कि वह हमारा ध्यान आकृष्ट करता है, स्वराघात अपना वाक्य-विचार-संबंधी भाव करीब-करीब खो चुका था।

क्लैसीकल संस्कृत और मध्यकालीन भारतीय भाषा में आश्रित वाक्य-योजना बताने की कोई व्याकरणीय पद्धति नहीं मिलती।

संबंधवाची यत् द्वारा तथा अन्य संबंधवाची क्रियाविशेषण यावत्, यदि, यथा आदि द्वारा प्रवर्तित पूर्वसर्गों की रचना इस प्रकार होती है मानों वे स्वतंत्र हों और निश्चयार्थ आदरार्थ के आधार पर प्रगति प्राप्त करता है। निपातों का अर्थ मुश्किल ही से विकसित हुआ था; स्वयं यत् में, जो एक वास्तविक निपात के अधिक निकट पहुँच जाता है, संबंधवाची अर्थ अब भी समकक्ष ही होता जाता है; "कहना, विश्वास करना, जानना" क्रियाओं के बाद उसका प्रयोग सामान्य नहीं हो पाता; इसी प्रकार अशोक० में तथा पाली में, 'किंति' मन्तव्य बताता है, किन्तु उसका अनुवाद केवल "अपने से क्या कहते हुए ? किसलिए ?" होता है और संभवतः अनूदित होना भी चाहिए; क्योंकि लोकप्रिय भाषा में बातचीत के मध्य रुकने वाले स्थलों को बताने के लिये प्रश्नवाचक एक साधन के रूप में रहता है; तुल० सं० किंच जब कि वह अपरम् तथा च की भाँति समानाश्रय के लिये काम आता है।

प्राचीन भाषा आश्रित वाक्य-योजना प्रदान करने वाले साधन प्रस्तुत करती है। भारोपीय परंपरा के अनुसार, उनकी संख्या से ही कृदन्त की पार्श्व स्थिति है। एक

संज्ञा की दूसरी संज्ञा के साथ साधारण पार्श्व स्थिति में अभिप्राय की भावना निहित रह सकती है और समकक्ष हो सकती है, उदाहरणार्थ "क्योंकि . . ., यद्यपि . . ." के; इसके अतिरिक्त कृदन्त के कारण एक क्रियामूलक भाव का प्रवेश हो जाता है, जो फिर पूर्वसर्ग के तुल्य हो जाता है।

इस प्रकार के प्रयोग में वह उद्देश्य या पूरक की पार्श्व स्थिति प्राप्त करता है, विशेषतः मुख्य कर्मकारक में। उसकी अनुरूपता इसमें मिलती है :

ऋ० अरुणो मा . . . यन्तुं ददर्श हिं;

इसमें विरोध मिलता है :

तै० सं० मित्रः सन् क्रूरम अकः;

संभाव्य रूप इसमें है :

कौटिल्य : त्यक्तं गूढपुरुषाः . . . हन्युः।

भावना अथवा विचार-संबंधी क्रियाओं सहित, :

तै० सं० पराभविष्यन्ती मन्ये, क्लैसीकल प्रहरन् न लज्जसे; आशङ्के चिरम् आत्मानम् परिभ्रान्तम्।

पाली जातक के इस वाक्यांश में क्रियामूलक विशेष्य के कृदन्ती कर्मकारक के लिये फ़्रेंच में अप्रत्यक्ष में सुसज्जित संबंधवाचक होगा :

कुमारो कम्मारेन कतं रूपकं सुवण्णगब्भे खिपापेत्वा।

कृदन्त से, विकृत कारक (विशेषतः अधिकरण) के विशेष्य से साम्य होने पर, उस उपसर्गात्मक अव्यय की तुल्यता प्राप्त होती है जो पहले अप्रत्यक्ष रहता है, तत्पश्चात् उसमें मनोवैज्ञानिकता निहित रहती है, जो मुख्य में स्थान प्राप्त कर लेती है, किन्तु अपने में पूर्ण रहती है और उसका स्वतंत्र वाक्यांश में व्यवहार होता है : रघु० मा मेति व्याहरत्य् एव तस्मिन्।

इसी प्रकार के निष्कर्ष और भी प्राप्त होते हैं :

(१) कारक के अनुसार व्यक्त क्रियार्थक संज्ञा सहित, उद्देश्य (कर्म० में अथवा संप्रदान में : ऋ० अहये हन्तवै "अहि के लिए, मारने के लिए", पारम् एतवे), अथवा हेतु (अपादान में : त्राध्वं कर्ताद् अवपदः, अक्षरशः "जानना चाहिए हमें गढ़े को, गिरने से"; युयोत नो अनपत्यानि गन्तोः);

(२) भूत परिस्थिति और उस समय मानसिक सूक्ष्म भेद प्रकट करने वाले पूर्वकालिक क्रियापद सहित (दे० पीछे);

(३) अन्त में, नामजात रचना द्वारा, दुरूह अनुकूलता प्रकट करते हुए, और विशेषतः जब उसमें कृदन्त रहता है :

रघु० श्रुत-देहविसर्जनः पितुः।
काद० प्रतीहार्या गृहीतपञ्जरः।
पा० कुमारिकाय लद्धभावं।

मध्यवर्ती अनुकूलता तथा नित्यसंबंधी वाक्यांश का थोड़ा-बहुत विरोध, ये ही साधन हैं जिनके द्वारा दो क्रियामूलक तत्त्व एक-दूसरे के आश्रित किये जाते हैं; फलतः संस्कृत में जटिल पूर्वसर्ग नहीं है।

और भी, उसमें असाक्षात् उक्ति नहीं है : कथित या सोची गयी बात को व्यक्त करने वाला वाक्यांश, साक्षात् उक्ति होता है, अथवा भली भाँति पृथक् होता है, अथवा यत् द्वारा प्रवर्तित होता है, अथवा, और यह बहुत अधिक प्रचलित है, इति द्वारा समाप्त होता है जिसकी शब्द-व्युत्पत्ति (लै० आइटा) यह प्रदर्शित करती है कि प्राचीन अर्थ "ainsi, इस प्रकार, इसलिए" है : ऋ० ४, २५, ४ : यं इन्द्राय सुनवामेत्य् आह, "कौन—ज़ोर दें के लिये इन्द्र इस प्रकार कहता है", अर्थात् "कौन कहता है : ज़ोर दें के लिये इन्द्र"; १, १६१, ८ : इदम् उदकं पिबतेत्य् अब्रवीतन "यह पानी पिओ, इस प्रकार तुमने कहा है"; १०, १७, १ : त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीत् इदं विश्वम् भुवनं सम् एति "त्व० करता है रस्म विवाह के लिये अपनी पुत्री : इस प्रकार फलतः समस्त संसार इकट्ठा होता है" इस प्रकार सुनायी पड़ता है "संसार इकट्ठा होता है यह कहते हुए कि क्योंकि त्व . . ."।

साक्षात् या तर्क-पूर्ण उक्ति प्रवर्तित करते समय, 'इति' मूलतः अपना प्राचीन भाव सुरक्षित रखता है (इससे अशोक के अभिलेखों का अन्त्य ति तथा सिंहली के एक संयोजक के तुल्य -यि भी स्पष्ट हो जाता है) और संक्षेप में केवल लुप्त समुच्चयबोधक को महत्त्व प्रदान करता है। किन्तु आश्रय का यह एक बहुमूल्य साधन है : पा० आदाय नं गमिस्सामीति आगतो'म्हि; ऐसे ही क्रम में लैटिन में संशयार्थसूचक की क्रिया के संबंध में प्रमुख स्थान रखने वाला संबंधवाची था। पाली में फिर यह संक्षिप्तता देखने को मिलती है : सुवण्णरूपं'ति सञ्ञं अकत्वा।

अस्तु, मध्यकालीन भारतीय भाषा और आधुनिक भारतीय भाषाओं को संस्कृत से वाक्य-विचार-संबंधी आश्रय और असाक्षात् उक्ति के उचित साधन प्राप्त नहीं होते; ये भाषाएँ इस दिशा में विकसित भी नहीं हुईं। लुप्त समुच्चयबोधक, क्रियामूलक विशेष्य तथा पूर्ण के स्थल, नित्य संबंधवाची पूर्वसर्ग, केवल ये ही साधन हैं जिनका वे आज भी आश्रय ग्रहण करती हैं। स्पष्ट रूप-रचना-विहीन भाषाओं में अनुकूलता, (पार्श्व स्थिति) संभव नहीं थी : कृदन्त केवल पूर्ण विकृत में ही अधिक मिलता है। नामजात रचना से जो कुछ है उसकी दृष्टि से, निदान-शास्त्रीय विकास, जो संस्कृत

साहित्य में मिलता है, अपने वास्तविक इतिहास से साम्य नहीं रखता। अशोक के जैसे प्रामाणिक पाठ, महाकाव्यों के माध्यम, नाटकीय कथोपकथन तथा अंत में आधुनिक भाषाओं में केवल दो शब्दों के समास प्रचलित हैं; अस्तु, सभी भारोपीय भाषाओं की भाँति भारतीय भाषाओं में वही परिस्थिति है; संस्कृत में इस रीति का असाधारण प्रसार, व्याकरण की दृष्टि से नहीं, साहित्यिक इतिहास की दृष्टि से रोचक है; यह प्रसार विशेषतः उस समय से प्रारंभ होता है जब से जीवित भाषाओं के प्रत्यय अस्पष्ट हो गये, इससे वर्णनों में शिथिल संबंध आ गया : इसी के द्वारा वह असम्बद्ध वाक्य-विन्यास वाली भाषा की सामान्य प्रकृति के साथ साम्य स्थापित करता है।

लुप्त समुच्चयबोधक निरंतर मिलता है, विशेषतः अपरिमार्जित भाषाओं में : उदा० अश्कुन :

तू ज़ाँत्रे ँ अलिस्-व, किताब् प्रलिम् "(जब) कल तू आये, मैं (तुझे) एक किताब दूँगा।"

उम्ब्रंइद् सेइ ज़ाँत्रे ँ अलेस् "आज्ञा है (कि) कल तुम आओ।"

तु बाबुर दिएँड़ेस् का कोंस् "(जब) तू बाबर के पास जायगा, तू क्या करेगा ?"

कुँड़ु ब गोंस् कल्, चेइ अश्कुणू तो विएँत्अंब, सकाँड़्ये मिर्से वेरी कलेस् "कुछ भाग (जो) तू चला है (इस) समय, (और जो) कोई (जो) अश्कुन तुझसे देखा जाय, उसके साथ तू बात करेगा।"

अत्यधिक परिष्कृत भाषाओं में, मनोवैज्ञानिक संयोजक प्रायः सर्वनामों द्वारा अथवा सर्वनाममूलक विकरण में अव्ययों द्वारा व्यक्त होता है।

निश्चयवाचक

सिंधी : तूँ ईमान्दार् उ माण्हूँ आहीँ; तँहे-करे तो-खे नाइब् उ क़ाज़ी मुकरिर् उ कार्याँ-थो; निश्चयवाचक की भाँति मराठी की रूप-रचना में दृष्टिगोचर होता है हत्तिँ घोडे आणि बैल् ह्याँस् चारा घाता, इसी प्रकार है रामा गेला असेँ त्यानेँ ऐक्लेँ; इसी प्रकार गुज० ते गयो हतो ए में सम्भल्यूँ।

संबंधवाचकों अथवा संबंधवाचकों से निकले, जो सुविधानुसार (जैसा संस्कृत में था ही) उसी व्युत्पत्ति के निश्चयवाचकों के विरोध में आते हैं और उन्हें बताते हैं :

म० : जो मुल्गा मिँ काल् पाहिला तोच् हा आहे
"यह बच्चा है (२) जो मैंने कल देखा है (१)।"

हिं० : ख़ुदा जो चाहे सो करे।
"ख़ुदा करे वह (२) जो वह चाहे (१)।"

जित्ना चाहिये इत्ना ले लो।
"इतना ले लो (२) जितना तुम चाहो (१)।"
जहाँ गुल है, वहाँ काण्टा भी है।
जिस् रूप में यें ग्रन्थ् अब मिलता है, वोँ उसे सत्रह्वीँ शताब्दी में प्राप्त हुआ होगा।

बं० : जाहा इच्छा जाइबे ताहा खाइओ ना।
जत्खन् ना तिनि आसेन् तत्खन् बसिया थाक्।

केवल संबंधवाचक का ही लचीला प्रयोग हो सकता है :

हिं० : वोँ आद्मी जो पढ़्ना नाहिँ जान्ता नादान् है।

सिंधी : फुलाणे वापारि[अ] खे पँह्[अ]ज़ो माल्[उ] डिनो होम्[ए], जो हुँ हाणेँ उन्ह्[ए] खाँ इन्कार्[उ] थो-करे।

अनुमान की अभिव्यक्ति, संभवतः क्योंकि उसमें परस्पर संबंध का कोई स्पष्ट चिन्ह दृष्टिगोचर नहीं होता, कुछ-कुछ अस्थिर है। पंजावी, सिंधी में जे (यदि) मिलता है; किन्तु हिन्दी जो (नित्यसंबंधी तो, तौ) अस्पष्ट है : क्या वह सं० यावत् से निकला है? किन्तु प्रधानतः अस्थायी जब्, तब् हैं। उच्च कोटि के उधार लिये गये शब्दों का भी प्रयोग होता है : बं० हिं० जदि, हिं० शिना अगर्, एक संस्कृत से, दूसरा फ़ारसी से; केवल मराठी ने, और यह ब्राह्मण साहित्य से हाल की उधार लेने की प्रवृत्ति छोड़ कर, वैदिक के युग्म यर्हि, तर्हि ग्रहण किये हैं जो संस्कृत में केवल पुराणों में आते हैं और जिनका मध्यकालीन भारतीय भाषा में अभाव है :

ज़र् पाऊस् पडत् अस्ला, तर येऊँ नको।

जिन भाषाओं में, जैसे दर्द और जिप्सी-भाषा में, संबंधवाचक नहीं है, प्रश्नवाचक उसका स्थान ग्रहण कर लेता है, वह भी उस समय जब कि वह सामान्य निश्चयवाचक के रूप में नहीं होता, जैसे शिना ओँ मुशा वतुस् ओँ "आदमी (जो) आया है, वह...।"

हेतु, लुप्त समुच्चयबोधक द्वारा प्रकट होता है : बं० कारन्, गु० कारण् "कारण (यह कि)"; अथवा प्रश्नवाचक द्वारा : सिंधी छो जो, हिं० पं० क्यूँ कि; अंत में पूर्ववर्ती बात के अंश की आवृत्ति करते हुए क्रियामूलक विशेष्य द्वारा, जैसे सं० इति, इति कृत्वा, पा० इति कत्वा : म० (हेँ) म्हणुँन्, अप० भाणिवि, नेपाली भनि, पूर्वी हिन्दी बोल्के, बं० बोलिया, सिंहली किय से वास्तव में "कह लेने पर" द्योतित होता है; यह अन्तिम रूप भी बराबर द्रविड़ है।

कई भाषाओं में एक शिथिल आश्रित वाक्य-योजना का प्रयोग होता है या हो ही

चुका है, जो सं० यत् से सादृश्य और रूप के साथ परिवर्तन की प्रवृत्ति रखता है। येन में वह निस्सन्देह प्रभावपूर्ण रूप में दृष्टिगोचर होता है: म० जें, गु० बं० जे, कश० जि। फ़ारसी के प्रभावान्तर्गत सिंधी में त का, हिन्दी और बंगाली में कि का, मराठी में किं और गुजराती में के (दिवतिया के अनुसार मराठी के अनुकरण पर, 'गुजराती लैंग्वेज ऐंड लिट्रेचर', पृ० २२) का प्रयोग होता है; इस निपात (यहाँ तक कि जो द्रविड़ भाषा, माल्तो—malto—तक में पाया जाता है) की सफलता, अंशतः प्रश्नवाचक सं० किम् के साथ गड़बड़ हो जाने से होनी चाहिए :

हिं० : खुल जाएगा कि मैं राजा हूँ।
तुम् को अवश्य है कि वहाँ जाओ।
गु० : त्याँ में एवी वस्तु जोँइ के जिव्ता सुधि मने साम्भर्शे।

हिन्दी में इस निपात का विभिन्नता लिये हुए (फ़ारसी के अनुकरण पर ?) और प्रायः शब्द-बाहुल्य-युक्त प्रयोग यह प्रदर्शित करता है कि उसका कार्य बड़े विचित्र रूप में वाक्यांश को उच्चरित करना है :

हिं० : मालूम् हुआ कि चोर् कौन् है।
ऐसी तद्बीर कर् कि जिस से मेरा पेट् भरे।

किन्तु विपर्यस्त रूप में साथ ही कहा जाता है :

बहुत् दिन् हुआ देवनन्दन् को मैं ने नहीं देखा।
"...कि मैंने दे० को नहीं देखा।"

लड़किआँ अप्ना वक्त् गुड़िआँ खेल्ने में खोती हैं वेहुनर रह्ती हैं "लड़कियाँ (जो)...।"

संस्कृत को, जिसमें क्रियार्थ-भेद सुरक्षित हैं, असाक्षात् उक्ति स्वीकार नहीं है; नव्य-भारतीय भाषाओं में तो और भी, जो केवल अनिश्चित और यथार्थ काल का भेद करती हैं, और वह भी काफ़ी अनिश्चित रीति से, साक्षात् रूप सुरक्षित रखने वाले कथन अलग हो जाते हैं :

कश० : च्[अ]ह् मन्ग् म्ओंलिस्, मे गंचहि आसुन् रत्[अ] नकोर्[उ]।
बंगाली : एक् दिन् देख्ले, छबि तार् मनेर् हत होय् ना।
ग्रीक जिप्सी-भाषा : सुंनेन केलिबे केलेन "उन्होंने सुना (कि) कोई गाता है।"

अब इस प्रकार की रचनाओं में फ़ारसी समुच्चयबोधकों का बहुत प्रयोग होता है, किन्तु उनसे रचना में कोई अन्तर नहीं पड़ता :

सिंधी : मूँ खे चय् आँईं त पैसा छविह् रुपया वठन्दो साँए "वह मुझसे कहता है (कि)...।"

हिं० : मैंने इरादा किया कि चलूँ;
गोपाल ने जाना कि तोते में अब् प्रान् नहिं है।

तो भी मनोवैज्ञानिक आश्रित वाक्य-योजना सर्वमानों के परस्पर परिवर्तन द्वारा भी कभी-कभी प्रकट होती है :

हिं० : क्या तुम समझते हो कि मैं मूर्ख् हूँ ?
बाबू साहेब् ने मुझे आप्को यें लिखने के लिये कहा था कि वे आप्के (अथवा हम् उन्के) पत्र् का उत्तर् कुछ् बिलम्ब् से देंगे।

बंगाली : से बोलिते छे ताहार् भ्रातार् श्राद्धेर् जन्य ताकाहे बारि जेते होइबे।

जिप्सी-भाषा : दिकेल इ रक्लि,ननै पर्सें लेस्ते "वह देखता है : लड़के उसके साथ नहीं हैं" ("कि", अप्रकट है)।

नेपाली (टर्नर, "इंडि० ऐंटी०", १९२२, पृ० ४४ तथा नोट प० ४८) :

हमिहेरु को भारब्अ'र्दरि तों पृखानहेरु क गारि न्अ' औन्अ' सकुन् भनि "(तुर्क), कहते हैं कि हमारा (नेपाली कहने वालों और उनके साथियों का) सामान और हमारी गाड़ियाँ नहीं आ सकतीं।"

अस्तु, नव्य-भारतीय भाषाओं का वाक्य-विन्यास प्राथमिक है, और, जिस हद तक पूर्वसर्ग, नित्यसंबंधी रूप के अन्तर्गत परस्पर संबंधित रहते हैं, वहाँ तक वह अ-परिवर्तनीय और एकरूप है। यह मध्य के अंशों के कारण है जिससे वाक्यांशों में दुरूहता आ जाती है : हिन्दी के 'वाला' युक्त, मराठी के -णार् युक्त कर्तृवाची संज्ञाएँ, कृदन्ती गुण-वाचक विशेषण, म० -लेला, हिन्दी '-आ हुआ', तुल० दे० पीछे; विभिन्न क्रियार्थक संज्ञाएँ :

गु० तेने हिअँ रेहेवा द्यो।

हिं० उस् में प्रताप्सिंह् तक् वर्णन् मिल्ने से, यें निश्चित् रूप् से कहा जा सक्ता है, कि...।

क्रियार्थक संज्ञाओं में, सामान्यतः ग्रहण किये गये कृदन्त, जिनका उल्लेख पीछे हो चुका है; इसके अतिरिक्त, विकृत कारकों में कृदन्त, दे० पीछे; अंत में और विशेष रूप से पूर्वकालिक कृदन्त और पूर्वकालिक कृदन्तों का कार्य करने वाले कृदन्त हैं, जिनके पीछे अनेक उदाहरण दिये जा चुके हैं। इन नवीन पूर्वकालिक कृदन्तों ने एक ऐसा स्थान ग्रहण किया है कि वे भाषाओं को न केवल पूर्वसर्ग का ही, किन्तु संयुक्त क्रियाओं,

क्रिया-विशेषणों, पूर्वसर्गों (बं० होइते, छेये, हि० लिये आदि) का भी आश्रय प्रदान करते हैं।

कुछ उदाहरणों द्वारा यह दिखा कर कि इन साधनों द्वारा साहित्यिक भाषाएँ किस प्रकार वाक्यांश को लचीला और समृद्ध बनाती हैं, हमें विषय समाप्त कर देना चाहिए :

बं० (टी० गांगोली) आम्र विवेचना करे स्थिर् कर्लाम् तोमार् और् आमादेर् काछे थेके कष्ट पावा उचित् नाय्।

हिं० (हरिऔध) तो क्या दयासन्कर् के यहाँ ब्याह् कर्के लड़्की को जन्मभर् के लिये मिट्टी में मिला देना ही आप् अच्छा समझते हैं। "तो क्या (१) आप् अच्छा समझते हैं (५) ब्याह् कर् के जनमभर के लिये . . . देना ही (४) हमारी लड़्की को (३) द० के यहाँ ब्याह कर के।"

हिं० (आधुनिक) रघुवर्दास्जी ने तुल्सीचरित् में गोस्वामी जी की जो कुल्-परम्परा लिखी है, वों मान्ने योग्य है।

अत्यन्त् आश्चर्य की वात् है कि भारत्वर्ष् में सौ वर्ष् से अधिक् अन्ग्रेजी शिक्षा होते हुए भी वों उन्नति जो जपान् ने केवल् पचास् वर्षो में प्रत्येक् विषय् में प्राप्त् की है भारत्वर्ष् के किसी भाग् में दृष्टि नहिं आती।

यह देखने की बात है कि यूरोपीय प्रभाव के अन्तर्गत एक ऐसी दुरूह शैली का निर्माण हो रहा है, जिसमें परंपरागत वाक्य-विन्यास के अंश अस्थायी रूप से ज्यों-के-त्यों बने हुए हैं। स्वभावतः यह तथ्य केवल अत्यन्त परिष्कृत भाषाओं में ही दृष्टिगोचर होता है: मराठी, हिन्दी, बंगाली। अन्तिम भाषा के १९ वीं शताब्दी के साहित्यिक प्रायौगिक रूपों के कुछ अच्छे उदाहरण डी० सी० सेन, 'बेंगाली प्रोज़ स्टाइल १८००-१८५७' में मिलेंगे; उससे पता चलता है कि युग की शैली के सम्बन्ध में खोज कितनी मंद गति से की जा सकती है। एक प्रतिक्रिया सामने आती है : बंगाली कम-से-कम एक ऐसी भाषा है जो जितनी समृद्ध है उतनी ही लचीली होने के बहुत निकट है। किंतु यह एक अपवाद है।

उपसंहार

भारतीय-आर्य भाषाओं में, अधिकांशतः संस्कृत और साथ ही फ़ारसी से अनेक बातें ग्रहण करने वाली अत्यन्त परिष्कृत भाषाओं में, एक अत्यन्त समृद्ध शब्दावली मिलती है जो यूरोपीय भाषाओं के समान है; किन्तु उनमें सूक्ष्म भेद और मनोवैज्ञानिक संयोजन की उतनी ही समृद्धि नहीं मिलती। क्योंकि, एक दीर्घकालीन संसरण दृष्टिगोचर होते हुए भी, विशेषतः रोमन समुदाय के विकास की दष्टि से, भारतवर्ष में संस्कृति न तो यथेष्ट मात्रा में परिवर्तनशील रही है, और न इतने यथेष्ट रूप में प्रसारित रही है कि सार्वजनीन भाषा ग्रन्थकारों की रचनाओं से लाभ उठाती, तथा ग्रन्थकारों की भाषा जन-जीवन से प्रेरणा ग्रहण कर अधिक विकसित होती : भाषा और संस्कृति में पार्थक्य रहा।

हमें यह बताया जाता है कि उस समय देशी प्राथमिक पाठशालाएँ थीं; किन्तु कोई भी यह कहने का साहस न करेगा कि इन पाठशालाओं में, यूरोप की भाँति, वह भी वास्तव में अपेक्षाकृत हाल ही से, भाषाओं का, उनकी समृद्धियों तथा बारीकियों का, अध्ययन होता था। संस्कृत ही एक ऐसी भाषा थी जिसका प्रत्येक युग में अध्ययन हुआ; वह अल्प-संख्यक लोगों तक सीमित थी और ज्ञान तथा परिष्कृत विचारों के प्रचार का एकमात्र साधन थी। आधुनिक साहित्यों की प्रारंभिक सामग्री क्या है? संक्षिप्त तथा दुष्प्राप्य मराठी अभिलेखों, आधे दर्जन राजपूत तथा बंगाली पत्रों, एक या दो पद्यात्मक व्यावहारिक नीति-वाक्यों के संग्रहों को छोड़ कर, वह वीर-काव्य अथवा भक्ति या लोक-प्रचलित काव्य के रूप में है; कुलीनों तथा जनसाधारण के लिये लिखित ये रचनाएँ ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का प्रायः प्रचार नहीं करतीं; जहाँ तक उनका संबंध ब्राह्मण साहित्य से है, वह उसके क्रम-परिवर्तन के लिये है, न कि उसका स्थान ग्रहण करने के लिये। जैसा कि पीछे बताया जा चुका है, कुछ साहित्य संस्कृत पर आश्रित मिलते हैं, किन्तु वे परिष्कृत अभिजात-वर्ग तक सीमित थे : मराठी गीति-काव्य की भाषा, क्लैसीकल नाटकों की प्राकृतें, उसके विपरीत, जनसाधारण की भाषाएँ हैं, जो साथ ही संस्कृत से प्रभावित थीं; जहाँ तक पैशाची में लिखित बृहत्कथा से संबंध है, उसके जो थोड़े-से अंश उपलब्ध हैं वे इस बात का प्रमाण नहीं देते कि वह लोकप्रिय रचना थी। इन सब बातों को देखते हुए, तो बोलचाल की भाषाएँ मिलती कहाँ हैं ? अशोक के

अभिलेखों में, जिनमें वाक्य-विन्यास कट्टर था; और कुछ हद तक बौद्ध तथा जैन धर्म-नियमों से संबंधित ग्रन्थों में, जो कर्मकांडों से संबंधित अथवा साधारण हैं, और जहाँ तक संस्कृति से उनका संबंध है, वे संस्कृत में निहित संस्कृति से सम्बद्ध हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि इतने विस्तृत जन-समूह और निम्न स्तरों में प्रचलित होने पर, भारतीय-आर्य भाषा जो वैदिक और ब्राह्मण रूपों के अंतर्गत, भारोपीय के इतिहास में उसी समय विचित्र रूप में परिष्कृत हो गयी थी, अपना परिष्करण खो देती है और, यदि यह कहा जा सकता है, असंस्कृत हो जाती है। क्या उस पर और गंभीरतापूर्वक सोचने और उसका मूल्यांकन करने पर कम-से-कम कुछ विस्तार से यह दृष्टिगोचर नहीं होता कि जनसमूह ने, जिसने संस्कृत सीखी, अथवा अत्यधिक समान बोलियों ने तथा इसके अतिरिक्त उसके साथ निरन्तर संपर्क के प्रभाव ने उसे प्रभावित किया ?

सिन्धु की प्रागैतिहासिक सभ्यता को तो छोड़ दीजिए, और अब तक वहाँ की भाषा भी अज्ञात है; सीमान्तवर्तिनी यह सभ्यता निस्सन्देह आर्यो के भारतागमन के समय ही पतित हो चुकी थी—उत्तर में, पंजाब के उपजाऊ भूमि-भागों में, भली भाँति। यह ज्ञात नहीं है कि इस भूमि-भाग के किन निवासियों पर आर्यो ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया; तथा इससे भी अधिक मुश्किल से यह ज्ञात है कि बाद में उन्होंने किन लोगों के साथ सम्पर्क स्थापित किया।

इन लोगों का संबंध जन-समूह के उस भाग से स्थापित करने का प्रलोभन होता है जो उस समय तक स्थापित आर्यों के भूमि-भाग के चारों ओर बसे हुए थे और जिनकी भाषाएँ अब भी जीवित थीं। इन भाषाओं में से, केवल तिब्बती भारत में पहुँचती है; जो भाषा बुरुशस्की नाम से भली भाँति ज्ञात है, क्या वह कुछ ऐसे तथ्य प्रदान करती है जो तुलनाओं का समर्थन करें? इसमें अभी देर प्रतीत होती है। द्रविड़ भाषाओं और मुण्डा बोलियों पर आने से यह ज्ञात होता है कि वे वास्तविक भारतीय-आर्य भाषा के संपर्क में थीं।

द्रविड़ भाषा इस प्रायद्वीप के दक्षिण में और बलूचिस्तान के छोटे से भूमि-भाग में है; मुण्डा गंगा के मैदान, और पश्चिम में महादेव गिरि-मालाओं की ओर जिसकी सहायक नदियाँ चली गयी हैं उस महानदी के मुहाने के बीच छोटा-नागपुर के पठार में बोली जाती है।

अथवा, ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रायद्वीप में आर्यों से पहले कम-से-कम दो बार बाहर की जातियाँ आयीं; एक, जो अधिक प्राचीन प्रतीत होती है, और जिसकी उत्पत्ति भी लोग पश्चिम में खोजने की चेष्टा करते मालूम होते हैं, द्रविड़ों की होगी :

दूसरी, मुण्डा समूह की, जिसकी भाषाएँ हिन्द-चीन की मोन्-ख़्मर से संबंधित प्रतीत होती हैं, अन्यथा, जैसा कि कुछ लोग देखना चाहते हैं, जिनका संबंध उसी दिशा में और दूर की भाषाओं से है। इन दो समुदायों के संबंध में, अप्रत्यक्ष रूप से भी, प्राचीन काल के लिये हम कुछ नहीं कह सकते; किन्तु इधर हाल के इतिहास में उनका योग बहुत भिन्न रहा है : द्रविड़ लोग सभ्य है, और ईसवी सन् से पहले ही, तमिल-भाषियों ने, भू-मध्य सागर की ओर समुद्री व्यापार द्वारा समृद्ध राज्य स्थापित किये, और कम-से-कम आंशिक रूप में मौलिक, परिष्कृत साहित्य को जन्म दिया; इसके विपरीत मुण्डा लोगों के संबंध में मुश्किल ही से कोई समस्या है, तथा आधुनिक जाति-विज्ञान ने, सभ्य भारत के किनारे-किनारे कम-से-कम तीस लाख मनुष्यों के छोटे-छोटे समुदायों के रूप में उनका महत्त्व और अस्तित्त्व स्थापित किया है। इन दोनों समुदायों की भाषाओं में उनके भारतीय-आर्य भाषा के साथ स्थापित सम्पर्क के प्रमाण मिलते हैं; यह बात इस कारण भी बतायी जाती है कि आर्यों के आक्रमण से पूर्व ये ही लोग उत्तर भारत में निवास करते थे।

एक ऐसे प्रागैतिहासिक भारत की बड़ी सरलता के साथ कल्पना की जा सकती है जिसमें द्रविड़ लोग, अपने से पहले के तथा बाद के लोगों की भाँति, सिन्धु की निम्न घाटी में, गुजरात में और दक्षिण के समुद्री राज्यों में निवास करते थे, और जिस भारत में मुण्डा लोग गंगा नदी द्वारा सिंचित भूमि-भाग में और पंजाब के निम्न हिमालय प्रदेश में निवास करते थे : दोनों सभ्यताओं के बीच पंजाब के रेतीले भूमि-भाग और गंगा तथा दक्खिन के बीच के पठार का पार्थक्य था, और उनमें एक ओर मालवा के निकट, और दूसरी ओर संभवतः पूर्व की तरफ़ संपर्क था। बाद को, द्रविड़ लोग धीरे-धीरे दक्षिण की ओर हटा दिये गये; एक विकसित सभ्यता की वाहक भाषाओं की प्रतिरोध-शक्ति के चिन्ह आज तक बने हुए हैं (तुल० मराठी और उड़िया में इस संपर्क के चिन्ह, दे० पीछे); मुण्डा लोग, जो एक ऐसी सभ्यता के विरुद्ध संघर्ष करने की क्षमता नहीं रखते थे जिसमें अश्व, तलवार और बौद्धिक श्रेष्ठता थी, पठार के भीतरी भागों में खदेड़ दिये गये। किन्तु दोनों समुदाय आर्यों के उच्चारण तथा व्याकरण पर अपना प्रभाव छोड़ गये हैं, और उनकी शब्दावली समृद्ध कर गये हैं।

कुछ हद तक यह अनुमान ठीक प्रतीत होता है; तो भी यह भूल जाने की बात नहीं है कि उत्तर भारत में कुछ भाषाओं के कुल पूर्णतः लुप्त हो सकते हैं। किन्तु इसके प्रमाण के संबंध में भारी कठिनाइयाँ होंगी, दोनों अंशों का काल-व्यवधान वहुत अधिक है; अर्थात्, संकेतित भाषाओं की प्राचीन स्थिति लगभग अज्ञात है। द्रविड़ भाग में साहित्यों द्वारा सुरक्षित अपेक्षाकृत प्राचीन अप्रचलित रूप मिलते हैं, तथा इसके

अतिरिक्त ऐसे रूप मिलते हैं जो पुनर्निर्माण के अंश प्रदान करने की दृष्टि से यथेष्ट भिन्न हैं। मुण्डा भाग में भाषाएँ, जहाँ तक वे ज्ञात हैं, हमारे अनभिज्ञ नेत्रों के सामने या तो बहुत अधिक या बहुत कम भिन्न हो जाती हैं; केवल कुछ आधुनिक प्रमाण मिलते हैं, और हिन्द-चीन की बोलियों पर आधारित समर्थन अब भी बहुत कम निश्चित है।

तो भी हमें समस्या की वास्तविक स्थिति समझने की चेष्टा करनी चाहिए :

स्थानीय नामों से संबंधित, जिन्होंने यूरोप की प्रागैतिहासिक भाषाओं के संबंध में इतनी बहुमूल्य बातें प्रदान की हैं, का अभी अध्ययन नहीं हुआ। श्री एस० लेवी ने उत्तर भारत के प्राचीन लोगों के कुछ ऐसे नाम बताये हैं जो युग्म हैं और जो ऑस्ट्रो-एशियाटिक की याद दिलाने वाली प्रणाली से साम्य रखते हैं (पुलिन्द-कुलिन्द, कोसल-तोसल, कलिंग-त्रिलिंग प्रकार) ; श्री प्रिज़ीलुस्की का अनुसरण करते हुए, उनमें पंजाब के उदुम्बर तथा आंध्र का सातकर्णी वंश (द्रविड़ जनसमूह ? दे०, जे० ए-एम०, १९२६, I, पृ० २५; जे० आर० ए० एस०, १९२९, पृ० २७३) भी जोड़ देने चाहिए। इससे बिना किसी कठिनाई के यह स्पष्ट किया जा सकता है कि संस्कृत शब्दावली के कुछ तत्त्व मुण्डा बोलियों के कारण हो सकते हैं। अन्य के अतिरिक्त, श्री प्रिज़ीलुस्की ने कुछ पौधों के नाम प्रस्तुत किये हैं (दे०, 'प्री-एरियन ऐंड प्रो-ड्रैवैडिअन इन् इंडिया', पी० सी० बागची द्वारा अनूदित) : ताम्बूल-, कदल- और ऋग्वेद में ही भारोपीय इषु- का स्थान ग्रहण करने वाला बाण- और लाङ्गल- (कृष्- "मज़दूर", उर्वरा और सीता भारोपीय हैं; किन्तु कीनाश में एक विदेशीपन भी है)।

दूसरी ओर, क्लैसीकल संस्कृत और मध्यकालीन भारतीय भाषा की शब्दावली के कुछ तत्त्व ऐसे हैं जो भारोपीय में अज्ञात हैं, किन्तु जिनके लिये द्रविड़ भाषा में साम्य मिलते हैं; वेदों में ही कुछ उधार लिये गये शब्द देखने का प्रलोभन होता है : ऋ० उलूखल-, अथर्व० मुसल-; श० ब्रा० सदनीरा, एक नदी (गण्डक् ?) का नीर-, जो बाद को पृथक् हो गया प्रतीत होता है, ही से बराबर प्रमाणित नाम।

ये तथा अन्य निकट की बातें, जो न्यूनाधिक संभव हैं, यह प्रमाणित करती दृष्टि-गोचर होती हैं कि आर्य तथा अन्य भाषाओं में कुछ आदान-प्रदान हुआ था; किन्तु हमारे पास न तो काल-क्रम है और न शब्द-व्युत्पत्ति-संबंधी प्रमाण हैं जिनके आधार पर यह निश्चित हो सके कि ये भाषा-संबंधी समुदाय वे ही थे जो हमें ज्ञात हैं; और फिर किन-किन शब्दों का आगमन हुआ ? ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जिनके संबंध में यह नहीं कहा जा सकता कि उनका मूल दोनों कुलों में से (दो ही तक अपने को सीमित रखते हुए) किसमें स्थापित करना चाहिए, न यही ज्ञात होता है कि किस में वह उधार लिया

गया, क्योंकि अधिक कुशल आर्य भाषा ने "देशी" भाषाओं पर जोरों से धावा बोल दिया था।

दो बातें तो भी कही जा सकती हैं :

एक ओर तो, संथाली की शब्दावली की सरसरी परीक्षा यह प्रदर्शित करती है कि उसका हिन्दी के, विशेषतः बंगाली और उड़िया के, कुछ रूपों के साथ घनिष्ठ और हाल का सम्बन्ध है; विपर्यस्त रूप में, बंगाली में ही, और ग्रामीण बंगाली में सर्वश्री चटर्जी और बागची ने मुण्डा और आर्य भाषाओं का एक नवीन संबंध खोज निकाला है। अस्तु, कुछ समय के लिये ही ऐसा प्रतीत होता है कि मुण्डा से आर्य भाषा द्वारा तत्त्वों का लिया जाना बीच के काल में बन्द हो गया होगा, और धार्मिक, प्रशासकीय तथा आर्थिक कारणों से अब फिर शुरू हो गया है।

द्रविड़, उसके प्राचीनतम ज्ञात रूप, से जहाँ तक सम्बन्ध है, प्राचीन तमिल साहित्य में, संस्कृत और मध्यकालीन भारतीय भाषा से लिये गये शब्दों की काफ़ी संख्या है; आधुनिक युग में, आर्य भाषाओं द्वारा द्रविड़ भाषाओं से लिये गये एक प्रकार से आधे शब्द पश्चिमी भाग के प्रतीत होते हैं (उदा० बी० एस० ओ० एस०, V, पृ० ७४२); दूसरी ओर संस्कृत में प्रवेश पा गये कुछ शब्द आधुनिक भाषाओं में बने नहीं रह सके। इससे ऐसा विचार में आता है कि सम्पर्क एक प्रकार से पश्चिम की ओर रहा होगा, कहना चाहिए आंध्र देश की अपेक्षा मालवा में : क्या यह गौरवपूर्ण उज्जैनी थी, जो उस भूमि-भाग का केन्द्र थी, जहाँ यह बौद्धिक आदान-प्रदान हुआ?

यद्यपि ऐसा भले ही हुआ हो, शब्दावली का आदान-प्रदान ही केवल, जो निश्चित है, अन्य प्रकार की बातों की दृष्टि से, संभावनाएँ प्रकट करता है। इन संभावनाओं का उपयोग करते और उन्हें स्वीकार करते हुए हम कह सकते हैं कि मुण्डा और द्रविड़ उन लोगों की भाषाएँ रही होंगी जिन्हें आर्य भाषा ग्रहण करनी पड़ी; अब देखना यह है कि स्वयं आर्य भाषा पर उनका प्रभाव कहाँ तक पड़ा।

सर्वप्रथम ध्वनि-मात्र के परिवर्तन-क्रम ने भाषा में जो परिवर्तन उपस्थित किया उससे जन-समूह का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। और, वास्तव में, व्यंजनों की प्रणाली में परिवर्तन उपस्थित करने की दृष्टि से एक प्रभाव अत्यधिक महत्त्वपूर्ण रहा। भारतीय-आर्य भाषा में दन्त्यों का एक वर्ग है, उससे भाषा के पूर्ववर्ती भाग में उच्चरित व्यंजनों की आशा की जाती है; प्राचीनतम संस्कृत में वे दो हैं, जो वास्तविक दन्त्य हैं वे, और मूर्द्धन्य। यदि इन दोनों के उद्गमों का खोजना पसंद किया जाय, तो वैदिक भाषा में गौण रूप से निकले ऴ का अस्तित्त्व -ड्- स्वर-मध्यग से मानने का प्रलोभन होता है, और आधुनिक भाषाओं के एक महत्त्वपूर्ण समुदाय में -ल्- स्वर-मध्यग से। किन्तु द्रविड़ भाषा

में ळ् है, जो मुण्डा में नहीं है। दूसरी ओर ळ् का भौगोलिक विभाजन महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है : (सिंधी के अतिरिक्त जिसमें र् है, मूर्द्धन्य भी) पश्चिमी बोलियों को छोड़ कर, उड़िया में, जो द्रविड़ प्रदेश से लगी हुई पूर्व की बोली है, वह है; इससे क्दन्त के अनुमान का महत्त्व कम हो जाता है जिसकी पूर्व की ओर फैलते समय मुण्डा में, भारतीय-आर्य की भाँति, एक प्राचीन ध्वनि-मात्र लुप्त हो जानी चाहिए।

जहाँ तक दन्त्यों और मूर्द्धन्यों के विभाजन से संबंध है, यह देखा जा चुका है कि उसमें, प्रागैतिहासिक आर्य शकार-ध्वनि के कारण प्रारंभ में हुए परिवर्तन की एक श्रृंखला के साथ अनुकूलता और नियमित रूप आता है।

भारतीय-आर्य भाषा की ध्वनि-प्रणाली की एक विशेष बात है महाप्राण व्यंजनों का अस्तित्त्व। किन्तु, मुण्डा में, अथवा कम-से-कम मुण्डा के खेरवारी समुदाय में (सोरा उसमें नहीं है) महाप्राण हैं; द्रविड़ में वे नहीं हैं। इस बात को पिछली बात से मिला देने की दृष्टि से, इस बात के जानने का लाभ उठायां जा सकता है कि वैदिक -ळ्- का स्थान क्लैसीकल संस्कृत में -ड्- ग्रहण कर लेता है, और इसमें द्रविड़ प्रभाव के बाद मुण्डा प्रभाव दृष्टिगोचर होता है : मुण्डा द्वारा बचाये जाने के मुक़ाबले द्रविड़ ही महाप्राणों की प्राचीन प्रणाली को नष्ट करने में यथेष्ट न होती; इसके अतिरिक्त यह स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है कि द्रविड़ में, उसके सामने, दक्खिन के नवीन भूमि-भागों में, जहाँ देसी प्रभाव प्रमाणित किये जाने योग्य नहीं है, और बलूचिस्तान (जहाँ केवल पूर्वी बोली में हाल के कुछ महाप्राण हैं) में फैलते समय महाप्राण लुप्त हो गये होंगे।

यह विशेषतः स्मरण रखने की बात है कि महाप्राणों की परिस्थिति वही नहीं थी जो दन्त्यों की थी; पहलों का केवल रक्षण रहा; जब कि दन्त्यों को पहले ही से आघात पहुँचा और उतनी ही उनमें परिवर्तन की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। आधारों का प्रभाव अनुकूल परिस्थिति के बिना उत्पन्न नहीं होता; यही कारण है कि आर्य भाषा किसी चीज़ की फिर से याद नहीं दिलाती, वे चाहे मुण्डा की विशेषता के सूचक अंतरंग स्फोटक हों (अवरुद्ध व्यंजन), चाहे द्रविड़ भाषा के तालव्यीय व्यंजनों का वर्ग हो। जो अन्य प्रभाव देखे जा सकते हैं, वे आधुनिक और पूर्णतः स्थानीय हैं : ऐसे संभवतः हैं मराठी और तेलेगू में आदि (य्)ए-(व्)ओ- का संयुक्त स्वर-भाव (नेपाली और दर्द में भी ज्ञात), अथवा मराठी-आर्य भाषा में, तेलेगू तथा कुइ- द्रविड़ भाषाओं में, कुर्कू, पृथक् हो गयी मुण्डा बोली में अ, ओ, साथ ही उ से पूर्व तालव्यों का दन्त्य हो जाना; संभवतः तेलेगू के स्वर-संबंधी साम्य और संथाली तथा बंगाली की प्रसूत ध्वनियों को भी निकट से देखना आवश्यक है।

इन प्रभावों को छोड़ कर, एक और समानता की ओर ध्यान देना आवश्यक है जिसके बिना प्रतिपादित विषय स्पष्ट न हो सकेगा।

मध्यकालीन भारतीय भाषा में जो एक यह विशेषता मिलती है कि व्यंजन-समुदायों का उच्चारण करना कठिन होता है, यही विशेषता द्रविड़ में भी मिलती है। आपस्तम्ब के श्रौत सूत्र में संस्कृत में घोड़े का एक नया नाम दृष्टिगोचर होता है : घोट- जो निश्चित रूप में अश्व का स्थान ग्रहण कर लेता है। इस उधार लिये गये शब्द से (किस भाषा से ?) *घुत्र- प्रकार की कल्पना की जा सकती है जो मुण्डा की दो छोटी-छोटी बोलियों के रूपों में भी दृष्टिगोचर होता हैं : सोरा कुर्ता, गदब क्रुता आदि, जो निस्सन्देह द्रविड़ से लिये गये हैं, के कठोरत्व से यही निष्कर्ष निकलता है; स्वयं द्रविड़ में एक ओर तमिल कुदिरेइ, कन्नड़ कुदुरे है, दूसरी ओर तेलेगू गुर्रमु : अस्तु, आर्य भाषा की भाँति, स्वर-संबंधी आगम अथवा समुदाय का समीकरण। इसी प्रकार गधे के नाम ऋ० गर्दभ- के सामने—काफ़ी निकट—तेलेगू गाृदिडे, तमिल कलुदेइ, किन्तु कन्नड़ कल्तॆ, कत्ते मिलते हैं; तुल० तमिल कुरुड्- "अंधा"; तेलेगू गुड्डु-, कन्नड़ कुड्डु-; तमिल कलल्इ, तेलेगू गड्डु-, कन्नड़ गड्डे [प्रसंगवश यह देखा जा सकता है कि कठोर और आदि मुखर (घोष) ध्वनियों की अनियमित प्रतिकूलता से प्रागैतिहासिक द्रविड़ भाषा में महाप्राण व्यंजनों के अस्तित्त्व की बात सोची जा सकती है]।

यह संसरण केवल संयोगवश ही मुश्किल से हो सकता है। किन्तु यदि उन भाषाओं में समानान्तर बातें हैं, तो क्या समकालीन बातें भी नहीं हैं ?

उनका समय कुछ भी हो, यह प्रवृत्ति, भारतीय-आर्य भाषा की भाँति द्रविड़ भाषा में भी इधर के युगों की प्रतीत होती है। इस प्रवृत्ति का महाकाव्यों में और मनु द्वारा ज्ञात पुरुषवाचक नाम द्रविड- के, और उसे बशर्ते कि संभवतः केवल उधार लिया गया हो, इतिहास में प्राचीन प्रमाण उपलब्ध करने का लोभ होता है; अथवा प्यूटिंजर (ती० श०) की तालिका में दिमिरीस (Dimirice), पाली महावंश में (पाँ० श०) दमिऌ-, और प्राचीनतम तमिल व्याकरण में तमिऌ मिलता है। किन्तु कौन कह सकता है कि मध्यकालीन भारतीय भाषा में बीच की स्थिति नहीं थी ?

तमिल में स्वर-मध्यग स्पर्श ध्वनियाँ मुखर (घोष) हो जाती हैं (तथा उस हालत में उनका सोष्मीकरण हो जाता है); किन्तु मध्यकालीन भारतीय भाषा से उसका संबंध स्थापित नहीं किया जा सकता; कुमारिल ने सातवीं शताब्दी में ही कठोर शब्दों का उल्लेख किया है; तथा इसके अतिरिक्त परिवर्तन द्रविड़ भाषा में सर्वत्र नहीं पाया जाता।

यह देखा जा चुका है कि संस्कृत के ए और ओ केवल दीर्घ हैं, किन्तु धीरे-धीरे इन

स्वरों में दो मात्रा-काल उत्पन्न हो जाते हैं : अर्थात ए तथा ओ द्रविड़ और मुण्डा में ह्रस्व या दीर्घ हो जाते हैं। किन्तु ऐसा एक अत्यन्त सामान्य तथा पहले से दिखायी पड़ने वाले तथ्य द्वारा हो जाता है जिससे कोई अन्य निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता, सिवाय इसके कि दीर्घ शब्दों में प्राचीन दीर्घ ए तथा दीर्घ ओ के सामान्य ह्रस्वीकरण में कोई स्थानीय बाधा नहीं थी।

इन सब बातों में, केवल जिसका मूर्द्धन्यों से संबंध है वह निर्विवाद है। आधार के अन्य चिन्हों को, विशेषतः द्रविड़ आधार को ढूँढ़ना ठीक होगा।

क्योंकि द्रविड़ भाषा ही है जिसमें आर्य भाषा की बहुत-सी समान बातें मिलती हैं; तथा ये साम्य जितने अधिकांशतः गौण है उतने ही महत्त्वपूर्ण।

शब्द में, पर-प्रत्ययों के लगाने का निरंतर प्रयोग और उपसर्गों (पुरः प्रत्ययों) तथा मध्यवर्ती प्रत्ययों का अभाव (आर्य भाषा से जहाँ तक संभव है, लोप) जो मुण्डा में प्रचलित हैं; समुदाय में, उपसर्गात्मक अव्ययों और पूर्व-क्रियाओं का अभाव (लोप) भी ऐसा ही है। रूप-रचना में, मुण्डा में प्रचलित, द्विवचन का अभाव (लोप)। संज्ञाओं में, द्विगुण विकरण, विकृत विकरण में संबंध० के भाव की प्रवत्ति होने, और न्यूनाधिक वास्तविक अर्थ से हीन शब्दों का अनुसरण करने के कारण; दो विकरणों वाले पुरुषवाचक सर्वनाम : कर्त्ता० वाले, और मुख्य तथा गौण कर्म कारक वाले (मुण्डा में केवल एक विकरण)।

क्रिया में, नामजात रूप तथा परिवर्तनशील लिंग के तीन पुरुष; क्रियामूलक विशेष्य का अस्तित्त्व (मुण्डा में नहीं है) जो वाक्यांशों के संयोजन में और शैलीगत अथवा व्याकरण-संबंधी भाव वाले संयुक्त या मिश्र वाक्यावली की उत्पत्ति में महत्त्वपूर्ण भाग लेता है; सिंहली किय, अप० भणिवि, म० म्हणून्, ने० बहृणिये, बंगाली बोलिया का तमिल ऐन्रु, तेलेगू भनि, कन्नड़ एन्दु "कह लेने पर" से स्पष्टीकरण करने के लिये साम्य है : यह साम्य केवल दक्षिण की द्रविड़ भाषाओं द्वारा प्रमाणित है, कुरुख, गौंड में, मुण्डा की भाँति, वह नहीं है (इस संबंध में भी सोरा मुण्डा-समुदाय से अलग रहती है, दे०, आर० वी० राममूर्ति, §१७९)। अनुमान की बात है; किन्तु इससे ऐसी अन्य बातों की तुलना करने के लिये प्रोत्साहन मिलता है जिनके लिये दक्षिण की भाषाएँ महत्त्व-पूर्ण हैं।

जहाँ तक तुलनीय अभिव्यंजनाओं से, तथा उदाहरणार्थ, द्वित्व-युक्त तथा प्रतिध्वनित (दे० पीछे) शब्दों से संबध है, द्रविड़ भाषाओं के समस्त कुलों में सरलता-पूर्वक एक लंबी सूची बनायी जा सकती है।

नकारात्मक बातें भी हैं : कर्मवाच्य, उपपद, तुलना की श्रेणी का अभाव। किन्तु

जहाँ पूर्वोल्लिखित बातें कुछ सिद्ध हो सकती हैं, ये कुछ भी सिद्ध नहीं होतीं, विशेषत: द्रविड़ और मुण्डा में अज्ञात वर्गों का आर्य भाषा में सुरक्षित रहने की बात पर ध्यान रखना होगा : एक ओर संबंधवाचक तथा संबंधवाचक वाक्यांश, दूसरी ओर विशेषण अथवा अन्य संज्ञा से साम्य रखने वाली संज्ञा : कभी-कभी प्रसंगवश यह पूछा जा सकता है कि क्या देशी भाषाओं में विशेषण के भाव वाले अव्ययी विकरणों का अस्तित्त्व आर्यों की साहित्यिक भाषाओं के समासों के लाभ के लिये नहीं है। हर हालत में स्थानीय प्रभाव दृष्टिगोचर होता है : मराठी, उड़िया, सिंहली में अपने-अपने ढंग से द्रविड़ "संबंधवाची कृदन्त" वाक्य-विन्यास के अनुकूल हो गया है, कोई रचना हो उसमें अपरिवर्तनशील विशेषण में कर्त्ता कारक कर्त्ता की ग्रहणशीलता रहती है।

इतने महत्त्वपूर्ण और कुछ बातों में इतने निश्चित साम्य होने पर भी, भारतीय-आर्य भाषा का विकास अस्वाभाविकता की सीमा पर नहीं पहुँच जाता। आर्य भाषा का ईरानी के साथ केवल संसरण देखना है जिसमें ज्ञात स्थानीय प्रभाव विशेष प्रकार के हैं : लिंग का लोप एक ऐसे आधार का अनुमान कराता है जो भारतीय आधार से भिन्न है।

दोनों क्षेत्रों में, जैसा कि देखा जा चुका है, अत्यधिक प्रमुख अंतर ध्वनि-क्रम का है। यदि ईरानी के आकृति-विज्ञान पर विचार किया जाय, तो विशेष्य, अपरिवर्तनशील हो कर (भारत की कुछ भाषाओं में ऐसा है) तुलना के लिये उपयुक्त नहीं रहता; किन्तु विशेषण का वर्ग बना रहता है; सर्वनामों में, विकृत विकरण के सामान्यीकरण का प्रतिरूप भारत में मिलता है : प्रणाली का सबसे बड़ा अन्तर वह है जिसके अंतर्गत बाद में आने वाले विशेषण की भाँति प्रयुक्त प्राचीन संबंधवाचक का अभाव आता है (यह इज़ाफ़त है, जो भारत में उर्दू में है)। क्रिया में, भारत की भाँति ही, प्राचीन वर्तमान का और भूत० कृदन्त का विरोध क्रिया-रूप में प्रमुख स्थान रखता है; सर्वनाममूलक रूप को सम्बद्ध कर लेने और सहायकों के योग के अपने-अपने प्रतिरूप भारत में हैं।

दूसरी ओर भाषा-रेखाओं की सीमाओं का एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में अतिक्रमण यह प्रकट करता है कि उनके मौलिक संबंध वास्तव में छिन्न-भिन्न नहीं हो जाते। हमें और स्पष्ट रूप से देख लेना चाहिए :

दोनों समुदायों में ऋ का प्रयोग बिल्कुल एक-सा नहीं है : अफ़ग़ानी (अंशत:) तथा बलूची में उसका ह्रस्व स्वर बनता है, जब कि अशोक के अभिलेखों के उत्तर-पश्चिमी समुदाय में इस बात का प्रमाण मिलता है कि कुछ भारतीय बोलियों में उसका उपयोग स्वर+र् की भाँति था।

अफ़ग़ानी और वक्सी में मूर्द्धन्य मिलते हैं। जिनका संबंध अफ़ग़ानी और बलूची

से है उन पर दूसरे रूप में विचार किया जा सकता है; वास्तव में हम जानते हैं कि ये बोलियाँ बाहर से आयीं; और भारतीय सभ्यता ने इन क्षेत्रों में प्रवेश कर लिया था। अस्तु, -तो युक्त बलूची क्रियामूलक विशेष्य, तुल० स० -त्वा, और अफ़ग़ानी, वक्मी तथा यिद्गा का -अव- युक्त प्रेरणार्थक भारत से लिये गये हैं। इस प्रकार पूर्वी ईरान में भारतीय आधार का प्रभाव देखा जा सकता है; जिप्सी-भाषाएँ संभवतः इसी भूमिभाग से निकलती हैं, और साथ ही इससे उनकी कुछ ध्वनि-संबंधी विशेषताओं और शब्दावली का मिलना, ये बातें स्पष्ट हो जाती हैं (उदाहरणार्थ अफ़ग़ानी और जिप्सी-भाषा लस्ँत्, हिं० लाठी, सं० यष्टि-। इन्हीं कारणों से अफ़ग़ानी में संशयार्थसूचक (लेट्-लकार) और तुलनात्मक का अभाव बताया जा सकता है।

स् और स्ँ के बीच की सीमा भारत में नहीं रह जाती; जैसे पिछले समय में अशोक की उत्तर-पश्चिम और ह० दुत्रु० की बोलियों, दर्द तथा यूरोप की जिप्सी-भाषा (एशियाई जिप्सी-भाषा भारत के साथ चलती है) में प्राचीन शकार ध्वनियाँ सुरक्षित रहती हैं; कश्मीरी और सिंधी में श् ह् हो जाता है, और स्ँय् स् हो जाता है, स्ँर् स्ँ हो जाता है, जैसे ईरानी में। ईरानी में भी मिलने वाले एक सूत्र के अनुसार कश्मीरी में पहले आने वाले स्पर्श पर शिन्-ध्वनि हावी होते हुए देखी जाती है (दे० पीछे)। अफ़ग़ानी अत्अ "आठ" में भारतवर्ष में एक महाप्राण की आशा की जाती है; किन्तु ध्यान देना चाहिए कि स्त् बना रहता है।

काफ़िर को तालव्यों को दन्त्य रूप प्रदान करना प्रिय है : प्राचीन काल से, ईरानी विशेषता का चिन्ह।

खरोष्ठी लिपि में लिखित कुषाण युग के अभिलेखों में प्राचीन काल में भारतीय सोष्म के अस्तित्त्व का प्रमाण मिलता है, दे० पीछे; दर्द में वह आज भी है। दूसरी ओर महाप्राण घोष का अल्पप्राणीकरण, जो शेष भारत में कहीं-कहीं मिलता है, दर्द और पंजाबी (यहाँ महाप्राणत्व एक स्वर-संबंधी सुर छोड़ जाता है) में ईरानी की भाँति सामान्य है। प्रसंगवश यह जान लेना चाहिए कि पूर्वी बलूची में कुछ हाल ही में उत्पन्न महाप्राण हैं।

कुछ बातें दोनों क्षेत्रों में से एक में भी सामान्य हुए दोनों पक्षों को सीमान्त से अलग कर देती हैं; इस प्रकार स्व् जो स्वतंत्र रूप में फ़ारसी और भारत की "प्राकृत" बोलियों में स् प्रदान करता है, किन्तु शेष ईरान में तथा भारत के पश्चिम की प्राचीन बोलियों में स्प् [अशोक० स्पसु-(स्वसृ-), ह० दुत्रु० विश्प-(विश्व-), अभिलेख वेस्पसिरि, पिस्पसिरि]।

आधुनिक काल तक, फ़ारसी में ब्- हो गया आदि -व्, शेष ईरान में मिलता है; वह

पश्चिमी भारत में भी बना हुआ है, जब कि पूर्व की ओर वह -ब् हो जाता है। बीच के समय में स्वर-मध्यग -द्- से -ल्- का प्रयोग ईरान के उत्तर-पूर्व और भारत के उत्तर-पश्चिमी भागों में (अफ़ग़ानिस्तान में) समान रूप से होता है, जहाँ वह जिप्सी-भाषा से सम्बद्ध हो जाता है।

रूप-विचार की दृष्टि से यह देखा जा सकता है कि संबंधवाचक य-, जो भारतवर्ष में बना रहता है और अत्यधिक महत्त्व ग्रहण कर लेता है, उत्तर-पश्चिम और जिप्सी-भाषा में नहीं है, जैसे ईरान में नहीं है। क्रिया में सर्वनाममूलक पर-प्रत्यययों का प्रयोग भारतवर्ष में ईरानी सीमा की ओर स्थानीय हो जाता है; दूसरी ओर भारतीय सीमा की ईरानी भाषाओं में संशयार्थसूचक (लेट्-लकार) नहीं है। अफ़ग़ानी, बलूची तथा बीच की बोलियों में दो विकरणों वाली एक नामजात प्रणाली है : फ़ारसी और कुर्द में केवल एक रूप है; यह अन्तर, जो विकास की सापेक्षिक तीव्रता के कारण हो सकता है, स्वभावतः पहले वालों की अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण है।

तत्पश्चात् शब्दावली की बातों को कुछ महत्त्व प्रदान करना भी उपयुक्त है। अब भी दर्द में प्रचलित, सं० 'स्त्री' के तुल्य रूप की बलूची में (सुँअंज) अनुरूपता मिलती है; मुख- से अफ़० मख़्, परचीं मुख़् की अनुरूपता है (दे० मौरगैन्सटिएर्न, 'एटी० वोके० ऑव पश्तो', पृ० ४८)। श्री तेदेस्को ने सोग्दिअन में सिंधी रीझ्- का सादश्य देखा है तथा सिंधी वीझ्-(सं० व्यध्), कुह (सं० कुष्-) तथा प्राचीन ईरानी में अर्थ-विचार-संबंधी सादृश्य देखा है (बी० एस० एल०, XXIII, पृ० ११४); इसी प्रकार श्री टर्नर ने बताया है कि सिंधी वणु, अफ़ग़ानी वन की भाँति, "पेड़" का अर्थ देता है, संस्कृत वन-का यह अर्थ वेदों के बाद लुप्त हो गया था। प्राचीनतम वैयाकरणों ने ही काम्बोज में सॅव्- "जाना" के अस्तित्त्व की ओर संकेत किया है, तुल० पु० फ़ा० सियव्-, अ० सॅग्रव्-, सोग्दिअन सॅव्-(संस्कृत में यही धातु च्यव्- रूप धारण कर लेती है और एक दूसरे अर्थ में धारण करती है)। निश्चित रूप से अन्य ऐसे ही सादृश्य हैं, और उनसे निस्सन्देह आंशिक रूप में यह ज्ञात होता है कि पूर्व और दक्षिण की ओर फैलने पर संस्कृत शब्दावली में नवीनता आयी; किन्तु प्रत्येक युग में उधार लिये गये शब्दों को अलग करना कठिन है : वैदिक द्वार्-, जिसमें आदि महाप्राण दृष्टिगोचर होता है, संभवतः, जैसा कि श्री हरतेल ने संकेत किया है, एक ईरानी शब्द है। इतिहास ने वास्तव में दो सभ्यताओं में एक स्थायी संपर्क स्थापित और कार्यान्वित होने में सहायता प्रदान की है; एक दूसरे से ग्रहण किये जाने की जिस प्रवृत्ति का यहाँ उल्लेख हुआ है वह इस बात से और भी सुगम हो गयी कि दोनों क्षेत्रों के शब्दों की ध्वनि-संबंधी प्रणाली एक-दूसरे के बहुत निकट है; तथा निस्सन्देह हमारी शब्द-व्युत्पत्तियों का एक भाग ऐसे क्रम-

परिवर्तनों की सरलतापूर्वक गणना नहीं करता जो ठीक हैं, किन्तु जो ऐतिहासिक दृष्टि से मिथ्या सिद्ध होते हैं।

अस्तु, इस प्रकार स्थानीय प्रभाव चाहे जितने गहरे रहे हों, उनसे भारतवर्ष की आर्य भाषा ईरान की आर्य भाषा से वास्तव में अलग नहीं हो गयी तथा अन्य भारोपीय भाषाओं से बहुत अधिक भिन्न नहीं हो गयी; भारतीय-ईरानी की आन्तरिक शक्ति, संस्कृत का सम्मान, पश्चिम से ऐतिहासिक सम्बन्ध, फ़ारसी का प्रभाव एक ही अर्थ में कार्यान्वित हुए हैं। निस्सन्देह अँगरेज़ी के प्रभाव ने, न केवल शब्दावली में, किन्तु वाक्य-विन्यास में भी, भारोपीय समुदाय और भारत की परिष्कृत भाषाओं के बीच संबंधों को एकदम और भी अधिक दृढ़ करने में सहायता पहुँचायी है।

पारिभाषिक शब्द-कोश

हिन्दी-अँगरेज़ी

Desinence
Terminal
Implosion
Implosive
Inclusive
Intermediary, Internal
Liquid
Termination
Apocope
Degree
Impersonal
Impersonal Passive
Intransitive
Intransitive Theme
Non-verbal
Syllabic
Prothesis
Surd
Surdity, Unvoicing
Inanimate
Redundant
Intensity
Intensive
Preterite

अदर्शन	Elision
अधिकरण कारक	Locative
अनद्यतन भूत, सातत्यार्थक भूत	Durative Past
अनन्वित तमबन्त (विशेषण)	Absolute Superlative
अनन्वित संबंध कारक	Absolute Genitive
अनासिक्य	Denasalised
अनियमित क्रिया	Irregular Verb
अनिर्धारण	Indetermination
अनिश्चयवाचक	Indefinite
अनिश्चित क्रियार्थ-भेद	Eventual Mood
अनिश्चितता	Eventuality
अनुकूल रूप	Adaptation
अनुकूलता, समानता	Apposition
अनुकूलत्व, अनुकूल रूप	Adaptation
अनुधारणात्मक	Conclusive
अनुनासिक	Nasal
अनुनासिकताविहीन, अनासिक्य	Denasalised
अनुनासिक मध्यवर्ती प्रत्यय	Nasal Infix
अनुबंधता, योग	Adjunction
अनुमतिबोधक	Permissive
अनुमान	Hypothesis
अनुलेखन-पद्धति	Orthography
अनुसर्ग	Postposition
अनेकाक्षर	Polysyllable
अपनिहिति	Epenthesis
अपरिवर्तनीय विकरण	Non-alternant Theme
अपवर्त्य समुदाय	Multiple Group
अपश्रुति	Ablaut
अपादान	Ablative
अपूर्ण, घटमान	Imperfect
अपूर्ण या घटमान कृदन्ती रूप	Imperfect Participle

अप्राण तालव्य	Non-aspirate Palatal
अभिनिधान	Elision
अभिव्यंजक	Expressive
अभिव्यंजक रूप	Expressive Form
अमूर्त	Abstract
अमूर्तत्व	Abstraction
अयथार्थ	Unreal
अयथार्थ संभाव्य	Unreal Conditional
अर्थ-विचार-संबंधी	Semantics
अर्थानुकूल कर्त्ता	Logical Subject
अर्द्ध-स्वर	Semi-vowel
अल्पप्राणीकरण	Deaspiration
अल्पार्थक	Diminutive
अवरुद्ध व्यंजन	Checked Consonant
अवरोध	Obstruction
अवस्थावाची या स्थानवाची पर-प्रत्यय	Suffix of Position
अ-विकरणयुक्त	A-thematic
अव्यय	Indeclinable
अव्यय रूपी उपसर्ग	Preposition
असमापिका	Conjunction, Conjunctive
असमापिका क्रिया	Infinite Verb, Conjunctive Participle
असमापिका (धातु)	Infinitive
असम्पन्न भूत	Pluperfect
असाक्षात्	Indirect
असावर्ण्य	Dissimilation
अस्तित्वसूचक क्रिया	Verb of Existence
आकृति-विचार, रूप-विचार	Morphology
आगम	Augment
आगम, निवेश	Insertion

आगम, संयोग	Affixation
आघात, स्वरित होना	Accentuation
आज्ञार्थ	Imperative
आदरसूचक	Honorific
आदरार्थ, संभावक प्रकार	Optative
आदर्श	Norm
आदि या मूल या प्रधान स्वराघात	Initial Accent
आदि शब्द	Premier Term
आदेशार्थ	Injunctive
आरम्भिकताबोधक	Inceptive
आर्ष प्रयोग	Archaism
आवृत्ति	Frequency
आवृत्तिमूलक	Anaphoric
आवृत्तिवाला	Redoubled
आशीर्वादात्मक	Precative
आश्रयसूचक क्रियार्थ-भेद	Mood of Subordination
आश्रित	Dependent, Subordinate
आश्रित वाक्य-योजना	Subordination
आश्रित वाक्य-संयोजक	Subordinating
आश्वसित ध्वनि	Recursive
इच्छार्थक	Desiderative
उच्चरित	Articulated
उच्चारण	Articulation
उत्कर्षता	Intensity
उत्कर्षसूचक	Intensive
उत्कीर्ण लेख	Epigraph
उदात्त	Acute
उदासीन, नपुंसक लिंग	Neuter (Gender)
उदासीनता, दुर्बलता, नाश	Neutralisation

उपपद, उपसर्ग	Article
उपसर्ग	Affix, Article, Preposition
उपसर्गात्मक अव्यय, कर्म-प्रवचनीय उपसर्ग, अव्यय रूपी उपसर्ग, उपसर्ग, पूर्वसर्ग	Preposition
ऊष्मत्व खोकर स्पर्श में परिणति	Mute
एक-मूलक भिन्नार्थी दो शब्दों में से एक, युग्मक	Doublet
एकरूपता	Accord
एकांतरकरण	Alternance
एकाक्षरात्मक	Monosyllabic
एकीकरण	Unification
ऐतिहासिक वर्तमान	Historic Present
ओष्ठ्य	Labial
औपम्य, सादृश्य	Analogy
कंठद्वारीय	Glottal
कंठ्य	Guttural
कंठ्यौष्ठ्य	Labio-Velar
कंपन	Vibrations
कठोर	Solid
कठोर, अघोष	Surd
कठोरत्व, अघोषत्व	Surdity
करण-कारण	Instrumental
कर्त्ता	Subject
कर्त्ता कारक	Nominative

कर्तृ कारक	Subject Case
कर्तृवाची	Agent
कर्तृवाची क्रिया	Active Verb
कर्तृवाची संज्ञा	Noun of Agency
कर्तृवाच्य	Active
कर्तृवाच्य कृदन्त या क्रियामूलक विशेषण	Active Participle
कर्तृ० पूर्ण०	Active Perfect
कर्तृवाच्य वर्तमानकालिक कृदन्त या क्रियामूलक विशेषण	Active Present Participle
कर्म कारक	Accusative, Regime, Objective (Regime)
कर्मणि	Passive
कर्म प्रवचनीय उपसर्ग	Preposition
कर्मवाच्य, कर्मणि	Passive
कर्मवाच्य-गत विकरण या मूल रूप	Passive Theme
काकलाघात	Stroke of Glottis
काकल्य	Glottal
कारक	Case
कार्य का न्यायानुकूल कर्त्ता	Logical Subject of Action
कार्यवाची संज्ञा	Noun of Action
कृत्प्रत्यय	Primary Suffix
कृदन्त, क्रियामूलक विशेषण	Participle
कृदन्त-विशेष्य (संज्ञा)	Participle-Substantive
कृदन्ती	Participial
कृदन्ती काल	Participial Tense
कृदन्ती गुणवाचक विशेषण	Participial Epithet
कृदन्ती विकरण या मूल रूप	Participial Theme
कोमल	Sonant
क्रिया की रूप-रचना	Verbal Flexion
क्रियाजात मूल	Verbal Radical

क्रिया-भाव	Verbalisation, Mood
क्रियामूलक	Verbal
क्रियामूलक प्रत्यय	Verbal Desinence
क्रियामूलक वर्तमान	Verbal Present
क्रियामूलक विशेषण	Participle, Verbal Adjective
क्रियामूलक विशेष्य	Gerund, Gerundive
क्रियामूलक संज्ञा	Verbal Noun
क्रिया-रूप, तिङन्त-प्रकरण	Conjugation
क्रिया-विशेषण	Adverb
क्रिया-विशेषणमूलक	Adverbial
क्रिया-विशेषणमूलक कर्म कारक	Adverbial Accusative
क्रिया-विशेषणमूलक पर-प्रत्यय	Adverbial Suffix
क्रियार्थ-भेद	Mood
क्रियार्थ-भेद-रूप	Modal Form
क्रियार्थक रूप	Verbal Form
क्रियार्थक संज्ञा, पूर्वकालिक क्रिया, आसमापिका (धातु), क्रियासूचक संज्ञा, तुमन्त	Infinitive
क्रियासूचक संज्ञा	Infinitive
क्षीणता	Atrophy
गण	Group
गत्यर्थक	Statical
गुणारोपण	Attribution
गुरु	Long
गौण	Secondary
गौण, असाक्षात्	Indirect
गौण धातु	Secondary Root
गौण प्रत्यय	Secondary Desinence
गौण या विकृत संक्षिप्ति	Secondary Abridgement

घटमान	Imperfect, Progressive
घटमान भविष्यत्	Future Progressive
घटमान वर्तमान	Present Progressive
घर्ष	Spirant
घोष, मुखर	Sonore
घोषत्व	Voicing
चेतन	Animate
चेतन कर्त्ता	Living Subject
छंद-मात्रा-गणना	Scansion
जिप्सी-भाषा	Tsigane (Fr.)
णिजन्त	Causative
तत्पुरुष समास	Determinative Compound
तद्धित प्रत्यय	Secondary Suffix
तमबन्त (विशेषण)	Superlative
तालव्य	Palatal
तालव्याग्रीय	Prepalatal
तिङ्	Paradigm
तिङन्त-प्रकरण	Conjugation
तीव्रता	Intensity
तुमन्त	Infinitive
तुलना	Comparison
तुलनात्मक (विशेषण)	Comparative
दीर्घ	Prolonged
दीर्घ, गुरु	Long
दीर्घ मात्रा	Long Degree
दीर्घ रूप	Long Form

दीर्घरूपता	Elongation
दीर्घ श्रेणी, दीर्घ मात्रा	Long Degree
दुरूह	Complex
दुरूह परसर्ग	Complex Postposition
दुर्बलता	Neutralisation
द्वन्द्व समास	Co-ordinative Compound
द्व्यक्षरात्मक	Dissyllabic
द्विकर्मक धातु-संबंधी	Factitive
द्विगु	Collective Compound
द्विगुण	Double
द्विगुणन	Gemination
द्वित्व	Doubling
द्वित्वयुक्त, पुनरावृत्त, आवृत्तिवाला	Redoubled
द्वित्वयुक्त परिवर्तन-क्रम	Double Alternance
धातु	Root
ध्वनि-तत्त्व	Phonology
ध्वनि-भाग, ध्वनि-श्रेणी, स्वनग्राम	Phoneme
ध्वनि-लोप	Haplology
ध्वनि-श्रेणी	Phoneme
ध्वनि-संबंधी	Phonetic
नकारात्मक	Negative
नपुंसक लिंग	Neuter (Gender)
नामजात, सामान्य	Nominal
नामजात पर-प्रत्यय	Nominal Suffix
नामजात पूरक	Nominal Compliment
नामजात रूप	Nominal Form
नामजात रूप-रचना	Nominal Flexion
नामजात विकरण	Nominal Theme
नामजात विकृत रूप	Nominal Oblique

नामधातु, श्रेणीसूचक	Denominative
नाम प्रत्यय	Nominal Desinence
नाश	Neutralisation
निकला हुआ	Derivated
निजवाचक	Reflective
नित्य	Primary
नित्य संबंधी	Co-relative
निपात	Particle
नियम	Formula
नियमित रचना	Regular Formation
निरंतरता बोधक	Continuative
निर्देशक	Definite
निर्देशक क्रिया-भाव	Indicative
निर्धारक महत्त्व	Determinate Value
निर्धारण	Determination
निर्धारित	Determined
निर्बल	Weak
निवेश	Insertion
निश्चयवाचक	Demonstrative
निश्चयार्थ, निर्देशक क्रिया-भाव	Indicative
निश्चयार्थ वर्तमान	Definite Present
निश्चित	Definite
न्यायानुकूल या न्यायोचित या अर्थानुकूल कर्त्ता	Logical Subject
न्यून	Reduced
न्यूनत्व, परिवर्तन, प्रह्रासन	Reduction
पद	Term
पद-समष्टि	Phrase
पर-प्रत्यय, (अथवा केवल प्रत्यय)	Suffix
परसर्ग, अनुसर्ग	Postposition

परिवर्तन	Reduction, Alteration
परिवर्तन-क्रम, एकान्तरकरण	Alternance
परिवर्तनीय मूल	Alternant Radical
परिस्थितिसूचक कारक	Circumstantial Case
पश्चगामी	Regressive
पुनरावृत्त	Geminated, Redoubled
पुनरावृत्ति (ज़ोर देने के लिये), द्विगुणन, यम	Gemination
पुनरावृत्तिमूलक	Iterative
पुनर्निर्मित रूप	Refection
पुरःप्रत्यय	Prefix
पुराघटित	Perfect
पुराघटित अतीत	Past Perfect
पुराघटित कृदन्त, पूर्ण कृदन्त	Perfect Participle
पुराघटित भविष्य	Future Perfect
पुराघटित वर्तमान	Present Perfect
पुरुष (उत्तम, मध्यम, प्रथम)	Person (First, Second, Third)
पुरुषवाचक	Personal
पुरुषवाचक क्रिया	Personal Verb
पुरोगमन	Progression
पुरोगामी	Progressive
पुरोगामी सामान्यीकरण	Progressive Normalisation
पूरक	Complement
पूर्ण	Absolute
पूर्ण, पुराघटित	Perfect
पूर्णकारी	Perfective
पूर्ण कृदन्त	Perfect Participle
पूर्ण (या अनन्वित) तमबन्त (विशेषण)	Absolute Superlative
पूर्णताबोधक	Completive
पूर्ण संबंधकारक, अनन्वित संबंधकारक	Absolute Genitive

पूर्व	Anterior
पूर्वकालिक कृदन्त	Absolutive
पूर्वकालिक क्रिया	Infinitive
पूर्व क्रिया	Preverb
पूर्व-प्रत्यय-संबंधी	Pre-desinencial
पूर्वसर्ग	Preposition
पृच्छावरोध, प्रश्नोत्तर	Interpellation
प्रकार, क्रियार्थ-भेद, क्रिया-भाव	Mood
प्रकार-विषयक	Modal
प्रगतिबोधक, घटमान, पुरोगामी	Progressive
प्रगृह्य	ıtus
प्रतिध्वनित शब्द	ıo-Word
प्रत्यक्ष	ect
प्रत्यक्ष रूप में	ectly
प्रत्यय, अंत	inence, Suffix
प्रत्ययांश	——litic
प्रधान	Initial
प्रधान स्वर	Cardinal Vowel
प्रभाव	Rection
प्रयोगार्थक	Tentative
प्रवेशसूचक वर्तमान	Ingressive Present
प्रश्नवाचक या प्रश्नसूचक	Interrogative
प्रश्नोत्तर	Interpellation
प्रह्लासन	Reduction
प्राचीन वर्तमान	Ancient Present
प्राणागम	Aspiration
प्रातिपदिक	Radical
प्रातिपदिक संज्ञा	Radical Noun
प्राथमिक	Primary
प्रारम्भिक क्रिया	Inchoative Verb
प्रेरणार्थक धातु, णिजन्त	Causative

प्रेरणार्थक धातु-मूलक संज्ञा	Causative Noun
फुसफुसाहट वाली ध्वनि	Whispered
बंधन	Obligation
बंधनजात या बंधनसूचक	Adjective of Obligation
बल	Reinforcement, Accent
बलाघात	Stress, Accent
बहुपदी समुदाय, अपवर्त्य समुदाय	Multiple Group
बहुव्रीहि	Compound of Appurtenence
भविष्यत्कालिक कृदन्त	Future Participle
भाववाचक, अमूर्त	Abstract
भाववाचकत्व, अमूर्तत्व	Abstraction
भाववाचक क्रिया	Impersonal
भाववाचक संज्ञा	Abstract Noun
भावे प्रयोग	Neuter Participle
भाषा-रेखा, शब्द-रेखा	Isogloss
भूतकालिक क्रियामूलक रूप	Past Verbal Form
भूतकालिक या अतीतकालिक कृदन्त या क्रियामूलक विशेषण	Past Participle
भूत संभाव्य	Past Conditional
मंद	Dull
मध्य कृदन्त	Middle Participle
मध्यवर्ती	Interior
मध्यवर्ती, अन्तर्वर्ती	Intermediary
मध्यवर्ती परिवर्तन-क्रम	Internal Alternance
मध्यवर्ती प्रत्यय	Infix
मध्यवर्ती महाप्राण (हकार-युक्त)	Interior Aspirate
मध्यवर्ती समानता	Internal Apposition

मध्य स्पर्श	Mi-occlusive
महत्त्व	Value
महाप्राण	Aspirate
महाप्राण तालव्य	Aspirate Palatal
मात्रा	Degree
मात्रा-काल	Quantity
मात्राकालिक	Quantitative
मिश्र, यौगिक, संयुक्त	Periphrastic
मिश्र, संयुक्त, दुरूह	Complex
मुखर	Sonore
मुखरता	Sonority
मुख्य, निर्देशक या निश्चित	Definite
मुख्य, मूल, साक्षात्, प्रत्यक्ष	Direct, Proper
मुख्य कर्म कारक	Direct Regime
मुख्यतः	Directly
मुख्य प्रत्यय	Primary Desinence
मुख्य या निर्देशक उपसर्ग या उपपद	Definite Article
मूर्द्धन्य	Cerebral
मूर्द्धन्यत्व	Retroflexion
मूल	Initial, Direct
मूल, प्रातिपदिक	Radical
मूल, प्राथमिक, नित्य	Primary
मूल का स्वरात्मक अंश	Vocalic Degree of Radical
मूल क्रिया	Radical Verb
मूल धातु	Primary Root
मूल या प्रातिपदिक संज्ञा	Radical Noun
मूल रूप में, साक्षात् रूप में, प्रत्यक्ष रूप में, मुख्यतः	Directly
मूलवाला परसर्ग	Postposition of Origin
मूल विकरण	Radical Theme
मूल स्वर	Radical Vowel

मूल स्वर-पद्धति	Radical Vocalism
मूल्य	Value
मौलिक	Simple
मौलिक काल	Simple Tense
यथार्थ	Real
यम	Gemination
युग्म	Couple
युग्मक	Doublet
योग या संयोग उपस्थित करना	Agglutinate
योग, समुच्चयबोधक, असमापिका, संभाव्य	Conjunction or Conjunctive
योगात्मक	Agglutinating
यौगिक	Periphrastic, Derivated
रचना	Composition, Formation
रूपमात्र	Morpheme
रूप-रचना	Flexion
रूप-विचार	Morphology
लघु	Short
लङ्-लकार	Aorist
लय-परिवर्तन	Modulation
लयात्मक	Rhythmic
लहजा	Tone, Intonation
लिंग	Gender
लुप्त समुच्चयबोधक	Asyndet
लेखन-प्रणाली	Graphy
लेट्-लकार	Subjunctive
लोकोक्ति-संबंधी वर्तमान	Gnomic Present

वचन	Number
वर्ग	Group
वर्णनात्मक भूत	Narrative Past
वर्ण-विपर्यय	Metathesis
वर्तमान	Present
वर्तमानकालिक कृदन्त या क्रियामूलक विशेषण	Present Participle
वर्तमान विकरण या मूल रूप	Present Theme
वर्तमान संभाव्य	Present Conditional
वाक्य-रचना	Syntax
वाक्य-विचार	Syntax
वाक्य-विन्यास, वाक्य-रचना, वाक्य-विचार	Syntax
वाक्य-विस्तार	Periphrase
वाक्यांश या पद-समष्टि	Phrase
वाक्यों आदि का असम्बद्ध विन्यास	Parataxis
वाच्य	Voice
विकरण	Theme
विकरण-युक्त	Thematic
विकरण-युक्त रूप-रचना	Thematisation
विकरण-युक्त स्वर	Thematic Vowel
विकल्प	Alternative
विकार	Variation
विकृत कर्म कारक	Oblique Regime
विकृत कारक	Oblique Case
विकृत रूप	Oblique
विकृत रूप-संबंधी मूल्य	Oblique Values
विकृत संक्षिप्ति	Secondary Abridgement
विच्छेद	Hiatus
विद्वत्तापूर्ण, वैकल्पिक	Facultative
विधेय	Predicate

विधेयात्मक	Predicative
विधेयात्मक पर-प्रत्यय	Predicative Suffix
विपर्यस्त	Inverse
विप्रकर्ष, स्वर-भक्ति	Anaptyxis
विभाजक	Disjunctive
विराम	Stop
विरोधवाची या प्रतिषेधक क्रिया-विशेषण	Adversative Adverb
विवृत्ति, विच्छेद, प्रगृह्य	Hiatus
विवेचन-सूचक क्रियार्थ-भेद	Mood of Deliberation
विशेष	Forte
विशेषण	Adjective, Epithet
विशेषणजात या विशेषण की रूप-रचना	Adjectival Flexion
विशेषणबोधक शब्द	Epithet
विशेष्य, संज्ञा	Substantive
विषमीकरण, असावर्ण्य, वैरूप्य	Dissimilation
विस्तार	Extension
वैकल्पिक	Facultative
वैकल्पिक सामान्यीकरण	Facultative Normalisation
वैरूप्य	Dissimilation
व्यंजन-संबंधी विकरण या मूल रूप	Consonantal Theme
व्याकरण का प्रत्यय, शब्द-रूप, शब्द-रूपावली	Accidence
व्याकरणीय कर्त्ता	Grammatical Subject
व्याप्ति	Enlargement
व्युत्पत्ति	Derivation
व्युत्पन्न	Derivated
व्युत्पन्न, रूप	Derivative
शकार ध्वनि	Hissing Sound
शक्यताबोधक	Potential
शब्द, पद	Term

शब्द-बाहुल्य-युक्त, स्वार्थिक	Pleonastic
शब्द-रूप	Inflexion
शब्द-रूपावली	Accidence
शब्द-रेखा	Isogloss
शब्द-व्युत्पत्ति, शब्द-व्युत्पत्ति-शास्त्र	Etymology
शब्दांश	Syllable
शिन्-ध्वनि	Sibilant
शून्य	Zero
शून्य पर-प्रत्यय	Zero Suffix
शून्य प्रत्यय	Zero Desinence
शून्य रूप	Zero Form
शून्य श्रेणी	Zero Degree
श्रेणी	Degree
श्रेणी-सूचक	Denominative
श्लेष पद	Amphibology
षष्ठी तत्पुरुष	Possessive Compound
संकेत चिन्ह	Notation
संक्षिप्त	Gnomical
संक्षिप्ति	Abridgement
संज्ञा	Noun, Substantive
संज्ञा-रूप, सुबन्त प्रकरण	Declension
संज्ञा-रूप-योग्य	Declinable
संध्यक्षर	Diphthong
संप्रदान	Dative
संबंध	Appurtenance, Alliance
संबंध कारक	Genitive
संबंधवाचक	Relative
संबंधवाचक क्रियाविशेषण	Relative Adverb
संबंधवाचक सर्वनाम	Relative Pronoun

संबंधवाची कृदन्त	Participle of Obligation
संबंधवाची तमबन्त (विशेषण)	Relative Superlative
संबंधवाची विशेषण	Adjective of Appurtenance
संबंध-सूचक संज्ञा	Related (Parented) Noun
संबद्ध	Affixed
संबोधन कारक	Vocative
संभावक प्रकार	Optative
संभावनात्मक विशेषण	Adjective of Possibility
संभाव्य	Conditional, Conjunctive
संयुक्त	Complex, Group, Periphrastic
संयुक्त क्रियापद	Compound Verb
संयुक्त (या मिश्र) वाक्यावली	Compound Locution
संयुक्त-स्वर, सन्ध्यक्षर	Diphthong
संयोग-रहित पद-क्रम, वाक्यों आदि का असंबद्ध विन्यास	Parataxis
संयोजक	Copula
संवृत	Closed
संशयार्थसूचक, लेट्-लकार	Subjunctive
संहिति	Combination
सकर्मक	Transitive
सकर्मक विकरण	Transitive Theme
सकारात्मकता	Affirmation
सतततासूचक	Durative
सतततासूचक वर्तमान	Present Durative
सबल	Strong
स-भविष्यत्	Sigmatic
समानता	Apposition
समान-वाक्य संयोजक	Co-ordinating
समानाश्रय	Co-ordination
समापिका क्रिया	Finite Verb
समास	Compound

समीकरण	Assimilation
समुच्चयबोधक	Cumulative, Conjunction, Conjunctive
समुदाय, वर्ग, संयुक्त, गण	Group
स-युक्त भविष्यत्	Sigmatic Future
स-युक्त सामान्य अतीत	Sigmatic Aorist
सरल किया हुआ	Simplified
सरल या मौलिक काल	Simple Tense
सरल या सामान्य या मौलिक	Simple
सरलीकरण	Simplification
सर्वनामजात	Pronominal
सर्वनामजात प्रत्यय	Pronominal Suffix
सर्वनामजात विकरण	Pronominal Theme
सर्वनामजात विकृत रूप	Pronominal Oblique Case
सर्वनामजात विशेषण	Pronominal Adjective
सर्वनामीय या सर्वनामजात विशेषण	Pronoun-Adjective
सहायक (क्रिया)	Auxiliary
सांख्यिक	Statistic
साक्षात्	Direct
साक्षात् रूप में	Directly
सातत्यार्थक भूत	Durative past
साधारण	Normal
साधारण विकरण	Simple Theme
साधित, यौगिक, व्युत्पन्न, निकला हुआ, साधित शब्द, व्युत्पन्न रूप	Derivative
साधित धातु, गौण धातु	Secondary Root
सान्निध्य	Juxtaposition
सामर्थ्यबोधक	Acqusitive
सामान्य	Nominal, Simple, Common, Normal
सामान्य (विशेषण)	Positive

सामान्य अतीत, लुङ्-लकार	Aorist
सामान्य अतीत-संबंधी विकरण या मल रूप	Aorist Theme
सामान्य कर्मवाच्य	Medio Passive
सामान्यीकरण	Normalisation
सामासिक रूप	Compound Form
सिद्ध धातु, मूल धातु	Primary Root
सुप्प्रत्यय, उपसर्ग	Affix
सुबन्त प्रकरण	Declension
सुर, लहज़ा	Intonation, Tone
सूक्ष्म भेद	Nuance
सूत्र, नियम	Formula
सूत्र या कहावत-संबंधी, संक्षिप्त	Gnomical
सोष्म, घर्ष	Spirant
स्थान-पूर्ति	Substitution
स्थानवाची पर-प्रत्यय	Suffix of Position
स्थानीय नामों से संबंधित	Toponomastic
स्पर्श	Occlusive
स्पर्शता	Occlusion
स्फोट	Release
स्फ़ोटक ध्वनि	Explosive
स्वनंत वर्ण, कोमल	Sonant
स्वनग्राम	Phoneme
स्वयंवाची	Inclusive
स्वर-पद्धति या प्रणाली, स्वरोच्चार-पद्धति, स्वरान्विति	Vocalism
स्वर-भक्ति, विप्रकर्ष	Anaptyxis
स्वर-भेदक चिन्ह	Diacritical Mark
स्वर-मध्यग	Intervocal
स्वरयंत्रमुखी, काकल्य, कण्ठद्वारीय	Glottal
स्वर वर्ण या शब्दांश-लोप, अदर्शन, अभिनिधान	Elision

स्वर-संधि	Contraction
स्वर-संबंधी	Vocalic
स्वर-संबंधी परिवर्तन-क्रम या स्वरात्मक एकान्तरण	Vocalic Alternance (Fr.)
स्वर-संबंधी प्रत्यय	Vocalic Desinence
स्वराघात	Pitch Accent
स्वराघात, बल	Acccent
स्वराघात-विहीन शब्दांश	Proclitic
स्वरात्मक एकान्तरण	Vocalic Alternance
स्वरात्मक विकरण या मूल रूप	Vocalic Theme
स्वरान्विति	Vocalism
स्वरित	Circumflex
स्वरित करना	Accentuate
स्वरित होना	Accentuation
स्वरोच्चार	Vocalism
स्वार्थिक	Pleonastic
हेतुक	Causal

अँगरेज़ी–हिन्दी

Ablative	अपादान
Ablaut	अपश्रुति
Abridgement	संक्षिप्ति
Absolute	पूर्ण
Absolute Genitive	पूर्ण संबंध कारक, अनन्वित संबंध कारक
Absolute Superlative	पूर्ण (या अनन्वित) तमबन्त (विशेषण)
Absolutive	पूर्वकालिक कृदन्त
Abstract	भाववाचक, अमूर्त
Abstract Noun	भाववाचक संज्ञा
Abstraction	भाववाचकत्व, अमूर्तत्व
Accent	स्वराघात, बल
Accentuate	स्वरित करना
Accentuation	आघात, स्वरित होना
Accidence	व्याकरण का प्रत्यय, शब्द-रूप, शब्द-रूपावली
Accord	एकरूपता
Accusative	कर्म कारक
Acquisitive	सामर्थ्यबोधक
Active	कर्तृवाच्य
Active Participle	कर्तृवाच्य कृदन्त या क्रियामूलक विशेषण
Active Prefect	कर्तृ० पूर्ण०
Active Present Participle	कर्तृवाच्य वर्तमानकालिक कृदन्त या क्रियामूलक विशेषण
Active Verb	कर्तृवाची क्रिया

Actual Present	यथार्थ वर्तमान
Acute	उदात्त
Adaptation	अनुकूलत्व, अनुकूल रूप
Adjectival Flexion	विशेषणजात या विशेषण की रूप-रचना
Adjective, Adjective-Epithet	विशेषण
Adjective of Appurtenance (Possession)	संबंधवाची विशेषण
Adjective of Obligaton	संबंधजात या बन्धनसूचक विशेषण
Adjective of Possibility	संभावनात्मक विशेषण
Adjunction	अनुबंधता, योग
Adverb	क्रिया-विशेषण
Adverbial	क्रिया-विशेषणमूलक
Adverbial Accusative	क्रिया-विशेषणमूलक कर्म कारक
Adverbial Suffix	क्रिया-विशेषणमूलक पर-प्रत्यय
Adversative Adverb	विरोधवाची या प्रतिषेधक क्रिया-विशेषण
Affirmation	सकारात्मकता
Affix	सुप्प्रत्यय, उपसर्ग
Affixation	आगम, संयोग
Affixed	संबद्ध
Agent	कर्तृवाची
Agglutinate	योग या संयोग उपस्थित करना
Agglutinating	योगात्मक
Alliance	संबंध
Alteration	परिवर्तन
Alternance	परिवर्तन-क्रम, एकान्तरकरण
Alternant Radical	परिवर्तनीय मूल
Alternative	विकल्प
Amphibology	श्लेष पद
Analogy	औपम्य, सादृश्य
Anaphoric	आवृत्तिमूलक

Anaptyxis	स्वर-भक्ति, विप्रकर्ष
Ancient Present	प्राचीन वर्तमान
Animate	चेतन
Anterior	पूर्व
Aorist	सामान्य अतीत, लुङ्-लकार
Aorist Theme	समान्य अतीत-संबंधी विकरण या मूल रूप
Apocope	अंत्य वर्ण-लोप
Appositon	अनुकूलता, समानता
Appurtenance	संबंध
Archaism	आर्ष प्रयोग
Article	उपपद, उपसर्ग
Articulated	उच्चरित
Articulation	उच्चारण
Aspirate	महाप्राण
Aspirate Palatal	महाप्राण तालव्य
Aspiration	प्राणागम (हकार), महाप्राणीकरण
Assimilation	समीकरण
Asyndet	लुप्त समुच्चयबोधक
A-thematic	अ-विकरणयुक्त
Atrophy	क्षीणता
Attribution	गुणारोपण
Augment	आगम
Auxiliary	सहायक (क्रिया)
Cardinal Vowel	प्रधान स्वर
Case	कारक
Causal	हेतुक
Causative	प्रेरणार्थक धातु, णिजन्त
Causative Noun	प्रेरणार्थक धातुमूलक संज्ञा
Cerebral	मूर्द्धन्य

Checked Consonant	अवरुद्ध व्यंजन
Circumflex	स्वरित
Circumstantial Case	परिस्थितिसूचक कारक
Closed	संवृत
Collective Compound	द्विगु
Combination	संहिति
Common	सामान्य
Comparative	तुलनात्मक (विशेषण)
Comparison	तुलना
Complement	पूरक
Completive	पूर्णताबोधक
Complex	मिश्र, संयुक्त, दुरूह
Complex Postposition	दुरूह परसर्ग
Composition	रचना
Compound	समास
Compound Form	सामासिक रूप
Compound Locution	संयुक्त (या मिश्र) वाक्यावली
Compound of Appurtenance	बहुव्रीहि समास
Compound Verb	संयुक्त क्रियापद
Conclusive	अनुधारणात्मक
Conditional	संभाव्य
Conjugation	क्रिया-रूप, तिङन्त-प्रकरण
Conjunction, Conjunctive	योग, समुच्चयबोधक, असमापिका, संभाव्य
Conjunctive Participle	असमापिका क्रिया
Consonantal Theme	व्यंजन-संबंधी विकरण या मूल रूप
Construction	रचना
Continuative	निरन्तरताबोधक
Contraction	स्वर-संधि
Co-ordinating	समान-वाक्य संयोजक
Co-ordination	समानाश्रय

Co-ordinative Compound	द्वन्द्व समास
Copula	संयोजक
Co-relative	नित्य संबंधी
Couple	युग्म
Cumulative	समुच्चयबोधक
Dative	संप्रदान
Deaspiration	अल्पप्राणीकरण
Declension	संज्ञा-रूप, सुबन्त प्रकरण
Declinable	संज्ञा-रूप-योग्य
Definite	मुख्य, निर्देशक, निश्चित
Definite Article	मुख्य या निर्देशक उपसर्ग या उपपद
Definite Present	निश्चयार्थ वर्तमान
Degree	अंश, श्रेणी, मात्रा
Demonstrative	निश्चयवाचक
Denasalised	अनुनासिकताविहीन, अनासिक्य
Denominative	नामधातु, श्रेणीसूचक
Dependent.	आश्रित
Derivated	साधित, यौगिक, व्युत्पन्न, निकला हुआ
Derivation	व्युत्पत्ति
Derivative	साधित शब्द, व्युत्पन्न रूप
Desiderative	इच्छार्थक
Desinence	प्रत्यय, अंत
Determinate Value	निर्धारक महत्त्व
Determination	निर्धारण
Determinative Compound	तत्पुरुष समास
Determined	निर्धारित
Diacritical Mark	स्वर-भेदक चिन्ह
Diminutive	अल्पार्थक
Diphthong	संयुक्त-स्वर, संन्ध्यक्षर
Direct	मुख्य, मूल, साक्षात्, प्रत्यक्ष

Directly	मूल रूप में, साक्षात् रूप में, प्रत्यक्ष रूप में, मुख्यत:
Direct Regime	मुख्य कर्म कारक
Disjunctive	विभाजक
Dissimilation	विषमीकरण, असावर्ण्य, वैरूप्य
Dissyllabic	द्वय्क्षरात्मक
Double	द्विगुण
Double Alternance	द्वित्वयुक्त परिवर्तन-क्रम
Doublet	एक-मूलक भिन्नार्थी दो शब्दों से एक, युग्मक
Doubling	द्वित्व
Dull	मंद
Durative	सतततासूचक
Durative Past	अनद्यतन भूत, सातत्यार्थक भूत
Echo Word	प्रतिध्वनित शब्द
Elision	स्वर-वर्ण या शब्दांश-लोप, अदर्शन, अभिनिधान
Elongation	दीर्घरूपता
Enclitic	प्रत्ययांश
Enlargement	व्याप्ति
Epenthesis	अपनिहिति
Epigraph	उत्कीर्ण लेख
Epithet	विशेषणबोधक शब्द
Etymology	शब्द-व्युत्पत्ति, शब्द-व्युत्पत्ति-शास्त्र
Eventuality	अनिश्चितता
Eventual Mood	अनिश्चित क्रियार्थ-भेद
Explosive	स्फोटक ध्वनि
Expressive	अभिव्यंजक
Expressive Form	अभिव्यंजक रूप
Extension	विस्तार

Factitive	द्विकर्मक धातु-संबंधी
Facultative	विद्वत्तापूर्ण, वैकल्पिक
Facultative Normalisation	वैकल्पिक सामान्यीकरण
Finite Verb	समापिका क्रिया
Flexion	रूप-रचना
Formation	रचना
Formula	सूत्र, नियम
Forte	विशेष
Frequency	आवृत्ति
Future Participle	भविष्यत्कालिक कृदंत
Future Perfect	पुराघटित भविष्य
Future Progressive	घटमान भविष्यत्
Geminated	पुनरावृत्त
Gemination	पुनरावृत्ति (ज़ोर देने के लिये), द्विगुणन, यम
Gender	लिंग
Genitive	संबंध कारक
Gerund, Gerundive	क्रियामूलक विशेष्य
Glottal	स्वर-यंत्रमुखी, काकल्य, कंठद्वारीय
Gnomical	सूत्र या कहावत-संबंधी, संक्षिप्त
Gnomic Present	लोकोक्ति-संबंधी वर्तमान
Grammatical Subject	व्याकरणीय कर्ता
Graphy	[illegible]
Group	समुदाय, वर्ग, संयुक्त, गण
Guttural	कंठ्य
Haplology	ध्वनि-लोप
Hiatus	विवृत्ति, विच्छेद, प्रगृह्य
Hissing Sound	शकार ध्वनि
Historic Present	ऐतिहासिक वर्तमान

Honorific	आदरसूचक
Hypothesis	अनुमान
Imperative	आज्ञार्थ
Imperfect	अपूर्ण, घटमान
Imperfect Participle	अपूर्ण या घटमान कृदन्ती रूप
Impersonal	अकर्तृक, भाववाचक क्रिया
Impersonal Passive	अकर्तृक कर्मवाच्य
Implosion	अंतरंग स्फोट
Implosive	अंतरंग स्फोटक
Inanimate	अचेतन
Inceptive	आरम्भिकताबोधक
Inchoative Verb	प्रारंभिक क्रिया
Inclusive	अन्तर्भूत, स्वयंवाची
Indeclinable	अव्यय
Indefinite	अनिश्चयवाचक
Indetermination	अनिर्धारण
Indicative	निश्चयार्थ, निर्देशक क्रिया-भाव
Indirect	गौण, असाक्षात्
Infinite Verb	असमापिका क्रिया
Infinitive	क्रियार्थक संज्ञा, पूर्वकालिक क्रिया, असमापिका (धातु), क्रियासूचक संज्ञा, तुमन्त
Infix	मध्यवर्ती प्रत्यय
Inflexion	शब्द-रूप
Ingressive Present	प्रवेशसूचक वर्तमान
Initial	प्रधान, मूल
Initial Accent	आदि या मूल या प्रधान स्वराघात
Injunctive	आदेशार्थ
Insertion	आगम, निवेश
Instrumental	करण, कारण

Intensity	अतिशयता, तीव्रता, उत्कर्षता
Intensive	अतिशयार्थक, उत्कर्षसूचक
Interior	मध्यवर्ती
Interior Aspirate	मध्यवर्ती महाप्राण (हकार-युक्त)
Intermediary, Internal	मध्यवर्ती, अन्तर्वर्ती
Internal Alternance	मध्यवर्ती परिवर्तन-क्रम
Internal Apposition	मध्यवर्ती समानता
Interpellation	पृच्छावरोध, प्रश्नोत्तर
Interrogative	प्रश्नवाचक या प्रश्नसूचक
Intervocal	स्वर-मध्यग
Intonation	सुर, लहजा
Intransitive	अकर्मक
Intransitive Theme	अकर्मक विकरण
Inverse	विपर्यस्त
Irregular Verb	अनियमित क्रिया
Isogloss	भाषा-रेखा, शब्द-रेखा
Iterative	पुनरावृत्तिमूलक
Juxtaposition	सान्निध्य
Labial	ओष्ठ्य
Labio-Velar	कंठ्योष्ठ्य
Liquid	अंतस्थ (द्रव वर्ण)
Living Subject	चेतन कर्त्ता
Locative	अधिकरण कारक
Logical Subject	न्यायानुकूल या न्यायोचित या अर्थानुकूल कर्त्ता
Logical Subject of Action	कार्य का न्यायानुकूल कर्त्ता
Long	दीर्घ, गुरु
Long Degree	दीर्घ श्रेणी, दीर्घ मात्रा
Long Form	दीर्घ रूप

Medio Passive	सामान्य कर्मवाच्य
Metathesis	वर्ण-विपर्यय
Middle Participle	मध्य कृदन्त
Mi-occlusive	मध्य-स्पर्श
Modal	प्रकार-विषयक
Modal Forms	क्रियार्थ-भेद-रूप
Modulation	लय-परिवर्तन
Monosyllabic	एकाक्षरात्मक
Mood	प्रकार, क्रियार्थ-भेद, क्रिया-भाव
Mood of Deliberation	विवेचनसूचक क्रियार्थ-भेद
Mood of Subordination	आश्रयसूचक क्रियार्थ-भेद
Morpheme	रूपमात्र
Morphology	आकृति-विचार, रूप-विचार
Multiple Group	बहुपदी समुदाय, अपवर्त्य समुदाय
Mute	ऊष्मत्व खोकर स्पर्श में परिणति
Narrative Past	वर्णनात्मक भूत
Nasal	अनुनासिक
Nasal Infix	अनुनासिक मध्यवर्ती प्रत्यय
Negative	नकारात्मक
Neuter (Gender)	उदासीन, नपुंसक लिंग
Neuter Participle	भावे प्रयोग
Neutralisation	उदासीनता, दुर्बलता, नाश
Nominal	नामजात, सामान्य
Nominal Complement	नामजात पूरक
Nominal Desinence	नाम प्रत्यय
Nominal Flexion	नामजात रूप-रचना
Nominal Form	नामजात रूप
Nominal Oblique	नामजात विकृत रूप
Nominal Suffix	नामजात पर-प्रत्यय
Nominal Theme	नामजात विकरण

Nominative	कर्त्ता कारक
Non-alternant Theme	अपरिवर्तनीय विकरण
Non-aspirate Palatal	अप्राण तालव्य
Non-verbal	अ-क्रियामूलक
Norm	आदर्श
Normal	सामान्य, साधारण
Normalisation	सामान्यीकरण
Notation	संकेत-चिन्ह
Noun	संज्ञा
Noun of Action	कार्यवाची संज्ञा
Noun of Agency	कर्तृवाची संज्ञा
Nuance	सूक्ष्म भेद
Number	वचन
Objective Case (Regime)	कर्म कारक
Obligation	बन्धन
Oblique	विकृत रूप
Oblique Case	विकृत कारक
Oblique Regime	विकृत कर्म कारक
Oblique Values	विकृत रूप-संबंधी मूल्य
Obstruction	अवरोध
Occlusion	स्पर्शता
Occlusive	स्पर्श
Optative	आदरार्थ, संभावक प्रकार
Orthography	अनुलेखन-पद्धति
Palatal	तालव्य
Paradigm	तिङ
Parataxis	संयोग-रहित पद-क्रम, वाक्यों आदि का असंबद्ध विन्यास
Participial	कृदन्ती

Participial Epithets	कृदन्ती गुणवाचक विशेषण
Participial Tense	कृदन्ती काल
Participial Theme	कृदन्ती विकरण या मूल रूप
Participle	कृदन्त, क्रियामूलक विशेषण
Participle of Obligaton	संबंधवाची कृदन्त
Participle-Substantive	कृदन्त-विशेष्य (संज्ञा)
Particle	निपात
Passive	कर्मवाच्य, कर्मणि
Passive Theme	कर्मवाच्य-गत विकरण या मूल रूप
Past Conditional	भूत संभाव्य
Past Participle	भूतकालिक या अतीतकालिक कृदन्त या क्रियामूलक विशेषण
Past Perfect	पुराघटित अतीत
Past Verbal Form	भूतकालिक क्रियामूलक रूप
Perfect	पूर्ण, पुराघटित
Perfect Participle	पुराघटित कृदन्त, पूर्ण कृदन्त
Perfective	पूर्णकारी
Periphrase	वाक्य-विस्तार
Periphrastic	मिश्र, यौगिक, संयुक्त
Permissive	अनुमतिबोधक
Person (First, Second, Third)	पुरुष (उत्तम, मध्यम, प्रथम)
Personal	पुरुषवाचक
Personal Verb	पुरुषवाचक क्रिया
Phoneme	ध्वनि-मात्र, ध्वनि-श्रेणी, स्वनग्राम
Phonetic	ध्वनि-संबंधी
Phonology	ध्वनि-तत्त्व
Phrase	वाक्यांश या पद-समष्टि
Pitch Accent	स्वराघात
Pleonastic	शब्द-बाहुल्य-युक्त, स्वार्थिक
Pluperfect	असंपन्न भूत
Polysyllable	अनेकाक्षर

Positive	सामान्य (विशेषण)
Possessive Compound	षष्ठी तत्पुरुष
Postposition	परसर्ग, अनुसर्ग
Postposition of Origin	मूलवाला परसर्ग
Potential	शक्यताबोधक
Precative	आशीर्वादात्मक
Pre-desinencial	पूर्व-प्रत्यय-संबंधी
Predicate	विधेय
Predicative	विधेयात्मक
Predicative Suffix	विधेयात्मक पर-प्रत्यय
Prefix	पुरःप्रत्यय
Premier Term	आदि शब्द
Prepalatal	तालव्याग्रीय
Preposition	उपसर्गात्मक अव्यय, कर्म-प्रवचनीय उपसर्ग, अव्यय रूपी उपसर्ग, उपसर्ग, पूर्वसर्ग
Present	वर्तमान
Present Conditional	वर्तमान संभाव्य
Present Durative	सततासूचक वर्तमान
Present Participle	वर्तमानकालिक कृदन्त या क्रियामूलक विशेषण
Present Perfect	पुराघटित वर्तमान
Present Progressive	घटमान वर्तमान
Present Theme	वर्तमान० विकरण या मूल रूप
Preterite	अतीत काल
Preverb	पूर्वक्रिया
Primary	मूल, प्राथमिक, नित्य
Primary Desinence	मुख्य प्रत्यय
Primary Root	सिद्ध धातु, मूल धातु
Primary Suffix	कृत्प्रत्यय
Proclitic	स्वराघातविहीन शब्दांश

Progression	पुरोगमन
Progessive	प्रगतिबोधक, घटमान, पुरोगामी
Progessive Normalisation	पुरोगामी सामान्यीकरण
Prolonged	दीर्घ
Pronominal	सर्वनामजात
Pronominal Adjective	सर्वनामजात विशेषण
Pronominal Oblique Case	सर्वनामजात विकृत रूप
Pronominal Suffix	सर्वनामजात प्रत्यय
Pronominal Theme	सर्वनामजात विकरण
Pronoun-Adjective	सर्वनामीय या सर्वनामजात विशेषण
Proper	मुख्य
Prothesis	अग्रागम
Quantitative	मात्राकालिक
Quantity	मात्रा-काल
Radical	मूल या प्रातिपदिक
Radical Noun	मूल या प्रातिपदिक संज्ञा
Radical Theme	मूल विकरण
Radical Verb	मूल क्रिया
Radical Vocalism	मूल स्वर-पद्धति
Radical Vowel	मूल स्वर
Real	यथार्थ
Rection	प्रभाव
Recursive	आश्वसित ध्वनि
Redoubled	द्वित्वयुक्त, पुनरावृत्त, आवृत्ति वाला
Reduced	न्यून
Reduction	न्यूनत्व, परिवर्तन, प्रह्रासन
Redundant	अतिरिक्त
Refection	पुनर्निर्मित रूप

Reflective	निजवाचक
Regime	कर्म कारक
Regressive	पश्चगामी
Regular Formation	नियमित रचना
Reinforcement	बल
Related (Parented) Noun	संबंधसूचक संज्ञा
Relative	संबंधवाचक
Relative Adverb	संबंधवाचक क्रिया-विशेषण
Relative Pronoun	संबंधवाचक सर्वनाम
Relative Superlative	संबंधवाची तमबन्त (विशेषण)
Release	स्फोट
Retroflexion	मूर्द्धन्यत्व
Rhythmic	लयात्मक
Root	धातु
Scansion	छन्द-मात्रा-गणना
Secondary	गौण
Secondary Abridgement	गौण या विकृत संक्षिप्ति
Secondary Desinence	गौण प्रत्यय
Secondary Root	साधित धातु, गौण धातु
Secondary Suffix	तद्धित प्रत्यय
Semantic	अर्थ-विचार-संबंधी
Semi-vowel	अर्द्ध-स्वर
Short	लघु
Sibilant	शिन्-ध्वनि
Sigmatic	स-भविष्यत्
Sigmatic Aorist	स-युक्त सामान्य अतीत
Sigmatic Future	स-युक्त भविष्यत्
Simple	सरल, सामान्य, मौलिक
Simple Tense	सरल या मौलिक काल
Simple Theme	साधारण विकरण

Simplification	सरलीकरण
Simplified	सरल किया हुआ
Solid	कठोर
Sonant	स्वनंत वर्ण, कोमल
Sonore	घोष, मुखर
Sonority	मुखरता
Sonore Whispered	मुखर फुसफुसाहटवाली ध्वनि
Spirant	सोष्म, घर्ष
Statical	गत्यर्थक
Statistic	सांख्यिक
Stop	विराम
Stress Accent	बलाघात
Stroke of Glottis	काकलाघात
Strong	सबल
Subject	कर्त्ता
Subject Case	कर्तृ कारक
Subjunctive	संशयार्थसूचक, लेट्-लकार
Subordinate	आश्रित
Subordinating	आश्रित वाक्य-संयोजक
Subordination	आश्रित वाक्य-योजना
Substantive	विशेष्य, संज्ञा
Substitution	स्थान-पूर्ति
Suffix	पर-प्रत्यय (अथवा केवल प्रत्यय)
Suffix of Position	अवस्थावाची या स्थानवाची पर-प्रत्यय
Superlative	तमबन्त (विशेषण)
Surd	कठोर, अघोष
Surdity	कठोरत्व, अघोषत्व
Syllabic	अक्षरात्मक
Syllable	शब्दांश
Syntax	वाक्य-विन्यास, वाक्य-रचना, वाक्य-विचार

Tentative	प्रयोगार्थक
Term	शब्द, पद
Terminal	अंत का
Termination	अन्त्य रूप
Thematic	विकरण-युक्त
Thematic Vowel	विकरण-युक्त स्वर
Thematisation	विकरण-युक्त रूप-रचना
Theme	विकरण
Tone	सुर, लहजा
Toponomastic	स्थानीय नामों से संबंधित
Transitive	सकर्मक
Transitive Theme	सकर्मक विकरण
Tsigane (Fr.)	जिप्सी-भाषा
Unification	एकीकरण
Unreal	अयथार्थ
Unreal Conditional	अयथार्थ संभाव्य
Unvoicing	अघोषत्व
Value	महत्त्व, मूल्य
Variation	विकार
Verbal	क्रियामूलक
Verbal Adjective	क्रियामूलक विशेषण
Verbal Desinence	क्रियामूलक प्रत्यय
Verbal Flexion	क्रिया की रूप-रचना
Verbal Form	क्रियार्थक रूप
Verbal Noun	क्रियामूलक संज्ञा
Verbal Present	क्रियामूलक वर्तमान
Verbal Radical	क्रियाजात मूल
Verbalisation	क्रिया-भाव
Verb of Existence	अस्तित्वसूचक क्रिया

Vibration	कंपन
Vocalic	स्वर-संबंधी
Vocalic Alternance(Fr.)	स्वर-संबंधी परिवर्तन-क्रम या स्वरात्मक एकान्तरण
Vocalic Degree of Radical	मूल का स्वरात्मक अंश
Vocalic Desinence	स्वर-संबंधी प्रत्यय
Vocalic Theme	स्वरात्मक विकरण या मूल रूप
Vocalism	स्वर-पद्धति या प्रणाली, स्वरोच्चार-पद्धति, स्वरान्विति
Vocative	संबोधन कारक
Voice	वाच्य
Voicing	घोषत्व
Weak	निर्बल
Whispered	फुसफुसाहटवाली ध्वनि
Zero	शून्य
Zero Degree	शून्य श्रेणी
Zero Desinence	शून्य प्रत्यय
Zero Form	शून्य रूप
Zero Suffix	शून्य पर-प्रत्यय

अनुक्रमणिका

ग्रन्थ, लेख तथा पत्रिकानुक्रमणिका—